आचार्य बुद्धघोष-कृत

विशुद्धि मार्ग

पहला भाग

[शील-निर्देश से समाधि-निर्देश तक]

अनुवादक

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

प्रकाशक

महाबोधि सभा

सारनाथ, वाराणसी

प्रथम संस्करण १९०० | बुद्धाब्द २५०० ईस्वी सन् १९५६ | मूल्य १२

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, मन्त्री, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी (बनारस)
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, वाराणसी (बनारस) ४७२९-११

समर्पण

दक्षिणी लंका के संघनायक करुणामय विद्यामूर्ति आचार्यवर
दिवंगत श्री धर्मावास नायक महास्थविरपाद
की पुण्य-स्मृति में
शिष्य की
सादर
भेंट

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

भूमिका

'विशुद्धिमार्ग' पालि-साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न है। इसमें बौद्ध-दर्शन की विवेचनात्मक गवेषणा के साथ योगाभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर सिद्धि तक की सारी विधियाँ सुन्दर ढंग से समझाई गई हैं। इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जो अछूता हो। एक प्रकार से इसे बौद्ध धर्म का विश्वकोश कहा जा सकता है। यद्यपि विशुद्धिमार्ग प्रधानतः योग-ग्रन्थ है, तथापि बौद्धधर्म का जैसा सुन्दर निरूपण इसमें किया गया है, वैसा अन्य किसी भी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है। योगियों के लिए तो यह गुरु के समान निर्देश करने वाला महोपकारी ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य बुद्धघोष हैं, जो संसार भर के बौद्ध-दार्शनिकों एवं ग्रन्थकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। स्थविरवाद के मूल-सिद्धान्तों को अक्षुण्ण बनाये रखने और पालि साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए उन्होंने जो कार्य किया, वह स्थविरवादी-जगत् तथा पालि-साहित्य का जीवन-वर्द्धक बन गया। उन्होंने त्रिपिटक साहित्य की विशद रूप से व्याख्या कर वास्तविक भाव को लुप्त होने से बचा लिया। यदि आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथा-ग्रन्थों को लिख कर गूढ़ अर्थों एवं भावों की व्याख्या न की होती, तो सम्प्रति पिटक-ग्रन्थों का समझना सरल न होता। आचार्य बुद्धघोष के समान अन्य कोई भाष्यकार भी नहीं हुआ है। पालि-साहित्य के ग्रन्थ-निर्माताओं में त्रिपिटक-वाङ्मय के पश्चात् महान् पालि-ग्रन्थ-निर्माता आचार्य बुद्धघोष ही हुए हैं। उन्होंने अट्ठकथाओं में जिन दार्शनिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विषयों का विवेचनात्मक वर्णन किया है, उनसे आचार्य बुद्धघोष का पाण्डित्य पूर्णरूप से प्रकट होता है।

बुद्धघोष का जीवन-चरित

आचार्य बुद्धघोष के जीवन-चरित के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित ग्रन्थों से जानकारी प्राप्त होती है:—

(१) महावंश के अन्तिम भाग चूलवंश के सैंतीसवें परिच्छेद में गाथा संख्या २१५ से २४६ तक।

(२) बुद्धघोसुप्पत्ति : इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेदों में आचार्य बुद्धघोष के जीवन-चरित का वर्णन है।

(३) शासन वंश : इस ग्रन्थ के "सीहलदीपिक-सासनवंस-कथामग्ग" नामक परिच्छेद में पृष्ठ २२ से २४ तक चूलवंश तथा बुद्धघोसुप्पत्ति में आए हुए क्रम के अनुसार दोनों ग्रन्थों का उद्धरण देकर अलग-अलग वर्णन किया गया है।

(४) गन्धवंस : इस ग्रन्थ में ग्रन्थ-समूह के वर्णन के साथ चूलवंश के आधार पर ही लिखा गया है।

(५) सद्धम्म संगह : इसमें भी चूलवंश के आधार पर ही वर्णन किया गया है, जो बहुत ही संक्षिप्त है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में आचार्य बुद्धघोष के जीवन-चरित के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता है। पीछे के अट्ठकथाचार्योंने केवल उनके नाम का उल्लेख किया

है। आचार्य बुद्धघोष ने स्वयं अपने सम्बन्ध में बहुत कुछ नहीं लिखा है। उन्होंने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। उनकी रचनाओं में जो थोड़ा-सा उनके सम्बन्ध में प्रकाश मिलता है, वह भी उन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिए स्थविरों को धन्यवाद देते हुए अथवा उनका स्मरण करते हुए लिखा है। यही कारण है कि पालि-साहित्य के इतने बड़े महान् लेखक, दार्शनिक एवं विद्वान् का जीवन-चरित आजतक विवाद का विषय बना हुआ है। चूलवंश तथा बुद्धघोसुप्पत्ति में से चूलवंश ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। बुद्धघोसुप्पत्ति एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी रचना भाषा आदि की दृष्टि से अशुद्ध तो है ही, उसमें अनेक चमत्कारिक बातों का उल्लेख करके उसके महत्त्व को घटा दिया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में आए हुए कुछ वर्णन समान ही हैं। हम यहाँ दोनों ग्रन्थों में आए हुए उनके जीवन-चरित को अलग-अलग देकर विचार करेंगे।

चूलवंश में आचार्य बुद्धघोष का वर्णन इस प्रकार आया है :—

"जिस समय लंका में महानाम नाम का राजा राज्य कर रहा था, उस समय भारतवर्ष में बोधि-वृक्ष (=बोधिमण्ड) के समीप ही एक ग्राम में आचार्य बुद्धघोष का जन्म हुआ था। वे विद्यार्थीकाल से ही सर्व-शास्त्र-निष्णात, त्रिवेद पारंगत तथा स्वधर्म में सुविज्ञ हो गए थे। उस समय वे एक ब्राह्मण छात्र (=ब्राह्मण माणवक) मात्र थे। सम्पूर्ण शास्त्रों में विशारद और शास्त्रार्थ करने में निपुण वह छात्र वाद-विवाद करता हुआ भारतवर्ष में विचरण करने लगा। एक दिन वह एक विहार में गया और रात्रि में वहीं रह गया। उसने रात्रि में पातञ्जल मत पर सुन्दर पाठ किया तथा प्रकाश डाला। उसकी बुद्धि-कुशलता को देख उक्त विहार के रेवत स्थविर ने उससे पूछा—"यह कौन गद्रभ-स्वर से पाठ कर रहा है?" छात्र ने उत्तर देते हुए कहा—"क्या आप इसका अर्थ जानते हैं?"

"हाँ, मैं जानता हूँ।"

तदुपरान्त छात्र ने पातञ्जल मत से सम्बन्धित अनेक प्रश्न पूछे। स्थविर ने सभी प्रश्नों का उत्तर दिया। जब स्थविर ने बुद्धधर्म सम्बन्धी प्रश्नों को पूछा, तो छात्र कुछ उत्तर न दे सका। उसने पूछा—"यह कौन-सा मन्त्र है?"

"यह बुद्ध मन्त्र है?"

"इसे मुझे भी दीजिए।"

"प्रव्रजित होकर ही इसे सीख सकते हो।"

छात्र (= माणवक) ने माता-पिता से आज्ञा ले प्रव्रजित हो रेवत स्थविर के पास ही सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन किया। भली प्रकार बुद्धधर्म की जानकारी हो जाने पर उसने देखा कि यह मुक्ति प्राप्त करने के लिए अद्वितीय मार्ग है (एकायनो अयं मग्गो)। उसका शब्द भगवान् बुद्ध के समान मधुर एवं गम्भीर था, इसलिए वह 'बुद्धघोष' नाम से ही व्यवहृत हुआ।[१]

भारतवर्ष में रहते हुए ही बुद्धघोष ने 'ञानोदय' (=ज्ञानोदय) नामक एक ग्रन्थ लिखा और धम्मसंगणी के ऊपर अट्ठसालिनी नामक अट्ठकथा भी संक्षेप में लिख दी। इस संक्षेप में अट्ठकथा-ग्रन्थ की रचना को देखकर रेवत स्थविर ने कहा—"यहाँ केवल पालि (=मूल त्रिपिटक)

१. बुद्धस्स विय गम्भीरघोसत्ता नं वियाकरुं।
बुद्धघोसोति सो सोभि बुद्धो विय महीतले ॥

मात्र है। यहाँ अट्ठकथाएँ नहीं हैं। वैसे ही परम्परागत आचार्य-मत भी यहाँ विद्यमान नहीं हैं। किन्तु, सिंहली भाषा में महामहेन्द्र स्थविर द्वारा लिखी गई अट्ठकथाएँ, जो तीनों संगीतियों में विद्यमान थीं, शुद्ध रूप में लंका में हैं, तुम वहाँ जाकर, उन्हें सुनकर मागधी (=पालि) भाषा में उनका अनुवाद कर डालो, वह सारे संसार के लिए कल्याणकारी होंगी।"[१] इस प्रकार अपने आचार्य रेवत स्थविर से आज्ञा पाकर बुद्धघोष लंका गए। उस समय लंका में महानाम का शासन-काल था। अनुराधपुर के महाविहार में जाकर उन्होंने महाप्रधान नामक भवन में संघपाल स्थविर द्वारा सम्पूर्ण सिंहली अट्ठकथा-ग्रन्थ तथा स्थविरवाद का श्रवण किया। जब बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि भगवान् बुद्ध का यही आशय है (धम्मसामिस्स एसो 'व अधिप्पायो'ति निच्छिय), तब उन्होंने सम्पूर्ण भिक्षु-संघ को एकत्र कर प्रार्थना की—"भन्ते ! तीनों पिटकों की अट्ठकथाएँ मागधी में लिखना चाहता हूँ। कृपापूर्वक मुझे सब ग्रन्थ प्रदान किये जायँ।" भिक्षुसंघ ने बुद्धघोष के ज्ञान की परीक्षा के हेतु—"तुम अपना सामर्थ्य दिखलाओ, तदुपरान्त तुम्हें सम्पूर्ण ग्रन्थ दिए जायेंगे।" कहते हुए इन दो गाथाओं को दिया—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं ॥ १ ॥

अन्तो जटा बहि जटा,
जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि,
को इमं विजटये जटं ?"[२] ॥ २ ॥

बुद्धघोष ने इन दोनों गाथाओं की व्याख्या करते हुए 'विशुद्धिमार्ग' (विसुद्धिमग्ग) ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में प्रदर्शित विद्वत्ता को देखकर महाविहारवासी भिक्षुसंघ ने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की और उन्हें सिंहली अट्ठकथाओं के साथ सब ग्रन्थों को प्रदान कर दिया। भिक्षुओं

---

१. तत्थ ञाणोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।
धम्मसंगणियाकासि कण्डं सो अट्ठसालिनिं ॥
परित्तट्ठकथं चेव कातुं आरभि बुद्धिमा।
तं दिस्वा रेवतत्थेरो इदं वचनं अब्रवि ॥
पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।
तथाचरियवादा च भिन्नरूपा ने विज्जरे ॥
सीहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन महीमता।
संगीतित्तय आरूल्हं सम्मासम्बुद्धदेसितं ॥
कता सीहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानं निरुत्तिया।
परिवत्तेहि सा होति सब्बलोकहितावहा ॥

२. इन गाथाओं का अर्थ देखिये, विशुद्धिमार्ग पृष्ठ १।

को विश्वास हो गया कि बुद्धघोष मैत्रेय बोधिसत्व ही हैं।[१] बुद्धघोष ने ग्रन्थों को प्राप्त कर महाविहार के ग्रन्थाकर परिवेण में रहकर सभी सिंहली अट्ठकथाओं का पालि में अनुवाद किया। इस कार्य के समाप्त होने पर बुद्धघोष ने भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया और आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।"[२]

बुद्धघोसुप्पत्ति में आचार्य बुद्धघोष का जीवन-चरित इस प्रकार वर्णित है :—

"बोधिवृक्ष के समीप घोष नामक एक ग्राम था। बहुत से ग्वालों के निवास करने के ही कारण उस ग्राम का नाम घोष पड़ा था। वहाँ एक राजा राज्य करता था। केशी नामक ब्राह्मण उसका बहुत ही प्रिय पुरोहित था। उस ब्राह्मण की स्त्री का नाम केशिनी था।

जब पर्य्याप्ति-शासन (त्रिपिटक-ग्रन्थ) के सिंहली भाषा में होने के कारण अन्य लोग उसे नहीं जानते थे, तब किसी अर्हत् भिक्षु ने विचार किया—"कौन महास्थविर पर्य्याप्ति-शासन का भाषान्तर सिंहली भाषा से मागधी में करेगा ?" उन्होंने तावतिंस भवन में घोषदेवपुत्र को इसके योग्य समझा और जाकर उससे मर्त्यलोक में जन्म लेकर इस कार्य को करने की प्रार्थना की। सातवें दिन घोष-देवपुत्र ने संकल्प करके च्युत हो, केशिनी ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया। दस मास व्यतीत होने पर उसका जन्म हुआ।[३] जन्म के समय नौकर-चाकर, ब्राह्मण आदि ने परस्पर "खाइये पीजिये" कहकर सुन्दर घोष किया। इसलिए उस बच्चे का नाम घोषकुमार रखा गया।[४]

वह घोषकुमार सात वर्ष की अवस्था में ही वेदों का अध्ययन कर तीनों वेदों में निष्णात हो गया। वह बड़ा बुद्धिमान् एवं शास्त्र-कुशल था।

एक दिन केशी ब्राह्मण के साथी एक महास्थविर उससे मिलने आए। केशी ने घोषकुमार के आसन को उनके बैठने के लिए बिछा दिया। घोष ने अपने आसन पर महास्थविर को बैठा देख क्रुद्ध सर्प की भाँति खुनसाते हुए महास्थविर का आक्रोशन किया "यह मथमुण्डा श्रमण अपना प्रमाण नहीं जानता है। क्यों पिता जी ने इसे भोजन दिलाया ? क्या यह वेदों को जानता है अथवा अन्य मन्त्र को ?"

"तात घोष ! मैं तुम्हारे वेदों को जानता हूँ और अन्य मन्त्र को भी जानता हूँ।" स्थविर ने हँसते हुए कहा—

"यदि वेदों को जानते हैं, तो जरा पाठ कीजिए।"

महास्थविर ने तीनों वेदों का पाठ किया। घोष ने लज्जित होकर कहा—"भन्ते ! मैं आपके मंत्र को जानना चाहता हूँ। अपने मन्त्र का पाठ कीजिए।" महास्थविर ने उसे प्रसन्न करने के लिए अभिधर्म की मात्रिका का पाठ किया—"कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा।"

घोष ने प्रमुदित हो पूछा—"भन्ते ! आप के मन्त्र का क्या नाम है ?"

"यह बुद्ध मन्त्र है।"

---

१. निस्संसयं स मेत्तेय्योति वत्वा पुनप्पुनं।
सद्धिं अट्ठकथापादा पोत्थके पिटकत्तये॥

२. वन्दितुं सो महाबोधिं जम्बुदीपं उपागमि।

३. सत्तमे दिवसे घोसदेवपुत्तो अधिट्ठहित्वा कालं कत्वा केसिनिया ब्राह्मणिया कुच्छिम्हि पटिसन्धिं गण्हि। दस मासच्चयेन गब्भतो निक्खमि।

४. तेनस्स घोसकुमारोति नामं अकंसु।

"क्या बुद्ध मन्त्र को मेरे जैसे गृहस्थ सीख सकते हैं ?"

"बुद्ध मन्त्र मेरे समान प्रव्रजित द्वारा सीखा जा सकता है, क्योंकि गृहस्थों को बहुत झंझटें होती हैं ।"

घोष ने बुद्ध मन्त्र सीखने के लिए माता-पिता से आज्ञा ले स्थविर के पास जा प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और क्रमशः तीनों पिटकों का अध्ययन किया । उसने तीनों पिटकों को समाप्त कर बीस वर्ष का हो, उपसम्पदा प्राप्त की । तब से वह सम्पूर्ण भारतवर्ष में 'बुद्धघोष' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[१]

एक दिन एकान्त में बैठे हुए भिक्षु बुद्धघोष के मन में ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ—"मेरा ज्ञान अधिक है अथवा मेरे आचार्य का ?" इस बात को आचार्य ने जानकर कहा—"बुद्धघोष ! तुम्हारा ऐसा विचार उचित नहीं है । शीघ्र इसके लिए क्षमा माँगो ।"

"भन्ते ! मेरे अपराध के लिए क्षमा कीजिए ।" बुद्धघोष ने भयभीत होकर कहा ।

"यदि तुम क्षमा चाहते हो तो लंकाद्वीप जाकर बुद्धवचन को सिंहली भाषा से मागधी भाषा में करो ।"

बुद्धघोष ने माता-पिता से भेंटकर उन्हें भी बुद्ध धर्म में प्रतिष्ठित किया और गुरु को प्रणाम कर लंका के लिए प्रस्थान कर दिया । व्यापारियों के साथ नौका पर चढ़े । बुद्धघोष के निकलने के दिन ही बुद्धदत्त महास्थविर ने भी लंकाद्वीप से भारतवर्ष आने के लिए व्यापारियों के साथ प्रस्थान किया था ।[२] दोनों स्थविरों की नौकायें समुद्र में आमने-सामने मिलीं । बुद्धदत्त ने बुद्धघोष को देखकर पूछा—

"तुम्हारा क्या नाम है ?"

"बुद्धघोष ।"

"कहाँ जा रहे हो ?"

"लंकाद्वीप जा रहा हूँ ।"

"किसलिए ?"

"बुद्धशासन सिंहली भाषा में है, उसे मागधी में भाषान्तर करने के लिए ।"

"बुद्ध-शासन को मागधी भाषा में करने के लिए मैं भी भेजा गया था । मैंने **जिनालंकार, दन्तधातु** और **बोधिवंश** को ही लिखा है, अट्ठकथा और टीकाग्रन्थों को नहीं । यदि तुम सिंहली भाषा से बुद्धशासन को मागधी में करना चाहते हो तो तीनों पिटकों की अट्ठकथाएँ और टीकायें लिखो ।" बुद्धदत्त ने ऐसा कह कर हर्रे, लौह-लेखनी तथा शिला देकर बुद्धघोषका अनुमोदन कर विदा किया और जाते समय कहा—"आवुस बुद्धघोष ! मैं अल्पायु हूँ, बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहूँगा, इसलिए शासन का भाषान्तर नहीं कर सकता हूँ । तुम्हीं भली प्रकार करो ।"[३]

बुद्धदत्त व्यापारियों के साथ भारत आए और कुछ ही दिन के पश्चात् मर कर तुषित-भवन में उत्पन्न हुए । बुद्धघोष भी व्यापारियों के साथ लंकाद्वीप गए और द्विजस्थान नामक बन्दरगाह के पास नौका से उतर रहने लगे ।

---

१. सो च सकलजम्बुदीपे बुद्धघोसोति नामेन पाकटो होति ।

२. तस्स च निक्खमनदिवसे येव बुद्धदत्तमहाथेरोपि लंकादीपतो निक्खमन्तो पुन जम्बुदीपं आगमामाति चिन्तेत्वा सह वाणिजेहि नावं आरुहित्वा आगतो व होति ।

३. आवुसो बुद्धघोस, अहं अप्पायुको, न चिरं जीवामि । तस्मा न सक्कोमि सासनं कातुं । त्वं येव साधु करोहीति आह ।

लंका के राजा ने बुद्धघोष की कीर्ति सुनी और उन्हें अपने यहाँ बुलाया। एक दिन वे महास्थविर को प्रणाम करने गए। महास्थविर ने उनकी विद्वता पर प्रसन्न होकर उन्हें अध्यापन-कार्य करने के लिए कहा। तब उन्होंने निवेदन करते हुए अपने उद्देश्य को बतलाया कि मैं भारत से यहाँ सिंहली अट्ठकथाओं को मागधी में भाषान्तर करने के लिए आया हूँ।

महास्थविर ने उनकी बात सुन प्रसन्न हो कहा "यदि तुम सिंहली अट्ठकथाओं को मागधी में करना चाहते हो तो पहले इन दो गाथाओं को लेकर त्रिपिटक-ज्ञान को दिखलाओ।" और "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" गाथा-द्वय को दिया। बुद्धघोष ने इन्हीं दोनों गाथाओं को लेकर "विशुद्धि मार्ग" जैसे महाग्रन्थ की रचना की।

तब महास्थविर ने उन्हें रहने के लिए लौह-प्रासाद की निचली मंजिल में स्थान दिया और वहाँ रह कर उन्होंने सभी सिंहली अट्ठकथाओं को मागधी में लिखा। महास्थविर ने मागधी में लिखे गए इन ग्रन्थों को परम-उपयोगी देखकर महामहेन्द्र स्थविर द्वारा लिखे गए सिंहली ग्रन्थों को महाचैत्य (सुवर्णमाली) के पास परिशुद्ध स्थान में रखवा कर जलवा दिया!

उसके पश्चात् बुद्धघोष भिक्षुसंघ से आज्ञा ले भारत लौट आए।

बोधिवृक्ष के पास ही उनकी मृत्यु हुई और वहीं पर उनकी अस्थियों को लेकर एक स्तूप बनाया गया।"[१]

चूलवंश तथा बुद्धघोसुप्पत्ति—दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि बुद्धघोष का जन्म बुद्धगया के पास हुआ था। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था और प्रव्रजित होकर अपने आचार्य के आदेश से लंका गए थे। लंका में रहकर उन्होंने सिंहली अट्ठकथा ग्रन्थों को श्रवण किया तथा आचार्य-परम्परा को सुना। तदुपरान्त 'विशुद्धिमार्ग' की रचना की और उसके पश्चात् सिंहली अट्ठकथाओं का पालि में भाषान्तर किया। इस कार्य को समाप्त कर वे पुनः भारत लौट आए। उनका देहान्त भी बुद्धगया में ही हुआ। बुद्धघोसुप्पत्ति का यह कथन सर्वथा अशुद्ध है कि बुद्धघोष का बचपन से ही घोषकुमार नाम था, क्योंकि विशुद्धिमार्ग के अन्त में आया है—"बुद्धघोसोति गरूहि गहितनामधेय्येन थेरेन मोरण्डखेटक वत्तब्बेन कतो विसुद्धिमग्गो नाम।"[२] इससे स्पष्ट है कि 'बुद्धघोष' उनके गुरु द्वारा प्रदत्त नाम था, जो उन्हें प्रव्रज्या के पश्चात् प्राप्त हुआ था।

चूलवंश के अनुसार बुद्धघोष महानाम के समय में लंका गये थे। महानाम बुद्धाब्द ९४५ (ई० सन् ४०२) में राजसिंहासन पर बैठा था और बुद्धाब्द ९६७ (ई० सन् ४२४) तक राज्य किया था। बुद्धघोष उपसम्पन्न होकर लंका गये थे, अर्थात् उनकी लंकायात्रा बीस वर्ष की अवस्था के पश्चात् हुई थी, क्योंकि उपसम्पदा बीस वर्ष से कम की अवस्था में नहीं होती है। यदि हम मान लें कि बुद्धघोष २५ वर्ष की अवस्था में लंका गए, उस समय वहाँ महानाम राज्य कर रहा था और उसी के राज्य-काल में अपना कार्य-समाप्त कर भारत लौट भी आए, तो कम से कम पन्द्रह वर्ष अवश्य ही उन्हें लंका में रहना पड़ा होगा, और इस प्रकार उनका जन्म लगभग ई० सन् ३८० (बुद्धाब्द ९२३) में हुआ होगा। इस प्रकार प्रगट है कि बुद्धघोष भारत के गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के समय में हुए थे।

---

१. मनुस्सा धातुयो गहेत्वा महाबोधिसमीपे येव सुद्धेसु भूमिपदेसु निदहित्वा थूपं कारयिंसु।

२. अर्थ—गुरुओं द्वारा 'बुद्धघोष' रखे गए नामवाले मोरण्डखेटक के निवासी स्थविर ने इस विशुद्धिमार्ग को लिखा।

डा० विंटरनित्स ने महानाम का समय ई० सन् ४१३ से ४३५ तक निर्धारित किया है। उन्होंने अपने पक्ष के प्रमाण में लिखा है कि बुद्धघोष का समकालीन महानाम पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राज्य करता था। ४२८ ई० में चीन देश के राजा ने उसके पास अपना दूत भेजा था। इसलिए महानाम का समय ४१३ से ४३५ ई० तक माना जाता है। बुद्धघोष का भी यही समय है। इसकी पुष्टि इस घटना से होती है कि बुद्धघोष द्वारा लिखित विनयपिटक की अट्ठकथा 'समन्तपासादिका' का चीनी भाषा में अनुवाद ४८९ ई० में हुआ था।[१]

यदि इस पक्ष को भी मान लें, तो भी बुद्धघोष का जन्म चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में ही हुआ था और वे ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। फिर भी, लंका के इतिहासज्ञ महानाम का समय ई० सन् ४०२ से ४२४ ही मानते हैं।[२] भिक्षु-परम्परागत इतिहास और आचार्य-परम्परा से भी पूर्व-पक्ष ही स्थिर होता है, अतः बुद्धघोष का जन्म ३८० ई० के आसपास मानना ही समुचित है। यदि हम उन्हें ६० वर्ष की अवस्था तक जीवित रहना मान लें, तो उनकी मृत्यु लगभग ४४० ई० के आसपास अर्थात् कुमारगुप्त प्रथम (ई० सन् ४१३–४५५) के समय में हुई। इस प्रकार बुद्धघोष का जीवन काल ई० सन् ३८० से ४४० तक माना जाना चाहिए।

विनयपिटक की अट्ठकथा "समन्तपासादिका" के अन्त में बुद्धघोष ने लिखा है :—

> "पालयन्तस्स सकलं लंकादीपं निरब्बुदं।
> रञ्ञो सिरिनिवासस्स सिरिपाल यसस्सिनो॥
> समवीसतिमे खेमे जयसंवच्छरे अयं।
> आरद्धा एकवीसम्हि सम्पत्ते परिनिट्ठिता॥"

यह श्रीनिवास कौन था ? चूलवंश आदि ग्रन्थों में कोई वर्णन उपलब्ध नहीं। सम्भव है यह भी महानाम का ही नाम हो। यदि श्रीनिवास महानाम ही है, तो बुद्धघोष ने उसके सिंहासन पर बैठने के बीसवें वर्ष में समन्तपासादिका को लिखना प्रारम्भ किया था। अर्थात् ४२२ में उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ कर ४२३ में समाप्त किया। इससे ज्ञात होता है कि बुद्धघोष ४२३ तक लंका में ही थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि बुद्धघोष ने समन्तपासादिका को सर्वप्रथम लिखा, यदि यह बात ठीक हो, तो बुद्धघोष लंका में ४३५ ई० के आसपास तक अवश्य ही रहे होंगे और उन्हीं के समय में तामिलों ने लंका पर अधिकार किया होगा।

'बुद्धघोष कहाँ के रहने वाले थे ?' इस प्रश्न को लेकर स्वर्गीय आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने अपने द्वारा सम्पादित 'विसुद्धिमग्ग' की भूमिका में लिखा है कि बुद्धघोष उत्तर भारत के नहीं हो सकते। उन्होंने यह भी लिखा है कि वे तेलगू प्रदेश के तैलंग ब्राह्मण थे और उनका उत्पत्ति-ग्राम मोरण्डखेडा था।[३] उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किए हैं :—

(१) बुद्धघोष की रचनाओं में उत्तर भारत का आँखों देखा कोई वर्णन नहीं है, उन्हें उत्तर भारत की गर्मी का भी अनुभव नहीं था। उन्होंने मगध और विदेह के मध्य गंगा में बालू

---

१. डा० विंटरनित्स-हिस्ट्री भाग २, पृष्ठ १९०।

२. देखिये, श्री डी० एच० एस० अबयरतन द्वारा सम्पादित 'सिंहल महावंशय' पृष्ठ १५७-५८ तथा भूमिका पृष्ठ ६।

३. देखिये, भूमिका, पृष्ठ १५।

के टीलों का होना लिखा है, और ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने लंका की परिचित नदी "महावली गंगा" का ही वर्णन किया है, भारत की गंगा का नहीं।

(२) बुद्धघोष ब्राह्मण भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का भी ज्ञान नहीं था, तत्कालीन प्रत्येक ब्राह्मण के लिए जिसे जानना अपेक्षित था।

(३) संस्कृत साहित्य के 'भ्रूणहा' शब्द का भी उन्हें ज्ञान नहीं था, क्योंकि उन्होंने 'भूनहुनो' शब्द का अर्थ अशुद्ध लिखा है।

(४) बुद्धघोष को पतञ्जलि-दर्शन आदि का ज्ञान भी बहुत थोड़ा था।

(५) रामायण तथा महाभारत से भी परिचय नहीं था, क्योंकि उन्होंने इनका केवल उल्लेख मात्र किया है।

(६) विशुद्धिमार्ग के अन्त में "मोरण्डखेटक वत्तब्बेन" आए हुए वचन से भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्धघोष दक्षिण भारत के रहने वाले थे।

(७) मनोरथपूरणी, पपञ्चसूदनी आदि अट्ठकथाओं में लिखे गए निदान एवं निगमन गाथाओं से भी बुद्धघोष का सम्बन्ध दक्षिण भारत से ही था—ऐसा ज्ञात होता है।

कौशाम्बी जी ने जिन बातों का उल्लेख करते हुए बुद्धघोष के सम्बन्ध में अपने मत की पुष्टि की है, उनपर क्रमशः हम यहाँ विचार करेंगे।

बुद्धघोष को उत्तर भारत का पूर्ण ज्ञान था, इस बात को उनकी अट्ठकथाओं से ही जाना जा सकता है। उनकी अट्ठकथाएँ उत्तर भारत का भौगोलिक दिग्दर्शन हैं। उन्होंने श्रावस्ती, ऋषिपतन मृगदाय, कुशीनगर, राजगृह, बुद्धगया आदि प्रायः सभी स्थानों का सुन्दर वर्णन किया है और दिशा तथा दूरी का भी उल्लेख किया है। विशाख स्थविर[१] की कथा का उल्लेख कौशाम्बी जी ने जो किया है, उसमें कोई भी ऐसी बात नहीं, जिससे बुद्धघोष की उत्तर भारत के प्रति अज्ञानता प्रदर्शित हो। गंगा नदी में मगध और विदेह के मध्य बुद्धघोष ने जो बालू का टीला होने की बात लिखी है,[२] उसे केवल अर्थ को स्पष्ट करने के लिए लिखी है, वहाँ भौगोलिक दिग्दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं।

कौशाम्बी जी ने "उण्हस्साति अग्गिसन्तापस्स। तस्स वनदाहादिसु सम्भवो वेदितब्बो" विशुद्धिमार्ग[३] में आये इस वाक्य को लेकर कहा है कि बुद्धघोष को उत्तर भारत की गर्मी का भी अनुभव नहीं था। हमने इसका विस्तार पूर्वक उत्तर विशुद्धिमार्ग की पादटिप्पणी में दे दिया है और लिखा है कि यदि कौशाम्बी जी ने 'आतप' और 'वात' शब्दों पर ध्यान दिया होता तो ऐसी असाधारण त्रुटि न हो पाती।[४]

'बुद्धघोष ब्राह्मण नहीं थे।' इसकी पुष्टि के लिए कौशाम्बी जी ने दो बातों का उल्लेख किया है—(१) उन्हें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का ज्ञान नहीं था और (२) उन्होंने गृहपति या कृषक-वर्ग की प्रसंशा की है।

---

१. देखिये विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ २७८-७९।

२. तेन हि गोपालकेन··· मज्झे गङ्गाय गुण्णं विस्समट्ठानत्थं द्वे तीणि वालिकत्थलानि सल्लक्खेतब्बानि अस्सु। पपञ्चसूदनी १, ४, ४।

३. देखिये पृष्ठ ३२।

४. देखिये विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ ३२ की पादटिप्पणी, संख्या २।

हम देखते हैं कि कौशाम्बी जी द्वारा उदाहृत ऋचा ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों के निर्माण के सम्बन्ध में मिलती है, जो इस प्रकार है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[१]

अर्थ—ब्राह्मण उसका मुख था, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जंघा और शूद्र पैर से उत्पन्न हुआ था।

मूल त्रिपिटक-पालि से विदित है कि बुद्धकाल में ऐसी मान्यता थी कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है, क्षत्रियों की कर से, वैश्यों की नाभी से, शूद्रों की घुटने से और श्रमणों की पैर से। दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त में अम्बष्ठ ब्राह्मण-युवक द्वारा कहा गया है—"हे गौतम ! जो ये मुण्डे, श्रमण, काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न हैं, उनकी बातचीत मेरे साथ ऐसे ही होती है।[२]

और भी :—

"...ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे होते हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अ-ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुख से उत्पन्न, ब्रह्मज, ब्रह्मनिर्मित और ब्रह्मा के दायाद (=उत्तराधिकारी) हैं। ऐसे तुम लोग श्रेष्ठ वर्ण को त्याग कर नीच वर्ण वाले हो गए, ऐसा ठीक नहीं, उचित नहीं।"[३]

ऐसे पाठों के रहते हुए बुद्धघोष इनके विपरीत तत्कालीन ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलम्बन नहीं कर सकते थे। बुद्धकालीन बात को ही उन्होंने अंगीकार किया। यह भी सम्भव है कि उक्त ऋचा का स्वरूप पीछे ब्राह्मण-पण्डितों ने ही परिवर्तित कर दिया हो। यदि ऐसी बात न होती तो बुद्धकाल के ब्राह्मणों के मुख से भी पुरुषसूक्तके विपरीत वर्णन नहीं होता। जो भी हो, बुद्धघोष का यह वर्णन सर्वथा उचित एवं शास्त्रानुमोदित है :—

"तेसं किर अयं लद्धि, ब्राह्मणा ब्रह्मुनो मुखतो निक्खन्ता, खत्तिया उरतो, वेस्सा नाभितो, सुद्दा जानुतो, समणा पिट्ठिपादतोति।"[४]

बुद्धघोष ने गृहपति की जो प्रशंसा की है, उसका भी कारण है। भगवान् बुद्ध ने जहाँ-कहीं भी शील, समाधि एवं प्रज्ञा की भावना-विधि बतलाई है, प्रायः गृहपति या गृहपति-पुत्र से ही प्रारम्भ की है। जैसे :—

"भगवान् ने कहा—"महाराज ! जब संसार में तथागत अर्हत, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या-आचरण से युक्त, सुगत, लोकविद्, अनुत्तर, पुरुषों को दमन करने के लिए अनुपम चाबुक सवार, देव-मनुष्यों के शास्ता, और बुद्ध उत्पन्न होते हैं, वह देवताओं के साथ, मार के साथ, ब्रह्मा के साथ तथा देवताओं और मनुष्यों के साथ, इस लोक को स्वयं जाने, साक्षात् किए धर्म को उपदेश

१. देखिये, ऋग्वेद १०, ९०, १२, अथर्ववेद १९, ६, ६ और यजुर्वेद ३१, ११।

२. ये च खो ते भो गोतम, मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादपच्चा, तेहिपि मे सद्धिं एवं कथासल्लापो होति। अम्बट्ठसुत्त, दीघ नि० १, ३।

३. दीघनि० ३, ४ और मज्झिम नि० २, ५, ३।

४. सुमङ्गल विलासिनी १, ३

करते हैं। वह आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, अन्त्य-कल्याण धर्म का उपदेश करते हैं। सार्थक, स्पष्ट, बिल्कुल पूर्ण और शुद्ध ब्रह्मचर्य को बतलाते हैं। उस धर्म को गृहपति या गृहपति का पुत्र या किसी दूसरे कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष सुनता है। वह उस धर्म को सुनकर तथागत के प्रति श्रद्धालु हो जाता है।"[1]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि बुद्धघोष ने जो कुछ लिखा है यथार्थ लिखा है और उससे 'वे ब्राह्मण नहीं थे'—ऐसा कदापि सिद्ध नहीं होता।

बुद्धघोष को संस्कृत साहित्य का पूर्ण ज्ञान था। बुद्धघोसुप्पत्ति से विदित है कि लंका के भिक्षु-संघ ने उनके संस्कृत-ज्ञान की भी परीक्षा ली थी, जिसमें बुद्धघोष निपुण पाये गए।[2] कौशाम्बी जी ने "भ्रूणहा" शब्द की अनभिज्ञता दिखलाने के लिए "भूनहुनो' को उद्धृत किया है।

हम देखते हैं कि जो बातें संस्कृत-साहित्य में दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुई हैं, वही त्रिपिटक में अन्य अर्थ में हैं। वैसे स्थलों पर बुद्धघोष ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। वहाँ उनकी प्रतिभा का ज्ञान किसी भी चिंतनशील पाठक को हो सकता है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने अपने समसामयिक संस्कृत-साहित्य की उपेक्षा कर बुद्धकालीन ब्राह्मण-साहित्य पर ही ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ, बुद्धघोष के समय में महाभारत में 'भ्रूणहा' शब्द "ब्रह्मभ्रूण वृत्तेषु" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। यथा :—

"ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमान् वृतः।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभिः॥
अभिकामां स्त्रियं यस्तु गम्यां रहसि याचितः।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः॥"[3]

मनु ने भी इस शब्द का प्रयोग दूसरे ही अर्थ में किया था :—

"अन्नादेर्भ्रूणहामार्ष्टिपत्यौ भार्य्यापचारिणी।[4]

यही शब्द पालि साहित्य में दूसरे अर्थ में प्रयुक्त था। सम्भवतः तत्कालीन वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में पालि में आये हुए अर्थ में ही 'भ्रूणहा' शब्द का व्यवहार था, जो इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है :—

"एक समय भगवान् कुरुदेश के कम्मासदम्म नामक कुरुओं के निगम में भारद्वाज-गोत्र वाले ब्राह्मण की अग्निशाला में तृणासन पर विहार कर रहे थे। तब भगवान् ने पूर्वाह्न के समय पात्र-चीवर ले, कम्मासदम्म में भिक्षा के लिए प्रवेश किया। कम्मासदम्म में भिक्षाटन कर भोजन से निवृत्त हो, दिन के विहार के लिए वे एक वन में गए। जाकर एक पेड़ के नीचे बैठे।

उस समय मागन्दिय परिव्राजक घूमता-घामता जहाँ भारद्वाज-गोत्र वाले ब्राह्मण की अग्निशाला थी, वहाँ गया। उसने अग्निशाला में तृण का आसन बिछा देख भारद्वाज गोत्र वाले ब्राह्मण से कहा—

---

१. देखिये, हिन्दी दीघ नि०, पृष्ठ २३।
२. बुद्धघोसुप्पत्ति, सत्तमो परिच्छेदो, पृष्ठ २४।
३. महाभारत, आदि पर्व १, ८३, ३४।
४. मनुः ८, ३२७।

"आप भारद्वाज की अग्निशाला में किसका तृणासन बिछा हुआ है, श्रमण का जैसा जान पड़ता है ?"

"हे मागन्दिय ! शाक्य-पुत्र, शाक्य-कुल से प्रव्रजित···जो श्रमण गौतम हैं, उन्हीं के लिए यह शय्या बिछी है।"

"हे भारद्वाज ! यह बुरा देखना हुआ, जो हमने भ्रूणहा (भूनहू) गौतम की शय्या को देखा।"

"रोको इस वचन को मागन्दिय ! रोको इस वचन को मागन्दिय ! उन गौतम के ऊपर क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य सभी पण्डित श्रद्धावान् हैं।"

"हे भारद्वाज ! यदि मैं गौतम को सामने भी देखता तो उनके सामने भी उन्हें भ्रूणहा (भूनहू) ही कहता। सो किस कारण ? ऐसा ही हमारे सूत्रों में आता है।"[1]

"यदि मागन्दिय ! आपको बुरा न लगे तो इस बात को मैं श्रमण गौतम से कहूँ ?"

"बे-खटके आप भारद्वाज ! मेरी कही बात उनसे कहें।..."

तब भारद्वाज जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया और संमोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे भारद्वाज गोत्र ब्राह्मण से भगवान् ने यह कहा—"भारद्वाज ! तृणासन के सम्बन्ध में मागन्दिय परिव्राजक के साथ क्या कुछ बातचीत हुई ?"

ऐसा कहने पर भारद्वाज ब्राह्मण ने संविग्न और रोमांचित हो भगवान् से कहा—"यही हम आपसे कहनेवाले थे, जो कि आपने स्वयं कह दिया !"

दोनों में ऐसे ही बातचीत हो रही थी कि इतने में मागन्दिय परिव्राजक भी वहाँ आ पहुँचा और सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे उससे भगवान् ने यह कहा—"मागन्दिय ! चक्षु अच्छे रूपों को देखकर आनन्दित होनेवाला है, रूप में मुदित रहनेवाला है, वह तथागत का संयत, गुप्त और रक्षित है। तथागत उसके संयम के लिए धर्म का उपदेश करते हैं। मागन्दिय ! यही सोचकर तूने कहा—"श्रमण गौतम भ्रूणहा (भूनहू) है ?"

"हे गौतम ! यही सोचकर मैंने कहा। सो किस हेतु ? ऐसा ही हमारे सूत्रों में आता है।"[2]

इस वार्ता से ज्ञात होता है कि 'भ्रूणहा' शब्द भगवान् के समय में ब्राह्मण-साहित्य में उक्त अर्थ में ही प्रयुक्त था, न कि महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में आये हुए अर्थ में। मागन्दिय सुत्त की अट्ठकथा में बुद्धघोष ने ठीक वही बात कही, जो बुद्ध-कालीन ब्राह्मण-वाङ्मय में व्यवहृत थी। उन्होंने 'भूनहू' शब्द की व्याख्या इस प्रकार लिखी है :—

"भूनहुनोति हतवड्ढिनो, मरियादकारकस्स। कस्मा एवमाहु ? छसु द्वारेसु वड्ढिपञ्ञापन-लद्धिकत्ता। अयं हि तस्स लद्धि—चक्खु ब्रूहेतब्बं वड्ढेतब्बं अदिट्ठं दक्खिदब्बं दिट्ठं समतिक्कमितब्बं। सोतं ब्रूहेतब्बं वड्ढेतब्बं अस्सुतं सोतब्बं सुतं समतिक्कमितब्बं। घानं ब्रूहेतब्बं वड्ढेतब्बं अग्घायितं घायितब्बं घायितं समतिक्कमितब्बं। जिह्वा ब्रूहेतब्बा वड्ढेतब्बा असायितं सायितब्बं सायितं समतिक्कमितब्बं। कायो ब्रूहेतब्बो वड्ढेतब्बो अफुट्ठं फुसितब्बं फुट्ठं समतिक्कमितब्बं। मनो ब्रूहेतब्बो वड्ढेतब्बो अविञ्ञातं विजानितब्बं विञ्ञातं समतिक्कमितब्बं। एवं सो छसु द्वारेसु वड्ढि पञ्ञापेति।"[3]

१. एवं हि नो सुत्ते ओचरतीति।
२. मज्झिम नि० २, ३, ५।
३. पपञ्चसूदनी २, ३, ५।

'भ्रूणहा' शब्द त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर आया है और सर्वत्र इसी अर्थ में आया है। यथा :—

(१) "एते पतन्ति निरये उद्धपादा अवंसिरा।
इसीनं अतिवत्तारो सञ्ञतानं तपस्सिनं॥
ते भूनहुनो पच्चन्ति मच्छा बिलकता यथा।
संवच्छरे असंखेय्ये नरा किब्बिसकारिनो॥[१]"

(२) "उम्मत्तिका भविस्सामि,
भूनहता पंसुना च परिकिण्णा।[२]"

(३) "वेदा न ताणाय भवन्तिरस्स।
मित्तद्दुनो भूनहुनो नरस्स॥[३]"

(४) दुक्कतञ्च हि नो पुत्त!
भूनहच्चं कतं मया॥[४]

पतञ्जलि आदि दर्शन-ग्रन्थों का ज्ञान बुद्धघोष को था। उन्होंने ब्रह्मजाल आदि सूत्रों की अट्ठकथा में उनके मतों पर अच्छा प्रकाश डाला है। अणिमा, लघिमा का उल्लेख तो साधारण बात है। रामायण[५] तथा महाभारत का बुद्धघोष ने जहाँ वर्णन किया है, वहाँ उससे अधिक वे लिख नहीं सकते थे। वहाँ उनके कथन का भाव केवल इतना ही है कि रामायण तथा महाभारत की कथाएँ आसक्ति की ओर ले जाने वाली हैं, उनमें अहिंसा के स्थान पर हिंसा और वैराग्य के स्थान पर भोग-विलासका वर्णन अधिक है, अतः भिक्षुओं को उनके श्रवण-अवलोकन से वंचित रहना उत्तम है। जो भिक्षु घर-बार छोड़ कर अनासक्ति-पथ पर चल रहे हैं, उनके लिए बुद्धघोष का कथन अनुकूल ही है। और केवल इतने से ही नहीं कहा जा सकता कि उन्हें रामायण-महाभारत का ज्ञान नहीं था।

'मोरंडखेटक' शब्द से यह सिद्ध करना कि बुद्धघोष दक्षिण भारतीय थे, समुचित नहीं। इस शब्द का अर्थ उत्तर भारत के नगरों से भी मेल खा सकता है।

हम देखते हैं कि "मोरण्डखेटक वत्तब्बेन" विशुद्धिमार्ग के अतिरिक्त अन्य किसी भी अट्ठकथा में नहीं आया है। अन्य सारा पाठ सब ग्रन्थों में समान है। विशुद्धिमार्ग में भी सिंहली संस्करण में "मोरण्डचेटक वत्थब्बेन" पाठ है और बर्मी संस्करण में "मुदन्त खेदक वत्तब्बेन"। कौशाम्बी जी के देवनागरी संस्करण में "मोरण्डखेटक वत्तब्बेन" पाठ है। वास्तव में यह अन्तिम पाठ—जो बुद्धघोष की प्रशंसा में लिखा गया है, पीछे के किसी आचार्य द्वारा लिखा गया है। जिस बुद्धघोष ने अपने सम्बन्ध में कुछ भी लिखना उचित नहीं समझा और नहीं लिखा, वे स्वयं अपने गुणों की प्रशंसा में कुछ भी उठा न रखें, यह सम्भव नहीं। मोरण्डचेटक, मोरण्डखेटक या

---

१. संकिच्च जातक, १९, २।

२. खण्डहाल जातक २२, ५।

३. भूरिदत्त जातक २२, ६।

४. महावेस्सन्तर जातक २२, १०।

५. अक्खानन्ति भारतरामायणादि। तं यस्मिं ठाने कथियति, तत्थ गन्तुं न वट्टति—सुमंगल विलासिनी १, १।

मुदन्तखेदक शब्द से बुद्धघोष के उत्तर भारतीय नहीं होने का सन्देह करना समुचित नहीं, क्योंकि यह स्पष्ट नहीं है और दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय, खुद्दक निकाय आदि ग्रन्थों की किसी भी अट्ठकथा में यह शब्द उपलब्ध नहीं है।

बुद्धघोष ने मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में लिखा है:—

"आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त बुद्धमित्तेन।
पुब्बे मयूरसुत्तपट्टनम्हि सद्धिं वसन्तेन॥
परवादिवादविद्धंसनस्स मज्झिमनिकायसेट्ठस्स।
यमहं पपञ्चसूदनियट्ठकथं कातुमारद्धो॥"

इससे प्रकट होता है कि बुद्धघोष लंका जाने से पूर्व मयूरसुत्त बन्दरगाह पर भदन्त बुद्धमित्र के साथ कुछ दिन रहे थे और उनकी प्रार्थना पर ही उन्होंने मज्झिम निकाय की अट्ठकथा लिखी।

अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा से प्रगट है कि पहले बुद्धघोष काञ्जीवरम् में भदन्त ज्योतिपाल के साथ रहे थे और उन्हीं की प्रार्थना पर उन्होंने मनोरथपूरणी को लिखा।

"आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त जोतिपालेन।
कञ्चीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥
वर तम्बपण्णिदीपे महाविहारम्हि वसनकालेपि।
वाताहते विय दुमे पलुज्जमानम्हि सद्धम्मे॥
पारं पिटकत्तयसागरस्स गन्त्वा ठितेन सुब्बतिना।
परिसुद्धाजीवेनाभियाचितो जीवकेनापि॥
धम्मकथानयनिपुणेहि धम्मकथिकेहि अपरिमाणेहि।
परिकीळितस्स पटिपज्जितस्स सकसमयचित्रस्स॥
अट्ठकथं अंगुत्तर निकायस्स कातुमारद्धो।
यमहं चिरकालट्ठितिमिच्छन्तो सासनवरस्स॥"

ऐसा जान पड़ता है कि बुद्धघोष बुद्धगया से प्रस्थान कर दक्षिण भारत होते हुए लंका गए थे और मार्ग में अनेक विहारों में उन्होंने निवास किया था तथा अपने लंका जाने का उद्देश्य भी वहाँ के भिक्षुओं से कहा था। उन भिक्षुओं ने उनके उद्देश्य को जानकर उनकी प्रशंसा की थी और अट्ठकथाओं को लिखने की भी प्रार्थना की थी। बुद्धघोष ने काञ्जीवरम्, मयूरसुत्त बन्दरगाह के विहार आदि में कुछ दिन व्यतीत किया था। वहीं पर उन्हें भिक्षु बुद्धमित्र तथा भदन्त ज्योतिपाल से लंका जाने से पूर्व ही भेंट हुई थी।

आचार्य-परम्परा और लंका का इतिहास भी इसी बात की पुष्टि करता है। बुद्धघोसुप्पत्ति नामक ग्रन्थ में लिखा है—"पुब्बाचरियानं सन्तिका यथापरियत्तिं पञ्ञाय" अर्थात् पूर्व के आचार्यों के पास पर्य्याप्ति-धर्म को भली प्रकार जानकर इस ग्रन्थ को लिखा गया है। तात्पर्य, जितने भी ऐतिहासिक अथवा परम्परागत सूत्र हैं, सभी बुद्धघोष को उत्तर भारतीय ही मानते हैं।

बर्मा के आचार्यों का कथन है कि बुद्धघोष सिंहली अट्ठकथाओं को लिखने के पश्चात् धर्म-प्रचारार्थ बर्मा गये और वहाँ बहुत दिनों तक रहे। किन्तु, इस बात का उल्लेख किसी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं मिलता और न तो जनश्रुति के अतिरिक्त दूसरा ही कोई प्रमाण इस सम्बन्ध में प्राप्त

है। कम्बोडिया के बौद्धों का कहना है कि बुद्धघोष कम्बोडिया गये थे और वहीं पर उनका परिनिर्वाण हुआ था। डा० विमलाचरण लाहा ने लिखा है कि कम्बोडिया में 'बुद्धघोष विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार है, जिसमें बुद्धघोष ने वास किया था और वहीं उनके अन्तिम दिन व्यतीत हुए थे।[१]

बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष ने जिन ग्रन्थों की रचनाएँ कीं, उनमें से 'ज्ञानोदय' और 'विशुद्धिमार्ग' के अतिरिक्त शेष सभी अट्ठकथाएँ थीं। विशुद्धिमार्ग को भी 'विसुद्धिमग्गट्ठकथा' ही कहते हैं, किन्तु यह दीघनिकाय की अट्ठकथा सुमङ्गल विलासिनी आदि के समान कोई भिन्न अट्ठकथा-ग्रन्थ नहीं है। इसकी वर्णन-शैली में अट्ठकथा-ग्रन्थों की विधि का अनुसरण किया गया है। कहा जाता है कि बुद्धघोष ने अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ विशुद्धिमार्ग की रचना में 'विमुक्ति-मार्ग' नामक ग्रन्थ को आधार बनाया था, जिसके लेखक उपतिष्य स्थविर थे और जो प्रथम शताब्दी ईस्वी में लिखा गया था। वह अब केवल चीनी अनुवाद के रूप में ही उपलब्ध है, जो कि पाँचवीं शताब्दी का है। बुद्धघोष के सभी ग्रन्थ चीन में पहुँचे थे और उनका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। चीनी भाषा का ग्रन्थ "सुदर्शन विभाषा" उनकी समन्तपासादिका का ही अनुवाद है।[२] 'शासन वंश' के अनुसार बुद्धघोष ने 'पिटकत्तयलक्खण' नामक भी एक ग्रन्थ लिखा था, जो सम्प्रति प्राप्य नहीं है। कुप्पूस्वामी शास्त्री ने लिखा है कि 'पद्यचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ भी बुद्धघोष की ही रचना है, किन्तु विद्वानों ने अनेक अकाट्य प्रमाणों से उसे बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[३] बुद्धघोष की रचनाओं की तालिका इस प्रकार है:—

प्रकरण ग्रन्थ

१. ञाणोदय — अप्राप्त

स्वतन्त्र-अट्ठकथा-ग्रन्थ

२. विसुद्धिमग्ग

विनयपिटक की अट्ठकथाएँ

मूल-पालि ग्रन्थ	अट्ठकथा का नाम
३. पाराजिका पालि पाचित्तिय पालि चुल्लवग्ग महावग्ग परिवार	समन्तपासादिका (विनय-महा-अट्ठकथा)
४. पातिमोक्ख	कङ्खावितरणी

सुत्तपिटक की अट्ठकथाएँ

५. दीघनिकाय	सुमङ्गलविलासिनी
६. मज्झिम निकाय	पपञ्चसूदनी

---

१. दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पादटिप्पणी २।
२. त्रिपिटक परीक्षणय, पृष्ठ १०२।
३. देखिये, 'दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष', पृष्ठ ८५–९१।

७. संयुत्त निकाय	सारत्थप्पकासिनी
८. अंगुत्तर निकाय	मनोरथपूरणी
९. खुद्दकपाठ	परमत्थजोतिका
१०. सुत्तनिपात	,,
११. धम्मपद	,,
१२. जातक	,,

(इसे 'जातकट्ठवण्णना' भी कहते हैं)

अभिधम्मपिटक की अट्ठकथाएँ

१३. धम्मसङ्गणी	अट्ठसालिनी
१४. विभङ्ग	सम्मोहविनोदनी
१५. कथावत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, यमक, पट्ठान	परमत्थदीपनी (पञ्चप्पकरणट्ठकथा

बुद्धघोष की अट्ठकथाओं का महत्त्व

त्रिपिटक पालि का भलीभाँति अर्थ और कथान्तर जानने के लिए अट्ठकथाओं के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है। यदि अट्ठकथाएँ न होतीं तो त्रिपिटक के अर्थ का अनर्थ हो गया होता। कथान्तर तो सारे भूल ही गए होते। जातक, धम्मपद आदि की अट्ठकथाएँ कैसे कण्ठस्थ होकर भाणक-परम्परा से भी आ सकतीं''? सम्प्रति स्थविरवादी बौद्ध देशों में अट्ठकथाओं को उसी गौरव और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, जिससे कि पालि त्रिपिटक को। अट्ठकथाओं की भाषा बहुत ही सुन्दर तथा सरल है। अट्ठकथाओं में बुद्ध-कालीन भारत की संस्कृति, राजनीति, कला-कौशल, समाज तथा इतिहास की जानकारी के लिए पर्याप्त सामग्री है। बौद्ध धर्म की उन्नति-अवनति आदि के ज्ञान के लिए तो अट्ठकथाएँ आदर्श हैं।

ये अट्ठकथाएँ, चूँकि महामहेन्द्र द्वारा लिखी गई अट्ठकथाओं के आधार पर लिखी गई थीं, अतः इनमें आई सामग्री प्रामाणिक और परम्परागत है। इनकी प्रामाणिकताके कारण ही (१) महा अट्ठकथा, (२) पच्चरिय अट्ठकथा, (३) कुरुन्दि अट्ठकथा, (४) अन्धक अट्ठकथा और (५) संखेप अट्ठकथा—इन पाँचों प्राचीन अट्ठकथाओं की आवश्यकता नहीं रह गई और वे धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। बुद्धघोसुप्पत्ति के अनुसार फूँक दी गईं[1] अथवा किसी एक चैत्य में निधान कर दी गईं।[2] बुद्धघोष ने इन अट्ठकथाओं के महत्त्व को बतलाते हुए स्वयं लिखा है :—

"परम्परा से लाया गया उसका सुन्दर वर्णन जो ताम्रपर्णी (=लंका) द्वीप में उस द्वीप की भाषा में लिखा गया है, वह शेष प्राणियों के हितार्थ नहीं होता, शायद वह सारे लोकवासियों के

१. ततो पट्ठाय सोपि महिन्दत्थेरेन लिखापितानि गन्थानि रासि कारापेत्वा महाचेतियस्स समीपे परिसुद्धट्ठाने झापेसि —सातवाँ परिच्छेद, पृ० २३।

२. त्रिपिटक परीक्षणय, पृ० १०३।

हितार्थ हो'''(ऐसी आराधना करने पर) सिंहली भाषा से मनोरम पालि भाषा में भाषान्तर कर, पण्डितों के मन में प्रीति और आनन्द को उत्पन्न करते हुए, अर्थ-धर्म के साथ कहूँगा।''[१]

अट्ठकथाओं की सम्पादन-विधि

बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में चार बातों का क्रम विशेष रूप से अपनाया—(१) सूत्र, (२) सूत्रानुलोम, (३) आचार्यवाद और (४) अपना मत। चार महाप्रदेशों[२] का भी अतिक्रमण नहीं किया। जो बातें सूत्रों में आई हुई थीं, सूत्र के अनुसार हो सकती थीं, उस विषय में आचार्यों का जो कुछ वाद-विवाद हुआ था तथा जो अपनी राय होती, सबको दिखलाते हुए, पूर्ण निश्चय के साथ अट्ठकथाओं का सम्पादन किया।

'बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं का पालि भाषा में अनुवाद मात्र किया था'—ऐसा कुछ लोग मानते हैं, किन्तु जब हम इस पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि सिंहली अट्ठकथाओं का अवलम्ब अवश्य लिया गया है, उनका अनुवाद मात्र नहीं। यदि अनुवाद मात्र किया गया होता, तो नाना मत-मतान्तर नहीं आए होते। जैसे—''विनय-अट्ठकथा में यह कहा गया है, किन्तु दीघनिकाय-अट्ठकथा में तो।'' बुद्धघोष ने अट्ठकथाओं के सम्पादन में महाअट्ठकथा आदि का न केवल अनुसरण किया, बल्कि कठिन शब्दों और अवर्णित स्थानों की व्याख्या भी की। ऐसा करने में भी विशेषकर त्रिपिटक के सूत्रों का ही अवलम्बन किया। सूत्रों के विरुद्ध किसी भी बात को अट्ठकथा में स्थान नहीं दिया। प्राचीन अट्ठकथाओं में जो महाअट्ठकथा सुत्तपिटक की, पच्चरिय अभिधम्मपिटक की और कुरुन्दि विनयपिटक की अट्ठकथाएँ थीं, नवीन-सम्पादन में भी क्रमानुसार योग लिया गया।

एक ताड़पत्र पर लिखित ग्रन्थ 'सद्धम्मसङ्गहो' में अट्ठकथाओं के विषय में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—''आयुष्मान् बुद्धघोष ने सिंहली भाषा से भाषान्तर कर मागधी भाषा में समन्तपासादिका नामक विनय की अट्ठकथा बनाई। उसके बाद सुत्तपिटक में महाअट्ठकथा का अनुवाद कर 'सुमङ्गलविलासिनी' नामक दीघनिकाय की अट्ठकथा, पपञ्चसूदनी नामक मज्झिम निकाय की अट्ठकथा, सारत्थप्पकासिनी नामक संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा और मनोरथपूरणी नामक अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा लिखी। तदनन्तर अभिधम्मपिटक में महापच्चरिय का अनुवाद करके अत्थसालिनी नामक धम्मसंगणी की अट्ठकथा, सम्मोहविनोदनी नामक विभङ्ग की अट्ठकथा और परमत्थदीपनी नामक पाँच प्रकरणों की अट्ठकथा बनाई, जिन्हें 'पञ्चप्पकरणट्ठकथा' भी कहते हैं।''

---

१. परम्पराभता तस्स निपुणा अत्थवण्णना।
या तम्बपण्णीदीपम्हि दीपभासाय सण्ठिता॥
न साधयति सेसानं सत्तानं हितसम्पदं।
अप्पेव नाम साधेय्य सब्बलोकस्स सा हितं॥
पहाय रोपयित्वान तन्तिभासं मनोरमं।
भासन्तरेन भासिस्सं आवहन्तो विभाविनं।
मनसा पीतिपामोज्जं अत्थधम्मूपनिस्सित'न्ति॥ —धम्मपदट्ठकथा।

२. महाप्रदेश क्या है? देखिये, हिन्दी दीघनिकाय पृष्ठ १३५।

बुद्धघोष ने आचार्यवाद के साथ-साथ 'मिलिन्द पञ्ह' से भी बड़ी सहायता ली है। जहाँ-जहाँ आवश्यकता जान पड़ी है, वहाँ-वहाँ मिलिन्द पञ्ह का उद्धरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। पीछे के अट्ठकथा लेखकों ने भी बुद्धघोष के इस क्रम को अपनाया है।

महावंश से भी ऐतिहासिक बातों की पुष्टि के लिए उद्धरण देकर बुद्धघोष ने ऐतिहासिक सत्य की मर्यादा कायम रखी है।

बुद्धघोष को सिंहली अट्ठकथाओं की जो बातें सूत्रानुकूल नहीं जान पड़ीं, उन्होंने उनका सर्वदा त्याग कर दिया है। बुद्धघोष ने स्वयं बहुत से स्थानों पर पुरातन अट्ठकथाओं का दोष दिखलाया है और यह भी कहा है कि ऐसी अशुद्धियाँ पीछे के लेखकों द्वारा हुई हैं—"महाअट्ठकथा में सत्य में भी, झूठ में भी दुष्कृत (= दुक्कट) ही मात्र कहा गया है, वह प्रमादवश लिखा गया है—ऐसा जानना चाहिए।"[1] "किन्तु अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा में पहले वैरी व्यक्ति पर करुणा करनी चाहिए, उस पर चित्त को मृदु करके, निर्धन पर, तत्पश्चात् प्रिय व्यक्ति पर, उसके बाद अपने पर—यह क्रम वर्णित है।"[2]

बुद्धघोष ने कुछ ऐसी बातों को भी अट्ठकथा में स्थान दिया, जो न सूत्रों में ही आई हुई थीं और न तो प्राचीन अट्ठकथाओं में ही। राग आदि चर्य्या का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"चूँकि यह चर्य्या का सब प्रकार से विभावन-विधान न तो पालि में आया हुआ है और न अट्ठकथा में ही, केवल आचार्यों के मतानुसार मैंने कहा है; इसलिए इसे ठीक रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए।"[3] ऐसे ही "यह पुराने लोगों द्वारा विचारा नहीं गया है।"[4] आदि।

प्राचीन अट्ठकथाओं के पाठों में जहाँ बहुत मतभेद दीख पड़ा है, वहाँ उन्होंने—"हमें यह नहीं जँचता, हमारा कथन यह है" लिखा है। बहुत से स्थलों पर बिल्कुल मौन धारण कर लिया है। मूल-पालि-पाठों के सम्बन्ध में भी और अशुद्धपाठों के सम्बन्ध में भी अशुद्ध उल्लेखों को बतलाते गए हैं—"ऐसा भी पाठ है···अथवा यही पाठ शुद्ध है···यह भी पुराना पाठ है।" इत्यादि।

हम देखते हैं कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में बहुत से आचार्यों के मत संगृहीत हैं, जो पुरानी अट्ठकथाओं के समय के नहीं, प्रत्युत बुद्धघोष के समकालीन अथवा कुछ पूर्व काल के थे। उनमें से कुछ के नाम ये हैं:—

(१) चूळसीव, इसिदत्त, महासोण आदि स्थविरों के मतभेद और निर्णय[5], (२) निग्रोध-स्थविर[6], (३) चूळ सुधम्म स्थविर[7], (४) त्रैपिटक चूळनाग स्थविर[7], (५) अन्यतम स्थविर[8],

१. समन्त पासादिका।
२. विशुद्धिमार्ग, ब्रह्मविहार-निर्देश, पृष्ठ २८१।
३. विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ १००।
४. 'अविचारितं पोराणेहि'—पपञ्चसूदनी पृष्ठ २४।
५. सम्मोह विनोदनी पृष्ठ ३१४।
६. सम्मोह विनोदनी पृष्ठ ३१७।
७. सम्मोह विनोदनी पृष्ठ ३१९।
८. विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ ५०।

(६) महासीव स्थविर[1], (७) मलियदेव स्थविर[2], (८) तिष्यभूति[2], (९) अन्यतम श्रामणेर[3] (१०) महातिष्य[1], (११) द्वैभातिक स्थविर[4], (१२) अन्यतम स्थविर[5] (१३) तिष्य स्थविर[6] (१४) अन्यतर तरुण भिक्षु[7] (१५) तरङ्गलवासी धम्मदिन्न[1] (१६) फुस्सदेव[8] (१७) अन्यतर प्रव्रजित[9] (१८) चूळनाग या महानाग[10] (१९) कुब्जतिष्य[11] (२०) महातिष्यभूति[12] (२१) दीघभाणक अभय स्थविर[13] (२२) पधानिय स्थविर[13] (२३) महाफुस्स स्थविर[14] (२४) चूळसमुद्द स्थविर[15] (२५) अन्यतर श्रामणेर[3]।

इनमें से कुछ ऐसे हैं, जिन्होंने स्वयं बुद्धघोष से तद्विषयक वाद-विवाद किया था अथवा बुद्धघोष ने उनके पास जाकर अपने सन्देह दूर किए थे।

अट्ठकथाओं में विशुद्धिमार्ग का स्थान

बुद्धघोष ने विशुद्धिमार्गको लिखने में ऐसी विद्वत्ता से काम किया है कि अट्ठकथाओं के पढ़ने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। उन्होंने अपनी अट्ठकथाओं में, जहाँ कहीं विस्तार करने की बात आई है और यदि उसकी विस्तार-कथा विशुद्धिमार्ग में रही है, तो वहाँ यह कह दिया है कि विशुद्धिमार्ग में इसका पर्याप्त वर्णन किया है, अतः इसे वहीं देखें। अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा के प्रारम्भ में ही विशुद्धिमार्ग का स्थान-निर्देश करते हुए बुद्धघोष ने लिखा है—"शील-कथा, धुताङ्ग-धर्म और सब कर्मस्थान, चर्या-विधान के साथ ध्यान-समापत्ति का विस्तार, सब अभिज्ञाएँ और प्रज्ञा-संकलन-निश्चय, स्कन्ध, धातु, आयतन, इन्द्रिय, चार आर्य सत्य, प्रत्ययों के आकार की देशना (=प्रतीत्य-समुत्पाद) और पालि के अनुसार ही विपश्यना-भावना—सभी चूँकि परिशुद्ध रूप से मैंने विशुद्धिमार्ग में कह दिया है, इसलिए उनका प्रायः यहाँ विचार नहीं करूँगा। यह विशुद्धिमार्ग चारों आगमों (=निकायों) के मध्य रहकर यथोक्त अर्थ को प्रकाशित

---

१. मनोरथपूरणी, पृष्ठ २४।
२. मनोरथपूरणी, पृष्ठ २२।
३. सम्मोह विनोदनी, पृष्ठ २०४।
४. मनोरथपूरणी, पृष्ठ ४४।
५. सम्मोह विनोदनी पृष्ठ २८६।
६. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ३१२।
७. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ३५३।
८. विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ २०७।
९. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ५४९।
१०. सारत्थप्पकासनी, पृष्ठ १२५।
११. मनोरथपूरणी, पृष्ठ ३८४।
१२. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ५५।
१३. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ ६५।
१४. पपञ्चसूदनी, पृष्ठ २०४।
१५. विशुद्धिमार्ग, दूसरा भाग, पृष्ठ २७।

रहेगा, वह इसीलिए लिखा भी गया है, अतः उसे भी इस अट्ठकथा के साथ लेकर दीघनिकाय के सहारे अर्थ को जानिए।"[1]

मनोरथपूरणी के अन्त में भी—"चूँकि आगमों के अर्थ को प्रकाशित करने के लिए उनसठ (५९) भाणवारों[2] द्वारा 'विशुद्धिमार्ग' को भी लिखा गया है, इसलिए उसके साथ यह अट्ठकथा गाथा की गणना के अनुसार एक सौ तिरपन (१५३) भाणवारोंकी जाननी चाहिए।"[3] यही पाठ थोड़े-बहुत अन्तर से पपञ्चसूदनी आदि अट्ठकथा-ग्रन्थों के प्रारम्भ और अन्त में आए हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि बिना विशुद्धिमार्ग के आगम की अट्ठकथाएँ पूर्ण नहीं होतीं। आगम की अट्ठकथाओं में ही इसकी भी गणना होती है, उन्हें पढ़ते समय इसे उनके बीच रखकर पढ़ना उचित है।

विशुद्धिमार्ग की विषय-भूमि

विशुद्धिमार्ग तीन भागों और तेईस परिच्छेदों में विभक्त है। पहला भाग शीलनिर्देश है, जिसमें शील और धुताङ्गों का विशद वर्णन है। दूसरा भाग समाधिनिर्देश है, जिसमें कुल ग्यारह परिच्छेद हैं और क्रमशः कर्मस्थानों के ग्रहण करने की विधि, पृथ्वी कसिण, शेष कसिण, अशुभ कर्मस्थान, छः अनुस्मृति, अनुस्मृति कर्मस्थान, ब्रह्मविहार, आरुप्य, समाधि, ऋद्धिविध और अभिज्ञाओं का वर्णन है। तीसरा भाग प्रज्ञा-निर्देश है, जिसमें दस परिच्छेदों का समावेश है और क्रमशः स्कन्ध, आयतन-धातु, इन्द्रिय-सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद (=प्रज्ञाभूमि निर्देश), दृष्टि-विशुद्धि, कांक्षा-वितरण-विशुद्धि, मार्गामार्गज्ञान-दर्शन-विशुद्धि, प्रतिपदा ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि, ज्ञानदर्शन-विशुद्धि और प्रज्ञा-भावना का आनृशंस (=गुण) वर्णित है।

ग्रन्थ का प्रधान विषय योग है। शीलनिर्देश के प्रारम्भ में लिखा है—"बुद्धधर्म में अत्यन्त दुर्लभ-प्रव्रज्या को पाकर, विशुद्धि (=निर्वाण) के लिए कल्याणकर सीधे मार्ग, और शील आदि के संग्रह को ठीक-ठीक नहीं जाननेवाले, शुद्धि को चाहने वाले भी योगी, बहुत उद्योग करने पर भी उसे नहीं पाते हैं। उनके प्रमोद के लिए बिल्कुल परिशुद्ध महाविहार वासी (भिक्षुओं) के निर्णय के साथ, धर्म के आश्रित हो विशुद्धिमार्ग को कहूँगा।" आचार्य बुद्धघोष ने योगी के मनकी सारी प्रवृत्तियों और अवस्थाओं का ध्यान रखते हुए इस ग्रन्थ को लिखा है। प्रत्येक परिच्छेद के

---

१. इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गे मया सुपरिसुद्धं।
वुत्तं तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामि॥
मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नम्पि आगमानं हि।
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं॥
इच्चेव कतो तस्मा तम्पि गहेत्वान सद्धिमेताय।
अट्ठकथा विजानाथ दीघागमनिस्सितं अत्थन्ति॥
—मनोरथपूरणी, पृष्ठ २।

२. एकूनसट्ठिमत्तो विसुद्धिमग्गोपि भाणवारेहि।
अत्थप्पकासनत्थाय आगमानं कतो यस्मा॥
किन्तु, 'विशुद्धिमार्ग' के अन्त की गाथा में "अंठावन (५८) भाणवार" (निट्ठितो अट्ठपञ्ञास भाणवाराय पालिया) कहा गया है।

३. देखिये, पृष्ठ ८५५।

अन्त में "सज्जनों के प्रमोद के लिए लिखे गये विशुद्धिमार्ग में" कहकर उस परिच्छेद को समाप्त किया है।

इस ग्रन्थ का विषय प्रधानतः योग होते हुए भी बुद्ध-दर्शन का गवेषणा-पूर्ण प्रतिपादन और अन्य दर्शनों की बौद्ध-दर्शन से विभिन्नता का दिग्दर्शन किया है। पातञ्जलि, सांख्य आदि मतों का भी तुलनात्मक अध्ययन अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है।[1] पतञ्जलि ऋषि ने अपने योग-दर्शन को (१) समाधिपाद (२) साधनपाद (३) विभूतिपाद और (४) कैवल्यपाद—इन चार भागों में विभक्त करके क्रमशः ५१, ५५, ५४ और ३४ सूत्रों को दे दिया है, किन्तु योगी को किन-किन अवस्थाओं में क्या-क्या करना चाहिए आदि का वर्णन नहीं किया है, जिससे कि योगी ग्रन्थ को पढ़कर योग[2] में लग सके। विशुद्धिमार्ग में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक-एक बात को खोल-कर समझाया गया है, जिससे कि योगी को किसी बात में कठिनाई न उत्पन्न हो। सत्रहवें परिच्छेद में बुद्धघोष को अपनी योग्यता पर भी झिझक उत्पन्न हो गई है, तथापि बुद्धवचन के सहारे उन्होंने योगी की भावना को उत्कर्ष की ओर ही खींचा है। वहाँ उन्होंने कहा है—"मैं आज प्रतीत्य समु-त्पाद का वर्णन करना चाहते, महासागर में पैठने के समान सहारा नहीं पा रहा हूँ। चूँकि यह शासन (=धर्म) नाना देशना के नयों से प्रतिमण्डित है और पहले के आचार्यों का मार्ग अटूट चला आ रहा है, इसलिए उन दोनों के सहारे इसका अर्थ-वर्णन करूँगा।"[3]

ग्रन्थ के अन्त में आचार्य बुद्धघोष ने कहा है—"चूँकि यह 'विशुद्धिमार्ग' सब संकर-दोषों से रहित प्रकाशित किया गया है, इसलिए विशुद्धि को चाहने वाले, शुद्धप्रज्ञ योगियों को इसका आदर करना चाहिए।"[4]

विशुद्धिमार्ग की विषय-भूमि को भली प्रकार समझने के लिए प्रत्येक निर्देश में कथित विषय को जानना परम आवश्यक है, अतः हम यहाँ संक्षेप में प्रत्येक निर्देश का सारांश दे रहे हैं:—

शील-निर्देश

एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन महाविहार में विहार करते थे। एक दिन रात्रि

---

१. देखिये, विशुद्धिमार्ग के सत्रहवे परिच्छेद में—"क्या प्रकृतिवादियों के समान अविद्या भी अकारण रूप से लोक का मूल कारण है?" और "लोक में वचन-अवयव हेतु कहा जाता है।"—यहाँ सांख्य दर्शन के सिद्धान्त का उल्लेख किया है।

२. "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"—योगदर्शन १, २।

३. वत्तुकामो अहं अज्ज पच्चयाकारवण्णनं।
पतिट्ठं नाधिगच्छामि अज्झोगाळ्हो व सागरं॥
सासनं पनिदं नाना-देसना-नयमण्डितं।
पुब्बाचरियमग्गो च अब्बोच्छिन्नो पवत्तति॥
यस्मा, तस्मा तदुभयं सन्निस्सायत्थवण्णनं।
आरभिस्सामि एतस्स तं सुणाथ समाहिता॥

४. सब्बसङ्करदोसेहि मुत्तो यस्मा पकासितो।
तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्ञेहि योगिहि।
विसुद्धिमग्गे एतस्मिं करणीयो व आदरोति॥

में किसी देवपुत्रने भगवान् के पास आकर पूछा—"भीतर जटा है, बाहर जटा है, जटा से प्रजा (=प्राणी) जकड़ी हुई है, इसलिए हे गौतम ! मैं आप से पूछता हूँ कि कौन इस जटा को काट सकता है ?"

भगवान् ने उसको उत्तर देते हुए कहा—"जो नर प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है, पण्डित है, (संसार में भय ही भय देखने वाला) भिक्षु है, वह शील पर प्रतिष्ठित हो चित्त (=समाधि) और प्रज्ञा की भावना करते हुए इस जटा को काट सकता है।"

भगवान् ने अपने छोटे से उत्तर में शील, समाधि और प्रज्ञा की भावना करने का उपदेश दिया। जो व्यक्ति परिशुद्धशील से युक्त होकर समाधि और प्रज्ञा की भावना करेगा, वही निर्वाण को पा सकता है। वही संसार में घुमाने वाली जटा रूपी तृष्णा का अन्त कर सकता है और यही विशुद्धि अर्थात् निर्वाण का मार्ग है ; इसलिए निर्वाण के मार्ग को ही 'विशुद्धि-मार्ग' कहते हैं। इस मार्ग के तीन भाग हैं—(१) शील (२) समाधि (३) प्रज्ञा। सर्व-प्रथम शील के सम्बन्ध में प्रश्न होते हैं :—

(१) शील क्या है ?
(२) किस अर्थ में शील है ?
(३) शील के लक्षण, कार्य, जानने के आकार और प्रत्यय क्या हैं ?
(४) शील का गुण क्या है ?
(५) शील कितने प्रकार का है ?
(६) शील का मल क्या है ?
(७) शील की विशुद्धि क्या है ?

जीवहिंसा आदि करने से विरत रहने वाले या उपाध्याय आदि की सेवा-टहल करने वाले के चेतना आदि धर्म शील है। प्रतिसम्भिदा मार्ग में कहा गया है—"शील क्या है ? चेतना शील है, संवर शील है, अनुल्लंघन शील है।

जीवहिंसा आदि से विरत रहनेवाले या व्रत-प्रतिपत्ति (=व्रताचार) पूर्ण करने वाले की चेतना ही चेतनाशील है। जीवहिंसा आदि से विरत रहनेवाले की विरति चैतसिक शील है।

संवर पाँच प्रकार का होता है—प्रातिमोक्ष संवर, स्मृति संवर, ज्ञान संवर, क्षान्ति संवर और वीर्य संवर। संक्षेप में, इन पाँच प्रकारके संवरों के साथ जो पापसे भय खाने वाले कुलपुत्रों के सम्मुख आई हुई पाप की चीजों से विरति है, वह सभी संवरशील है।

ग्रहण किए हुए शील का काय और वाणी द्वारा उल्लंघन न करना ही अनुल्लंघनशील है।

शीलन (=आधार, ठहराव) के अर्थ में शील होता है। काय-कर्म आदि का संयम अर्थात् सुशीलता द्वारा एक जैसे बने रहना या ठहरने के लिए आधार की भाँति कुशल-धर्मों को धारण करना इसका तात्पर्य है।

पश्चात्ताप न करना आदि शील के अनेक गुण हैं। भगवान् ने कहा है—"आनन्द ! सुन्दर शील (=सदाचार) पश्चात्तापन करने के लिए है। पश्चात्ताप न करना इसका गुण है।" दूसरा भी कहा है—

"गृहपतियो ! शीलवान् के शील पालन करने के पाँच गुण हैं। कौन से पाँच ? (१) यहाँ गृहपतियो ! शीलवान्, शील-युक्त व्यक्ति प्रमाद में न पड़ने के कारण बहुत-सी धन-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। (२) शीलवान् की ख्याति, नेकनामी फैलती है। (३) वह जिस सभा में जाता

है, चाहे क्षत्रियों की सभा हो, चाहे ब्राह्मणों की सभा हो, चाहे वैश्यों की सभा हो, चाहे श्रमणों की सभा हो, निर्भीक-निःसंकोच जाता है। (४) विना बेहोशी को प्राप्त हुए मरता है। (५) मरने के बाद सुगति को प्राप्त होकर स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है।

भगवान् ने और भी कहा है—"भिक्षुओ! यदि भिक्षु चाहे कि मैं सब्रह्मचारियों (=गुरु-भाइयों) का प्रिय, मनाप और इज्जत की नजर से देखे जाने वाला होऊँ, तो उसे शीलों का ही पालन करना चाहिये।"

इस तरह पश्चात्ताप न करना आदि अनेक प्रकार के गुणों की प्राप्ति शील का गुण है।

शील नाना प्रकार का होता है। संक्षेप में कहें तो चार पारिशुद्धि शील में ही सब आ जाते हैं, प्रातिमोक्ष संवर शील, इन्द्रिय संवर शील, आजीव पारिशुद्धि शील और प्रत्यय सन्निश्रित शील—ये चार पारिशुद्धि शील हैं।

प्रातिमोक्ष कहते हैं शिक्षापद शील को। उसके संवर से संवृत रहना, आचार-गोचरसे सम्पन्न, अल्पमात्र भी दोष में भय खाना ही—प्रातिमोक्ष संवरशील कहा जाता है। संवर का अर्थ है ढँकना। काय, वाणी द्वारा शीलों का उल्लंघन न करने का यह नाम है। आँख से रूप को देखकर, कान से शब्द को सुनकर, नाक से गन्ध को सूँघकर, जीभ से रस को चखकर, काय से स्पर्श करके, मन से धर्म को जानकर निमित्त और अनुव्यञ्जनों को न ग्रहण करना, जिससे कि उन-उन इन्द्रियों में संवर रहित होने पर लोभ-दौर्मनस्य आदि बुरे धर्म उत्पन्न होते हैं, उनके संवर के लिए जुटना, सुरक्षा करना ही इन्द्रिय संवरशील है।

आजीविकाके कारण कहे गए छः शिक्षापदों से, आश्चर्यमें डालना, ठगबाजी, अपने को चढ़ा-बढ़ा कर कहना जिससे कि वह कुछ दे, निमित्त करना, अपने लाभ के लिए दूसरोंको बुरा-भला कहना, लाभ से लाभ ढूँढ़ना इत्यादि इस प्रकार के बुरे धर्मों के अनुसार होने वाली मिथ्या आजीविका से विरत रहना—आजीव पारिशुद्धि शील है।

चीवर, पिण्डपात (=भिक्षान्न), शयनासन, ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य—ये चार प्रत्यय कहे जाते हैं। संक्षेप में, प्रज्ञा से ठीक-ठीक जानकर सेवन करने को ही प्रत्यय सन्निश्रित शील कहते हैं। चूँकि इनके सहारे परिभोग करते हुए प्राणी चलते हैं, प्रवर्तित होते हैं, जीवित रहते हैं, इसलिए ये प्रत्यय कहे जाते हैं। इन प्रत्ययों के सन्निश्रित होना ही प्रत्यय सन्निश्रित शील है।

उक्त इन चारों प्रकार के शीलों में जैसे शिक्षापद बतलाए गए हैं, वैसे श्रद्धापूर्वक प्रातिमोक्ष संवर को अपने जीवन की चाह न करते हुए भलीभाँति पूर्ण करना चाहिए। कहा है:—

किकी' व अण्डं चमरी' व वालधिं,
पियं' व पुत्तं नयनं' व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका,
सुपेसला होथ सदा सगारवा॥

[जैसे टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपनी पूँछ की, माँ एकलौते प्रिय पुत्र की, काना अपनी अकेली आँख की रक्षा करता है, वैसे ही शील की भली-भाँति रक्षा करते हुए शील के प्रति सर्वदा प्रेम और गौरव करने वाले होओ।]

जिस प्रकार प्रातिमोक्ष संवर श्रद्धा से, उसी प्रकार स्मृति से इन्द्रिय संवर को पूर्ण करना चाहिए। चूँकि स्मृति से बचाई गई इन्द्रियाँ लोभ आदि से नहीं पछाड़ी जाती हैं, अतः वह स्मृति

से पूर्ण किया जाने वाला है। आजीव-पारिशुद्धि को वीर्य से पूर्ण करना चाहिए तथा प्रत्यय सन्निश्रित शील को प्रज्ञा से।

इस प्रकार जानकर आदर के साथ शील को परिशुद्ध करना चाहिए। जिन अल्पेच्छ, सन्तोष आदि गुणों से उक्त प्रकार के शील की पारिशुद्धि होती है, उन गुणों को पूर्ण करने के लिए योगी को चाहिए कि तेरह धुताङ्गों में से अपने अनुकूल धुताङ्ग का पालन करे।

धुताङ्ग-निर्देश

जिन कुलपुत्रों ने लाभ-सत्कार आदि का त्याग कर दिया है, शरीर और जीवन के प्रति ममता-रहित हैं, उन अनुलोम प्रतिपद् को पूर्ण करने की इच्छा वालों के लिए भगवान् ने तेरह धुताङ्ग बतलाए हैं :—

(१) पांशुकूलिकाङ्ग, (२) त्रैचीवरिकाङ्ग, (३) पिण्डपातिकाङ्ग, (४) सापदान-चारिकाङ्ग, (५) एकासनिकाङ्ग, (६) पात्र-पिण्डिकाङ्ग, (७) खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग, (८) आरण्यकाङ्ग, (९) वृक्ष-मूलिकाङ्ग, (१०) अभ्यवकाशिकाङ्ग, (११) श्मशानिकाङ्ग, (१२) यथा-संस्थरिकाङ्ग, (१३) नैसद्यकाङ्ग।

ये सभी ग्रहण करने से क्लेशों को नष्ट कर देने के कारण धुत (=परिशुद्ध) भिक्षु के अंग हैं। या क्लेशों को धुन डालने से 'धुत' नाम से कहा जानेवाला ज्ञानांग इन्हें है, इसलिए ये धुतांग हैं। अथवा अपने प्रतिपक्षी (=वैरी) को धुनने से ये धुत और प्रतिपत्ति के अंग होने से भी धुतांग हैं।

इन्हें भगवान् के जीते समय उन्हीं के पास ग्रहण करना चाहिए। उनके परिनिर्वाण के उपरान्त महाश्रावक के पास; उनके न होने पर क्षीणाश्रव, अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न, त्रिपिटकधारी, दो-पिटकधारी, एक-पिटकधारी, एक-संगीति (=निकाय) को धारण करनेवाले, अर्थकथाचार्य के पास। उनके नहीं होने पर धुतांगधारी के पास। उसके भी नहीं होने पर चैत्य का आँगन झाड़-बहार कर उकड़ूँ बैठ, सम्यक् सम्बुद्ध के पास कहने के समान ग्रहण करना चाहिए। स्वयं भी ग्रहण करना उचित है।

पांशु का अर्थ धूल है। सड़क, श्मशान, कूड़ा-करकट के ढेर अथवा जहाँ-कहीं पर भी धूल के ऊपर पड़े हुए वस्त्र को पांशुकूल कहते हैं। जो उसे धारण करता है उसे पांशुकूलिक कहा जाता है। पांशुकूलिक का अंग ही पांशुकूलिकांग है।

जो भिक्षु पांशुकूलिकांग का व्रत ग्रहण करता है, वह—"गृहस्थों द्वारा दिए गए चीवर को त्यागता हूँ, अथवा पांशुकूलिकांग ग्रहण करता हूँ।" इन दोनों वाक्यों में से किसी एक का अधिष्ठान करता है।

संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक—भिक्षु के ये तीन वस्त्र हैं। जो भिक्षु केवल इन्हीं को धारण करता है, इनसे अधिक वस्त्र नहीं ग्रहण करता, उसे त्रैचीवरिक कहते हैं और उसका वह धुतांग-व्रत त्रैचीवरिकांग कहा जाता है।

भिक्षा के रूप में जो अन्न प्राप्त होता है, उसे पिण्डपात कहते हैं। दूसरों द्वारा दिए गए पिण्डों का पात्र में गिरना ही पिण्डपात है। जो पिण्डपात के लिए घर-घर घूमता है, उसे पिण्डपातिक कहते हैं। पिण्डपातिक का अंग ही पिण्डपातिकांग है।

गाँव में भिक्षाटन करते समय बिना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षान्न ग्रहण करने को सापदानचारिकांग कहते हैं।

एक ही आसन पर बैठकर भोजन करने को एकासनिक कहते हैं। जो भिक्षु नाना प्रकार के भोजन को त्याग कर एक आसन पर के भोजन को ग्रहण करता है, उसका वह व्रत एकासनिकांग कहलाता है। ऐसा भिक्षु जब भोजन करना प्रारम्भ कर देता है, तब उसके पश्चात् दी गई भिक्षा को नहीं ग्रहण करता है।

भिक्षु के पास भोजन करने के लिए केवल पात्र होता है, उस पात्र में पड़ा भिक्षान्न पात्र-पिण्ड कहलाता है। जो पात्र-पिण्ड मात्र से जीवन-यापन करता है, उसे पात्र-पिण्डिक कहते हैं। इस धुतांग का पालन ही पात्रपिण्डिकांग कहलाता है।

'खलु' इन्कार करने के अर्थ में निपात है। खा चुकने पर पीछे मिले भात का ही नाम पच्छाभत्त है। उस पीछे पाये भात का खाना पच्छाभत्त भोजन है। अट्ठकथा-ग्रन्थों में कहा गया है—"खलु एक पक्षी है। वह मुँह में लिए फल के गिर जाने पर फिर दूसरा नहीं खाता है। वैसा ही खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग को धारण करनेवाला भिक्षु होता है।"

अरण्य में रहना ही आरण्यकाङ्ग है। जो गाँव के शयनासन को छोड़कर जंगलों में रहता है। वह आरण्यक कहा जाता है। उसी के धुताङ्ग का नाम आरण्यकाङ्ग है।

वृक्ष के नीचे रहना ही वृक्षमूल है। जो भिक्षु इस व्रत को ग्रहण करता है, वह वृक्षमूलिक कहा जाता है। वृक्षमूलिक का अंग ही वृक्षमूलिकाङ्ग है। वृक्षमूलिक भिक्षु छाए हुए गृह आदि को त्यागकर केवल वृक्षों के नीचे ही रहता है।

छाए हुए स्थान तथा वृक्ष-मूल को छोड़कर खुले मैदान में रहने के व्रत को अभ्यवकाशिकाङ्ग कहते हैं। श्मशान में रहने को ही श्मशानिकाङ्ग कहा जाता है।

'यह आसन तेरे लिए है' इस प्रकार पहले से बिछाये गए आसन को ही *यथासंस्थरिक* कहते हैं। जो भिक्षु इस धुतांग का पालन करता है, वह जो आसन पाता है, उसी से सन्तुष्ट रहता है।

लेटने को त्यागकर बैठे रहने को ही नैषद्यकांग कहते हैं। नैषद्यक भिक्षु रात्रि के तीन पहरों में से एक पहर चंक्रमण करता है। चार-ईर्यापथों (= सोना, टहलना, खड़ा होना और बैठना) में से केवल सोता (= लेटता) ही नहीं है।

कर्मस्थान-ग्रहण-निर्देश

धुताङ्ग का पूर्ण रूप से पालन कर शील में प्रतिष्ठित हुए योगी को समाधि की भावना करनी चाहिए। समाधि-भावना की विधि को दिखलाने के लिए ये प्रश्न होते हैं :—

(१) समाधि क्या है ?

(२) किस अर्थ में समाधि है ?

(३) समाधि का लक्षण, कार्य, जानने का आकार और प्रत्यय क्या है ?

(४) समाधि कितने प्रकार की है ?

(५) इसका संक्लेश और व्यवदान (= पारिशुद्धि) क्या है ?

(६) कैसे भावना करनी चाहिए ?

(७) समाधि की भावना करने में कौन-सा गुण है ?

कुशल-चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। एक आलम्बन में चित्त-चैतसिकों के बराबर और भली-भाँति प्रतिष्ठित होने के अर्थ में समाधि होती है। विक्षेप न होना समाधि का लक्षण है। विक्षेप को मिटाना इसका कार्य है। विकम्पित न होना जानने का आकार है। सुख इसका प्रत्यय है।

समाधि नाना प्रकार की होती है—विक्षेप न होने के लक्षण से तो एक ही प्रकार की है। उपचार-अर्पणा के अनुसार दो प्रकार की। वैसे ही लौकिक-लोकोत्तर, सप्रीतिक-निष्प्रीतिक और सुख सहगत, उपेक्षा सहगत के अनुसार। तीन प्रकार की होती है हीन, मध्यम, प्रणीत (=उत्तम) के अनुसार। वैसे ही सवितर्क, सविचार आदि, प्रीतिसहगत आदि और परित्र, महद्गत, अप्रमाण के अनुसार। चार प्रकार की दुःखप्रतिपदा-दन्धअभिज्ञा आदि के अनुसार और परित्र, परित्र-आलम्बन आदि, चार ध्यानांग, हानभागीय आदि, कामावचर आदि और अधिपति के अनुसार पाँच प्रकार की पाँच ध्यान के अंगों के अनुसार।

काम-सहगत संज्ञा का मनस्कार समाधि का संक्लेश और इन अकुशल मनस्कारों का न उत्पन्न होना समाधि का व्यवदान है।

योगी पूर्वोक्त प्रकार से शीलों को शुद्ध करके, अच्छी तरह से परिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित होकर, जो उसे दस परिबोधों (= विघ्नों) में से परिबोध हैं, उसे दूर करके, कर्मस्थान देने वाले कल्याण मित्र के पास जाकर, अपनी चर्य्या के अनुकूल चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण कर समाधि-भावना के अयोग्य विहार को त्याग कर, योग्य विहार में रहते हुए, छोटे परिबोधों को दूर करके, भावना करने के सम्पूर्ण विधान का पालन करते हुए, समाधि की भावना करनी चाहिए।

आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, ज्ञाति, रोग, ग्रन्थ और ऋद्धि—ये दस समाधि के परिबोध हैं।

प्रिय, गौरवर्णीय, आदरणीय, वक्ता, बात सहने वाला, गम्भीर बातोंको बतलाने वाला और अनुचित कामों में नहीं लगाने वाला—इस प्रकारके गुणों से युक्त एकदम हितैषी, उन्नति की ओर ले जाने वाला कर्मस्थान देनेवाला कल्याण-मित्र होता है।

चर्य्याएँ छः हैं—(१) राग चर्य्या (२) द्वेष चर्य्या (३) मोह चर्य्या (४) श्रद्धा चर्य्या (५) बुद्धि चर्य्या और (६) वितर्क चर्य्या। इन्हें ईर्य्यापथ (=चालढाल), काम, भोजन, देखने आदि और धर्म की प्रवृत्ति से जानना चाहिए।

चालीस कर्मस्थान ये हैं—(१) दस कसिण (=कृत्स्न) (२) दस अशुभ (३) दस अनुस्मृतियाँ (४) चार ब्रह्मविहार (५) चार आरुप्य (६) एक संज्ञा और (७) एक व्यवस्थान।

रागचरित वाले के लिए दस अशुभ और कायगतास्मृति—ये ग्यारह कर्मस्थान अनुकूल हैं। द्वेष चरित वाले के लिए चार ब्रह्मविहार और चार वर्णकसिण (नील, पीत, लोहित, अवदात)—ये आठ। मोहचरित और वितर्क चरित वाले के लिए एक आनापान-स्मृति कर्मस्थान ही। श्रद्धाचरित वाले के लिए पहले की छः अनुस्मृतियाँ। उपशमानुस्मृति, चार धातुओं का व्यवस्थान और आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा—में चार। शेष कसिण और चार आरुप्य सब चरित वालों के लिए अनुकूल हैं। कसिणों में जो कोई छोटा आलम्बन वितर्क चरित वाले और अप्रमाण मोहचरित वाले के लिए।

योगी को अपनी चर्य्या के अनुकूल चालीस कर्मस्थानों में से जिस किसी को ग्रहण करते

समय अपने को भगवान् बुद्ध या आचार्य को सौंप कर विचार और प्रबल श्रद्धा से युक्त होकर कल्याण मित्र से कर्मस्थान माँगना चाहिए।

पृथ्वीकसिण-निर्देश

कल्याण मित्र के पास कर्मस्थान ग्रहण कर, उसकी सारी विधियों को भलीभाँति समझ कर अत्यन्त परिशुद्ध, मन होते ही सब दिखाई देने योग्य कर्मस्थान को बना कर समाधि-भावनाके अयोग्य विहार को छोड़ योग्य विहार में रहना चाहिए।

अयोग्य विहार कहते हैं—अठारह दोषों में से किसी एक से युक्त विहार को। ये अठारह दोष हैं—(१) बड़ा होना (२) नया होना (३) पुराना होना (४) मार्ग के किनारे होना (५) पानी पीने का स्थान (प्याऊ) (६) पत्ते का होना (७) फूल का होना (८) फल का होना (९) पूजनीय स्थान (१०) शहर से मिला हुआ होना (११) लकड़ी का स्थान होना (१२) खेतों से युक्त होना (१३) अनमेल व्यक्तियों का होना (१४) बन्दरगाह के पास होना (१५) निर्जन प्रदेश में होना (१६) राज्य की सीमा पर होना (१७) अनुकूल न होना (१८) कल्याण मित्रों का न मिलना। इन अयोग्य विहारों में नहीं रहना चाहिए।

भिक्षाटन करने वाले ग्राम से न बहुत दूर, न बहुत पास होना आदि पाँच अंगों[1] से युक्त जो विहार होता है, वह योग्य विहार है।

योग्य विहार में रहते हुए योगी को दिन के भोजन के पश्चात् एकान्त स्थान में जाकर 'पृथ्वी-कसिण-मण्डल' बनाना चाहिए और जहाँ निमित्त ग्रहण करना हो, वहाँ उसे ले जाकर भूमि पर रखना चाहिए। उस स्थान को साफ कर स्नान करके, कसिण-मण्डल से ढाई हाथ की दूरी पर बिछी, एक बालिश्त चार अंगुल पायेवाली चौकी पर बैठना चाहिए।

उक्त प्रकार से बैठकर सांसारिक आसक्ति एवं काम-भोगों के दोषों को देख कर उनसे मुक्ति पाने का अभिलाषी हो त्रिरत्न के गुणों का स्मरण करते—"मैं इस साधना से अवश्य ही योग-सुख को प्राप्त कर लूँगा" संकल्प कर सम-आकार से आँखों को उघाड़ कसिण-मण्डलको देखते हुए निमित्त को ग्रहण करना चाहिए। न तो रंग को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए और न लक्षण को ही मन में करना चाहिए, प्रत्युत रंग को बिना त्यागे 'रंग के साथ ही पृथ्वी है' ऐसे पृथ्वी धातु के आधिक्य के अनुसार प्रज्ञप्ति धर्म में चित्त को लगा कर मनन करना चाहिए। तत्पश्चात् योगी को पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में से जो अनुकूल हो उसे बोलना चाहिए। चूँकि 'पृथ्वी' नाम ही स्पष्ट है, इसलिए स्पष्टता के अनुसार 'पृथ्वी', 'पृथ्वी' कह कर भावना करनी चाहिए। इस प्रकार भावना करने वाले को जब आँख मूँद कर आवर्जन करते हुए आँख उघाड़ कर देखने के समय जैसा दिखाई देता है, तब उसे उग्गह निमित्त कहते हैं। जब उग्गह निमित्त उत्पन्न हो जाय, तब उस स्थान पर नहीं बैठना चाहिए। अपने वासस्थान में जाकर ही भावना करनी चाहिए। योगी के मनन करते हुए नीवरण दब जाते हैं। क्लेश बैठ जाते हैं। उपचार समाधि से चित्त एकाग्र हो जाता है। प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है। प्रतिभाग निमित्त उग्गह-निमित्त से सैकड़ों गुना परिशुद्ध होकर दिखाई देता है। प्रतिभाग-निमित्त के उत्पन्न होने के समय से उसके नीवरण दबे हुए ही होते हैं, क्लेश बैठे हुए ही और उपचार समाधि से चित्त एकाग्र हुआ ही।

१, विस्तार के लिए देखिये ,विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृष्ठ ११४।

समाधि दो प्रकार की होती है—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। इन समाधियों को प्राप्त कर योगी को आवास, गोचर, बातचीत, व्यक्ति, भोजन, ऋतु, ईर्य्यापथ—इन सात विपरीत बातों का त्याग कर, सात अनुकूल बातों का सेवन करते, इन्द्रियों की समता का प्रतिपादन कर क्रमशः, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर लेता है।

प्रथम ध्यान की अवस्था में कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख से युक्त होता है। तदुपरान्त वह वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से भीतरी प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त, वितर्क और विचार से रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है। उसके पश्चात् यत्न करके तृतीय ध्यान प्राप्त करता है। उस अवस्था में प्रीति और विराग से उपेक्षक हो, स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त हो, काया से सुख को अनुभव करता हुआ विहरता है। जिसको आर्यजन उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख-विहारी कहते हैं। तृतीय ध्यान के बाद सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से, दुःख-सुख से रहित, उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि स्वरूप चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगता है।

शेष-कसिण-निर्देष

कसिण दस होते हैं—(१) पृथ्वी कसिण (२) आप् कसिण (३) तेज कसिण (४) वायु कसिण (५) नील कसिण (६) पीत कसिण (७) लोहित कसिण (८) अवदात कसिण (९) आलोक कसिण (१०) परिच्छिन्नाकाश कसिण। इनमें पृथ्वी कसिण का वर्णन और भावना-विधि चौथे निर्देश में दिए ही गए हैं। आप् कसिण में जल में निमित्त ग्रहण कर भावना करते हैं, तेज कसिण में अग्नि में और वायु कसिण में हवा में। शेष नील, पीत, लोहित (लाल) तथा अवदात (श्वेत) में उन्हीं रंगों में निमित्त ग्रहण करते हैं तथा परिच्छिन्नाकाश में आकाश में निमित्त ग्रहण करते हैं।

अशुभ-कर्मस्थान-निर्देश

अशुभ दस हैं—(१) ऊर्ध्वमातक (२) विनीलक (३) विपुब्बक (४) विच्छिद्रक (५) विक्खायितक (६) विक्षिप्तक (७) हतविक्षिप्तक (८) लोहितक (९) पुलुवक (१०) अस्थिक।

मृत्यु के बाद वायु के फूले हुए शरीर को ऊर्ध्वमातक कहते हैं। नीले-पीले पड़ गए मृत-शरीर को विनीलक कहते हैं। पीब बहते शरीर को विपुब्बक कहते हैं। कटने से दो भागों में अलग हो गया मृत शरीर विच्छिद्रक है। नाना प्रकार से कुत्ते-सियार आदि से खाया गया विक्खा-यितक है। विविध प्रकार से कुत्ते-सियारों द्वारा फेंका हुआ विक्षिप्तक है। हथियार आदि से मर कर इधर-उधर बिखरा हतविक्षिप्तक है। लोहू से सने हुए मृत शरीर को लोहितक कहते हैं। पुलुवा कीड़ों को कहते हैं, जो मृत-शरीर कीड़ों से भर जाता है, उसे पुलुवक कहते हैं। हड्डी ही अस्थिक है।

इन दस अशुभों की भावना से केवल एक-एक ध्यान की ही प्राप्ति होती है। सभी ये प्रथम ध्यान वाले ही हैं। प्रज्ञावान् भिक्षु को जीवित शरीर हो या मृत शरीर, जहाँ-जहाँ अशुभ का आकार जान पड़े, वहाँ-वहाँ ही निमित्त को ग्रहण करके कर्मस्थान को अर्पणा तक पहुँचाना ाहिए।

छः अनुस्मृति-निर्देश

बार-बार उत्पन्न होने से स्मृति ही अनुस्मृति कही जाती है। वह दस प्रकार की है—(१) बुद्धानुस्मृति (२) धर्मानुस्मृति (३) संघानुस्मृति (४) शीलानुस्मृति (५) त्यागानुस्मृति (६) देवतानुस्मृति (७) मरणानुस्मृति (८) कायगतास्मृति (९) आनापानस्मृति (१०) उपशमानुस्मृति।

'वह भगवान् ऐसे अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुपम पुरुष-दम्य सारथी, देवमनुष्यों के शास्ता हैं।'—इस प्रकार भगवान् बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना ही बुद्धानुस्मृति है।

"भगवान् का धर्म स्वाख्यात है, तत्काल फलदायक है, समयानन्तर में नहीं, यहीं दिखाई देने वाला, निर्वाण तक पहुँचाने वाला और विज्ञों से अपने आप ही जानने योग्य है।" ऐसे पर्याप्ति-धर्म और नव प्रकार से लोकोत्तर धर्म के गुणों का अनुस्मरण करना धर्मानुस्मृति है।

"भगवान् का श्रावक-संघ सुमार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक-संघ न्याय-मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक-संघ उचित मार्ग पर चल रहा है, जो कि यह चार-युगल और आठ-पुरुष=पुद्गल हैं, यही भगवान् का श्रावक-संघ है, वह आह्वान करने के योग्य है, पाहुन बनाने के योग्य है, दान देने के योग्य है, हाथ जोड़ने के योग्य है और लोक के लिए पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र है।" ऐसे आर्यसंघ के गुणों का अनुस्मरण करना संघानुस्मृति है।

"अहा! मेरे शील अखण्डित, निर्दोष, निर्मल, निष्कल्मष, भुजिस्स (=स्वाधीन), विज्ञों से प्रशंसित, तृष्णा से अन्-अभिभूत, समाधि दिलाने वाले हैं।"—ऐसे अखण्डित होने आदि के गुणों के अनुसार अपने शीलों का अनुस्मरण करना शीलानुस्मृति है। हाँ, गृहस्थ को गृहस्थ-शील का और प्रव्रजित को प्रव्रजित-शील का अनुस्मरण करना चाहिए।

"मुझे लाभ है, मुझे सुन्दर मिला, जो कि मैं कंजूसी के मल से लिप्त प्रजा (=लोग) में मात्सर्य-मल से रहित चित्तवाला हो मुक्त-त्यागी, खुले हाथ दान देनेवाला, दान देने में लगा, याचना करने के योग्य हुआ, दान और संविभाग में लीन विहर रहा हूँ।"—ऐसे कंजूसी के मल से रहित होने आदि के अनुसार अपने त्याग (=दान) का अनुस्मरण करना त्यागानुस्मृति है।

"चातुर्महाराजिक देवलोक के देवता हैं, तावतिंस के देवता हैं, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित वशवर्ती और ब्रह्मकायिक देवता हैं तथा उनसे ऊपर के भी देवता हैं, जिस प्रकार की श्रद्धा से युक्त वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हैं, मुझे भी उस प्रकार की श्रद्धा है, जिस प्रकार के शील, श्रुत, त्याग, प्रज्ञा से युक्त वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हैं, मुझे भी उस प्रकार की प्रज्ञा है।"—ऐसे देवताओं को साक्षी करके अपने श्रद्धा आदि गुणों का अनुस्मरण करना देवतानुस्मृति है।

ये छः अनुस्मृतियाँ आर्य-श्रावकों को ही प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन्हें बुद्ध, धर्म, संघ के गुण प्रगट होते हैं और वे अखण्डित आदि गुण-वाले शीलों में मल-मात्सर्य रहित त्याग से महा-अनुभाव वाले देवताओं के गुणों के समान श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होते हैं। ऐसा होनेपर भी परिशुद्ध शील आदि गुणों से युक्त पृथग्जन को भी मन में करना चाहिए। अनुश्रव से भी बुद्ध आदि के गुणों का अनुस्मरण करते हुए चित्त प्रसन्न होता ही है, जिसके अनुभाव से नीवरणों को दबा करके अधिक प्रमुदित होकर विपश्यना को आरम्भ करके अर्हत्व का साक्षात्कार किया जाता है।

इन छः अनुस्मृतियों की भावना में श्रद्धा आदि गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों को अनुस्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार-प्राप्त ही ध्यान होता है।

अनुस्मृति-कर्मस्थान-निर्देश

शेष चार अनुस्मृतियों का वर्णन 'अनुस्मृति कर्मस्थान-निर्देश में है। वे हैं (१) मरणानुस्मृति (२) कायगतास्मृति (३) आनापान-स्मृति (४) उपशमानुस्मृति।

एक भव में रहनेवाली जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद मरण कहा जाता है। वह काल-मरण, अकाल-मरण—दो प्रकार का होता है। काल-मरण पुण्य के क्षय हो जाने से, आयु के क्षय हो जाने से या दोनों के क्षय हो जाने से होता है। अकाल-मरण कर्मोपच्छेदक कर्म से। अतः जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद कहे जाने वाले मरण का स्मरण मरणानुस्मृति है।

मरण की भावना करने की इच्छावाले योगी को एकान्त में जाकर, चित्त को अन्य आलम्बनों से खींचकर 'मरण होगा', 'जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा' या 'मरण, मरण' कह कर भली प्रकार मनन करना चाहिए।

शरीर के बत्तीस भागों को मनन करने को ही कायगतास्मृति कहते हैं। इसकी भावना करनेवाला योगी इसी शरीर को पैर के तलवे से ऊपर और मस्तक के केश से नीचे, चमड़े से घिरे, नाना प्रकार की गन्दगियों से भरे हुए देखता है। वह इस प्रकार विचार करता है—"इस शरीर में हैं केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्; मांस, स्नायु, हड्डी, हड्डी के भीतर की मज्जा, वृक्क; हृदय (=कलेजा), यकृत, क्लोमक, प्लीहा (=तिल्ली), फुप्फुस; आँत, पतली आँत, उदरस्थ (वस्तुएँ), पाखाना, मस्तिष्क; पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद (=बर), आँसू, वसा (=चर्बी), थूक, पोंटा, लसिका (=केहुनी आदि जोड़ों में स्थित तरल पदार्थ) और मूत्र।" इनका बार-बार विचार करते हुए क्रम से अर्पणा उत्पन्न होती है। योगी इस कर्मस्थान की भावना कर चारों ध्यानों तथा छः अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है। इसीलिए तथागत ने कहा है—"वे अमृत का परिभोग करते हैं, जो कायगतास्मृति का परिभोग करते हैं।"

आनापान कहते हैं आश्वास-प्रश्वास को। साँस लेने और छोड़ने की स्मृति को ही अनापान-स्मृति कहते हैं। इसकी भावना अरण्य, वृक्ष-मूल अथवा शून्य-गृह में जाकर प्रारम्भ करनी चाहिए। पालथी लगाकर रीढ़ के अठारह काँटों को सीधा कर स्मृति को सामने करके बैठना चाहिए। तत्पश्चात् साँस लेने और छोड़ने पर ध्यान देना चाहिए। स्मृति को आश्वास-प्रश्वास के साथ लगाकर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए। साँस लेने और छोड़ने की गणना भी करते जानी चाहिए। ऐसा करने से चित्त इधर-उधर नहीं भागता है। इस प्रकार अनापान-स्मृति की भावना में लगे हुए थोड़े ही दिनों में प्रतिभाग-निमित्त उत्पन्न हो जाता है और शेष ध्यानांगों से युक्त अर्पणा प्राप्त होती है। वह क्रमशः अभ्यास कर 'नाम' और 'रूप' का मनन करते विपश्यना द्वारा निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

उपशम कहते हैं निर्वाण को। निर्वाण की स्मृति उपशमानुस्मृति कही जाती है। योगी को इसकी भावना करने के लिए एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो इस प्रकार सारे दुःखों के उपशमन निर्वाण के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए—"जहाँ तक संस्कृतधर्म या असंस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों में विराग (=निर्वाण) अग्र कहा जाता है, जो कि मद को निर्मद करनेवाला है, प्यास (=तृष्णा) को बुझाने वाला है, आसक्तिको नष्ट करनेवाला है, संसार-चक्र का उपच्छेद करनेवाला है, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।" ऐसे अनुस्मरण करनेवाले योगी का चित्त राग में लिप्त नहीं होता, न द्वेष और न मोह में। उसका चित्त उपशम (=निर्वाण) के प्रति

ही लगा होता है। उसके नीवरण दब जाते हैं और एक क्षण में ही ध्यान के अंग उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी भावना में अर्पणा को नहीं प्राप्त कर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है।

ब्रह्मविहार-निर्देश

ब्रह्मविहार चार हैं[१] (१) मैत्री (२) करुणा (३) मुदिता (४) उपेक्षा।

मैत्री ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले प्रारम्भिक योगी को विघ्नों को दूर करके कर्मस्थान को ग्रहण कर एकान्त स्थान में जा आसन पर बैठ कर प्रारम्भ से द्वेष में अवगुण और शान्ति में गुण का अवलोकन करना चाहिए। उसे सबसे पहले "मैं सुखी हूँ, मैं दुःख रहित हूँ या मैं वैर रहित हूँ, व्यापाद रहित हूँ, उपद्रव रहित हूँ, सुखपूर्वक अपना परिहरण कर रहा हूँ।" ऐसे बार-बार अपने में ही भावना करनी चाहिए। किन्तु स्मरण रहे इस भावना को अपनी भावना कहते हैं और अपनी भावना यदि सौ वर्ष भी की जाय तो अर्पणा नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए पहले अपने को मैत्री से पूर्ण कर अपने प्रिय, मनाप, सम्माननीय आचार्य या आचार्य-तुल्य को अनुस्मरण करके "यह सत्पुरुष सुखी हों, दुःख रहित हों" कहकर भावना करनी चाहिए। इस प्रकार के व्यक्ति पर मैत्री करने से अवश्य अर्पणा प्राप्त होती है। योगी को उतने से ही सन्तोष न करके सीमा को पार करने की इच्छा से उसके बाद अत्यन्त प्रिय सहायक पर मैत्री करनी चाहिए। तदुपरान्त मध्यस्थ एवं वैरी व्यक्ति पर। तीनों प्रकार के व्यक्तियों पर क्रमशः भावना करें, एक साथ ही नहीं। इस मैत्री-भावना में अर्पणा के बाद चारों ध्यान भी प्राप्त होते हैं। वह प्रथम ध्यान आदि में से किसी एक से—"मैत्री युक्त चित्त से एक दिशा को परिपूर्णकर विहरता है। वैसे ही दूसरी दिशा को। इस प्रकार ऊपर, नीचे, तिरछे, सब जगह सर्वात्म के लिए सारे प्राणी वाले लोक को विपुल, महान्, प्रमाण रहित, वैर रहित, व्यापाद रहित, मैत्री-युक्त चित्त से पूर्ण कर विहरता है।" प्रथम ध्यान आदि के अनुसार अर्पणा-चित्त को ही यह विविध-क्रिया सिद्ध होती है।

मैत्री ब्रह्मविहार की भावना में योगी को पाँच आकार की सीमा-रहित स्फरण-मैत्री-चित्त की विमुक्ति, सात आकार की सीमा-सहित मैत्री-चित्त की विमुक्ति और दस आकार की दिशा में स्फरण करने वाली मैत्री-चित्त की विमुक्ति को भली प्रकार जानकर भावना करनी चाहिए। मैत्री-भावना के भगवान् ने ग्यारह गुण[२] बतलाये हैं, उन्हें यह योगी प्राप्त कर लेता है।

करुणा-ब्रह्मविहार की भावना करने वाले योगी को करुणा-रहित होने के दोष और करुणा के गुण का मनन करके करुणा-भावना का आरम्भ करना चाहिए। सर्वप्रथम किसी करुणा करने के योग्य अत्यन्त दुःखी, निर्धन, बुरी अवस्था को प्राप्त, हाथ-पैर कटे, कड़ाही को हाथ में लेकर अनाथालय की शरण जाने वाले, सड़े हाथ-पैर वाले, दुःख के मारे चिल्लाते हुए पुरुष को देखकर 'यह व्यक्ति कैसी बुरी अवस्था को प्राप्त है! अच्छा होता कि यह इस दुःख से छुटकारा पा जाता!" इस प्रकार करुणा करनी चाहिए। इसी प्रकार पापी के भविष्य-दुःख का विचार कर और फाँसी पर लटकाए जाने वाले को खाता-पीता देखकर करुणा करनी चाहिए। ऐसे करुणा करके, उसके बाद क्रमशः प्रिय, मध्यस्थ, और वैरी पर करुणा करनी चाहिए।

---

१. योग-दर्शन में आया है—"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्याऽपुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम्॥

—समाधि पादः १, ३३।

२. देखिये, विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृष्ठ २७३।

मुदिता-ब्रह्म-विहार की भावना में किसी अपने प्रिय व्यक्ति को सुखी और प्रमुदित देख कर या सुनकर "क्या ही यह आनन्द कर रहा है ! बहुत ही अच्छा है, बहुत ही सुन्दर है !" ऐसे मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए ।

उपेक्षा ब्रह्मविहार की भावना में मध्यस्थ व्यक्ति के प्रति इस प्रकार उपेक्षा-भावना करे जिस प्रकार कि कोई एक अप्रिय और प्रिय व्यक्ति को देखकर उपेक्षक हो विहार करे । उपेक्षा विहारी साधक को थोड़े ही प्रयत्न में चतुर्थ ध्यान प्राप्त हो जाता है । मैत्री, करुणा और मुदिता में आलम्बन के अनुकूल होने के कारण तृतीय ध्यानतक ही सरलतापूर्वक प्राप्त होते हैं । चतुर्थ ध्यान के लिए उपेक्षक होना ही पड़ता है । अतः उपेक्षा ब्रह्मविहार में चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति सहज-साध्य होती है ।

आरुप्य-निर्देश

आरुप्य चार हैं—(१) आकाशानन्त्यायतन, (२) विज्ञानानन्त्यायतन, (३) आकिंचन्यायतन, (४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन । इनको आरुप-समापत्ति भी कहते हैं ।

आकाशानन्त्यायतन की भावना करनेवाला योगी शरीर के कारण नाना प्रकार की बाधाओं को देख कलह, विवाद, रोग-भय आदि का अवलोकन कर रूपों से मुक्त होने का प्रयत्न करता है । रूपों के प्रति उसे विरक्ति उत्पन्न होती है । वह दस कसिणों में से आकाश-कसिण को छोड़ शेष में से किसी में चतुर्थ ध्यान को उत्पन्न करता है और उसे इच्छानुसार बढ़ाता है । जहाँ तक वह उस कसिण को बढ़ाता है, वहाँ तक उसके द्वारा स्पर्श किए हुए अंग में रूप का ध्यान सर्वथा छोड़कर "आकाश अनन्त है, आकाश अनन्त है" विचार करते हुए आकाशानन्त्यायतन को शान्त रूपसे मनन करता है । बार-बार 'आकाश' का मनन करते, सोचते-विचारते उसके नीवरण दब जाते हैं, स्मृति स्थिर हो जाती है, उपचार से चित्त समाधिस्थ हो जाता है । वह उस निमित्त का बार-बार सेवन करता है, उसे बढ़ाता है, ऐसा करते हुए उसे उसी प्रकार आकाशानन्त्यायतन-चित्त उत्पन्न होता है, जिस प्रकार पृथ्वी-कसिण आदि की भावना में ध्यान चित्त ।

आकाशानन्त्यायतन का अभ्यास करके उसमें भी दोष देखता हुआ विज्ञानन्त्यायतन को शान्त रूप से मनन करके उस आकाश की भावना में उत्पन्न विज्ञान का बार-बार विचार करता है । मन में लाता है । तर्क-वितर्क करता है । उसके इस प्रकार भावना करने पर नीवरण दब जाते हैं । उपचार समाधि प्राप्त होती है । वह उस निमित्त की बार-बार भावना करता है, तब वह ऐसा करते हुए सर्वथा आकाशानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर 'विज्ञान अनन्त है' की भावना से विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त होकर विहार करने लगता है ।

विज्ञानन्त्यायतन में भी दोष देखकर आकिंचन्यायतन को शान्त रूप से मनन करके उसी विज्ञानन्त्यायतन के आलम्बन स्वरूप आकाशानन्त्यायतन के विज्ञान के अभाव, शून्यता, रिक्तता का विचार करता है । वह विज्ञान का मनन करके 'नहीं है, नहीं है', 'शून्य है, शून्य है', ऐसा बार-बार विचार करता है । ऐसा करते हुए उसे आकिंचन्यायतन-चित्त उत्पन्न होता है । उस समय वह सर्वथा विज्ञानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर 'कुछ नहीं है' का मनन करता हुआ आकिंचन्यायतन को प्राप्त होकर विहरता है ।

'संज्ञा रोग है, संज्ञा फोड़ा है, संज्ञा काँटा है, केवल यही शान्त है, यही उत्तम है जो कि यह नैवसंज्ञानासंज्ञा है ।' इस प्रकार विचार करते हुए सर्वथा आकिंचन्यायतन का अतिक्रमण कर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हो विहरने लगता है ।

इन चारों अरूप-समापत्तियों में क्रमशः एक-दूसरे से बढ़कर शान्त और सूक्ष्म हैं। अन्तिम समापत्ति सर्वश्रेष्ठ तथा शान्ततम है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को भव का अग्र (श्रेष्ठ) माना जाता है।

समाधि-निर्देश

इस निर्देश में (१) आहार में प्रतिकूल संज्ञा और (२) चतुर्धातु व्यवस्थान का वर्णन है।

आहार चार प्रकार का होता है—(१) कवलीकार (=कौर करके खाने योग्य) आहार (२) स्पर्शाहार, (३) मनोसंचेतना आहार, (४) विज्ञानाहार। कवलीकार आहार ओजष्टमक[1] को लाता है। स्पर्शाहार तीनों वेदनाओं को लाता है। मनोसंचेतनाहार तीनों भवों में प्रतिसन्धि को लाता है। विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण नामरूप को लाता है।

आहार में प्रतिकूल-संज्ञा की भावना करने की इच्छा वाले को कर्मस्थान को सीख कर, सीखे हुए से एक पद को भी अशुद्ध नहीं करते, एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो भोजन किए, पिए, खाए, चाटे प्रभेद वाले कवलीकार आहार में दस प्रकार से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। जैसे—गमन से, पर्येपण से, परिभोग से, आशय से, विधान से, अपरिपक्व से, परिपक्व से, फल से, निष्यन्द (= इधर-उधर बहना) से, संम्रक्षण (= लिपटना) से। ऐसे दस प्रकार से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण, तर्क-वितर्क करने वाले को प्रतिकूल के आकार से कवलीकार-आहार प्रगट होता है। वह उस निमित्त को पुनः पुनः आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है। तब नीवरण दब जाते हैं। कवलीकार-आहार के स्वभाव की धर्मता के गम्भीर होने से अर्पणा को नहीं पाकर उपचार समाधि से चित्त समाधिस्थ होता है। प्रतिकूल के रूप से संज्ञा प्रगट होती है, इसलिए यह कर्मस्थान 'आहार में प्रतिकूल संज्ञा' ही कहा जाता है।

'एक व्यवस्थान' को ही चतुर्धातु व्यवस्थान कहते हैं। चार धातुएँ ये हैं—(१) पृथ्वी (२) आप् (= जल) (३) तेज् (= अग्नि) (४) वायु।

चतुर्धातु-कर्मस्थान में लगने वाला योगी भली प्रकार इस काया को स्थिति और रचना के अनुसार देखता है कि इस शरीर में पृथ्वी-धातु, जल-धातु, अग्नि-धातु और वायु-धातु हैं। वह देखता है कि इस शरीर में जो कुछ कर्कश, कड़ा और स्थूल है वह सब पृथ्वी-धातु है। जैसे केश, लोम, नख, दाँत, चमड़ा, मांस, नस, हड्डी, हड्डी की गुद्दी, वृक्क, कलेजा, यकृत, क्लोमक, तिल्ली, फुफ्फुस, आँत, छोटी आँत, पेट की वस्तुएँ, पाखाना अथवा और भी जो कुछ कर्कश, कड़ा और स्थूल है, वह सब पृथ्वी-धातु है।

जल-धातु का विचार करते हुए देखता है कि इस शरीर में जो कुछ जल अथवा जलीय है, वह सब जल-धातु है। जैसे कि पित्त, श्लेष्मा (= कफ), पीब, लोहू, पसीना, मेद (= वर), आँसू, चर्बी, लार, नासा-मल (= पोंटा) लसिका और मूत्र।

अग्नि-धातु का विचार करते हुए देखता है कि इस शरीर में जो कुछ अग्नि अथवा अग्नि-स्वभाव का है, वह सब अग्निधातु है। जैसे कि जिससे गर्म होता है, और जिससे खाया-पिया हुआ भली प्रकार हजम होता है।

वायुधातु का विचार करते हुए देखता है कि इस शरीर में जो कुछ वायु अथवा वायु-स्वभाव का है, वह सब वायु-धातु है जैसे कि ऊपर उठने वाली वायु, नीचे जानेवाली वायु, पेट

१. देखिए, विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृष्ठ ३०३।

में रहने वाली वायु, कोष्ठ में रहने वाली वायु, अंग-प्रत्यंग में चलने वाली वायु, आश्वास और प्रश्वास।

भावना करते समय इन धातुओं को निर्जीव एवं सत्व-रहित मनन करना चाहिए। इस प्रकार लगे रहने से शीघ्र ही धातुओं के भेद को प्रगट करने वाले ज्ञान के रूप में उपचार समाधि उत्पन्न होती है। इसीलिए कहा गया है—"ऐसे महा-अनुभाव वाले हजारों श्रेष्ठ योगियों द्वारा (ध्यान के खेल के रूप में) खेले गए, इस चतुर्धातु व्यवस्थान को नित्य प्रज्ञावान् सेवे।"

ऋद्धिविध-निर्देश

भगवान् ने पाँच लौकिक अभिज्ञाएँ कही हैं—(१) ऋद्धिविध (२) दिव्यश्रोत्र (३) चैतोपर्यज्ञान (४) पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान (५) च्युत्योत्पाद ज्ञान।

ऋद्धिविध को प्राप्त करने की इच्छा वाले प्रारम्भिक योगी को अवदात कसिण तक आठों कसिणों में आठ-आठ समापत्तियों को उत्पन्न करके कसिण के अनुलोम से, कसिण के प्रतिलोम से, कसिण के अनुलोम और प्रतिलोम से, ध्यान के अनुलोम से, ध्यान के प्रतिलोम से, ध्यान के अनुलोम और प्रतिलोम से, ध्यान को लाँघने से, कसिण को लाँघने से, ध्यान और कसिण को लाँघने से, अङ्ग के व्यवस्थापन से, आलम्बन के व्यवस्थापन से—इन चौदह आकारों से चित्त का भली प्रकार दमन करना चाहिए। चित्त के दमन हो जाने पर जब चतुर्थ ध्यान प्राप्त करने के पश्चात् योगी एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, क्लेशों से रहित, मृदु, मनोरस, और निश्चल चित्तवाला हो जाता है, तब वह ऋद्धिविध को प्राप्त करता है और अनेक प्रकार की ऋद्धियों का अनुभव करने लगता है। ऋद्धियाँ दस हैं—(१) अधिष्ठान ऋद्धि (२) विकुर्वण ऋद्धि (३) मनोमय ऋद्धि (४) ज्ञानविस्फार ऋद्धि (६) आर्य ऋद्धि (७) कर्म विपाकज ऋद्धि (८) पुण्यवान् की ऋद्धि (९) विद्यामय ऋद्धि (१०) उन-उन स्थानों पर सम्यक् प्रयोग के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि। इन ऋद्धियों को प्राप्त योगी एक से अनेक होता है, प्रकट और अदृश्य होता है, आरपार बिना लगे जाता है, पृथ्वी में जल की भाँति गोता लगाता है, जल पर पैदल चलता है, आकाश में पालथी मारकर बैठता है, चाँद-सूरज को हाथ से स्पर्श करता है, दूर को पास कर देता है, मनोमय शरीर का निर्माण करता है।

अभिज्ञा-निर्देश

शेष अभिज्ञाओं में दिव्य-श्रोत्र-ज्ञान एक स्थान पर बैठकर मनमें विचारे हुए स्थानों के शब्दों को सुनने को कहते हैं। चतुर्थ ध्यान से उठकर जब योगी दिव्य-श्रोत्र ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने चित्त को लगाता है, तब वह अपने अलौकिक शुद्ध दिव्य-श्रोत्र से दोनों प्रकार के शब्द सुनने लगता है मनुष्यों और देवताओं के भी।

अपने चित्त से दूसरे व्यक्ति के चित्त को जानने के ज्ञान को चैतोपर्य ज्ञान कहते हैं। इसे प्राप्त करने वाले योगी को दिव्य-चक्षुवाला भी होना चाहिए। उस योगी को आलोक की वृद्धि करके दिव्य-चक्षु से दूसरे के कलेजे के सहारे विद्यमान् रुधिर के रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ना चाहिए। जब सौमनस्य चित्त होता है, तब रुधिर पके हुए बरगद के समान लाल होता है। जब दौर्मनस्य चित्त होता है, तब पके हुए जामुन के समान काला होता है। जब उपेक्षा चित्त होता है, तब परिशुद्ध तिल के तेल के समान स्वच्छ होता है। इसलिये योगी को कलेजे के सहारे रहने

वाले रुधिर में रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ते हुए चैतोपर्य ज्ञान को शक्ति-सम्पन्न बनाना चाहिए। इस प्रकार शक्ति-सम्पन्न होने पर वह क्रमशः सभी कामावचर, रूपावचर और अरूपावचर चित्तों को अपने चित्त से जान लेता है, तब उसे कलेजे के रुधिर के परीक्षण में जाने की आवश्यकता नहीं होती है। वह जब अपने चित्त से दूसरे के चित्त की बातों को जानना चाहता है, तब वह दूसरे सत्वों के, दूसरे लोगों के चित्त को अपने चित्त से जान लेता है—राग सहित चित्त को राग सहित जान लेता है, वैराग्य सहित चित्त को वैराग्य सहित जान लेता है। इसी प्रकार वह द्वेष, मोह आदि से युक्त या रहित चित्तों को भी जान लेता है। जैसे कोई स्त्री या पुरुष अपने को सजधज कर दर्पण में देखते हुए स्पष्ट रूप से देखे, उसी प्रकार वह दूसरे के चित्त को अपने चित्त से जान लेता है।

पूर्वजन्मों की बातों के स्मरण को पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान कहते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए चतुर्थ ध्यान से उठ सब से अन्तिम बैठने का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् आसन बिछाने से लेकर प्रातःकाल तक के प्रत्येक कार्य का स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार उलटे ढंग पर सम्पूर्ण रात और दिन के किए हुए कार्यों का स्मरण करना चाहिये। यदि इनमें से कुछ प्रकट न हो तो पुनः चतुर्थध्यान को प्राप्त कर उससे उठ इन्हें स्मरण करना चाहिए। ऐसे क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, दसवें, पन्द्रहवें, तीसवें दिन के कार्यों का स्मरण करना चाहिए। यही नहीं, महीने से लेकर वर्ष भर के किए हुए कार्यों का स्मरण करना चाहिए। इसी प्रकार दस वर्ष, बीस वर्ष तक के कार्यों का स्मरण करना चाहिए। तदुपरान्त इस जन्म में जन्म-ग्रहण से लेकर पूर्व जन्म की मृत्यु के समय तक का स्मरण करना चाहिए तथा उस जन्म के अपने रूप को देखना चाहिए। जब योगी इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह नाना पूर्वजन्मों की बातों को स्मरण करता है। जैसे, एक जन्म से लेकर हजार, लाख, अनेक संवर्त-कल्पों, अनेक विवर्त-कल्पों को जानता है—"मैं वहाँ था, इस नाम वाला, इस गोत्र वाला, इस रंग का, इस आहार को खाने वाला, इतनी आयु वाला, मैंने इस प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव किया। सो मैं वहाँ से मरकर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ।" इस तरह आकार-प्रकार के साथ वह अनेक पूर्व-जन्मों को स्मरण करता है।

दिव्य-चक्षु के ज्ञान को ही च्युत्योत्पाद ज्ञान कहते हैं। जो योगी इसे प्राप्त करना चाहता है, उसे चतुर्थ ध्यान से उठकर प्राणियों की च्युति एवं उत्पत्ति को जानने के लिए विचार करने पर दिव्य-चक्षु उत्पन्न हो जाता है। इसके लिए किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं। योगी आलोक फैलाकर नरक एवं स्वर्ग के सभी जीवों के कर्मों तथा उनके विपाकों को जान सकता है। उसे यथाकर्मोपग-ज्ञान और अनागतंश-ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। वह च्युत्योत्पाद-ज्ञानी कहा जाता है।

ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, चैतोपर्यज्ञान, पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान और च्युत्योत्पाद ज्ञान—ये पाँचों अभिज्ञाएँ लौकिक हैं, किन्तु जब कोई अर्हत् इन्हें प्राप्त करता है, तब ये ही लोकोत्तर कही जाती हैं और इनके साथ आश्रव क्षयज्ञान की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार लौकिक अभिज्ञाएँ पाँच और लोकोत्तर अभिज्ञाएँ छः हैं।

स्कन्ध-निर्देश

इस निर्देश से पूर्व समाधि-भावना समाप्त हो जाती है और यहाँ से प्रज्ञा-भावना प्रारम्भ होती है। इसलिए प्रारम्भ में ये प्रश्न किए गए हैं :—

(१) प्रज्ञा क्या है ?
(२) किस अर्थ में प्रज्ञा है ?
(३) प्रज्ञा का लक्षण, कार्य, जानने का आकार, प्रत्यय क्या है ?
(४) प्रज्ञा कितने प्रकार की होती है ?
(५) कैसे प्रज्ञा-भावना करनी चाहिए ?
(६) प्रज्ञा की भावना करने का कौन-सा गुण है ?

कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान प्रज्ञा है। यह भली प्रकार जानने के अर्थ में प्रज्ञा है। धर्म के स्वभाव को जानने के लक्षण वाली प्रज्ञा है। वह धर्मों के स्वभाव को ढँकने वाले मोह के अन्धकार का नाश करने के कार्यवाली है। अ-संमोह इसके जानने का आकार है। समाधि प्रज्ञा का प्रत्यय है। धर्म के स्वभाव के प्रतिवेध के लक्षण से प्रज्ञा एक प्रकार की होती है। लौकिक और लोकोत्तर से दो प्रकार की। वैसे ही साश्रव, अनाश्रव आदि से, नामरूप के व्यवस्थापन से, सौमनस्य-उपेक्षा से युक्त होने से और दर्शन-भावना की भूमि से। चिन्ता, श्रुत, भावनामय से तीन प्रकार की होती है। वैसे ही परित्र, महद्गत, अप्रमाण से, आय, अपाय, उपाय-कौशल्य से और आध्यात्म-अभिनिवेश आदि से। चार सत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा से प्रज्ञा चार प्रकार की होती है। चूँकि इस प्रज्ञा की स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि धर्म भूमि है। शीलविशुद्धि और चित्तविशुद्धि—ये दो विशुद्धियाँ मूल हैं। दृष्टि-विशुद्धि, कांक्षा-वितरण विशुद्धि, मार्गामार्गदर्शन विशुद्धि, प्रतिपदा ज्ञानदर्शन विशुद्धि, ज्ञानदर्शन विशुद्धि—ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर हैं। इसलिए उन भूमि हुए धर्मों में अभ्यास, परिपुच्छा (= प्रश्नोत्तर) के अनुसार ज्ञान का परिचय करके मूल हुई दो विशुद्धियों का सम्पादन कर, शरीर हुई पाँच विशुद्धियों का सम्पादन करते हुए भावना करनी चाहिए। इस निर्देश में 'प्रज्ञा की भूमि' हुए धर्मों में से प्रथम 'स्कन्ध' का वर्णन किया गया है।

स्कन्ध पाँच हैं—(१) रूप-स्कन्ध (२) वेदना-स्कन्ध (३) संज्ञा-स्कन्ध (४) संस्कार-स्कन्ध (५) विज्ञान-स्कन्ध। जो कुछ शीत आदि से विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला धर्म है, वह सब एक में करके रूप-स्कन्ध जानना चाहिए। वह विकार प्राप्त होने के स्वभाव से एक प्रकार का भी, भूत और उपादा के भेद से दो प्रकार का होता है। भूत-रूप चार हैं—पृथ्वी-धातु, जलधातु, तेजधातु और वायु-धातु। उपादा-रूप चौबीस प्रकार का होता है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्त्री-इन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, हृदयवस्तु, काय-विज्ञप्ति, वची विज्ञप्ति, आकाश-धातु, रूप की लघुता, रूप की मृदुता, रूप की कर्मण्यता, रूप का उपचय, रूप की सन्तति, रूप की जरता, रूप की अनित्यता, कवलिंकार आहार।

जो अनुभव करने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके वेदना स्कन्ध है। जो कुछ पहचानने के लक्षण वाला है, वह सब एक में करके संज्ञा-स्कन्ध है। जो कुछ राशि करने के लक्षण वाला है वह सब एक में करके संस्कार स्कन्ध है।

विज्ञान, चित्त, मन—अर्थ से एक है। इक्कीस कुशल, बारह अकुशल, छत्तिस विपाक, बीस क्रिया—सभी नवासी (८९) प्रकार के विज्ञान होते हैं, जो प्रतिसन्धि, भवांग, आवर्जन, देखना, सुनना, सूँघना, चाटना, स्पर्श करना, स्वीकार करना, निश्चय करना, व्यवस्थापन, जवन, तदालम्बन, च्युति के अनुसार प्रवर्तित होते हैं। च्युति से पुनः प्रतिसन्धि, प्रतिसन्धि से पुनः भवांग—इस प्रकार भव, गति, स्थिति, निवास में चक्र काटते हुए प्राणियों की—अटूट चित्त-धारा

जारी रहती है। जो अर्हत्व को प्राप्त कर लेता है, उसके च्युति-चित्त के निरुद्ध होने पर निरुद्ध ही हो जाता है।

स्वभाव से वेदना पाँच प्रकार की होती है—सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा। उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। इस प्रकार वेदना नाना होती है, जो अनुभव करने के लक्षण वाली है। संज्ञा की उत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार की होती है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। ऐसा विज्ञान नहीं है जो संज्ञा से रहित हो, इसलिए जितना विज्ञान का भेद है, उतना संज्ञा का भी।

संस्करण करने के कारण संस्कार कहा जाता है। लौकिक कुशल और अकुशल चेतना ही संस्कार है। पुण्य-पाप कर्मों का राशिकरण इसका अर्थ है। जितने भी संस्कार हैं, वे सब संस्कार-स्कन्ध के अन्तर्गत हैं, चाहे वे भूत-कालीन हों, वर्तमान कालीन हों या भविष्यत् कालीन। वे आध्यात्मिक हों या बाह्य। वे कुशल हों या अकुशल। स्पर्श, मनस्कार, जीवित, समाधि, वितर्क, विचार, वीर्य, प्रीति, छन्द, अधिमोक्ष, श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अव्यापाद, प्रज्ञा, उपेक्षा, कायप्रश्रब्धि-चित्त-प्रश्रब्धि, काय की लघुता, चित्त की लघुता, काय-मृदुता, चित्त-मृदुता, काय-कर्मण्यता, चित्त कर्मण्यता, काय-प्रागुण्यता, चित्त-प्रागुण्यता, काय-ऋजु-कृत्यता, करुणा, मृदुता, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, लोभ, द्वेष, मोह, दृष्टि, औद्धत्य, अ-ह्री, अन्-अपत्रपा, विचिकित्सा, मान, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यानमृद्ध—ये सभी धर्म चेतना के साथ पचास, पुञ्जार्थ रूप में संस्कार-स्कन्ध कहलाते हैं। ये काय, वाक् और मन द्वारा ही साध्य हैं। संस्कार का विभाजन दो प्रकार से होता है—(१) काय-संस्कार, वाक् संस्कार, चित्त संस्कार। (२) पुण्य संस्कार, अपुण्य संस्कार, आनेञ्ज संस्कार। आश्वास-प्रश्वास काय संस्कार हैं। वितर्क-विचार वाक् संस्कार हैं और संज्ञा तथा वेदना चित्त-संस्कार। काय, चित्त और वाक्—इन्हीं के द्वारा व्यक्ति पुण्य-पाप का संचय करता है, जिनसे सुगति-दुर्गति होती है। इन्हीं संस्कारों से व्यक्ति का संसार-भ्रमण लगा रहता है।

आयतन-धातु-निर्देश

आयतन शब्द निवास, आकर, समोसरण, उत्पत्ति-स्थान और कारण के अर्थ में प्रयुक्त है। आयतन बारह हैं। छः भीतरी और छः बाहरी। भीतरी आयतन हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन। बाहरी आयतन हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म।

धातुएँ अठारह हैं—चक्षु-धातु, रूप-धातु, चक्षु-विज्ञान-धातु, श्रोत्र-धातु, शब्द-धातु, श्रोत्र-विज्ञान-धातु; घ्राण-धातु, गन्ध-धातु, घ्राण-विज्ञान-धातु, जिह्वा-धातु, रस-धातु, जिह्वा-विज्ञान-धातु, काय-धातु, स्पर्श-धातु, काय-विज्ञान-धातु, मनो-धातु, धर्म-धातु और मनोविज्ञान-धातु।

इन्द्रिय-सत्य-निर्देश

इन्द्रियाँ बाइस हैं—चक्षु-इन्द्रिय, श्रोत्र-इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा-इन्द्रिय, काय-इन्द्रिय, मनेन्द्रिय, स्त्री-इन्द्रिय, पुरुष-इन्द्रिय, जीवतेन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृति-इन्द्रिय, समाधि-इन्द्रिय, प्रज्ञेन्द्रिय, अनज्ञातञ्ञस्यामि-इन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय, अज्ञातावी-इन्द्रिय।

चार आर्यसत्य हैं—दुःख-आर्यसत्य, दुःख-समुदय आर्यसत्य, दुःख-निरोध आर्यसत्य, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य।

चार आर्यसत्यों में पहला दुःख आर्यसत्य है। संसार में पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, मरना दुःख है, शोक करना दुःख है, रोना-पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना भी दुःख है, प्रिय व्यक्तियों से वियोग और अप्रिय व्यक्तियों से संयोग दुःख है, संक्षेप में पञ्चस्कन्ध भी दुःख है—इस प्रकार के ज्ञान को ही दुःख आर्यसत्य कहते हैं।

संसार में बार-बार जन्म दिलाने वाली तृष्णा तीन प्रकार की होती है—भोग-विलास-सम्बन्धी तृष्णा (= काम-तृष्णा), संसार में बार-बार जन्म लेकर आनन्द उठाने की तृष्णा (=भव तृष्णा) और इन सबसे वंचित रहकर सर्वथा विलीन हो जाने की नास्तिक-भाववाली तृष्णा (= विभव तृष्णा)। इन्हीं तृष्णाओं के ज्ञान को दुःख-समुदय आर्यसत्य कहते हैं।

दुःख की उत्पत्ति के रुक जाने को ही दुःख-निरोध आर्यसत्य कहते हैं। सभी दुःखों की उत्पत्ति का मूल कारण तृष्णा है, अतः तृष्णा का सर्वथा निरोध ही दुःख निरोध आर्यसत्य है। दुःख-निरोध का ही दूसरा नाम निर्वाण है। निर्वाण को प्राप्त कर संसार-चक्र रुक जाता है।

दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा आर्यसत्य को ही मध्यम मार्ग कहते हैं। यह आठ भागों में विभक्त है—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाणी (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। दुःख से मुक्ति के लिए यह अकेला मार्ग है। इसी पर चलकर सारे दुःखों का क्षय होता है।

प्रज्ञाभूमि (प्रतीत्य समुत्पाद)-निर्देश

कार्य-कारण के सिद्धान्त को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। भगवान् बुद्ध ने उसे इस प्रकार बतलाया है—"अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप, नाम और रूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (=जन्म), जाति के प्रत्यय से बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, दुःख उठाना, बेचैनी और परेशानी होती है। इस तरह सारा दुःखसमुदाय उठ खड़ा होता है।"

प्रत्यय चौबीस हैं—हेतु प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, अन्तर प्रत्यय, समानान्तर प्रत्यय, सहजात प्रत्यय, निश्रय प्रत्यय, उपनिश्रय प्रत्यय, पुरेजात प्रत्यय, पश्चात्-जात प्रत्यय, आसेवन प्रत्यय, कर्म प्रत्यय, विपाक प्रत्यय, आहार प्रत्यय, इन्द्रिय प्रत्यय, ध्यान प्रत्यय, मार्ग प्रत्यय, सम्प्रयुक्त प्रत्यय, विप्रयुक्त प्रत्यय, अस्ति प्रत्यय, नास्ति प्रत्यय, विगत प्रत्यय, अविगत प्रत्यय।

इन प्रत्ययों में अविद्या पुण्य-संस्कारों का आलम्बन और उपनिश्रय—इन दो प्रत्ययों से प्रत्यय होती है, अपुण्य-संस्कारोंका अनेक प्रकार से प्रत्यय होती है और आनेञ्ज-संस्कारों का केवल उपनिश्रय प्रत्यय से ही प्रत्यय होती है। प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध में तथागत ने कहा था—"आनन्द ! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर-सा दीखता भी है। आनन्द ! इस धर्म के न जानने से ही यह प्रजा उलझे सूत-सी, गाँठें पड़ी रस्सी-सी, मूँज-वल्वज (भाभड़) सी, अपाय, दुर्गति, विनिपात को प्राप्त हो, संसार से नहीं पार हो सकती।"[१]

१. दीघनिकाय २,२।

जिस प्रकार अविद्या अनेक प्रत्ययों से संस्कारों का प्रत्यय होती है, वैसे ही संस्कार भी विज्ञान के प्रत्यय होते हैं और ऐसे ही क्रमशः शेष भी शेष के प्रत्यय होते हैं और भव-चक्र चलता रहता है। च्युति के पश्चात् प्रतिसन्धि और प्रतिसन्धि के बाद पुनः च्युति का क्रम उस समय तक जारी रहता है, जब तक कि सभी दुःखों का निरोध निर्वाण प्राप्त नहीं हो जाता।

दृष्टिविशुद्धि-निर्देश

विशुद्धियाँ सात हैं—(१) शील-विशुद्धि (२) चित्त-विशुद्धि (३) दृष्टि-विशुद्धि (४) कांक्षा-वितरण विशुद्धि (५) मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि (६) प्रतिपदा-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि (७) ज्ञान-दर्शन विशुद्धि। शील-विशुद्धि सुपरिशुद्ध प्रातिमोक्ष-संवर आदि चार प्रकार के शील को कहते हैं और चित्त-विशुद्धि उपचार-सहित आठ समापत्तियाँ हैं। इनका वर्णन शील-निर्देश तथा समाधि-निर्देश में सब प्रकार से किया गया है।

पंचस्कन्ध (=रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) को यथार्थ रूप से देखने को दृष्टि-विशुद्धि कहते हैं। जो योगी पंचस्कन्ध को भली प्रकार देखता है, वह जानता है कि इस शरीर में कोई 'मनुज' या 'सत्व' नहीं है, केवल नामरूप मात्र है। यह यन्त्र के समान शून्य है तथा नाना प्रकार के दुःखों का घर है। नाम और रूप भी परस्पर आश्रित हैं। एक के नष्ट होने पर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। जैसे डण्डे से मारने पर नगाड़ा बजता है। नगाड़े से निकला हुआ शब्द दूसरा ही होता है और नगाड़ा तथा शब्द मिले हुए नहीं होते। नगाड़ा भी शब्द से शून्य होता है और शब्द नगाड़ा से शून्य। ऐसे ही नाम और रूप के संयोग से यह शरीर चल रहा है, किन्तु दोनों ही निर्जीव हैं। इस प्रकार नाना ढंग से नाम और रूप को निर्जीव रूप में यथार्थ-देखना दृष्टि-विशुद्धि है।

कांक्षा-वितरण-विशुद्धि-निर्देश

नाम और रूप के प्रति तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाले सन्देह को मिटाने वाला ज्ञान ही कांक्षा-वितरण-विशुद्धि कहलाता है। योगी जानता है कि कर्म और फल मात्र विद्यमान हैं। फल भी कर्म से उत्पन्न है। कर्म से पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार संसार चल रहा है।

कर्म चार प्रकार के हैं—दृष्टधर्म वेदनीय, उपपद्य वेदनीय, अपरापर्य वेदनीय, अहोसि कर्म।

अन्य भी चार प्रकार के कर्म हैं—यद्गरुक, यद्बहुल, यदासन्न, कर्तृत्व। जनक, उपस्थम्भक, उपपीड़क, उपघातक—ये भी चार प्रकार के कर्म हैं। इन बारह प्रकार के कर्मों और उनके पश्चात् उनके विपाकों को जानकर योगी नाम और रूप के प्रत्यय का विचार करता है। और, तब वह जानता है—"कर्म को करने वाला कोई नहीं है और न तो फल को भोगने वाला ही। केवल शुद्ध धर्म मात्र प्रवर्तित होते हैं। यहाँ संसार को बनाने वाला न तो कोई देवता है और न तो ब्रह्मा ही। केवल कार्य एवं कारण से शुद्ध धर्म प्रवर्तित होते हैं।"

मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-निर्देश

उचित और अनुचित मार्ग को जानने वाला ज्ञान ही मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि है। तीन लौकिक परिज्ञाएँ हैं—ज्ञातपरिज्ञा, तीरणपरिज्ञा, प्रहाणपरिज्ञा। रूप आदि के लक्षण को जानने को जानने की प्रज्ञा ज्ञातपरिज्ञा है। रूप, वेदना आदि की अनित्यता को जानने की प्रज्ञा तीरण-परिज्ञा है और उन्हीं में नित्य होने आदि के विचार को त्यागने की प्रज्ञा प्रहाणपरिज्ञा है। इन

तीनों परिज्ञाओं से योगी पञ्चस्कन्ध का विचार करता है और देखता है कि पञ्चस्कन्ध अनित्य, दुःख, रोग, फोड़ा, काँटा, अघ, आबाधा आदि हैं। वह कर्म, कर्मसमुत्थान, कर्म-प्रत्यय; चित्त, चित्तसमुत्थान, चित्त प्रत्यय और आहार, ऋतु के अनुसार भी पञ्चस्कन्ध का मनन करके इसकी प्रवृत्ति को देखता है, तब उसे स्पष्ट रूप में जान पड़ता है कि जीवन, आत्मभाव और सुख-दुःख एक चित्त के साथ ही लगे रहते हैं। क्षण बहुत ही लघु है। वह यह जानता है कि अवभास आदि धर्म मार्ग नहीं है, जिससे कि निर्वाण-लाभ हो सके, प्रत्युत उपक्लेशों से विमुक्त विपश्यना-ज्ञान ही यथार्थ मार्ग है। इस प्रकार मार्ग और अ-मार्ग को जाननेवाला ज्ञान मार्गामार्ग-ज्ञान-दर्शन विशुद्धि है।

प्रतिपदाज्ञान-दर्शन-विशुद्धि-निर्देश

आठ ज्ञानों के अनुसार श्रेष्ठत्व-प्राप्त विपश्यना और सत्यानुलोमिक ज्ञान—इन्हें ही प्रतिपदाज्ञान-दर्शन-विशुद्धि कहते हैं। आठ विपश्यना-ज्ञान ये हैं—(१) उदयव्ययानुपश्यना ज्ञान (२) भग्नानुपश्यना ज्ञान (३) भयतो-उपस्थान ज्ञान (४) आदीनवानुपश्यना ज्ञान (५) निर्विदानुपश्यना ज्ञान (६) मुञ्चितुकम्यता ज्ञान (७) प्रतिसंख्यानुपश्यना ज्ञान (८) संस्कार-उपेक्षा ज्ञान। इन ज्ञानों द्वारा अनित्य, दुःख और अनात्म के रूप में भावना करनी चाहिए। इस भावना को उत्थान-गामिनी परिशुद्ध विपश्यना भी कहते हैं। इस भावना को करने वाला व्यक्ति जानता है कि सारा संसार क्षणिक, दुःखमय और अनात्म है और वह इसी भावना में मनोयोग कर शान्त एवं परिशुद्ध विपश्यना में सदा लगा हुआ महाभयानक संसार-दुःख से मुक्त हो जाता है।

ज्ञानदर्शन-विशुद्धि-निर्देश

स्रोतापत्ति मार्ग, सकृदागामी मार्ग, अनागामी मार्ग और अर्हत् मार्ग—इन चारों मार्गों का ज्ञान ज्ञानदर्शन-विशुद्धि कहलाता है। स्रोतापत्ति-मार्ग-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्य कुछ करना नहीं है। जो कुछ करना था, उसे अनुलोम की अन्तिम विपश्यना उत्पन्न करते हुए किया ही है। वह उसी की भावना करते हुए सभी निमित्त-आलम्बनों को विघ्न के रूप में देखकर अनिमित्त अर्थात् निर्वाण का आलम्बन करते, निर्वाण-भूमि में उतरते हुए स्रोतापत्ति-मार्ग-ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

इस ज्ञान के पश्चात् उसके ही प्रगट हुए दो-तीन फल चित्त उत्पन्न होते हैं, तब वह स्रोतापन्न हो जाता है, वह देव-लोक तथा मनुष्य-लोक में सात बार ही उत्पन्न होकर दुःख का अन्त करने में समर्थ हो जाता है, उसका आठवाँ जन्म नहीं होता।

फल के अन्त में उसका चित्त भवाङ्ग में उतर जाता है और फिर भवाङ्ग को काटकर मार्ग का प्रत्यवेक्षण करने के लिए मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। उसके विरुद्ध होने पर मार्ग-प्रत्यवेक्षण करने वाले जवन उत्पन्न होते हैं। पुनः भवाङ्ग में उतर कर उसी प्रकार फल आदि के प्रत्यवेक्षण के लिए जवन आदि उत्पन्न होते हैं। वह मार्ग, फल आदि का प्रत्यवेक्षण करते, निर्वाण का भी प्रत्यवेक्षण करने लगता है, तब उसे क्रमशः प्रत्यवेक्षण करते सकृदागामी-मार्ग-ज्ञान उत्पन्न होता है।

तदुपरान्त उक्त प्रकार से ही फल-चित्तों को जानना चाहिए। अब वह सकृदागामी हो जाता है। उसके राग, द्वेष और मोह दुर्बल हो जाते हैं। वह फिर केवल एक ही बार इस लोक में आता है और आकर निर्वाण का साक्षात्कार करता है। वह सकृदागामी आर्यश्रावक उक्त प्रकार से ही प्रत्यवेक्षण करके उसी आसन पर बैठे कामराग और व्यापाद के सर्वथा प्रहाण के लिए प्रयत्न करता है और अनागामी-मार्ग-ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

तदनन्तर उक्त प्रकार से ही फल-चित्तों को जानना चाहिए। अब वह अनागामी हो जाता है। उसके कामराग, प्रतिहिंसा, आत्मदृष्टि, मिथ्या व्रतादि और विचिकित्सा के भाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति मरकर साकार ब्रह्मलोक की शुद्धावास-भूमि में उत्पन्न होता है और वहीं निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। वह शुद्धावास ब्रह्मलोक से फिर इस लोक में जन्म ग्रहण नहीं करता।

अनागामी आर्यश्रावक अपने द्वारा प्राप्त मार्ग-फल का प्रत्यवेक्षण करते हुए उसी आसन पर बैठे रूप-अरूप-राग, मान, औद्धत्य और अविद्या के प्रहाण के लिए मनोयोग करता है। वह इन्द्रिय, बल और बोध्याङ्ग का योग्य प्रतिपाद कर उन संस्कारों को अनित्य, दुःख और अनात्म के रूप में ज्ञान से देखता है, तब उसे अर्हत्-मार्ग-ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के पश्चात् फल-चित्त उत्पन्न होते हैं, तब वह अर्हत् हो जाता है। उसके सभी प्रकार के चित्त-मल क्षय हो जाते हैं। वह इसी जन्म में चित्त और प्रज्ञा की विमुक्ति को स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है। वह लोक का अग्र-दाक्षिणेय हो जाता है।

प्रज्ञा-भावनानृशंस-निर्देश

प्रज्ञा-भावना के अनन्त गुण (=आनृशंस) हैं। दीर्घकाल तक भी उसके गुण का विस्तार-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में नाना प्रकार के क्लेशों को विध्वंस करना, आर्य-फल के रस का अनुभव करना, निरोध-समापत्ति को प्राप्त कर विहरने का सामर्थ्य और आह्वानीय-भाव आदि की सिद्धि प्रज्ञा के गुण जानने चाहिए। चूँकि आर्यप्रज्ञा की भावना अनेक गुणवाली है, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को उसमें मन लगाना चाहिए।

विशुद्धिमार्ग की विषय-भूमि के ज्ञान के लिए जो प्रत्येक निर्देश का परिचय दिया गया है, वह बहुत ही संक्षिप्त है और सब विषयों का उल्लेख भी नहीं किया जा सका है, केवल प्रधान विषय मात्र गिना दिए गए हैं, अतः विषयों का पूर्ण ज्ञान विशुद्धिमार्ग के अध्ययन से ही हो सकेगा, फिर भी इस संक्षिप्त परिचय से विशुद्धिमार्ग की विषय-भूमि का कुछ अनुमान हो सकेगा।

विशुद्धिमार्ग की भाषा

विशुद्धिमार्ग की भाषा उन स्थलों पर सरल, सुबोध एवं सरस है, जहाँ कि बुद्धघोष ने साधारण रूप से वर्णन किया है, वहाँ भी विशुद्धिमार्ग की भाषा माधुर्य एवं प्रसादगुण-सम्पन्न है, जहाँ कि विषय से सम्बन्धित कथाओं को देकर वर्णन में रोचकता ला दी गई है, किन्तु उन स्थलों पर भाषा अत्यन्त गम्भीर और जटिल हो गई है, जहाँ कि त्रिपिटक के अंशों को उद्धृत कर प्रत्येक शब्द की टीका की गई है। हम कह सकते हैं कि उन स्थलों पर इस ग्रन्थ की भाषा कर्कश और सौंदर्य-रहित हो गई है। 'विशुद्धिमार्ग' साधारण पाठक के लिए नहीं लिखा गया था, प्रत्युत भिक्षु-संघ के आदेश पर पाण्डित्य-प्रदर्शन-हेतु बौद्ध-शास्त्रों में प्रवेश-प्राप्त योगी के लिए एक असाधारण प्रज्ञा-बल-सम्पन्न पण्डित द्वारा लिखा गया था, इसलिए साधारण पाठक के लिए बोधगम्य और रोचक नहीं है।

विषय की गम्भीरता के कारण भी भाषा जटिल हो गई है, किन्तु पालि में गति रखने वाले व्यक्ति के लिए इसकी भाषा आनन्ददायक एवं चित्त को प्रसन्न करनेवाली है। योगियों के लिए तो इससे बढ़कर दूसरा कोई अभिरुचि उत्पन्न करनेवाला ग्रन्थ ही नहीं है। बुद्धघोष ने उन्हीं के प्रमोद के लिए इसकी रचना भी तो की है। उन्होंने ग्रंथ के प्रारम्भ में ही लिखा है :—

"बुद्धधर्म में अत्यन्त दुर्लभ प्रव्रज्या को पाकर, विशुद्धि (=निर्वाण) के लिए कल्याणकर, सीधे मार्ग और शील आदि के संग्रह को ठीक-ठीक नहीं जाननेवाले, शुद्धि चाहनेवाले भी योगी, बहुत उद्योग करने पर भी, उसे नहीं पाते हैं, उनके प्रमोद के लिए, बिल्कुल परिशुद्ध महाविहार-वासी (भिक्षुओं) के निर्णय के साथ, धर्म के आश्रित हो 'विशुद्धिमार्ग' को कहूँगा। उस मेरे सत्कारपूर्वक कहे हुए को, विशुद्धि चाहनेवाले सभी साधुजन आदर के साथ सुनें।"[1]

प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में भी उसी बात को दुहराया है और "सज्जनों के प्रमोद के लिए लिखे गए विशुद्धिमार्ग में" कहकर निर्देश को समाप्त किया है।

बुद्धघोष के ज्ञान एवं उनके पाण्डित्य को जानने के लिए 'विशुद्धिमार्ग' ही पर्याप्त है। यदि उनके द्वारा लिखित सभी अट्ठकथाएँ लुप्त हो जाँय, और केवल विशुद्धिमार्ग ही अवशेष रहे, तो भी संसार में बुद्धघोष की विद्वत्ता, उनकी कीर्ति एवं उनका विशिष्ट कार्य अमर रहेगा तथा इससे ही बुद्ध-शासन के लिए किया गया उनका महान् तप, त्याग और चिन्तन श्रद्धालु कुलपुत्रों द्वारा सदा सम्मानित रहेगा। बुद्धघोष की यह अमर-कृति कुलपुत्रों के मन में सदा ही निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करती रहे !

× × ×

'विशुद्धिमार्ग' जैसे महोपकारी ग्रन्थ की टीका भी एक महापण्डित द्वारा लिखी गई। आचार्य बुद्धघोष के पश्चात् बदरतीर्थवासी भदन्त धर्मपाल सिंहल गए, जो दक्षिण भारत के तैलंग प्रदेश के एक प्रख्यात विद्वान् थे। इन्होंने उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, चरियापिटक, नेत्तिप्पकरण की अट्ठकथाओं के साथ दीघनिकाय, मज्झिम निकाय और संयुत्तनिकाय के अट्ठकथा-ग्रन्थों पर "पुराण-टीका" नामक टीका-ग्रन्थ भी लिखा। अभिधर्मपिटक की अट्ठकथाओं की "मूलटीका" और "सच्चसंखेपप्पकरण" आदि अनेक ग्रन्थ इनकी कृतियाँ हैं। इन्होंने ही विशुद्धिमार्ग की "परमत्थमञ्जूसा" नामक प्रसिद्ध टीका भी लिखी, जो अट्ठासी भाणवारपालि में पूर्ण हुई है। पीछे बर्मा में "विसुद्धिमग्ग-गण्ठी" भी लिखी गई, जिसमें 'विशुद्धिमार्ग' के कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है। स्वर्गीय आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी "विसुद्धिमग्गदीपिका" नामक एक टीका-ग्रन्थ लिखा है, जो सन् १९४३ ई० में महाबोधि सभा (सारनाथ) द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इन पालि टीकाओं के अतिरिक्त "पुराणसन्नय" नाम की सिंहली भाषा में इसकी कोई व्याख्या-पुस्तक रही, जो अब उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध है केवल 'कलिकाल-साहित्य सर्वज्ञ महा-पण्डित' श्री पराक्रमबाहु राजा द्वारा लिखी हुई सिंहली व्याख्या (=सन्नय), जो बहुत ही सुन्दर है। राजा महापण्डित था, उसने तत्कालीन संस्कृत, पालि, सिंहली आदि अनेक भाषा के ग्रन्थों के सहारे इसका सम्पादन किया है। 'सन्नय' से विदित है कि राजा को महायान-ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान था। उसने स्थान-स्थान पर अपनी व्याख्या में 'अभिधर्मकोश' के श्लोकों को भी उद्धृत किया है। पण्डित एम० धर्मरत्न (सम्पादक, 'लकमिनि पहन') ने उसका मूलपालि, सन्नय (=व्याख्या) और भावार्थ के साथ प्रारम्भ से स्कन्ध-निर्देश तक सन् १९०९ में प्रकाशन किया था, जो अत्यन्त प्रशस्त एवं गवेषणात्मक है। उन्होंने पादटिप्पणियों में बर्मी व्याख्याओं को भी यत्र-तत्र उद्धृत किया है, जिससे ग्रन्थ अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

---

१. पहला भाग, पृष्ठ ३।

बर्मा में भी अन्वय के साथ 'विशुद्धिमार्ग' का अनुवाद (=निस्सय) हुआ है, वैसे ही श्यामी भाषा में भी। अँग्रेजी में श्री पे मौंगटिन[१] द्वारा किया हुआ अनुवाद तीन खण्डों में सन् १९२२ में पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन से प्रकाशित हुआ था। बँगला में भी श्री गोपालदास चौधरी और श्रमण श्री पूर्णानन्द स्वामी का किया हुआ अनुवाद सन् १९२३ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, जो केवल समाधि-निर्देश तक ही सीमित है। मराठी में स्वर्गीय कौशाम्बी जी का 'समाधि-मार्ग' विशुद्धिमार्ग का ही संक्षिप्त संस्करण है।

यों तो नागरी लिपि में स्वर्गीय कौशाम्बी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ मूल पालि-ग्रंथ को सम्पादन करके सन् १९४० में ही भारतीय विद्यापीठ, बम्बई से प्रकाशित कराया था, किन्तु हिन्दी भाषा आजतक इसके अनुवाद से सर्वथा वंचित रही है।

इस ग्रंथ का अनुवाद-कार्य सम्पूर्णतः लंका के महामन्तिन्द परिवेण (मातर) में रहते हुए ही सन् १९४७ के प्रारम्भ में समाप्त हो गया था। अनुवाद करने में मैंने पालि टीका-ग्रंथों, सिंहल सन्नय और बर्मी निस्सय से विशेष सहायता ली है। बँगला अनुवाद का भी यत्र-तत्र अवलोकन किया है। पादटिप्पणियों में पारिभाषिक और कठिन शब्दों को पूर्णरूप से समझाने का प्रयत्न किया है। ग्रंथ के कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनका मूल-पाठ दिए बिना अनुवाद सुन्दर न होता, अतः मैंने उन्हें देकर अनुवाद किया है। स्थान-स्थान पर पादटिप्पणियों में मतभेदों की आलोचना भी कर दी है। स्वर्गीय कौशाम्बी जी के विचारों का कई स्थलों पर खण्डन करना पड़ा है। मैं चाहता था कि एक बार उनके पास जाकर उन स्थलों को पढ़ सुनाऊँ, किन्तु वह कहाँ बदा था ?

इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए मैंने स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव जी से सन् १९४७ में ही निवेदन किया था, उन्होंने एक संक्षिप्त परिचय लिखकर दिया था और कहा था कि 'ग्रन्थ के छपते समय एक दीर्घ एवं सुन्दर भूमिका लिख दूँगा।' जब मैंने उन्हें सन् १९५३ में स्मरण दिलाया, तो उन्होंने अपने १९ अक्तूबर के पत्र में लिखा—"अभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुआ हूँ। अच्छे होनेपर आपकी पुस्तक की भूमिका लिख दूँगा।" किन्तु, अब वे भी नहीं रहे !

सारनाथ, वाराणसी।
२५ अगस्त, बुद्धाब्द २५००
सन् १९५६

भिक्षु धर्मरक्षित

१. Mr. Pe Maung Tin.

विषय-सूची

पहला भाग

उन भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध को नमस्कार है

विशुद्धि मार्ग

पहला परिच्छेद

शील-निर्देश

[निदान कथा]

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं ॥[1]

[जो नर प्रज्ञावान् है, वीर्यवान् है, पण्डित है, (संसार में भय ही भय देखने वाला-) भिक्षु है, वह शील पर प्रतिष्ठित हो, चित्त (=समाधि) और प्रज्ञा की भावना करते हुए इस जटा को काट सकता है।]

—इस प्रकार जो कहा गया है, वह क्यों कहा गया है ?

भगवान् के श्रावस्ती में विहार करते समय, रात में किसी देवपुत्र ने (उनके) पास आकर अपना सन्देह मिटाने के लिये—

अन्तो जटा बहि जटा,
जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम ! पुच्छामि,
को इमं विजटये जटं ?[1]

[भीतर जटा है, बाहर जटा है, जटा से प्रजा (=प्राणी) जकड़ी हुई है, इसलिये हे गौतम ! मैं आप से पूछता हूँ कि कौन इस जटा को काट सकता है ?]

—इस प्रश्न को पूछा। उसका यह संक्षेप में अर्थ है :—

जटा—यह जाल फैलानेवाली तृष्णा का नाम है। वह रूप आदि आलम्बनों[2] में नीचे[3]-ऊपर

---

१. संयुत्त निकाय १,३,३।

२. रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (मन के विषय)— ये छः आलम्बन हैं।

३. कभी रूप के आलम्बनों में उत्पन्न होती है, तो कभी धर्म के आलम्बनों में; कभी धर्म के आलम्बनों में उत्पन्न होती है, तो कभी रूप के आलम्बनों में। इस प्रकार कभी निचले में, तो कभी ऊपर वाले में इसकी उत्पत्ति समझनी चाहिए।

के अनुसार बार-बार उत्पन्न होने से, सीने-पिरोने के अर्थ में, बाँस के झाड़ आदि के शाखा-जाल कहलाने वाली जटा के समान होने से, जटा है। वह (=तृष्णा) अपनी और परायी चीज़ों में, अपने और दूसरे के शरीर में, भीतरी और बाहरी आयतनों[1] में उत्पन्न होने से **भीतर जटा है, बाहर जटा है**—ऐसा कहा जाता है। उसके ऐसे उत्पन्न होने से **प्रजा (=प्राणी) जटा से जकड़ी हुई है।** जैसे बाँस की जटा आदि से बाँस वगैरह। इस प्रकार उस तृष्णा की जटा से सत्त्व-समूह कहलाने वाली सभी प्रजा जकड़ी हुई है, बँधी हुई है, (एकदम) सियी हुई है—यह अर्थ है।

और, चूँकि ऐसे जकड़ी हुई है, **इसलिये हे गौतम ! मैं आपसे पूछता हूँ**।......। 'गौतम' (कहकर) भगवान् को गोत्र से सम्बोधित करता है।[2]

कौन इस जटा को काट सकता है ? इस प्रकार तीनों धातुओं[3] को जकड़ी हुई इस जटा को कौन काटे ? काटने के लिए कौन समर्थ है ?—ऐसा पूछता है।

उसके इस प्रकार पूछने पर (भूत, भविष्यत् और वर्तमान की) सब बातों को निर्बाध रूप से जाननेवाले, देवों के देव, इन्द्रों के उत्तम इन्द्र, ब्रह्माओं के उत्तम ब्रह्मा, चार प्रकार के वैशारद्य[4] से विशारद, दशबलों[5] को धारण करने वाले, खुले ज्ञानवाले (=अनावरण ज्ञान),

---

१. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन--ये छः भीतरी (=आध्यात्मिक) आयतन हैं और रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म—ये छः बाहरी (= बाह्य) आयतन हैं।

२. विसुद्धिमग्गदीपिका के लेखक आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है—"गौतम कहकर भगवान् को गोत्र से सम्बोधित करता है—यहाँ 'नाम से सम्बोधित करता है' कहना चाहिये।" उन्होंने थेरी गाथा से—'बहूनं वत अत्थाय माया जनयि गोतमं।' [६,६,६] उदाहरण दिया है और कहा है कि 'गौतम' भगवान् का नाम है, गोत्र नहीं; किन्तु हम देखते हैं कि संयुत्त-निकाय के वङ्गीस संयुत्त में आनन्द के लिये गौतम शब्द का प्रयोग हुआ है—'कामरागेन डय्हामि चित्तं मे परिडय्हति, साधु निब्बापनं ब्रूहि अनुकम्पाय गोतम।' [१, ८, ३] इससे कौशाम्बी जी का कथन ठीक नहीं उतरता है। 'गौतम' गोत्र का ही नाम है, भगवान् का नहीं।

३. कामधातु, रूपधातु, अरूपधातु—ये तीन धातुयें हैं।

४. चार वैशारद्य हैं-(१) अपने को सम्यक् सम्बुद्ध कहने वाले सभी धर्मों को जानकर निर्भीक होना। (२) अपने को क्षीणाश्रव कहनेवाले सभी आश्रवों के क्षीण हुए को जानकर निर्भीक होना। (३) विघ्नकारक धर्मों को भलीभाँति जानकर निर्भीक होना। (४) जिस उद्देश्य से धर्म का उपदेश देते हैं, वह भली प्रकार दुःख-विनाश की ओर ले जाने वाला है—ऐसा जानकर निर्भीक होना।

५. सम्यक् सम्बुद्ध के दस बल हैं—(१) उचित को उचित और अनुचित को अनुचित के तौर पर ठीक से जानना। (२) भूत, भविष्यत्, वर्तमान के किये हुए कर्मों के विपाक को स्थान और कारण के साथ ठीक से जानना। (३) सर्वत्र गामिनी प्रतिपदा को ठीक से जानना। (४) अनेक धातु (=ब्रह्माण्ड), नाना धातु वाले लोकों को ठीक से जानना। (५) नाना विचारवाले प्राणियों को ठीक से जानना। (६) दूसरे प्राणियों की इन्द्रियों की प्रबलता और दुर्बलता को ठीक से जानना। (७) ध्यान, विमोक्ष, समाधि, समापत्ति के संक्लेश (=मल), व्यवदान (= निर्मलकरण) और उत्थान को ठीक से जानना। (८) पूर्वजन्मों की बातों को ठीक से जानना। (९) अलौकिक विशुद्ध, दिव्यचक्षु से प्राणियों को उत्पन्न होते, मरते, स्वर्ग लोक में जाते हुए देखना। (१०) आश्रवों के क्षय से आश्रव-रहित चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति का साक्षात्कार।

समन्त[1]-चक्षु भगवान् ने उसका उत्तर देते हुए—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं॥

—इस गाथा को कहा।

इमिस्सा दानि गाथाय कथिताय महेसिना।
वण्णयन्तो यथाभूतं अत्थं सीलादिभेदनं॥
सुदुल्लभं लभित्वान पब्बज्जं जिनसासने।
सीलादिसङ्गहं खेमं उजुं मग्गं विसुद्धिया॥
यथाभूतं अजानन्ता सुद्धिकामापि ये इध।
विसुद्धिं नाधिगच्छन्ति वायमन्तापि योगिनो॥
तेसं पामुज्जकरणं सुविसुद्ध विनिच्छयं।
महाविहार वासीनं देसनानय निस्सितं॥
विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सक्कच्च भासतो।
विसुद्धिकामा सब्बेपि निसामयथ साधवो'ति॥

[अब, महर्षि (=बुद्ध) द्वारा कही गई इस गाथा का शील आदि के भेदों[2] से ठीक-ठीक अर्थ बतलाते हुए; बुद्ध-धर्म में अत्यन्त दुर्लभ प्रव्रज्या को पाकर, विशुद्धि (=निर्वाण) के लिये कल्याणकर, सीधे मार्ग, और शील आदि के संग्रह को ठीक-ठीक नहीं जानने वाले, शुद्धि को चाहने वाले भी योगी, बहुत उद्योग करने पर भी, उसे नहीं पाते हैं। उनके प्रमोद के लिए, बिलकुल परिशुद्ध महाविहारवासी[3] (भिक्षुओं) के निर्णय के साथ, धर्म के आश्रित हो **विशुद्धि-मार्ग** को कहूँगा।

उस मेरे सत्कारपूर्वक कहे हुए को, विशुद्धि-चाहने वाले सभी साधु-जन आदर के साथ सुनें।]

विशुद्धि मार्ग क्या है ?

विशुद्धि, सब मलों से रहित अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण को जानना चाहिये। उस विशुद्धि का मार्ग—**विशुद्धि मार्ग** है। निर्वाण की प्राप्ति का उपाय **मार्ग** कहा जाता है। 'उस विशुद्धि मार्ग को कहूँगा'—यह अर्थ है।

(१) वह विशुद्धि मार्ग कहीं विपश्यना मात्र के ही अनुसार कहा गया है। जैसे कहा है:—

---

१. चारों ओर सभी प्रकार से हाथ में लिए 'आमलक' के आलोक की भाँति प्रत्यक्ष ज्ञान-चक्षु से देखने में समर्थ; अर्थात् सर्वज्ञ।

२. शील, समाधि, प्रज्ञा से।

३. अनुराधपुर (लंका) के महाविहार में रहने वाले भिक्षु लोग।

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥[१]

['सभी संस्कार अनित्य हैं'—इस प्रकार जब प्रज्ञा से देखता है, तब (सभी) दुःखों से निर्वेद (=विराग) को प्राप्त होता है—यही विशुद्धि का मार्ग है।]

(२) कहीं ध्यान और प्रज्ञा के अनुसार। जैसे कहा है—

यम्हि झानञ्च पञ्ञा च, स वे निब्बान सन्तिके।[२]

[जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है, वही निर्वाण के पास है।]

(३) कहीं कर्म आदि के अनुसार। जैसे कहा है—

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा॥[३]

[कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम जीविका—इससे प्राणी शुद्ध होते हैं, न कि गोत्र या धन से।]

(४) कहीं शील आदि के अनुसार। जैसे कहा है—

सब्बदा सीलसम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो ओघं तरति दुत्तरं॥[४]

[सर्वदा शील से युक्त रहने वाला, प्रज्ञावान्, एकाग्रचित्त, उत्साही और संयमी (व्यक्ति) कठिनाई से पार किये जानेवाले ओघ[५] (=बाढ़) को तैर जाता है।]

(५) कहीं स्मृति-प्रस्थान (=सतिपट्ठान) आदि के अनुसार। जैसे कहा है—

'भिक्षुओ, यह जो चार स्मृति-प्रस्थान है, वह प्राणियों की विशुद्धि के लिये,······निर्वाण के साक्षात्कार के लिये अकेला मार्ग है।[६]'

सम्यक्-प्रधान[७] आदि में भी इसी प्रकार।

—किन्तु, इस प्रश्नोत्तर में शील आदि के अनुसार कहा गया है। उसकी यह संक्षेप में व्याख्या है:—

सीले पतिट्ठाय का अर्थ है शील पर खड़ा होकर। शील को भली प्रकार से पालन करने वाला ही शील पर खड़ा हुआ कहा जाता है। इसलिये 'शील की परिपूर्णता द्वारा शील

१. धम्मपद २७७।
२. धम्मपद ३७२।
३. मज्झिम निकाय ३,५,१ संयुत्त नि० २,२,१० और १,५,८।
४. संयुत्त नि० २,२,५।
५. काम, भव, दृष्टि, अविद्या—ये चार ओघ (=बाढ़) कहे जाते हैं।
६. दीघ नि० २,९ और मज्झिम नि० १,१,१०।
७. सम्यक्-प्रधान का अर्थ है उचित प्रयत्न। यह चार प्रकार का होता है—(१) उत्पन्न अकुशल के परित्याग के लिये प्रयत्न। (२) नहीं उत्पन्न हुए अकुशल को नहीं उत्पन्न होने देने के लिये प्रयत्न। (३) नहीं उत्पन्न हुए कुशल को उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न। (४) उत्पन्न हुए कुशल को अत्यधिक बढ़ाने के लिये प्रयत्न।

पर खड़ा होकर'—यह अर्थ है। **'नरो'** का अर्थ है सत्त्व (=प्राणी)। **सपञ्ञो,** कर्म से उत्पन्न होनेवाली त्रिहेतुक[1]-प्रतिसन्धि[2] की प्रज्ञा से प्रज्ञावान्। **चित्तं पञ्ञञ्च भावयं,** समाधि और विपश्यना[3] (=विदर्शना) की भावना करते हुए। चित्त नाम से यहाँ समाधि निर्दिष्ट हुई है और प्रज्ञा नाम से विपश्यना। **आतापी,** वीर्य्यवान्। वीर्य्य ही क्लेशों को तपाने-झुलसाने के अर्थ में 'आताप' कहा जाता है। वह इसमें है, इसलिए यह आतापी (=वीर्य्यवान्=उद्योगी) है। **निपको,** नैपक्व कही जाती है प्रज्ञा। उससे युक्त।...। इस शब्द से परिहार्य्य-प्रज्ञा[4] दिखलाई गई है।

इस प्रश्नोत्तर में प्रज्ञा तीन बार आई हुई है। पहली जाति (=जन्म से उत्पन्न)-प्रज्ञा, दूसरी विपश्यना-प्रज्ञा, तीसरी (चलने, उठने, बैठने आदि) सभी कामों को पूर्ण करनेवाली परिहार्य्य-प्रज्ञा।

संसार में भय देखता है, (अतः) **भिक्खु** है। **सो इमं विजटये जटं,** वह इस शील से, इस चित्त द्वारा निर्दिष्ट समाधि से, इस तीन प्रकार की प्रज्ञा से, और इस वीर्य्य से,—इन छः बातों से युक्त भिक्षु, जैसे आदमी पृथ्वी पर खड़ा होकर, अच्छी तरह रगड़ कर तेज किये हथियार को उठा, बड़े बाँस के झाड़ को काटे; ऐसे ही शील की पृथ्वी पर खड़ा होकर समाधि के पत्थर पर रगड़ कर तेज किये, विपश्यना की प्रज्ञा रूपी हथियार को वीर्य्य और बल से पकड़कर, परिहार्य्य-प्रज्ञा के हाथ से उठा, अपने भीतर समाई हुई उस सब तृष्णा की जटा को काट डाले, टुकड़े-टुकड़े कर दे, काटकर गिरा दे।

मार्ग-प्राप्ति के क्षण ही, यह उस जटा को काटता है। फल-प्राप्ति के क्षण कटी हुई जटा वाला हो, देवताओं के साथ (सारे-) लोक का अग्र-दाक्षिणेय (=सबसे पहले दान पाने के योग्य) होता है। इसलिए भगवान् ने कहा है—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटं॥

यह जिस प्रज्ञा से प्रज्ञावान् कहा गया है, उसके लिए कुछ करना नहीं है। पूर्व जन्म में किये कर्म के अनुभाव से ही उसे वह मिली है। **आतापी निपको,** इसमें कहे हुए वीर्य्य से,

---

१. लोभ, द्वेष, मोह और अलोभ, अद्वेष, अमोह—ये छः हेतु होते हैं। त्रिहेतुक प्रतिसन्धि अलोभ, अद्वेष, अमोह—इन तीन कुशल हेतुओं से युक्त होती है। ज्ञान से युक्त चार कामावचर महाविपाकचित्त, पाँच रूपावचर विपाकचित्त और चार अरूपावचर विपाकचित्त—कुल तेरह चित्त त्रिहेतुक-प्रतिसन्धि-चित्त कहे जाते हैं।

२. प्रतिसन्धि कहते हैं माता के पेट में आने को। जब व्यक्ति मरता है, तब ठीक उसके च्युति-चित्त के बाद जो चित्त दूसरे भव में उत्पन्न होता है, उसका ही यह नाम है। जिसे प्रतिसन्धि-विज्ञान, गन्धर्व आदि भी कहते हैं।

३. अनित्य, दुःख, अनात्म आदि नाना प्रकार से देखने को विपश्यना कहते हैं—विभावनी टीका।

४. कर्मस्थान को परिपूर्ण करने में लगी हुई प्रज्ञा को परिहार्य्य-प्रज्ञा कहते हैं-सिंहल सन्नय।

सतत परिश्रम करके, प्रज्ञा से होश सम्हाल कर, शील पर प्रतिष्ठित हो, चित्त और प्रज्ञा के अनुसार कहे गये शमथ और विपश्यना की भावना करनी चाहिए। भगवान् ने शील, समाधि, प्रज्ञा को यहाँ विशुद्धि-मार्ग बतलाया है।

यहाँ तक :—

(१) तीन शिक्षाएँ, (२) तीन प्रकार से कल्याणकर धर्म (=शासन), (३) त्रैविद्य (=तीन-विद्या) आदि का उपनिश्रय (=प्रधान कारण), (४) दो अन्तों का त्याग, मध्यम प्रतिपत्ति (=बिचला मार्ग) का सेवन, (५) अपाय आदि से छुटकारा पाने का उपाय, (६) तीन प्रकार से क्लेशों का प्रहाण, (७) (शिक्षा-पद के) उल्लंघन आदि का प्रतिपक्ष (=विरोध), (८) तीनों संक्लेशों का विशोधन और (९) स्रोतापन्न आदि (मार्ग-फल) को पाने का साधन बतलाया गया है।

कैसे ? यहाँ शील से अधिशील-शिक्षा बतलाई गई है। समाधि से अधिचित्त शिक्षा और प्रज्ञा से अधिप्रज्ञा-शिक्षा। शील से धर्म (=शासन) का आरम्भ में कल्याणकर होना कहा गया है।

"कुशल धर्मों का आरम्भ क्या है ? सु-विशुद्ध शील।"[१]—इस वचन से और 'सारे पापों का न करना'[२] आदि वचन से शील धर्म का आरम्भ है; और वह भी (अपने किए हुए कर्म को याद कर) पश्चात्ताप न करने आदि गुणों को लाने के कारण कल्याणकर है। समाधि से मध्य में कल्याणकर होना कहा गया है। "कुशल (=पुण्य) का संचय करना" आदि वचन से समाधि धर्म के मध्य में है; और वह भी ऋद्धि-विध[३] आदि गुणों को लाने के कारण कल्याणकर है। प्रज्ञा से अन्त में कल्याणकर होना बतलाया गया है। "अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह बुद्धों की शिक्षा (=शासन) है।"[४]

इस वचन से, प्रज्ञा सबसे बढ़कर होने के कारण, प्रज्ञा ही शासन (=धर्म) का अन्त है। और, वह प्रिय-अप्रिय (आलम्बनों) में एक समान होने से कल्याणकर है।

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दा पसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता॥[५]

[जैसे ठोस पहाड़ वायु से कम्पित नहीं होता, ऐसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से नहीं डिगते।]

—ऐसा कहा गया है।

वैसे ही, शील से तीनों विद्याओं की प्राप्ति का प्रधान कारण बतलाया गया है। (भिक्षु-) शील-सम्पत्ति के सहारे तीनों विद्याओं को प्राप्त करता है, उसके आगे नहीं। समाधि से छः अभिज्ञाओं की प्राप्ति का प्रधान कारण कहा गया है। समाधि-सम्पत्ति के सहारे छः अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है, उसके आगे नहीं। प्रज्ञा से प्रतिसम्भिदा[६] के भेदों की प्राप्ति का साधन बत-

१. संयुत्त निकाय ४३, ७, २।
२. धम्मपद १८३।
३. देखिए, बारहवाँ परिच्छेद।
४. धम्मपद १८३।
५. धम्मपद ८१।
६. प्रतिसम्भिदायें चार हैं—अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान।

लाया गया है। प्रज्ञा-सम्पत्ति के सहारे चारों प्रतिसम्भिदाओं को पाता है, न कि (किसी) अन्य साधन से।

शील से काम-सुख में लिप्त होनेवाले अन्त का त्याग कहा गया है। समाधि से अपने को पीड़ा देने में लगे रहने वाले (=अत्तकिलमथानुयोग) (अन्त) का। प्रज्ञा से मध्यम प्रतिपत्ति को ग्रहण करना बतलाया गया है। वैसे ही, शील द्वारा अपाय[1] से छुटकारा पाने का उपाय कहा गया है। समाधि द्वारा काम-धातु के अतिक्रमण का उपाय और प्रज्ञा द्वारा सारे भवों[2] को लाँघ जाने का उपाय। शील से तदांग-प्रहाण[3] के रूप में क्लेशों का प्रहाण (=त्याग) बतलाया गया है। समाधि से विष्कम्भन[4] (=दबा देना)-प्रहाण और प्रज्ञा से समुच्छेद-प्रहाण[5]।

वैसे ही, शील से क्लेशों का उल्लंघन (=लाँघ जाना) और विरोध। समाधि से बार-बार उठ खड़े होनेवाले (क्लेशों) का विरोध, और प्रज्ञा से अनुशय[6] का विरोध बतलाया गया है।

और, शील से दुराचार की बुराइयों का विशोधन (=दूरीकरण) कहा गया है। समाधि से तृष्णा के संक्लेश (=बुराई) का विशोधन और प्रज्ञा से दृष्टि के संक्लेश का विशोधन। वैसे ही, शील से स्रोतापन्न, सकृदागामी होने का साधन बतलाया गया है। समाधि से अनागामी होने का; और प्रज्ञा से अर्हत्व का। कहा गया है कि स्रोतापन्न शीलों को परिपूर्ण करने वाला होता है, वैसे ही सकृदागामी भी। अनागामी समाधि को परिपूर्ण करने वाला होता है और अर्हत् प्रज्ञा को।

इस प्रकार यहाँ तक, तीन शिक्षायें, तीन प्रकार से कल्याणकर धर्म, त्रैविद्य आदि का उपनिश्रय, दो अन्तों का त्याग, मध्यम प्रतिपत्ति का सेवन, अपाय आदि से छुटकारा पाने का उपाय, तीन प्रकार से क्लेशों का प्रहाण, (शिक्षा-पद के) उल्लंघन आदि का विरोध, तीनों संक्लेशों का विशोधन, और स्रोतापन्न आदि (मार्ग-फल) पाने का साधन- ये नव और अन्य भी[7] इस प्रकार के तीन गुणों से युक्त (बहुत से धर्म) बतलाये गये हैं।

---

१. अपाय चार हैं—नरक, प्रेत्य-विषय, तिर्यक् योनि, असुर काय।

२. काम भव, रूप भव, अरूप भव—ये तीन भव हैं। इन्हें ही संज्ञा भव, असंज्ञा भव, नैवसंज्ञानासंज्ञा भव और एक अवकार भव, चतुःअवकार भव, पञ्च अवकार भव भी कहते हैं।

३. प्रदीप के प्रकाश से जैसे अन्धकार थोड़ा-थोड़ा करके दूर हो जाता है, ऐसे ही प्राणि-हिंसा से विरत होने आदि कुशल अंगों से, प्राणि-हिंसा करना आदि अकुशल अंगों का प्रहाण हो जाता है। ऐसे ही प्रहाण होने को तदांग प्रहाण कहते हैं।

४. जैसे घड़े से लगते ही पानी के ऊपर का सेवाल हट जाता है, ऐसे ही उपचार, और अर्पणा समाधि से पाँच-नीवरण दब जाते हैं, दूर हो जाते हैं; उस अवस्था को विष्कम्भन (=विक्खम्भन) प्रहाण कहते हैं।

५. चारों आर्य मार्गों की भावना से क्लेशों का एकदम दूर हो जाना, फिर कभी न उत्पन्न होना—समुच्छेद-प्रहाण कहा जाता है।

६. अनुशय सात हैं—कामराग, प्रतिघ, मिथ्या दृष्टि (=उल्टी धारणा), विचिकित्सा, मान, भवराग, अविद्या। चूँकि ये व्यक्ति के पीछे-पीछे सर्वदा लगे रहते हैं और मौका पाते ही उठ खड़े होते हैं, इसलिये इन्हें अनुशय कहा जाता है।

७. तीन विवेक, तीन कुशलमूल आदि।

ऐसे अनेक गुणों से युक्त शील, समाधि, प्रज्ञा के रूप में उपदिष्ट भी यह विशुद्धि मार्ग अति-संक्षेप में ही उपदिष्ट है, इसलिये, 'सबके उपकार के लिये पर्याप्त नहीं है' (सोच), इसका विस्तृत वर्णन करने के लिये, पहले शील के सम्बन्ध में ये प्रश्न होते हैं—

(१) शील क्या है ?

(२) किस अर्थ में शील है ?

(३) इसके लक्षण, रस (=कृत्य), प्रत्युपस्थान (=जानने का आकार), पदस्थान (=प्रत्यय=सामीप्य कारण) क्या हैं ?॰

(४) शील का गुण क्या है ?

(५) यह शील कितने प्रकार का है ?

(६) इसका मल (=संक्लेश) क्या है ?

(७) इसकी विशुद्धि क्या है ?

इनका यह उत्तर है:—

१. शील क्या है ?

जीवहिंसा आदि (करने) से विरत रहने वाले, या (उपाध्याय आदि की)[१] सेवा-टहल करने वाले के चेतना आदि धर्म (=मानसिक अवस्थायें) शील है। 'प्रतिसम्भिदा' (-मार्ग ग्रन्थ) में यह कहा गया है—"शील क्या है ? चेतना शील है, चैतसिक शील है, संवर शील है, अनु-ल्लंघन शील है।"[२]

(क) जीव-हिंसा आदि से विरत रहने वाले, या व्रत-प्रतिपत्ति (=व्रताचार) पूर्ण करने वाले की चेतना ही **चेतना-शील** है।

(ख) जीव-हिंसा आदि से विरत रहने वाले की विरति (=अलग होने का विचार) **चैतसिक शील** है।

और भी, जीव-हिंसा आदि करने को छोड़ने वाले (व्यक्ति) की सात (कुशल-) कर्म-पथ[३] की चेतना (=कुशल कर्मों को करने का विचार) चेतना शील है।

"लोभ (=अभिध्या) को त्यागकर, लोभरहित चित्त से विहरता है।"[४] आदि प्रकार से कहे गये, लोभ से रहित होना, प्रतिहिंसा न करना और सम्यक् दृष्टि चैतसिक शील हैं।

(ग) **संवर शील**, संवर पाँच प्रकार का होता है—प्रातिमोक्ष संवर, स्मृति संवर, ज्ञान संवर, क्षान्ति-संवर, और वीर्य संवर। इनमें—"इस प्रातिमोक्ष के संवर से भली प्रकार

॰ कहा है—'सभावो लक्खणं नाम, किच्चसम्पज्जना रसो।
गय्हाकारो उपट्ठानं, पदट्ठानन्तु पच्चयो ॥'—नामरूप परिच्छेद ६७।

१. देखिये—चुल्लवग्ग का वत्तक्खन्धक।

२. पटिसम्भिदामग्ग १।

३. कायिक तीन और वाचिक चार अकुशल कर्मों को न करके, इन कुशल कर्मों को करना ही सात कुशल कर्म-पथ है।

४. दीघ निकाय १,२,४।

युक्त होता है।"[१]—यह प्रातिमोक्ष संवर है। "चक्षु-इन्द्रिय की रक्षा करता है, चक्षु-इन्द्रिय में संवर करता है।"[२]—यह स्मृति संवर है।

यानि सोतानि लोकस्मिं (अजिता'ति भगवा),
सति तेसं निवारणं।
सोतानं संवरं ब्रूमि
पञ्ञायेते पिधीयरे ॥[३]

[(भगवान् अजित को कह रहे हैं—) संसारमें जो (तृष्णा आदि के) स्रोत हैं, स्मृति उनको रोकनेवाली है। मैं स्रोतों का संवर (=रोक) बतलाता हूँ—'ये प्रज्ञा से बन्द हो जाते हैं।']

—यह ज्ञान-संवर है। प्रत्यय-प्रतिसेवन (-शील) भी इसी में आ जाता है।

जो—"सर्दी, गर्मी को सहनेवाला होता है।"[४] आदि प्रकार से आया हुआ है—यह क्षान्ति-संवर है। और जो—"उत्पन्न हुए काम (-भोग) सम्बन्धी वितर्क के वशीभूत नहीं होता है।"[५] आदि प्रकार से आया हुआ है—यह वीर्य्य-संवर है। आजीव-पारिशुद्धि (=रोजी का निर्दोष-भाव) (-शील) भी इसी में आ जाता है।

इस प्रकार यह पाँच तरह के भी संवर, और जो पाप से भय खानेवाले कुलपुत्रों की सामने आई हुई पाप की चीजों से विरति है—इन सबको संवर-शील जानना चाहिये।

(घ) ग्रहण किये हुए शील का काय और वाणी द्वारा उल्लंघन न करना ही अनुल्लंघन-शील है।

यह 'शील क्या है?' इस प्रथम प्रश्न का उत्तर है। शेष प्रश्नों में—

२. किस अर्थ में शील है?

शीलन (=आधार, ठहराव) के अर्थ में शील होता है। यह शीलन क्या है? काय-कर्म आदि का संयम, अर्थात् सुशीलता द्वारा अ-विप्रकीर्णता (=एक-जैसे बने रहना), अथवा ठहरने के लिए आधार की भाँति कुशल धर्मों को धारण करना—इसका अर्थ है। शब्द-लक्षण (=व्याकरण) के जानकार इन्हीं दो अर्थों को मानते हैं। दूसरे (आचार्य) शिरार्थ (=शिर के समान उत्तम)[६] शीलार्थ है, शीतलार्थ शीलार्थ है, आदि प्रकार से भी अर्थ कहते हैं। अब—

३. इसके लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान क्या हैं?

यहाँ—

सीलनं लक्खणं तस्स भिन्नस्सापि अनेकधा।
सनिदस्सनत्तं रूपस्स यथा भिन्नस्स'नेकधा ॥

---

१. विभङ्ग १२,२।

२. दीघ निकाय १,२,४ और विभङ्ग १२,२।

३. सुत्तनिपात ५६,४।

४. मज्झिम निकाय १, १, २।

५. मज्झिम निकाय १, १, २।

६. जैसे शिर के कट जाने पर आदमी मर जाता है, वैसे ही शील के टूट जाने पर सारा गुण रूपी शरीर विनष्ट हो जाता है, इसलिए शील शिरार्थ है।

[अनेक प्रकार के भेद होने पर भी शीलन (=आधार होना) ही उसका लक्षण है, जैसे अनेक प्रकार से (लाल-पीले रंग में) बँटा होने पर भी रूप का लक्षण सनिदर्शन (=दिखाई देना) होता है ।]

जिस प्रकार नीले-पीले आदि नाना प्रकार से बँटे हुए रूपायतन का भी लक्षण सनिदर्शन होना ही है, क्योंकि (वे) नीले आदि भेदों में बँटे हुए भी, सनिदर्शन (=दिखाई देना)-भाव को नहीं लाँघ सकते; उसी प्रकार चेतना आदि नाना किस्मों में बँटे हुए शील का भी···काय-कर्म आदि के संयम और कुशल धर्मों के ठहराव के विचार से 'शीलन' (लक्षण) बतलाया गया है । चेतना आदि भेदों में बँटा हुआ (शील) भी संयम और ठहराव (=आधार) का उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसलिए (उसका) वही लक्षण होता है । इस ऐसे लक्षणवाले (शील) का—

दुस्सील्यविद्धंसनता, अनवज्जगुणो तथा ।
किच्चसम्पत्ति अत्थेन, रसो नाम पवुच्चति ॥

[अनाचार (=दुःशील्य) को नाश करना तथा निर्दोष गुणवाला होना (रस है), क्योंकि कृत्य और सम्पत्ति के अर्थ में ही 'रस' कहा जाता है ।]

इसलिए शील को, कृत्य के अर्थ में बुरे आचरण (=दुःशील्य) को नाश करने के 'रस' (=काम) वाला और सम्पत्ति के अर्थ में निर्दोष रस वाला जानना चाहिये । लक्षण आदि में कृत्य (=काम) ही सम्पत्ति या रस कहा जाता है ।

सोचेय्य पच्चुपट्ठानं तयिदं तस्स विञ्ञुहि ।
ओत्तप्पञ्च हिरि चेव पदट्ठानन्ति वण्णितं ॥

[पण्डितों ने परिशुद्ध होना उसके जानने का आकार (= प्रत्युपस्थान), और संकोच तथा लज्जा को पदस्थान (= प्रत्यय) कहा है ।]

"काया की पवित्रता, वाणी की पवित्रता, मन की पवित्रता[1]" इस प्रकार कही गई पवित्रता शील के जानने का आकार है । (वह) पवित्र होने से जाना जाता है, ग्रहण किया जाता है (= समझा जाता है) । पण्डितों ने लज्जा और संकोच को इसका पदस्थान कहा है । सामीप्य कारण, इसका अर्थ है । लज्जा और संकोच होने पर ही शील उत्पन्न होता है और ठहरता है, उनके नहीं होने पर न तो उत्पन्न होता है और न ठहरता है ।

इस प्रकार शील के लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान (= जानने का आकार) और पदस्थान (= प्रत्यय) जानने चाहिये ।

४. शील का गुण क्या है ?

पश्चात्ताप न करना आदि (शील के) अनेक गुण हैं । कहा है—"आनन्द ! सुन्दर-शील (= सदाचार) पश्चात्ताप न करने के लिये हैं; पश्चात्ताप न करना (इनका) गुण है[2] ।" दूसरा भी कहा है—"गृहपतियो, शीलवान् के शील पालन करने के पाँच गुण हैं । कौन से पाँच ? (१) यहाँ, गृहपतियो, शीलवान्, शील-युक्त (व्यक्ति) प्रमाद में न पड़ने के कारण बहुत-सी धन-सम्पत्ति को प्राप्त करता है । यह शीलवान् के शील पालन करने का पहला गुण है ।

१. इतिवुत्तक ३, २, ७ और अङ्गुत्तर निकाय ३,२,८ ।
२. अंगुत्तर निकाय १०,१,१ ।

(२) और फिर गृहपतियो, शील पालन करने वाले, शीलवान् की ख्याति, नेकनामी फैलती है। यह शीलवान् के शील पालन करने का दूसरा गुण है।

(३) और फिर गृहपतियो, शील पालन करने वाला शीलवान् जिस-जिस सभा में जाता है, चाहे क्षत्रियों की सभा हो, चाहे ब्राह्मणों की सभा हो, चाहे वैश्यों की सभा हो, चाहे श्रमणों की सभा हो, वह निर्भीक, निःसंकोच जाता है। यह शीलवान् के शील पालन करने का तीसरा गुण है।

(४) और फिर गृहपतियो, शील पालन करने वाला, शीलवान् बिना बेहोशी को प्राप्त हुए मरता है। यह शीलवान् के शील पालन करने का चौथा गुण है।

(५) और फिर गृहपतियो, शील पालन करने वाला, शीलवान् शरीर को छोड़ मरने के बाद सुगति को प्राप्त हो स्वर्ग (-लोक) में उत्पन्न होता है। यह शीलवान् के शील पालन करने का पाँचवाँ गुण है[१]।"

दूसरे भी—"भिक्षुओ, यदि भिक्षु चाहे कि मैं सब्रह्मचारियों (=गुरु भाइयों) का प्रिय, मनाप और इज्जत की नजर से देखे जाने वाला होऊँ, तो उसे शीलों का ही पालन करना चाहिये।"[२] आदि प्रकार से, प्रिय-मनाप होने इत्यादि से लेकर आश्रव-क्षय (=अर्हत्व) तक, बहुत से शील के गुण कहे गये हैं।

इस तरह पश्चात्ताप (=पछतावा) न करना आदि अनेक प्रकार के गुणों की प्राप्ति शील का गुण (=आनृशंस) है।

और भी:—

सासने कुलपुत्तानं पतिट्ठा नत्थि यं बिना।
आनिसंस परिच्छेदं तस्स सीलस्स को वदे॥

[जिसके बिना कुलपुत्रों की (धर्म में) प्रतिष्ठा नहीं होती, उस शील के गुण के विस्तार को कौन कह सकता है?]

न गंगा यमुना चापि सरभू वा सरस्सती।
निन्नगा वाचिरवती मही वा'पि महानदी॥
सक्कुणन्ति विसोधेतुं तं मलं इध पाणिनं।
विसोधयति सत्तानं यं वे सीलजलं मलं॥

[गङ्गा, यमुना, सरयू या सरस्वती, अचिरवती[३], मही[४] या महानदी सरितायें जिस मल को धोकर नहीं साफ कर सकती हैं, प्राणियों का वह मल इस शील के जल से धुल कर साफ हो जाता है।]

न तं सजलदा वाता न चापि हरिचन्दनं।
नेव हारा न मणयो न चन्दकिरणङ्कुरा॥
समयन्तीध सत्तानं परिळाहं सुरक्खितं।
यं समेति इदं अरियं सीलं अच्चन्तसीतलं॥

---

१. दीघ निकाय २,३,१ और उदान ८,६।

२. मज्झिम निकाय १,१,६।

३. वर्तमान राप्ती नदी।

४. बड़ी गंडक, जिसे नारायणी भी कहते हैं।

[न तो पानी-भरी हवा, और न तो हरिचन्दन, न (मुक्ता-) हार, न मणि और न चन्द्र की किरणें ही प्राणियों के उस परिदाह (=जलन) को शान्त कर सकतीं, जिसे कि भली प्रकार रक्षा किया गया, अत्यन्त शीतल यह आर्य शील ।]

सीलगन्धसमो गन्धो कुतो नाम भविस्सति ।
यो समं अनुवाते च पटिवाते च वायति ॥

[शील की गन्ध के समान दूसरी गन्ध कहाँ होगी ? जो कि हवा के बहने की ओर और उल्टी-हवा एक समान बहती है ।]

सग्गारोहणसोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो ।
द्वारं वा पन निब्बान-नगरस्स पवेसने ॥

[स्वर्गारोहण के लिए शील के समान दूसरी सीढ़ी कहाँ ? अथवा निर्वाण-नगर के प्रवेश के लिए द्वार ?]

सोभन्तेवं न राजानो मुत्तामणि विभूसिता ।
यथा सोभन्ति यतिनो सील भूसनभूसिता ॥

[मोती-मणियों से सजे-धजे राजा ऐसा नहीं शोभते हैं, जैसा कि शील के आभूषण से विभूषित भिक्षु (=यति) शोभते हैं ।]

अत्तानुवादादिभयं विद्धंसयति सब्बसो ।
जनेति कित्ति हासञ्च सीलं सीलवतं सदा ॥

[शील आत्म-निन्दा आदि के भय को सब प्रकार से मिटा देता है और शीलवान् के लिए सर्वदा कीर्ति (=यश) तथा हर्ष (=सन्तोष) पैदा करता है ।]

गुणानं मूलभूतस्स दोसानं बलघातिनो ।
इति सीलस्स विञ्ञेय्यं आनिसंस कथामुख'न्ति ॥

[सारे गुणों की जड़ और (राग आदि) दोषों के बल को नाश करनेवाले शील के गुण (=आनृशंस) का कथा-द्वार इस प्रकार जानना चाहिये ।]

अब, जो कहा गया है—

५. यह शील कितने प्रकार का है ?

—उसका यह उत्तर है—

(अ) प्रथम, यह सारा ही शील अपने 'शीलन' (=आधार होना)-लक्षण से एक प्रकार का है ।

(आ) चारित्र-वारित्र के अनुसार दो प्रकार का है । वैसे ही आभिसमाचारिक और आदि ब्रह्मचर्यक के अनुसार । विरति और अ-विरति के अनुसार । निश्रित और अनिश्रित के अनुसार । कालपर्यन्त और आ-प्राणकोटि के अनुसार । स-पर्यन्त और अ-पर्यन्त के अनुसार । लौकिक और लोकोत्तर के अनुसार ।

(इ) तीन प्रकार का है—हीन, मध्यम, प्रणीत के अनुसार । वैसे ही, आत्माधिपत्य, लोकाधिपत्य, धर्माधिपत्य के अनुसार । परामृष्ट, अपरामृष्ट, प्रतिप्रश्रब्धि के अनुसार । विशुद्ध,

अ-विशुद्ध, वैमतिक के अनुसार । शैक्ष्य, अशैक्ष्य, न-शैक्ष्य-न-अशैक्ष्य (=नैवशैक्ष्यनाशैक्ष्य) के अनुसार ।

(ई) चार प्रकार का है—हानि-भागीय, स्थिति भागीय, विशेष भागीय, निर्वेध भागीय के अनुसार । वैसे ही, भिक्षु, भिक्षुणी, अनुपसम्पन्न, गृहस्थशील के अनुसार । प्रकृति, आचार, धर्मता, पूर्व-हेतुक-शील के अनुसार । प्रातिमोक्ष-संवर, इन्द्रिय-संवर, आजीव-पारिशुद्धि और प्रत्यय-संनिश्रित शील के अनुसार ।

(उ) पाँच प्रकार का है—पर्यन्त पारिशुद्धि शील, आदि के अनुसार । 'प्रतिसम्भिदा' में यह भी कहा गया है—"शील पाँच हैं—पर्यन्तपारिशुद्धिशील, अ-पर्यन्तपारिशुद्धिशील, परिपूर्णपारिशुद्धिशील, अपरामृष्टपारिशुद्धिशील और प्रतिप्रश्रब्धि पारिशुद्धि-शील ।"[1] वैसे ही प्रहाण, वेरमणी (=विरमना), चेतना, संवर और अनुल्लंघन (=अव्यतिक्रम) शील के अनुसार ।

[द्विक्]

एक प्रकार वाले भाग का अर्थ कहे हुए के ही अनुसार जानना चाहिये । दो प्रकार वाले भाग में, जो भगवान् द्वारा—'यह करना चाहिये' कहे गये शिक्षापद (=नियम) का पालन करना है, वह चारित्र शील है । और जो 'यह नहीं करना चाहिये' निषेध किये गये का नहीं करना है, वह वारित्र शील है ।

इनका यह शब्दार्थ है—उसमें चरते हैं, शीलों की भलीप्रकार पूर्ति के लिये बर्तते हैं, अतः वह चारित्र है । उससे निषेध किये हुए का बचाव करते हैं, रक्षा करते हैं, अतः वह वारित्र है । श्रद्धा, वीर्य, यश का साधन चारित्र है । श्रद्धा का साधन वारित्र है । ऐसे चारित्र-वारित्र के अनुसार (शील) दो प्रकार का है ।

दूसरे द्विक् (=दुक्के) में—अभिसमाचार का अर्थ है उत्तम समाचार (=श्रेष्ठ आचरण) । अभिसमाचार ही आभिसमाचारिक है । अथवा अभिसमाचार के सम्बन्ध में कहा गया आभिसमाचारिक है । आजीव-अष्टमक[2] को छोड़ शेष शील का यह नाम है । मार्ग ब्रह्मचर्य का आदि (=आरम्भ) होने से आदि ब्रह्मचर्यक कहा जाता है । यह आजीव-अष्टमक शील का ही नाम है । पूर्वभाग में ही परिशुद्ध करने के कारण, वह मार्ग की प्रारम्भिक अवस्था है । इसलिये कहा है—"पहले ही उसके काय कर्म, वची कर्म तथा आजीव (=रोजी) परिशुद्ध होते हैं ।[3]" अथवा जो शिक्षापद क्षुद्रानुक्षुद्रक[4] (=छोटे-छोटे) कहे गये हैं—यह आभिसमाचारिक शील है और शेष आदि-

१. प्रतिसम्भिदामग्ग १, ४२ ।

२. जीव हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, झूठ, चुगली, बकवास, कटुवचन से विरति और आजीव (=रोजी) की पारिशुद्धि अर्थात् काय कर्म और वची कर्म की शुद्धि के साथ आजीविका की शुद्धि—आजीव-अष्टमक कहा जाता है ।

३. मज्झिम निकाय ३,२,७ ।

४. चार पाराजिका को छोड़कर शेष शिक्षापद क्षुद्रानुक्षुद्रक हैं । उनमें संघादिशेष क्षुद्रक हैं, थुल्लच्चय अनुक्षुद्रक । और थुल्लच्चय क्षुद्रक है, पाचित्तिय अनुक्षुद्रक है । पाचित्तिय क्षुद्रक है, पाटिदेसनीय, दुक्कट, दुब्भासित अनुक्षुद्रक हैं । अंगुत्तर निकाय के भाणक-आचार्य पाराजिका को छोड़कर शेष सभी क्षुद्रानुक्षुद्रक बतलाते हैं—अंगुत्तर निकायट्ठकथा, दुकनिपात ।

ब्रह्मचर्यक। या उभतो[1]-विभङ्ग (=उभय विभङ्ग) में आये हुए आदि ब्रह्मचर्यक हैं तथा स्कन्धक-व्रत[2] में आये हुए आभिसमाचारिक। उसका पालन करने से आदि-ब्रह्मचर्यक भी पूर्ण हो जाता है। इसलिये कहा है—"भिक्षुओ यह सम्भव नहीं कि वह भिक्षु बिना आभिसमाचारिक शील की पूर्ति के आदि ब्रह्मचर्यक शील को पूर्ण करेगा।"[3] इस प्रकार आभिसमाचारिक, आदिब्रह्मचर्यक के अनुसार दो प्रकार का (शील) है।

तीसरे द्विक् में—जीव-हिंसा आदि से विरत रहना मात्र विरति शील है। शेष चेतना आदि[4] अ-विरति शील है। इस प्रकार विरति, अ-विरति के अनुसार (शील) दो प्रकार का है।

चौथे द्विक् में—निश्रय दो तरह के होते हैं, तृष्णा-निश्रय और दृष्टि-निश्रय। "मैं इस शील से देव या देवों में से कोई एक होऊँगा[5]।" जो ऐसे भव-सम्पत्ति को चाहते हुए पाला गया शील है—यह तृष्णा निश्रित है। जो—"शील से शुद्धि होती है"[6] इस प्रकार से प्रवर्तित है—यह दृष्टि निश्रित है। उसी का उपकारक जो कि लोकोत्तर और लौकिक है—यह अनिश्रित है। इस प्रकार निश्रित, अनिश्रित के अनुसार दो प्रकार का (शील) है।

पाँचवें द्विक् में—समय का परिच्छेद करके ग्रहण किया गया शील काल-पर्यन्त है। और वैसे ही ग्रहण करके जीवन-पर्यन्त पाला गया शील आ-प्राणकोटिक। इस प्रकार काल-पर्यन्त, आ-प्राणकोटिक के अनुसार दो प्रकार का शील है।

छठें द्विक् में—लाभ, यश (=नेकनामी), बिरादरी (=ज्ञाति), अङ्ग और जीवन सम्बन्धी बातों को देखने के साथ ही, जिस शील का खात्मा हो जाता है, वह सपर्यन्त है; इसके विपरीत अ-पर्यन्त। प्रतिसम्भिदा में कहा भी गया है—"कौन सा शील सपर्यन्त है? लाभ को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है, यश को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है, बिरादरी को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है।[7] अंग को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है।[8] जीवन को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है।[9]

कौन सा शील लाभ को देखते ही खत्म हो जाने वाला है? कोई आदमी लाभ के लिये, लाभ के कारण अपने ग्रहण किये हुए शिक्षा-पद का उल्लंघन कर जाता है—यह लाभ को देखते ही खत्म हो जाने वाला शील है।[10] इसी प्रकार दूसरों का भी विस्तार करना चाहिये।

---

१. उभतो-विभङ्ग कहते हैं भिक्षु-भिक्षुणी प्रातिमोक्ष को।

२. विनयपिटक के चुल्लवग्ग और महावग्ग का यह नाम है।

३. अंगुत्तर निकाय ३।

४. चेतना शील, चैतसिक शील, संवरशील, अनुल्लंघन (=अव्यतिक्रम) शील से अभिप्राय है।

५. मज्झिम निकाय १,५,६।

६. विभङ्ग १२।

७. विशेष कर बिरादरी की बरबादी को देखकर ऐसा होता है। जब देखते हैं कि इस शील से बिरादरी की बरबादी होगी, तब उसका पालन करना छोड़ देते हैं।

८. इस शील से अमुक अंग की हानि होगी, सोचकर शील-पालन करना छोड़ देते हैं।

९. शील के कारण जीवन की हानि देखकर, शील को त्याग देते हैं।

१०. पटिसम्भिदामग्ग १,१६।

अपर्यन्त शील के उत्तर में भी कहा गया है—"कौन सा शील लाभ को देखते ही खत्म होनेवाला नहीं है ? कोई आदमी लाभ के लिये, लाभ के कारण अपने ग्रहण किये हुए शिक्षा-पद के उल्लंघन के लिये चित्त भी पैदा नहीं करता है, क्या वह उल्लंघन करेगा ? यह लाभ को देखते ही खत्म होनेवाला शील नहीं है।" इसी प्रकार दूसरों का भी विस्तार करना चाहिये। ऐसे स-पर्यन्त, अपर्यन्त के अनुसार शील दो प्रकार का है।

सातवें द्विक् में—सभी आश्रव[1]-सहित शील लौकिक हैं और आश्रव-रहित लोकोत्तर। लौकिक-भव-सम्पत्ति लाने वाला और भव-निस्तार (=मुक्ति) का साधन होता है। जैसे कहा है—"विनय संवर के लिये है, संवर पछतावा न करने के लिये है, पछतावा न करना प्रमोद के लिये है, प्रमोद प्रीति के लिये है, प्रीति प्रश्रब्धि (=शान्त-भाव) के लिये है, प्रश्रब्धि सुख के लिये है, सुख समाधि (=चित्त की एकाग्रता) के लिये है। समाधि यथार्थ-ज्ञान[2] को देखने के लिये है। यथार्थ-ज्ञान देखना निर्वेद के लिये है। निर्वेद विराग (=अर्हत् मार्ग) के लिये है। विराग विमुक्ति (=अर्हत् फल) के लिये है। विमुक्ति विमुक्ति-ज्ञान को देखने के लिये है। विमुक्ति-ज्ञान को देखना, उपादान[3]-रहित परिनिर्वाण के लिये है। जो कि कुछ न ग्रहण करते हुए चित्त का मुक्त हो जाना है, इसी के लिये बातचीत[4] करना है। विचार करना है। सहारा लेना है। सुनने के लिये कान देना है।"[5] लोकोत्तर (शील) भव-निस्तार को लाने वाला और प्रत्यवेक्षण-ज्ञान (=प्राप्त किये हुए मार्ग-फल को देखने का ज्ञान) की भूमि होता है। इस प्रकार लौकिक, लोकोत्तर के अनुसार शील दो प्रकार का है।

[त्रिक्]

त्रिकों (=तिक्कों) में से पहले त्रिक् में—हीन छन्द, चित्त, वीर्य (=उत्साह=उद्योग) या मीमांसा (=प्रज्ञा=ज्ञान) से पाला गया शील हीन है। मध्यम छन्द आदि से पाला गया मध्यम और प्रणीत (=श्रेष्ठ=उत्तम) से प्रणीत। अथवा नेकनामी की अभिलाषा से ग्रहण किया गया हीन है, पुण्य-फल की इच्छा से मध्यम और "यह करना ही है" इस तरह शिष्ट (=आर्य) विचार से ग्रहण किया गया प्रणीत है। अथवा "मैं ही सदाचारी हूँ, ये दूसरे भिक्षु दुराचारी और पापी हैं।"[6] इस तरह अपने को ऊँचे चढ़ाने और दूसरे की निन्दा करने से उपक्लिष्ट (=कलुषित) शील हीन है। नहीं उपक्लिष्ट हुआ लौकिक शील मध्यम है और लोकोत्तर प्रणीत है। अथवा तृष्णा के अनुसार भव-सम्पत्ति तथा भोग-सम्पत्ति के लिये पाला गया शील हीन है। अपनी मुक्ति के लिये पाला गया मध्यम और सभी प्राणियों की मुक्ति के लिये पाला गया पारमिता-शील[7] प्रणीत है। इस प्रकार हीन, मध्यम के अनुसार शील तीन तरह का है।

---

१. आश्रव चार हैं—कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्टाश्रव, और अविद्याश्रव।

२. प्रत्यय के साथ नामरूप को देखने के ज्ञान को यथार्थ-ज्ञान कहते हैं।

३. उपादान पाँच हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान।

४. विनय सम्बन्धी बातचीत करना है—यह भावार्थ है।

५. परिवार पालि १६४।

६. मज्झिम० १।

७. पारमिता-शील कहते हैं महाबोधिसत्त्व के शील को। जो दस पारमिताओं में से दूसरी पारमिता है। दस पारमितायें ये हैं:—

दानं सीलञ्च नेक्खमं, पञ्ञा विरियेन पञ्चमं।
खन्ति सच्चमधिट्ठानं, मेत्तुपेक्खा'तिमे दस॥

दूसरे त्रिक् में—जो अपने लिए अनुचित है उसे छोड़ने की इच्छा से, आत्म-गौरव और आत्म-सम्मान से पाला गया शील आत्माधिपत्य है। लोक-निन्दा हटाने की इच्छा से, लोक-गौरव और लोक के सम्मान से पाला गया शील लोकाधिपत्य है। धर्म के महत्व की पूजा करने की इच्छा से, धर्म का गौरव और सम्मान करते हुए पाला गया शील धर्माधिपत्य है। इस प्रकार आधिपत्य आदि के अनुसार शील तीन प्रकार का है।

तीसरे त्रिक् में—द्विक् में जो निश्रित और अनिश्रित बतलाया गया है, वह तृष्णा, दृष्टि (=उल्टी धारणा) द्वारा परामृष्ट (=पकड़े हुए) होने के कारण परामृष्ट होता है। कल्याण-पृथक् जन[1] के, मार्ग-प्राप्ति का साधन बना हुआ, और शैक्ष्यों[2] का मार्ग से युक्त (शील) अ-परामृष्ट है। शैक्ष्य, अ-शैक्ष्य का फल से युक्त प्रतिप्रश्रब्धि शील है। इस प्रकार परामृष्ट आदि के अनुसार शील तीन प्रकार का है।

चौथे त्रिक् में—जो (शील) आपत्ति (=अपराध, दोष) नहीं करनेवाले द्वारा पाला गया है, अथवा दोष करके उसका प्रतिकार कर लिया गया है, वह विशुद्ध है। दोष करनेवाले का प्रतिकार न किया हुआ अ-विशुद्ध है। वस्तु, आपत्ति (=दोष), या उल्लंघन सम्बन्धी बातों में जो विमति[3] (=सन्देह) में पड़ गया है, उसका शील वैमतिक शील है। योगी को अ-विशुद्ध शील का विशोधन करना चाहिए। विमति में पड़ने पर वस्तु का उल्लंघन न कर विमति (=सन्देह) मिटानी चाहिए। ऐसे उस (भिक्षु को) सहूलियत होगी—इस प्रकार विशुद्ध आदि के अनुसार शील तीन प्रकार का है।

पाँचवें त्रिक् में—चार आर्यमार्गों और तीन श्रामण्य-फलों से युक्त शील शैक्ष्य है। अर्हत्-फल अशैक्ष्य है, शेष नैवशैक्ष्य-नाशैक्ष्य (=न-शैक्ष्य-न-अशैक्ष्य=पृथग्जन) है। इस प्रकार शैक्ष्य आदि के अनुसार शील तीन प्रकार का है।

प्रतिसम्भिदा में—"चूँकि लोक में उन-उन प्राणियों की प्रकृति (=स्वभाव) भी शील कही जाती है, जिसके प्रति कहते हैं कि यह सुखशील है, यह दुःखशील है, यह कलहशील (=झगड़ालू) है, यह मण्डनशील (=अपने को सजाने धजाने में लगा रहनेवाला) है। इसलिए इस पर्याय से शील तीन प्रकार के हैं (१) कुशलशील, (२) अकुशलशील, (३) अव्याकृतशील।"[4]

---

१. व्यक्ति दो तरह के होते हैं आर्य और पृथक् जन। जो मार्ग-फल पाये हुए हैं, वे आर्य कहे जाते हैं और शेष पृथक्जन। पृथग्जनों में जो कल्याणकर शीलों से युक्त हैं, वे कल्याण-पृथग्जन कहे जाते हैं।

२. जो व्यक्ति अर्हत् फल पा लिये हैं, जिन्हें कुछ सीखना बाकी नहीं है, उन्हें अ-शैक्ष्य कहते हैं, और जो अर्हत् फल को नहीं पाये हैं किन्तु स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी में से किसी मार्ग-फल या अर्हत्-मार्ग को पाये हैं, वे शैक्ष्य कहलाते हैं क्योंकि उन्हें सीखना अभी शेष है। जो न तो शैक्ष्य हैं और न अशैक्ष्य, वे पृथग्जन हैं।

३. यह रीछ का मांस है या सूअर का मांस है? आदि प्रकार से वस्तु में, पाचित्तिय है या दुक्कट है? आदि प्रकार से आपत्ति में, मैंने उस वस्तु का उल्लंघन किया या नहीं? आदि प्रकार से उल्लंघन सम्बन्धी बातों में विमति उत्पन्न होती है—टीका। भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, रीछ का मांस नहीं खाना चाहिए, जो खाये उसे दुक्कट (=दुष्कृत) की आपत्ति है।"

४. पटिसम्भिदामग्ग १।

ऐसे कुशल आदि के अनुसार भी शील तीन प्रकार का कहा गया है। इनमें अकुशल यहाँ अभिप्रेत शील के लक्षण आदि में एक से भी नहीं मेल खाता, इसलिए यहाँ नहीं लाया गया है। अतः कहे गये ढंग से ही इसे तीन प्रकार का जानना चाहिए।

[चतुष्क]

चतुष्कों में से पहले चतुष्क में—

योध सेवति दुस्सीले, सीलवन्ते न सेवति।
वत्थुवीतिक्कमे दोसं, न पस्सति अविद्दसु॥
मिच्छासङ्कप्पबहुलो इन्द्रियानि न रक्खति।
एवरूपस्स वे सीलं जायते हानभागियं॥

[जो मूर्ख दुःशीलों (=दुराचारियों) का साथ करता है, शीलवानों का साथ नहीं करता है और जो वस्तु के उल्लंघन में दोष नहीं देखता है, तरह-तरह के मिथ्या संकल्प करता हुआ, इन्द्रियों की रक्षा (=संयम) नहीं करता है, उस ऐसे (व्यक्ति) का ही शील हानभागीय (=पतनगामी) होता है।]

यो पनत्तमनो होति सीलसम्पत्तिया इध।
कम्मट्ठानानुयोगम्हि न उप्पादेति मानसं॥
तुट्ठस्स सीलमत्तेन अघटन्तस्स उत्तरिं।
तस्स तं ठितिभागियं सीलं भवति भिक्खुनो॥

[जो अपनी शील-सम्पत्ति से प्रसन्न होता है, किन्तु कर्मस्थान में जुटने के लिए मन भी नहीं उत्पन्न करता, उस शील मात्र से प्रसन्न, अधिक उद्योग न करने वाले भिक्षु का वह शील स्थितिभागीय होता है।]

सम्पन्नसीलो घटति समाधत्थाय यो पन।
विसेसभागियं सीलं होति एतस्स भिक्खुनो॥

[जो शील-सम्पन्न हो समाधि के लिये उद्योग करता है, इस भिक्षु का शील विशेष-भागीय होता है।]

अतुट्ठो सीलमत्तेन निब्बिदं योनुयुञ्जति।
होति निब्बेधभागियं सीलमेतस्स भिक्खुनो॥

[जो शील मात्र से प्रसन्न होकर निर्वेद (=विपश्यना) में जुटता है, इस भिक्षु का शील निर्वेद-भागीय होता है।]

—ऐसे हानभागीय आदि के अनुसार शील चार प्रकार का है।

दूसरे चतुष्क में—भिक्षुओं के लिये प्रज्ञप्त शिक्षा-पद और जो कि उन्हें भिक्षुणियों के लिये प्रज्ञप्त (शिक्षा-पद) से बचने योग्य हैं,—यह भिक्षु शील है। भिक्षुणियों के लिये प्रज्ञप्त शिक्षा-पद और जो कि उन्हें भिक्षुओं के लिये प्रज्ञप्त (शिक्षा-पद) से बचने योग्य हैं—यह भिक्षुणी शील है। श्रामणेर-श्रामणेरियों के दस शील—यह अनुपसम्पन्न शील है। उपासक-उपासिकाओं के नित्य-शील (=हमेशा पालन करने वाले शील) के अनुसार पाँच शिक्षापद या उत्साह होने पर

दस; उपोशथाङ्ग के अनुसार आठ—यह गृहस्थ शील है। ऐसे भिक्षु शील आदि के अनुसार शील चार प्रकार का है।

तीसरे चतुष्क में—उत्तर कुरु (द्वीप) के रहने वाले मनुष्यों का (पञ्चशील का) उल्लंघन न करना प्रकृति (=स्वभाव) शील है। उन-उन देश, कुल और सम्प्रदाय (=पाषण्ड) का अपनी-अपनी परम्परा द्वारा लाया गया चारित्र आचार शील है। "आनन्द, यह स्वाभाविक बात है कि जब बोधिसत्त्व माता के पेट में आये हुए होते हैं, तब बोधिसत्त्व की माता को पुरुषों के प्रति काम-वासना का चित्त नहीं उत्पन्न होता।"[1] ऐसे कहा गया बोधिसत्त्व की माँ का शील स्वाभाविक शील है। महाकाश्यप आदि पवित्र चित्त वाले तथा बोधिसत्त्व का उन-उन जन्मों में पाला गया शील पूर्व-हेतुक शील है। इस तरह प्रकृति आदि के अनुसार शील चार प्रकार का है।

चौथे चतुष्क में—जो कि भगवान् द्वारा—"यहाँ भिक्षु प्रातिमोक्ष के संवर से संवृत विहरता है, आचार और गोचर से सम्पन्न। अल्पमात्र भी दोषों में भय देखने वाला होता है, और भली प्रकार शिक्षा-पदों को सीखता है।"[2] इस प्रकार कहा गया शील प्रातिमोक्ष संवर शील है। जो कि—"वह चक्षु से रूप को देखकर न निमित्त को ग्रहण करने वाला होता है और न अनुव्यञ्जनों को, जिसके कारण चक्षु-इन्द्रिय में अ-संयम के साथ विहरते हुए लोभ, दौर्मनस्य, बुरे अकुशल धर्म उत्पन्न होवें, उसके संवर (=संयम) के लिये जुटता है, चक्षु-इन्द्रिय की रक्षा करता है। श्रोत्र (=कान) से शब्द को सुनकर, घ्राण (=नाक) से गन्ध को सूँघकर, जीभ से रस को चखकर, काय से स्पर्श कर, मन से धर्म को जानकर, निमित्त और अनुव्यञ्जन को ग्रहण करने वाला नहीं होता है, मनेन्द्रिय का संवर करता है।"[3] कहा है।—यह इन्द्रिय संवर-शील है। जो रोजी के कारण प्रज्ञप्त छः शिक्षापदों[4] के उल्लंघन की—कुहन (=ठगड़ेवाजी), लपन[5], नैमित्तकता (=निमित्त करना), निष्पेषिकता (=अपने लाभ के लिये दूसरों को बुरा भला कहना), लाभ से लाभ को ढूँढ़ना (=निजिगिंसनता=अन्वेषण)-इत्यादि इस प्रकार के बुरे धर्मों के अनुसार होने वाली मिथ्या रोजी से विरति है—यह आजीव-पारिशुद्धि शील है। "प्रज्ञा से जानकर चीवर का सेवन करता है, सर्दी से बचाव के लिये।" आदि प्रकार से कहा गया, प्रज्ञा से जानकर परिशुद्ध चार प्रत्ययों का सेवन करना प्रत्यय-सन्निश्रित-शील है।

अ—प्रातिमोक्ष संवर शील

आरम्भ से लेकर क्रमशः शब्दों के वर्णन के साथ यह विनिश्चय कथा (=व्याख्या) है—**यहाँ**, इस शासन (=धर्म) में। **भिक्षु**, संसार में भय देखने या छिन्न-भिन्न (=कटे-फटे) कपड़े को पहनने आदि से—इस प्रकार पुकारा जानेवाला श्रद्धा से प्रव्रजित कुलपुत्र। **प्रातिमोक्ष के संवर से**

१. दीघ नि० २,१ और मज्झिम नि० ३,३,३।

२. विभङ्ग १२,१।

३. दीघ नि० १,२।

४. अपने को या दायक को बढ़ा-चढ़ा कर कहना, जिससे वह कुछ दे, लपन कहा जाता है।

५. चीवर, पिण्डपात (=भोजन), शयनासयन, ग्लानप्रत्यय-भैषज्य—ये चार प्रत्यय हैं।

संवृत, प्रातिमोक्ष कहते हैं शिक्षा-पद शील को। उसे जो पालता है, रखता है, वह उस (व्यक्ति) को अपाय आदि के दुःखों से मुक्त कराता है, छुड़ाता है, इसलिये प्रातिमोक्ष कहा जाता है। ढँकना संवर है। काय, वचन द्वारा शीलों के उल्लंघन न करने का यह नाम है।......इसलिये प्रातिमोक्ष संवर कहा गया है। उस प्रातिमोक्ष संवर से उपगत=समन्नागत (=युक्त)—यह अर्थ है। विहार करता है, वास करता है।

आचार और गोचर से सम्पन्न, इत्यादि का अर्थ पालि[1] में आये हुए के अनुसार ही जानना चाहिये। कहा गया है—"आचार और गोचर युक्त—आचार भी है, अनाचार भी है। अनाचार क्या है? काय द्वारा (नियम का) उल्लंघन, वाणी द्वारा (नियम का) उल्लंघन, और काय-वाणी द्वारा (नियम का) उल्लंघन—यह अनाचार कहा जाता है। सभी दुःशील्य (=दुराचार) अनाचार है।

कोई (भिक्षु) बाँस, पत्ता, फूल, फल, दातौन देकर, नहला कर, चापलूसी कर, झूठ-साँच बोलकर, सेवा-टहल करके, पठवनिया का काम करके अथवा अन्य प्रकार की बुद्ध द्वारा निन्दित मिथ्या रोजी से अपनी रोजी चलाता है—यह अनाचार कहा जाता है।

आचार क्या है? काय द्वारा उल्लंघन न करना, वाणी द्वारा उल्लंघन न करना, और काय-वाणी द्वारा उल्लंघन न करना—यह आचार कहा जाता है। सभी शील-संवर आचार है।

कोई (भिक्षु) न बाँस देकर, न पत्ता देकर, न फूल देकर, न फल देकर, न नहला कर, न दातौन देकर, न चापलूसी करके, न झूठ-साँच बोलकर, न सेवा-टहल करके, न पठवनिया का काम करके और न बुद्ध द्वारा निन्दित किसी एक रोजी से रोजी चलाता है—यह आचार कहा जाता है।

गोचर,—गोचर भी है, अगोचर भी है। अगोचर क्या है? कोई वेश्या के पास जाने वाला होता है।[2] विधवा के पास जाने वाला होता है, किशोरी (=स्थूलकुमारी)[3], हिजड़ा (=नपुंसक), भिक्षुणी, या शराबखाना जाने वाला होता है, राजा, राज्य के महाअमात्यों, अन्य मतावलम्बियों और अन्य मतावलम्बियों के चेलों के साथ हिल-मिलकर विहरता है। अनुचित गृहस्थों से लगाव रखता है। अथवा जो कुल श्रद्धा रहित हैं, अप्रसन्न हैं, भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका का आक्रोपन-परिभाषण करने वाले हैं, अनर्थ, अहित, अ-प्राशु (=अ-सुख-विहार), निर्भय होना नहीं चाहते हैं, वैसे कुलों का सेवन करता है, साथ करता है, बार-बार वहाँ जाता है,—इसे अगोचर कहते हैं।

गोचर क्या है? कोई वेश्या, विधवा, (=राँड), किशोरी...के पास नहीं जानेवाला होता है। शराबखाना नहीं जाता है। राजा, राज्य महा-अमात्यों...अन्य मतावलम्बियों के चेलों से

१. ज्ञान विभङ्ग [१२, १] पालि में। पालि शब्द के लिये कहा है- "उक्कट्ठ वचनप्पबन्धानं आली'ति पालि। बुद्धवचनन्ति अत्थो।"—आचार्य परम्परा।

२. जहाँ वेश्यायें रहती हैं, वहाँ भिक्षाटन आदि के लिये जानेवाला भिक्षु वेश्या के पास जानेवाला कहा जाता है।

३. "स्थूल कुमारी का अर्थ मोटी-ताजी लड़की नहीं समझना चाहिये। मोटी हो या पतली, पाँच काम-गुण (=भोग-विलास) के राग से स्थूल होने से स्थूलकुमारी कहा जाता है"—जातकट्ठकथा १३,४। "बिना ब्याही मोटी-ताजी लड़की"—टीका।" महल्लक (= सयानी)-कुमारी"—मनोरथपूरणी ५,१,२।

हिल-मिलकर नहीं विहरता है। गृहस्थों से अनुचित लगाव नहीं रखता है। अथवा जो कुल श्रद्धावान्, प्रसन्न, उदपान[1] (=ओपान) के समान हुए, काषाय वस्त्रों से प्रभासित, आने जानेवाले भिक्षु-भिक्षुणियों के चीवरों से उल्टी भी, सल्टी भी हवा चल रही है, जो भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिकाओं का अर्थ, हित चाहनेवाले हैं, वैसे कुलों का सेवन करता है, साथ करता है, (वहाँ) बार-बार जाता है—इसे गोचर कहते हैं। ऐसे इस आचार और इस गोचर से···युक्त होता है, इसलिए आचार-गोचर-सम्पन्न कहा जाता है।"[2]

इस प्रकार से भी आचार-गोचर को जानना चाहिये। अनाचार दो तरह का होता है शारीरिक और वाचसिक। शारीरिक अनाचार क्या है? कोई (भिक्षु) संघ में जाकर भी अ-शिष्टता (=अगौरव) के साथ स्थविर भिक्षुओं को घँसते हुए खड़ा होता है, घँसते हुए बैठता है, सामने भी खड़ा होता है, सामने भी बैठता है, ऊँचे आसन पर भी बैठता है, सिर को ढँक कर भी बैठता है। खड़े हुए भी बोलता है, हाथ झाड़-झाड़ कर भी बोलता है, स्थविर भिक्षुओं के बिना जूते के टहलते हुए जूते पहने टहलता है, नीचे टहलते हुए ऊँचे टहलता है, जमीन पर टहलते हुए चंक्रमण पर टहलता है। स्थविर (= बूढ़े) भिक्षुओं में घुस-सट कर भी बैठता है, नये भी भिक्षुओं को आसन से हटाता है, अग्नि-शाला (=जन्ताघर) में भी भिक्षुओं को बिना पूछे लकड़ी छोड़ता है, दरवाजा बन्द करता है, घाट पर भी स्थविर भिक्षुओं को घँसते हुए पानी में उतरता है, सामने भी उतरता है, घँसते हुए भी नहाता है, सामने भी नहाता है, घँसते हुए भी बाहर निकलता है, सामने भी निकलता है, (गृहस्थों) के घरों में जाते हुए भी स्थविर भिक्षुओं को घँसते हुए जाता है, आगे-आगे भी जाता है, मार्ग से हटकर भी स्थविर भिक्षुओं के आगे-आगे चलता है, जो कुलों के भीतरी पर्दा लगे कमरे होते हैं, जहाँ पर कुल की स्त्रियाँ, कुमारियाँ बैठती हैं, वहाँ भी बेधड़क घुसता है, बच्चे का भी सिर सहलाता है—इसे शारीरिक अनाचार कहते हैं।

वाचसिक अनाचार क्या है? कोई (भिक्षु) संघ में जाने पर भी अगौरव (=अ-शिष्टता) करते स्थविर भिक्षुओं को बिना पूछे ही धर्मोपदेश देता है, प्रश्न का उत्तर देता है, प्रातिमोक्ष का उद्देश करता है, खड़े-खड़े भी बोलता है, हाथ झाड़-झाड़ कर भी बोलता है, (गृहस्थों के) घर में जाने पर भी स्त्री या कुमारी से इस प्रकार कहता है—इस नामवाली! इस गोत्रवाली! क्या है? यवागु (=काँजी) है? भात है? खाना है? क्या पीयेंगे? क्या खायेंगे? क्या भोजन करेंगे? अथवा क्या मुझे दोगी?—ऐसा कहता है। इसे वाचसिक अनाचार कहते हैं। इसके विपरीत आचार जानना चाहिये।

और भी, भिक्षु गौरव, इज्जत, लज्जा और संकोच के साथ, अच्छी तरह पहने-ओढ़े हुए, सुन्दरता के साथ आने-जाने अवलोकन-विलोकन (=देखने-भालने) और समेटने-पसारने वाला, गिराई हुई आँखोंवाला, ईर्य्यापथ-युक्त, इन्द्रियों में संयम रखनेवाला, भोजन में मात्रा जाननेवाला, जागरूक बने, होश और ख्याल बनाये, अल्पेच्छ, सन्तोषी, उद्योगी, आभिसमाचारिक कामों को सत्कारपूर्वक करनेवाला, बड़े लोगों का गौरव करते हुए विहरता है, इसे आचार कहते हैं। इस प्रकार आचार जानना चाहिये।

---

१. भिक्षु और भिक्षुणी संघ के लिये चौरस्ते पर खोदी पुष्करणी के समान होता है—यह भावार्थ है।

२. विभङ्ग १२, १।

होने पर चक्षु-प्रसाद वाले चित्त से देखता है। 'धनुष से मारता है' इत्यादि के समान, इस प्रकार की कारण-युक्त कथा होती है। इसलिये चक्षु-विज्ञान से रूप को देखकर— यही अर्थ है।

न निमित्त को ग्रहण करने वाला होता है, (वह) स्त्री-पुरुष का शुभ-निमित्त आदि अथवा क्लेश बढ़ाने वाली चीजों के निमित्त को नहीं ग्रहण करता है, देखकर ही रह जाता है।

न अनुव्यञ्जनों को ग्रहण करने वाला होता है, क्लेशों के पीछे-पीछे उत्पन्न होने और (उन्हें) प्रगट करने से अनुव्यञ्जन नाम से कहे जाने वाले हाथ-पैर, मुस्कराना, हँसना, बोलना, अवलोकन करना (=निहारना) देखना, आदि प्रकार के आकारों को नहीं ग्रहण करता है, जो वहाँ यथार्थ में है, उसी को ग्रहण करता है। चैत्य-पर्वत[1] पर रहने वाले महातिष्य स्थविर के समान।

स्थविर चैत्य (=चेतिय) पर्वत से अनुराधपुर भिक्षाटन के लिए आ रहे थे। उस समय रास्ते में कोई कुलवधू अपने पति के साथ झगड़ा करके, अच्छी तरह सजधज कर देवकन्या (=परी) के समान, सबेरे ही अनुराधपुर से निकल कर मायके (=नैहर=पीहर) जा रही थी। बीच मार्ग में स्थविर को देख, विपरीत-चित्त (=काम के वशीभूत चित्त) हो बहुत जोरों से हँसी। स्थविर ने— 'यह क्या है!' देखते हुए, उसके दाँत की हड्डियों में अशुभ-संज्ञा पाकर अर्हत्व पा लिया। इसलिये कहा है—

तस्सा दन्तट्ठिकं दिस्वा पुब्बसञ्ञं अनुस्सरि।
तत्थेव सो ठितो थेरो अरहत्तं अपापुणी॥

[उसके दाँत की हड्डियों को देखकर (अपने अधिष्ठान किये हुए) पूर्व की (अशुभ-) संज्ञा का ख्याल किया और वहीं खड़े ही उस स्थविर ने अर्हत्व पा लिया।]

उसका पति भी उसी रास्ते जाते हुए स्थविर को देखकर पूछा—"क्या भन्ते, आपने किसी स्त्री को देखा है?" उसे स्थविर ने कहा—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघाटो गच्छतेस महापथे॥

[मैं नहीं जानता कि स्त्री या पुरुष इधर से गया है, फिर भी इस महामार्ग से होकर (यह) हड्डियों का समूह (=कंकाल) जा रहा है।]

जिसके कारण, प्रारम्भ में, जिस कारण से, उसके चक्षु-इन्द्रिय के असंवर के हेतु यह व्यक्ति स्मृति की किवाड़ से **चक्षु-इन्द्रिय में असंवृत,** चक्षु के द्वार को बिना बन्द किये, **विहरते हुए,** ये अभिध्या (=विषम लोभ) आदि प्रवृत्तियाँ उत्पन्न **होवें,** पीछे पड़ें, एकदम व्याप्त हो जायँ, **उसके संवर के लिये जुटता है,** उस चक्षु-इन्द्रिय को स्मृति की किवाड़ से बन्द करने के लिये जुटता है और ऐसे जुटते हुए ही **चक्षु-इन्द्रिय की रक्षा करता है,** चक्षु-इन्द्रिय में संवर करता है—ऐसा कहा जाता है।

यद्यपि चक्षु-इन्द्रिय में संवर या असंवर नहीं है। चक्षु-प्रसाद के सहारे स्मृति (=होश) या प्रमाद (= भूल) नहीं होता, फिर भी जब रूपालम्बन आँख के सामने आता है,[2] तब भवांग-

१. वर्तमान् "मिहिन्तले" लंका में अनुराधपुर नगर से ८ मील दूर।

२. किसी भी रूप के आलम्बन को देखने के लिये चार बातों का होना आवश्यक है— (१) चक्षु (२) रूप (३) आलोक (४) मनस्कार (=मन में करना)।

चित्त[1] के दो बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाने पर, **क्रिया-मनो-धातु**,[2] आवर्जन के काम को करती हुई उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाती है। तत्पश्चात् **चक्षुर्विज्ञान**[3] देखने का काम करता है, फिर **विपाक-मनोधातु**[4] सम्प्रतिच्छन का काम, उसके बाद **विपाक-अहेतुक-मनो-विज्ञान-धातु** सन्तीरण[5] का काम, फिर **क्रिया-अहेतुक-मनोविज्ञान-धातु**[6] व्यवस्थापन करने का काम

---

१. "स्वाभाविक मन को ही भवांग-चित्त कहते हैं।" [धम्मपदट्ठकथा १] "वह जीवन-प्रवाह को अटूट बनाये रखने से भव का अंग हुआ, आलम्बन रहित परिशुद्ध चित्त भवांग कहा जाता है।" [विभावनी टीका ३] जिसके प्रति भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, यह चित्त प्रभास्वर है।" [अंगुत्तर-निकाय १,५,१०] "भवांग-चित्त स्वभाव से ही परिशुद्ध होता है, वह जवन के क्षण उत्पन्न कुशल-अकुशल चित्तों से कुशल या अकुशल होता है।" [मनोरथपूरणी १,५,१०] सोते समय जब गाढ़ी नींद रहती है और स्वप्न आदि नहीं देखते हैं, उस समय का चित्त-भवांग ही होता है। तथा जिस समय वितर्क-विचार आदि रहित चुपचाप बिना किसी चित्त-प्रवृत्ति के रहते हैं, उस समय भी।

२. "आलम्बन विषयक कल्पना आवर्जन कहा जाता है।" [परमत्थ विभावनी ५७] जब आँख, कान, नाक, जीभ, काय—इन पाँचों द्वारों पर आलम्बन को पाते हैं, तब भवांग चित्त के बाद जो मनस्कार होता है, वही आवर्जन या क्रिया-मनो-धातु कहा जाता है, ऐसे ही मनोद्वार पर भी किसी प्रगट या अप्रगट आलम्बन के विषय में मनस्कार होने पर।

"क्रिया कहते हैं करने मात्र को। सब क्रिया-चित्तों में जो जवन-भाव को नहीं प्राप्त हुआ होता है, वह वातपुष्प (= तुच्छ पुष्प) के समान और जो जवन-भाव को प्राप्त हुआ होता है, वह जड़ कटे पेड़ के फूल के समान अ-फल (=नहीं फलने वाला) होता है। उस-उस कार्य को सिद्ध करने से प्रवर्तित करना मात्र ही होता है, इसलिये क्रिया कहा जाता है।...स्वभाव से शून्य, निर्जीव होने के अर्थ में मन ही मनोधातु कहा जाता है...आलम्बनों के जिस किसी प्रसाद से संघर्ष होने पर आवर्जन के रूप में भवांग चित्त को उलटती हुई क्रिया-मनो-धातु उत्पन्न होती है।" [अत्थसालिनी ३२]

३. विजानन लक्षण वाला विज्ञान है। आँख से रूप देखकर, कान से शब्द सुनकर, नाक से गन्ध सूँघकर, जीभ से रसास्वादन कर, काय से स्पर्श कर—जो जाना जाता है, वही विज्ञान है। कहा है—"यह सुख है, इसे जानता है, यह दुःख है, इसे जानता है, यह अदुःख-असुख है—इसे जानता है, इसलिये आवुस, विज्ञान कहा जाता है।" [मज्झिम नि० १,५,३] अस्तु, चक्षु से किसी रूपालम्बन को देखकर जानना ही चक्षुर्विज्ञान है।

४. चक्षुर्विज्ञान आदि से ग्रहण किये आलम्बन आदि को स्वीकार करने का कार्य करने-वाला चित्त सम्प्रतिच्छन कहा जाता है।" [परमत्थ वि० ५७] "पञ्चविञ्ञाणगहितं रूपादि आरम्मणं सम्पटिच्छति तदाकारप्पवत्तिया'ति सम्पटिच्छनं।" [अभिधम्मत्थ विभावनी १] इसी को विपाक-मनो-धातु नाम से भी पुकारते हैं।

५. स्वीकार किये गये आलम्बन की भली प्रकार मीमांसा करने को सन्तीकरण कहते हैं। वही विपाकाहेतुक-मनोविज्ञान धातु भी कहा जाता है।" [परमत्थ वि० ५७]

६. "उसी आलम्बन का भली-प्रकार विचार करना व्यवस्थापन चित्त कहा जाता है।" [अभि० वि० ४]

करती हुई उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाती है, तत्पश्चात् **जवन-चित्त**[1] उत्पन्न होता है। उसमें भी न तो भवांग के समय, न आवर्जन आदि में से किसी एक के ही समय में संवर या अ-संवर होता है। जवन के समय में यदि दुःशील्य, भूल, अज्ञान, अ-क्षान्ति या आलस उत्पन्न होता है, (तब) अ-संवर होता है। ऐसा होते हुए वह चक्षु इन्द्रिय में अ-संवर होना कहा जाता है। क्यों ? चूँकि उस समय स्मृति द्वार भी अरक्षित होता है, भवांग भी, आवर्जन आदि भी वीथि-चित्त। किस प्रकार ? जैसे नगर चारों द्वारों के बन्द नहीं रहने पर यद्यपि अन्दर के घर-द्वार, कोठा-कमरा इत्यादि भली प्रकार बन्द होते हैं, तथापि भीतर नगर में सारा सामान अरक्षित ही होता है; क्योंकि नगर के द्वार से चोर घुसकर जो चाहते हैं, वह कर सकते हैं। ऐसे ही जवन के समय दुःशील्य आदि के उत्पन्न होने पर, उसके अ-संवर होने से द्वार भी अरक्षित होता है, भवांग भी, आवर्जन आदि वीथि-चित्त भी। उसमें शील आदि के उत्पन्न होने पर द्वार भी रक्षित होता है, भवांग भी, आवर्जन आदि वीथि-चित्त भी। किस प्रकार ? जैसे कि नगर के द्वारों के बन्द होने पर, भले ही भीतर घर इत्यादि अरक्षित होते हैं तथापि भीतर नगर में सारा सामान भली प्रकार सुरक्षित और छिपाया हुआ होता है। नगर के द्वारों के बन्द होने पर चोर घुस नहीं सकते। ऐसे ही जवन-चित्त के समय शील आदि के उत्पन्न होने पर द्वार भी रक्षित होता है, भवांग भी, आवर्जन आदि वीथि-चित्त भी। इसलिए जवन के समय में उत्पन्न होते हुए भी चक्षु-इन्द्रिय में संवर कहा गया है।

श्रोत्र से शब्द को सुनकर, इत्यादि में भी ऐसे ही। इस प्रकार थोड़े में रूप आदि क्लेशों के बन्धन, निमित्त (=लक्षण) आदि ग्रहण करने के त्याग वाले स्वभाव को इन्द्रिय-संवर-शील जानना चाहिये।

३—आजीव पारिशुद्धि शील

अब, इन्द्रिय संवर शील के बाद कहे गये आजीव पारिशुद्धि शील में—**जो रोजी के कारण प्रज्ञप्त छः शिक्षापदों के**, वह (१) रोजी के हेतु, रोजी के कारण, बुरी इच्छावाला, इच्छानुसार काम करनेवाला, अविद्यमान, असत्य, अलौकिक-शक्ति (= उत्तर-मनुष्य-धर्म) की बात करता है। "उसे पाराजिका[2] की आपत्ति होती है। (२) रोजी के हेतु, रोजी के कारण किसी स्त्री का सन्देश पुरुष के पास या पुरुष का सन्देश स्त्री के पास पहुँचाता है।" उसे संघादिशेष[3] की आपत्ति होती है। (३) "रोजी के हेतु, रोजी के कारण, 'जो तेरे विहार में रहता है, वह भिक्षु अर्हत् है'—ऐसा कहता है। (गृहस्थों के) उसे, सही मान लेने पर (भिक्षु को) थुल्लच्चय[4] की आपत्ति होती है। (४) रोजी के हेतु, रोजी के कारण, भिक्षु बीमार नहीं होने पर भी अपने लिए

---

१. "उन-उन कृत्यों को पूर्ण करते हुए एक बार या अनेक बार दौड़ने के समान आलम्बन में फिर-फिर उत्पन्न होनेवाले चित्त को जवन चित्त कहते हैं। आवर्जन केवल विषय का मनस्कार करता है। चक्षुर्विज्ञान दर्शनमात्र, सम्प्रतिच्छन प्रतिग्रहण, व्यवस्थापन मीमांसा। जवन ही आलम्बन के रस का उपभोग करता है।" [परमत्थ वि० ५८]।

२. देखिए, विनयपिटक १, ४।

३. विनयपिटक २, ५।

४. देखिए, विनयपिटक ६, ४, २, १।

(लोगों को) कहकर उत्तम भोजन करता है। उसे पाचित्तिय[1] की आपत्ति होती है। (५) रोजी के हेतु, रोजी के कारण, भिक्षुणी बीमार नहीं होने पर भी अपने लिए लोगों को कहकर उत्तम भोजन करती है, उसे पाटिदेसनीय[2] की आपत्ति होती है। (६) रोजी के हेतु, रोजी के कारण सूप (=तेमन) या भात बीमार नहीं होने पर भी अपने लिए लोगों को कहकर खाता है, उसे दुक्कट की आपत्ति होती है। इस प्रकार प्रज्ञप्त जो छः शिक्षापद हैं, इन छः शिक्षापदों के।

कुहन, आदि में यह पालि है—"**तत्थ कतमा कुहना? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या पच्चयपटिसेधनसंखातेन वा सामन्तजप्पितेन वा इरियापथस्स वा अट्ठपना, ठपना, सण्ठपना, भाकुटिका, भाकुटियं, कुहना, कुहायना, कुहितत्तं—अयं वुच्चति कुहना।**"[3]

[कुहन क्या है? लाभ, सत्कार और प्रशंसा पाने के लिए बुरी इच्छावाले, इच्छाचारी की जो (चीवर आदि) प्रत्यय का निषेध सम्बन्धी, दूसरे के समान करके अपने लिए कहना है, ईर्य्यापथ (=चाल-ढाल) की बनावट है, सजावट है, दुरुस्त करना है, भृकुटी करनी है, वञ्चन, ठग-बनीजी,...और ठगने का भाव है—इसे कुहन कहते हैं।]

"**तत्थ कतमा लपना? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या परेसं आलपना, लपना, सल्लपना, उल्लपना, समुल्लपना, उन्नहना, समुन्नहना, उक्काचना, समुक्काचना, अनुप्पियभाणिता, चाटुकम्यता, मुग्गसुप्पता, पारिभट्टता—अयं वुच्चति लपना।**"

[लपन क्या है? लाभ, सत्कार और प्रशंसा पाने के लिये बुरी इच्छावाले, इच्छाचारी की जो दूसरे के पास आलपन, लपन, सल्लपन, उल्लपन, समुल्लपन, उन्नहन, समुन्नहन, उत्काचन, समुत्काचन, मीठी-मीठी बात करनी, चापलूसी, झूठ-साँच कहना, सेवा-टहल करना है—इसे लपन कहते हैं।]

"**तत्थ कतमा नेमित्तिकता? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स यं परेसं निमित्तं, निमित्तकम्मं, ओभासो, ओभासकम्मं, सामन्तजप्पा, परिकथा—अयं वुच्चति नेमित्तिकता।**"

[नैमित्तकता (=निमित्त करना) क्या है? लाभ, सत्कार और प्रशंसा पाने के लिए...जो दूसरे को निमित्त करना है, संकेत करना है, अवभास करना है, दूसरे के सम्बन्ध में कहने के समान करके अपने लिये कहना है, उसे प्रगट करने के लिये कथा कहनी है—इसे नैमित्तकता कहते हैं।]

"**तत्थ कतमा निप्पेसिकता? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स पापिच्छस्स इच्छापकतस्स या परेसं अक्कोसना, वम्भना, गरहना, उक्खेपना, समुक्खेपना, खिपना, सङ्खिपना, पापना, सम्पापना, अवण्णहारिका, परपिट्ठिमंसिकता—अयं वुच्चति निप्पेसिकता।**"

[निष्पेषिकता क्या है? लाभ, सत्कार और प्रशंसा पाने के लिए...जो दूसरे को फटकारना, निन्दा करना, बेइज्जत करना, उत्क्षेपण करना, समुत्क्षेपण करना, बढ़ा कर कहना, खूब बढ़ाना, पापन, सम्पापन, निन्दा फैलाना, पीठ-पीछे बदनाम करना है—इसे निष्पेषिकता कहते हैं।]

१. विनयपिटक ५, १४, ३।
२. विनयपिटक ५, १।
३. विभङ्ग १२।

"तत्थ कतमा लाभेन लाभं निजिगिंसनता ? लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितो पापिच्छो इच्छापकतो इतो लद्धं आमिसं अमुत्र हरति, अमुत्र वा लद्धं आमिसं इधाहरति, या एवरूपा आमिसेन आमिसस्स एट्ठि, गवेट्ठि, परियेट्ठि, एसना, गवेसना, परियेसना—अयं वुच्चति लाभेन लाभं निजिगिंसनता।"

[क्या है लाभ से लाभ को ढूँढ़ना ? लाभ, सत्कार और प्रशंसा पाने के लिए···यहाँ से पाये हुए, आमिष (=चार प्रत्यय) को वहाँ ले जाता है या वहाँ से पाये हुए को यहाँ लाता है, जो इस तरह से आमिष से आमिष को तलाशना है, खोजना है, ढूँढ़ना है, पता लगाना है, पर्येषण करना है—इसे कहते हैं लाभ को लाभ से ढूँढ़ना।]

इस पालि का इस प्रकार अर्थ जानना चाहियेः—

कुहन-निर्देश में—**लाभसक्कारसिलोकसन्निस्सितस्स**, लाभ, सत्कार और कीर्ति-शब्द (=नेकनामी) से मिले हुए का। चाहने वाले का—अर्थ है। **पापिच्छस**, अपने में न रहने वाले गुणों का वर्णन करने वाले का। **इच्छापकतस्स**, इच्छाचारी का। परेशान हुए का—अर्थ है।

इसके बाद चूँकि प्रत्यय प्रतिषेधन, सामन्त-जल्पन, ईर्यापथ सम्बन्धी तीन प्रकार की कुहन-वस्तु **महानिद्देस** में आयी हुई है, इसलिये तीनों प्रकार को दिखलाने के लिये **पच्चयपटिसेधनसंखातेन वा** इत्यादि आरम्भ किया गया है।

चीवर आदि देने के लिये निमन्त्रित करने पर, उसको चाहते हुए भी बुरी इच्छा के कारण इन्कार करने से और उन गृहस्थों को अपने ऊपर अचल श्रद्धावान् जानकर फिर उनके—"अहा, आर्य अल्पेच्छ हैं, कुछ लेना नहीं चाहते, हम लोगों का भला होगा, यदि थोड़ा भी कुछ ले लें।" तरह-तरह के उपायों से अच्छे-अच्छे चीवर आदि लाने पर उनके ऊपर अनुकम्पा करने के भाव को ही प्रगट कर लेने से। तब से लेकर बोझी गाड़ियों द्वारा लाने का कारण बना (वह) विस्मय में डालना ही—प्रत्यय-प्रतिषेधन (=प्रत्यय का निवारण)—कुहन-वस्तु समझना चाहिये। महानिद्देस में यह कहा गया है—

"क्या है प्रत्यय प्रतिषेधन कुहन-वस्तु ? यहाँ गृहस्थ भिक्षु को चीवर, पिण्डपात (=भिक्षान्न), शयन-आसन, ग्लानप्रत्यय (=रोगी का पथ्य), भैषज्य (=दवा) और परिष्कारों से निमंत्रित करता है। बुरी इच्छावाला, इच्छाचारी (भिक्षु) चीवर-परिष्कार का इच्छुक होते हुए भी उससे अधिक पाने की इच्छा से, चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्यय, भैषज्य और परिष्कार लेने से इन्कार कर देता है और वह ऐसा कहता है—"साधु को कीमती चीवर से क्या मतलब ? यह उचित है कि साधु श्मशान या घूरे पर फेंके, दूकान से छोड़े (वस्त्रों) या लत्तों (=चीथड़ों) को बीन कर (= एकत्रित कर) संघाटी (=गुदड़ी) बनाकर धारण करे। साधु को कीमती भिक्षान्न से क्या मतलब ? यह उचित है कि साधु भिक्षा माँग कर भिक्षा से जिन्दगी गुजारे। साधु को कीमती शयनासन (= सोने-बिछाने) से क्या मतलब ? यह उचित है कि साधु पेड़ों के नीचे रहने वाला हो या खुले मैदान में। साधु को कीमती ग्लानप्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार से क्या मतलब ? यह उचित है कि साधु गोमूत्र की औषधि (= पूतिमूत्र)[1] या हर्रे के चूर्ण से दवा करे।"

तब से रूखे चीवर पहनता है, रूखा भिक्षान्न खाता है, रूखे शयनासन का सेवन करता है, रूखे ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार का सेवन करता है। इससे उसे गृहस्थ इस प्रकार मानते

१. पुराने या ताजे सभी गाय के पेशाब का नाम पूति-मूत्र है—टीका।

हैं—"यह साधु (= श्रमण) अल्पेच्छ है, सन्तोषी है, संयमी है, अकेले विहरनेवाला है, उद्योगी है, त्यागमय रहन-सहनवाला (= धुतवाद) है।" वे और अधिक चीवर-पिण्डपात से निमंत्रित करते हैं। वह ऐसा कहता है—"तीन के एकत्र होने पर श्रद्धावान् कुलपुत्र को बहुत पुण्य होता है। (१) श्रद्धा (२) दान देने की वस्तु (३) दाक्षिणेय्य[1]। तुम लोगों को श्रद्धा है, दान देने की वस्तु भी है और मैं प्रतिग्राहक (= दान लेनेवाला) हूँ। यदि मैं (इसे) न ग्रहण करूँ, तो इस प्रकार तुम लोग पुण्य से वंचित हो जाओगे, मुझे इससे मतलब नहीं है, फिर भी तुम्हीं लोगों पर अनुकम्पा करके ग्रहण कर रहा हूँ।" उस समय बहुत भी चीवर, पिण्डपात, भैषज्य (=दवा) और परिष्कार ग्रहण करता है। जो इस प्रकार की भृकुटी करनी है, ठगबनीजी है, इसे कहते हैं प्रत्ययप्रतिषेवन कुहन-वस्तु।"

बुरी इच्छा के होते हुए अलौकिक धर्म की प्राप्ति-सूचक वाणी और वैसे-वैसे आश्चर्य में डालने को सामन्त-जल्पन कुहन-वस्तु जानना चाहिये। जैसे कहा है—"क्या है सामन्त-जल्पन कुहन-वस्तु? यहाँ कोई बुरी इच्छावाला, इच्छाचारी, इज्जत पाने की इच्छावाला होता है, 'लोग मेरी ऐसी इज्जत करेंगे' (सोचकर) आर्य-धर्म (= लोकोत्तर धर्म)-मिश्रित वाणी बोलता है, जो इस प्रकार से चीवर धारण करता है, वह श्रमण महा-अनुभाववाला (= महेशाख्य) कहलाता है। जो इस प्रकार से पात्र, लोहे की कटोरी (= लोहथालकं), धर्मकरक (= पानी छानने का भाजन विशेष)[2], जलछाका, कुञ्जी, कायबन्धन (= कमरबन्द), उपानह (= जूता) धारण करता है, वह महाअनुभाववाला होता है। जिसका इस प्रकार का उपाध्याय, आचार्य, समानोपाध्याय[3], गुरु-भाई (= समानाचार्य), परिचित व्यक्ति, एक साथ खाने-पीने वाले, (गाढ़े–) मित्र, सहायक। जो इस प्रकार के विहार में रहता है, (जैसे कि) अटारी, महल, हर्म्य (= हवेली), गुहा, लेण, कुटी, कूटागार (= कोठा), अट्ट (= मोटी भीतों वाला घर), माल (= एक बड़ेरी वाला घर)[4], उद्दण्ड (= कोठरी बिना दीर्घशाला), उपस्थान-शाला,[5] मण्डप, पेड़ के नीचे रहता है······अथवा कुहकभाव से हमेशा संयमशील बने रहनेवाला (= कोरंजिक कोरंजिको), अत्यन्त मुँह सिकोड़नेवाला, बहुत ही आश्चर्य में डालनेवाला (= कुहकुहो), वाचाल, मुखविकार से सम्मानित होता है। 'यह श्रमण इस प्रकार की शान्त-विहार-समापत्तियों को प्राप्त किया हुआ है।' ऐसे गम्भीर, गूढ़, निपुण, ढँके हुए, लोकोत्तर, शून्यता (= निर्वाण) के विषय में बातचीत करता है। जो इस प्रकार की भृकुटी करनी है······ठगने का भाव है—इसे कहते हैं सामन्त-जल्पन सम्बन्धी कुहन-वस्तु।"

बुरी इच्छा के ही होते हुए सम्मानित होने के अभिप्राय से (अपनी) चाल-ढाल (=ईर्यापथ) से आश्चर्य में डालने को ईर्यापथ सम्बन्धी कुहन-वस्तु जाननी चाहिये। जैसे कहा है—"क्या है ईर्यापथ सम्बन्धी कुहन-वस्तु? कोई बुरी इच्छावाला, इच्छाचारी, सम्मानित होने के अभिप्राय से 'लोग मेरी इज्जत करेंगे' (सोच), (अर्हन्तों की तरह अपनी) चाल-ढाल बनाता है, बिछावन बिछाता है, (लोग मुझे अर्हत् समझें, इस तरह) चाहते हुए चलता है, खड़ा होता है, बैठता है,

१. अंगुत्तर नि० ३, ५, १।

२. 'कमण्डल'—बँगला अनुवाद में।

३. एक उपाध्याय के जितने शिष्य होते हैं, वे परस्पर समानोपाध्याय कहे जाते हैं।

४. 'एक कूटयुतोमाळो'-अभि० २०९।

५. भिक्षु लोगों के एकत्र होने की वृहद् शाला।

सोता है, एकाग्र-चित्त वाले के समान चलता है, खड़ा होता है, बैठता है, सोता है, और रास्ते में बैठकर ध्यान लगानेवाला होता है। जो इस प्रकार से ईर्य्यापथ का स्थापन, संस्थापन करना है··· इसे कहते हैं ईर्य्यापथ सम्बन्धी कुहन-वस्तु।"

पच्चयपटिसेधन सङ्खातेन[1], प्रत्यय-प्रतिषेधन से सम्बन्धित। अथवा, प्रत्ययों के प्रतिषेधन कहे जाने वाले से। **सामन्तजप्पितेन**, पास में कहने से। **इरियापथस्स वा**, चार-ईर्य्यापथों[2] का। **अट्ठपना**, प्रारम्भिक स्थापन, या आदर से स्थापन। **ठपना**, स्थापन (=बनावट) का आकार। **सण्ठपना**, ठीक-ठाक (=अभिसंस्करण) करना। प्रासादिक-भाव (=इस प्रकार बनाना, जिसे देखते ही मन प्रसन्न हो जाय) करना कहा गया है। **भाकुटिका**, प्रधान (=श्रमण-धर्म, ध्यानादि) द्वारा मर्दित-भाव से भृकुटी का करना। 'मुख सिकोड़ना' कहा गया है। भृकुटी करना इसका स्वभाव है, इसलिये (यह) भ्राकुटिक है। भ्राकुटिक का होना, **भाकुटियं** है। **कुहना**, विस्मय (=अचम्भा) में डालना। कुह (=विस्मय) की क्रिया **कुहायना**, है। विस्मय में पड़ा हुआ (=कुहित) होना **कुहितत्तं** है।

लपन-निर्देश में—**आलपना**, विहार में आये हुए आदमियों को देखकर—'किस लिये आप लोग आये हैं, क्या भिक्षु लोगों को (दान आदि के लिये) निमंत्रित करने? यदि ऐसा है (तो) चलें, मैं पीछे से (उन्हें) लेकर आ रहा हूँ।' इस प्रकार प्रारम्भ से ही कहना। अथवा अपने सम्बन्ध में—"मैं तिष्य हूँ, राजा मुझपर प्रसन्न है और प्रसन्न हैं मुझपर अमुक-अमुक राज-महामात्य।" इस प्रकार से···कहना, बात करना। **लपना**, पूछने पर उक्त प्रकार से कहना। **सल्लपना**, गृहस्थों के उदास होने पर डरा-डरा कर अच्छी तरह से बात करना। **उल्लपना**, "(आप) महा-कुटुम्ब वाले हैं, महानाविक हैं, महादानपति हैं" इस प्रकार चढ़ा-बढ़ा कर कहना। **समुल्लपना**, सब प्रकार से (एकदम) चढ़ा-बढ़ा कर कहना।

उन्नहना, 'उपासको, तुम लोग पहले ऐसे समय में दान देते थे, अब क्यों नहीं देते हो?' इस प्रकार जब तक—"भन्ते, हम लोग (दान) देंगे, (किन्तु) अवकाश नहीं मिलता।" इत्यादि कहते हैं, तब तक चढ़ा-बढ़ा कर (अपनी बातों में) फँसाना। बाँधना—कहा गया है। अथवा ऊख को हाथ में लिये हुए देखकर—'उपासक, कहाँ से ला रहे हो?' पूछता है।

"ऊख के खेत से भन्ते!"

"क्या वहाँ का ऊख मीठा है?"

"भन्ते, खाकर जानना चाहिये।"

"उपासक, भिक्षु को ऊख नहीं देते, यह कहना उचित है।"

—जो इस प्रकार की खोलते हुए को भी बाँधने वाली बातचीत है, वह **उन्नहना** है। चारों ओर से फिर-फिर बाँधना **समुन्नहना** है।

उक्काचना, यह कुल मुझे ही जानता-मानता है, यदि यहाँ दान देने की वस्तु होती है, तो

---

१. विसुद्धिमग्ग-दीपिका के लेखक धर्म्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है—"यह पाठ '**पच्चय-पटिसेवन सङ्खातेन**' होना चाहिये, किन्तु सिंहल-ग्रन्थों में उक्त पाठ ही आया है, जो अशुद्ध है।" टीका के पाठ को भी उन्होंने अशुद्ध पढ़ा है और विभङ्ग पालि तथा सम्मोहविनोदनी पर ध्यान नहीं दिया है। यहाँ विषय से ही स्पष्ट है कि प्रतिषेध ही कुहन होता है। अतः उनका कथन ग्राह्य नहीं। बर्मा, सिंहल, बँगला आदि सब ग्रन्थों में उक्त पाठ ही है और वही शुद्ध है।

२. सोना, बैठना, चलना और खड़ा होना—ये चार ईर्य्यापथ हैं।

मुझे ही देता है—इस प्रकार चढ़ा-बढ़ा कर कहना उल्काचन है। भली प्रकार प्रकट करना (=उद्दीपन) कहा गया है। **तेल-कन्दरिका**[1] की कथा यहाँ कहनी चाहिये। सब प्रकार से बार-बार उल्काचन करना **समुक्काचना** है।

अनुप्पियभाणिता, सत्य के अनुरूप या धर्म के अनुरूप न देखकर बार-बार प्रिय-वचन (=मीठी बात) बोलना। **चाटुकम्यता,** (= चापलूसी) नीच-वृत्ति का भाव। अपने को नीचे-नीचे करके पेश आना। **मुग्गसुप्पता,** मूँग के सूप (=शोरवा) के समान होना। जैसे कि मूँगों के पकाने पर कोई नहीं पकता है, शेष पक जाते हैं, ऐसे (ही) जिस व्यक्ति की बात में कुछ ही सच होता है, बाकी झूठ—यह व्यक्ति 'मूँग के सूप-सा' कहा जाता है।……**पारिभट्टता,** पारिभृत्य का भाव। जो कि बच्चों को धाई के समान स्वयं गोद या कन्धे से ढोता है, लिये रहता है……वह परिभृत्य का काम पारिभृत्य है। पारिभृत्य का होना (ही) पारिभृत्यता है।

नैमित्तकता के निर्देश में—**निमित्त,** जो कुछ दूसरे को प्रत्यय दिलाने के लिये काय और वाक् कर्म। **निमित्तकम्म,** खाने की चीजों को लेकर जाते हुए देख, 'क्या आप खाना पाये ?' आदि प्रकार से निमित्त करना। **ओभासो,** प्रत्यय के विषय में बातचीत करना। **ओभासकम्मं,** बछड़ों को पालने वाले ग्वालों को देखकर—'क्या ये बछड़े दूध पीनेवाले बछड़े हैं या छाँछ (= तक्र) पीनेवाले बछड़े हैं ?' पूछकर, 'भन्ते, दूध पीनेवाले बछड़े हैं।' कहने पर, 'दूध पीनेवाले बछड़े नहीं हैं, अगर दूध पीनेवाले बछड़े हों, तो भिक्षु भी दूध पावें।' इत्यादि। इस प्रकार से उन लड़कों के माता-पिता से कहकर दूध दिलाने के लिये संकेत करना। **सामन्तजप्पा,** (इच्छित वस्तु को) समीप करके बात करना। कुलूपक-भिक्षु की कथा यहाँ कहनी चाहिये—

कुलूपक-भिक्षु भोजन करने की इच्छा से घर में घुस कर बैठा। गृह-स्वामिनी उसे देख, (कुछ) न देने की इच्छा से 'चावल नहीं है' कहती हुई, चावल लाने की इच्छावाली के समान पड़ोसी के घर गई। भिक्षु भी कोठरी के भीतर घुसकर देखते हुए, किवाड़ के कोने में ऊख, बर्तन में गुड़, पेटी में नमक और मछली के फाँकें, तौले (= कुम्भी) में चावल, घड़े में घी देख, निकलकर बैठ गया। गृहस्वामिनी 'चावल नहीं पाई' (कहती हुई) आई। भिक्षु ने कहा—"उपासिके, आज भिक्षा नहीं मिलेगी, मैंने पहले ही निमित्त देखा था।"

"क्या भन्ते ?"

"किवाड़ के कोने में रखे हुए ऊख के समान साँप को देखा। 'उसे मारूँगा', ऐसा देखते हुए, बर्तन में रखे गुड़ की भेली (= गुळपिण्ड) के समान पत्थर को; पेटी में रखे नमक और मछली के फाँकों के समान ढेले से पीटे साँप द्वारा किये गये फण को; तौले में (रखे) चावल के समान उसके उस ढेले को (मुँह से) डँसने की इच्छावाले के दाँतों को; उसके कुपित होने पर घड़े में रखे घी के समान मुँह से निकलते हुए विष-मिले गाज को देखा।"

उसने "मथ-मुण्डे को नहीं बहकाया जा सकता।" (सोच), ऊख दे, भात पकाकर घी, गुड़ और मछली के साथ सब दिया।

---

१. दो भिक्षु एक गाँव में जाकर आसन-शाला (=बैठका) में बैठकर एक लड़की को बुलाये। उसके आने पर एक ने दूसरे से पूछा — 'भन्ते, यह किसकी लड़की है ?'

"हम लोगों की सेवा-टहल करने वाली 'तेलकन्दरिका' की लड़की है। इसकी माँ मेरे घर आने पर घी देती हुई, घड़े से ही देती है, यह भी माँ के समान घड़े से ही देती है।" इस तरह उल्काचन किया। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है कि—"तेल कन्दरिका की कथा कहनी चाहिए।"—टीका।

इस प्रकार समीप करके कहने को **सामन्तजप्पा** जानना चाहिये। **परिकथा,** जैसे उसे पाता है, वैसे घुमा-फिरा कर कहता है।

निष्पेषिकता के निर्देश में—**अक्कोसना,** दश आक्रोपन करनेवाली बातों[1] से बुरा-भला कहना। **वम्भना,** परिभव करके (= हरा कर) कहना। **गरहना,** अ-श्रद्धावान् , अप्रसन्न आदि प्रकार से दोषारोपण करना। **उक्खेपना,** 'मत इसे यहाँ कहिये', (इस तरह) बात से उत्क्षेपण (= अलग) करना। सब प्रकार से कारण, हेतु के साथ करके उत्क्षेपण करना **समुक्खेपणा** (= समुत्क्षेपण) है। अथवा नहीं देते हुए देख कर, "अहा, दानपति", ऐसे चढ़ा-बढ़ा कर कहना उत्क्षेपण है। 'महादानपति' इस प्रकार भली-भाँति चढ़ा-बढ़ा कर कहना समुत्क्षेपण है।

खिपना, 'क्या इसकी जिन्दगी बीज खानेवाली है' ऐसे हँसी उड़ाना (= मज़ाक करना)। **सङ्खिपना,** 'क्या इसे (आप) नहीं देनेवाला (= अ-दायक) कहते हैं, जो कि सर्वदा सभी को "नहीं है" वचन देता है।'—ऐसे खूब हँसी उड़ाना।

पापना, दायक न होने देना या निन्दा करना। सब तरह से पापना **सम्पापना** है। **अवण्णहारिका,** 'ऐसे निन्दा के डर से मुझे देगा' (सोच), एक घर से दूसरे घर, एक गाँव से दूसरे गाँव, एक जनपद से दूसरे जनपद में (उसकी) निन्दा को पहुँचाना।

परपिट्ठिमंसिकता, आगे मीठी बातें कर, दूसरों के सामने (= परोक्ष में) निन्दा करना। यह सामने नहीं देख सकनेवाले के पीछे की ओर से पीठ का माँस खाने के समान होती है, इसलिये 'पीठ का माँस खाने के समान' कही गई है। **अयं वुच्चति निप्पेसिकता,** चूँकि जिस प्रकार बाँस की खपाची (= वेणु-पेशिका) शरीर में लगे अभ्यांग (= मालिश की हुई चीज) को बिल्कुल पोंछ डालती है, उसी प्रकार यह दूसरों के गुण को एकदम पोंछ डालती है, अथवा चूँकि सुगन्धी (चीज) को पीस कर गन्ध (= महक) खोजने के समान, दूसरे के गुणों को बिल्कुल पीस कर, चूर्ण-विचूर्ण करके, यह लाभ ढूँढ़ने-सी होती है, इसलिये निष्पेषिकता कही जाती है।

लाभ से लाभ को ढूँढ़ने के निर्देश में—**निजिगिंसनता,** ढूँढ़ना। **इतो लद्धं,** इस घर से पाया हुआ। **अमुत्र,** अमुक घर में। **एट्ठि,** चाह। **गवेट्ठि,** ढूँढ़ना (= खोजना)। **परियेट्ठि,** बार-बार ढूँढ़ना। शुरू से लेकर पायी-पायी हुई भिक्षा को वहाँ-वहाँ लड़कों को देकर अन्त में दूध से बनी हुई यवागु को पाकर गये हुए भिक्षु की कथा यहाँ कहनी चाहिये। **एसना,** (= एषण) आदि (शब्द) एट्ठि (= चाह) आदि के ही पर्याय वचन हैं। इसलिये एट्ठि को **एसना,** गवेट्ठि को **गवेसना** (= गवेषण), परियेट्ठि (= पर्येष्टि) को **परियेसना** (= पर्येषण= ढूँढ़ना)—इस प्रकार यहाँ समझना चाहिये।

यह कुहन आदि का अर्थ है॥

अब, **इत्यादि इस प्रकार के बुरे धर्मों के,** यहाँ, 'इत्यादि' शब्द से—"जैसे कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक दिये हुये भोजन को खाकर वे इस प्रकार की तिर्यक्-विद्याओं (= फजूल

---

१. विसुद्धिमग्ग-दीपिका के लेखक धर्म्मानन्द कौशाम्बी ने 'दश-आक्रोपन-वस्तु' को नहीं जानकर दश-ओमष-वस्तु को आक्रोषन-वस्तु बतलाया है, जो ठीक नहीं। दश-आक्रोपन-वस्तु ये हैं—"चोर हो, मूर्ख हो, मूढ़ हो, ऊँट हो, बैल हो, गधे हो, नरकगामी हो, पशु हो, तुझे सुगति नहीं है, तुझे दुर्गति समझनी चाहिये। इन दश-आक्रोपन करने वाली बातों से बुरा-भला कहता है।"—संयुत्त नि० अट्ठ० १,११,१,४।

की विद्याओं) की मिथ्या-आजीविका से जीवन व्यतीत करते हैं, जैसे कि अंग[1], निमित्त[2], (= ज्योतिष), उत्पाद[3], स्वप्न[4], लक्षण[5] (= सामुद्रिक), चूहों से खाये गये वस्त्रों के फल को कहना[6], अग्निहोम (= अग्नि-हवन[7]), दर्वि-होम[8] आदि प्रकार से ब्रह्मजालसूत्र में कहे गये अनेक बुरे धर्मों का ग्रहण करना जानना चाहिये।

इस प्रकार जो रोजी के कारण (भगवान् द्वारा) कहे गये, इन छः शिक्षापदों का उल्लंघन करने और कुहन, लपन, नैमित्तकता, निष्पेषिकता, लाभ से लाभ को ढूँढ़ना आदि ऐसे बुरे (=पाप) धर्मों से की गई मिथ्या-आजीविका है, उस मिथ्या-आजीविका से सब प्रकार से जो विरति (=अलग होना) है, वही आजीव-पारिशुद्धि-शील है।

यह शब्दार्थ है—इसके सहारे जीते हैं, इसलिये (यह) आजीव है। वह कौन है? (चीवर आदि) ढूँढ़ने का व्यायाम। पारिशुद्धि कहते हैं परिशुद्ध होने को। आजीव की पारिशुद्धि, **आजीव-पारिशुद्धि** है।

ई–प्रत्यय-सन्निश्रित शील

जो उसके बाद प्रत्यय-सन्निश्रित शील कहा गया है, उसमें **पटिसङ्खा योनिसो**,* उपाय

१. अङ्ग कहते हैं हाथ-पैर आदि में जिस किसी प्रकार के अङ्गवाला आदमी लम्बी उम्र वाला होता है, यशवान् होता है, आदि प्रकार से कहे जानेवाले अङ्गशास्त्र को।

२. निमित्त-शास्त्र। पण्डुराजा [महावंसो ८, १०] ने तीन मोतियों को मुट्ठी में लेकर ज्योतिषी से पूछा—'मेरे हाथ में क्या है?' उसने इधर-उधर देखा। उस समय छिपकली द्वारा पकड़ी गई मक्खी मुक्त हो गई (=छूट गई)। उसने 'मोती है' कहा। फिर 'कितना है?' पूछे जाने पर मुर्गे के बोलते हुए तीन बार शब्द को सुनकर 'तीन हैं' कहा। ऐसे उस-उस बात को कहने के लिये निमित्त में लगे विहरते हैं—सुमङ्गल विलासिनी १।

३. बिजली गिरने, इन्द्रधनुष निकलने आदि को देखकर 'यह होगा' 'ऐसा होगा' आदि कहना।

४. जो पूर्वाह्न में स्वप्न देखता है, उसका यह फल होता है, जो ऐसा देखता है उसका यह फल होता है आदि कहना।

५. इस लक्षणवाला राजा होता है, इस लक्षणवाला उपराजा होता है आदि लक्षण देखकर कहना।

६. अमुक भाग में चूहे के छेद करने पर ऐसा फल होता है—ऐसा जानने का शास्त्र।

७. इस प्रकार की लकड़ी से, ऐसे हवन करने पर, यह फल होता है आदि प्रकार से अग्नि-हवन।

८. दर्वि (=करछुल) के अनुसार होम करने का विधान-शास्त्र।

* पालि इस प्रकार है—"इध भिक्खवे भिक्खु पटिसङ्खा योनिसो चीवरं पटिसेवति, यावदेव सीतस्स पटिघाताय उण्हस्स पटिघाताय डंसमकसवातातप सिरिंसपसम्फस्सानं पटिघाताय, यावदेव हिरिकोपीनपटिच्छादनत्थं।

पटिसङ्खा योनिसो पिण्डपातं पटिसेवति, नेव दवाय, न मदाय, न मण्डनाय, न विभूसनाय, यावदेव इमस्स कायस्स ठितिया यापनाय विहिंसूपरतिया ब्रह्मचरियानुग्गहाय, इति पुराणञ्च वेदनं पटिहङ्खामि, नवञ्च वेदनं न उप्पादेस्सामि, यात्रा च मे भविस्सति फासुविहारो चाति।

से, पथ से, ज्ञान (= प्रतिसंख्या) से जानकर, प्रत्यवेक्षण (= भलीभाँति विचार) कर—यह अर्थ है। यहाँ 'सर्दी से बचाव के लिये' आदि प्रकार से कहे गये प्रत्यवेक्षण को ही 'योनिसो पटिसङ्खा' जाननी चाहिये।

चीवरं, अन्तरवासक[1] आदि में से जो कोई भी। **पटिसेवति**, परिभोग करता है, पहनता या ओढ़ता है। **यावदेव**, (= जब तक) यह इस्तेमाल करने के समय को अलग करनेवाला शब्द है। योगी को इतने ही चीवर के सेवन (= इस्तेमाल) करने की आवश्यकता है, जो कि यह सर्दी से बचाव के लिये आदि है, इससे अधिक नहीं। **सीतस्स**, भीतरी (= आध्यात्मिक=शारीरिक) —धातु के प्रकोप (= ज्वर, बुखार आदि) से या बाहरी (= बाह्य) ऋतु-परिवर्तन के कारण उत्पन्न, जिस किसी (प्रकार) की सर्दी को। **पटिघाताय**, मिटाने के लिये। जिस प्रकार शरीर में रोग नहीं पैदा करता है, उस प्रकार उसे दूर करने के लिये। सर्दी से पीड़ित होने पर विक्षिप्त-चित्त (हुआ भिक्षु) ठीक तौर से प्रधान (= योग-प्रयत्न) नहीं कर सकता है। इसलिये सर्दी से बचने के लिये चीवर-सेवन करना चाहिये। ऐसी भगवान् ने आज्ञा दी है। इसी प्रकार सर्वत्र। केवल यहाँ **उण्हस्स**, अग्नि-सन्ताप के। जंगल के जलने (= वन-दाह) आदि के समय में उसका सम्भव जानना चाहिये[2]।

डंसमकसवातातपसिरिंसपसम्फस्सानं, इसमें **डंस**, डँसनेवाली मक्खी। (उन्हें) अन्धमक्खी (= डँस) भी कहते हैं। **मकस**, (= मशक) मच्छड़। **वात**, (= वायु) धूल सहित, धूल-रहित आदि प्रकार का। **आतप**, सूरज की धूप। **सिरिंसप**, (= सरीसृप) जो कोई

पटिसङ्खा योनिसो सेनासनं पटिसेवति, यावदेव सीतस्स पटिघाताय उण्हस्स पटिघाताय डंसमकसवातातपसिरिंपसम्फस्सानं पटिघाताय, यावदेव उतुपरिस्सय विनोदनपटिसल्लानारामत्थं।

पटिसङ्खा योनिसो गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं पटिसेवति, यावदेव उप्पन्नानं वेय्याबाधिकानं वेदनानं पटिघाताय, अब्यापज्झपरमताया' ति।"

—मज्झिम नि० १, १, २।

१. लुंगी की तरह भिक्षु का अन्दर पहनने का कपड़ा।

२. "विसुद्धिमग्ग-दीपिका" के लेखक धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है—"यह नहीं मेल खाता। क्यों? यही **उण्हस्स** शब्द शयनासन-प्रत्यवेक्षण में भी आया है और वहाँ वन-दाह आदि में सम्भव नहीं। यदि वन-दाह शयनासन के पास हो तो शयनासन भी जल जाय; किन्तु यह मध्य-देश के सम्बन्ध में कहा गया है। वहाँ गर्मी के दिनों में गर्म हवायें चलती हैं, वे भीतर से बिना ढँके हुए शरीर को पीड़ित कर के फोड़े-फुँसी आदि रोग उत्पन्न करती हैं। शयनासन के सेवन से भी उनसे बचा जा सकता है, इसलिये दोनों जगह **उण्हस्स** कहा गया है।" धर्मानन्द कौशाम्बी ने बुद्धघोष पर दोषारोपण करने के लिये इतना प्रयत्न किया है, किन्तु **"डंसमकसवातातपसिरिंसपसम्फस्सानं पटिघाताय"** वाक्य पर ध्यान नहीं दिया है। "परमत्थमंजूसा" के पाठ को भी नहीं देखा है "यद्यपि सूर्य्य-सन्ताप भी गर्म ही है, किन्तु उसका **'आतप'** (= धूप) के ग्रहण से गृहीत होने से **'अग्निसन्ताप'** कहा गया है।" और "किसी-किसी दावाग्नि का सन्ताप काय को चीवर से ढँक कर मिटाया जा सकता है, इसलिये जंगल के जलने आदि के समय में उसका सम्भव जानना चाहिये, कहा गया है।" स्पष्ट है कि यदि उन्होंने 'आतप' और 'वात' शब्दों पर ध्यान दिया होता तो ऐसी असाधारण त्रुटि न हो पाती।

सरकते हुए चलते हैं, दीर्घ-जाति वाले, साँप आदि[1]। उनका डँसना और छूना—दोनों प्रकार का स्पर्श। वह भी चीवर ओढ़कर बैठे हुए को नहीं पीड़ित करता। इसलिये वैसे स्थानों पर उनसे बचने के लिये (चीवर-) प्रतिसेवन (= इस्तेमाल) करता है।

यावदेव, (= जब तक), फिर इसके नियत प्रयोजन के समय को अलग करके दिखलाने के लिए यह शब्द है। लज्जांग, को ढँकना ही इसका नियत-प्रयोजन है। दूसरे कभी-कभी होते हैं। **हिरिकोपीनं**, वह-वह सम्बाध-स्थान (= लज्जाङ्ग)। जिस-जिस अंग के उघड़ने पर ही (= लज्जा) कुपित होती है, नाश होती है, उस-उस ही को कोपन (= कुपित करना) से ही ह्री-कोपीन कहा जाता है। उस ह्री-कोपीन को ढँकने के लिये, **हिरिकोपीनपटिच्छादनत्थं** ।······[2]

पिण्डपात, जो कुछ आहार। जो कोई भी आहार भिक्षा द्वारा भिक्षु के पात्र में गिरने के कारण 'पिण्डपात' कहा जाता है। अथवा पिण्डों का पतना (= गिरना) पिण्डपात है। उस-उस (स्थान) से पायी हुई भिक्षा का सन्निपात (= ढेर), समूह—कहा गया है। **नेव दवाय**, गाँव के लड़कों की तरह खेलने के लिए नहीं। क्रीड़ा के निमित्त कहा गया है। **न मदाय**, घूसा मारने, पहलवानी करने आदि के समान मद के लिये नहीं। बल के निमित्त और पुरुष-मद (= मैं पुरुष हूँ, इस तरह का मान) के निमित्त कहा गया है। **न मण्डनाय**, अन्तःपुर की वेश्या आदि के समान न मण्डन करने के लिये। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को मोटा होने के निमित्त कहा गया है। **न विभूसनाय**, नट, नचनिया आदि की भाँति विभूषण के लिये नहीं। छवि को सुन्दर-वर्ण करने के निमित्त कहा गया है।

इसमें 'क्रीड़ा के लिये नहीं' यह मोह के उपनिश्रय को दूर करने के लिये कहा गया है। 'न मद के लिये' यह द्वेष के उपनिश्रय को दूर करने के लिये। 'न मण्डन के लिये', न विभूषण के लिये'—यह राग के उपनिश्रय को दूर करने के लिये। और 'न क्रीड़ा के लिये, न मद के लिये'—यह अपने संयोजन (=बन्धन) की उत्पत्ति को रोकने के लिये। 'न मण्डन, न विभूषण के लिये'—यह दूसरे के भी संयोजन की उत्पत्ति को रोकने के लिये। इन चारों से भी अयोनिशः (=बे-ठीक)-प्रतिपत्ति और काम-भोग के सुख की लिप्सा में लगे रहने को दूर करने के लिये कहा गया है। ऐसा जानना चाहिये।

यावदेव, इसका (ऊपर) कहा गया ही अर्थ है। **इमस्स कायस्स**, इस चार महाभूतों (=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) से बने हुये रूप-काय की। **ठितिया**, (=स्थिति के लिये) सिल-सिला बँधे रहने के लिये। **यापनाय**, (जीवन-) प्रवाह को अटूट बनाये रखने के लिये। या बहुत दिनों तक स्थित रहने के लिये। जीर्ण घर वाले आदमी के घर को (न गिरने देने के लिये) खम्भा, थुन्ही लगाने के समान। गाड़ीवान के धूरा तेलियाने की भाँति। शरीर की स्थिति बनी रहने और जीवन व्यतीत करने के लिये, यह पिण्डपात (=भिक्षान्न) का सेवन करता है (=खाता है), न कि क्रीड़ा, मद, मण्डन, विभूषण के लिये।···स्थिति, जीवितेन्द्रिय का नाम है। इसलिये 'इस शरीर की स्थिति बनी रहने तथा जीवन व्यतीत करने के लिये '—इतने से शरीर के जीवितेन्द्रिय को प्रवर्तित होते रहने के लिये भी कहा गया समझना चाहिये।

विहिंसूपरतिया, रोग[3] के अर्थ में भूख 'विहिंसा' कही जाती है। उसकी शान्ति के

१. आदि शब्द से गोंजर, मकड़ा, छिपकली, बिच्छू भी संगृहीत हैं।

२. हिरिकोपीनं पटिच्छादनत्थं भी पाठ है।

३. 'भूख सबसे बड़ा रोग है'—धम्मपद १५,७।

लिये भी यह भोजन करता है। घाव पर (दवा का) लेपन करने के समान। और गर्मी, सर्दी आदि में उसका प्रतिकार करने के समान। **ब्रह्मचरियानुग्गहाय,** सम्पूर्ण शासन-ब्रह्मचर्य और मार्ग-ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये। यह पिण्डपात के प्रतिसेवन के कारण (प्राप्त) शारीरिक बल के सहारे तीनों शिक्षाओं[1] को (पूर्ण करने में) लगे रहने से, संसार रूपी कान्तार (=रेगिस्तान) को पार करने के लिये भिड़ा हुआ, ब्रह्मचर्य (=श्रमण-धर्म) की रक्षा के लिये रेगिस्तान पार होने वालों के (अपने) पुत्र का मांस[2], नदी पार करने वालों के बेड़े (=कुल्ल)[3] और समुद्र पार होने वालों की नाव की भाँति भोजन करता है।

इति पुराणञ्च वेदनं न उप्पादेस्सामि, इस प्रकार इस भिक्षान्नको खाने से पुरानी भूख की वेदना (= पीड़ा) को दूर करूँगा और बेहद खाने के कारण **आहर-हस्तक**[4], **अलम् शाटक**[5], **तत्रवर्त्तक**[6], **काक-मांसक**[7], **भुक्तवमितक**[8] ब्राह्मणों में से किसी एक के समान नई वेदना नहीं पैदा करूँगा। (ऐसा ध्यान में रखकर) रोगी के इलाज इस्तेमाल करने के समान भोजन करता है। या अनुचित बेहद भोजन के कारण, पुराने कर्म के प्रत्ययसे उत्पन्न हुई वेदना, इस समय पुरानी कही जाती है। उचित परिमाण के मुताबिक भोजन से उसके प्रत्यय (= हेतु) को मिटाते हुए उस पुरानी वेदना को दूर करूँगा। जो इस समय की गई है, (वह) अनुचित परिभोग (= बेहद खा लेने) के कारण आगे पैदा होने से नई वेदना कही जाती है। उचित भोजन से उसकी जड़ को नहीं पैदा होने देते हुये, नई वेदना को नहीं पैदा करूँगा। इस प्रकार से भी यहाँ अर्थ समझना चाहिये।

यहाँ तक, उचित भोजन करना, शरीर को पीड़ित करने का त्याग और धार्मिक सुख को न त्यागना बतलाया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

यात्रा च मे भविस्सति, उचित और परमित भोजन से जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद (= मृत्यु) करने या ईर्य्यापथ को बिगाड़ने वाले उपद्रव (= परिश्रय) के न होने से हमारे इस (आहार आदि) प्रत्ययों के अनुरूप रहने वाले शरीर का, चिरकाल तक 'चलते रहना' (= जीते रहना) नाम से कही जानेवाली यात्रा होगी; दवाई के बल पर जीने वाले रोगी की भाँति—इसलिये भी उसका सेवन करता है।[9]

---

१. तीन शिक्षायें हैं—(१) अधिशील-शिक्षा, (२) अधिचित्त-शिक्षा, (३) अधिप्रज्ञा-शिक्षा।

२. इस उपमा को देखिये संयुत्त निकाय २,१२,७,३।

३. देखिये मज्झिम निकाय १,३,२।

४. जो बहुत खाकर उठ न सकने के कारण "हाथ बढ़ाओ" कहता है।

५. जो खाकर पेट के अत्यन्त फूल जाने के कारण, उठने पर भी कपड़ा नहीं पहन सकता है।

६. जो खाकर उठ नहीं सकने के कारण वहीं लोटता-पोटता है।

७. जो जैसे कौवे द्वारा निकाला जा सके, ऐसे मुख के द्वार तक खाता है।

८. जो खाकर पेट में नहीं रख सकने के कारण वहीं वमन (= कै) कर देता है।

९. भावार्थ यों है—जिसका याप्य रोग होता है, वह उस रोग की वृद्धि को रोकने के लिये सर्वदा दवाई इस्तेमाल करता है, उसी प्रकार भिक्षु पुराने रोग (= भूख) को नाश करने और नये रोग को नहीं पैदा होने देने के लिये भोजन करता है, परिमित और हितकर भोजन द्वारा जीवितेन्द्रिय-उपच्छेदक (= प्राण-नाशक) या ईर्य्यापथ को भग्न करने वाले उपद्रव (= विपद्) विनष्ट होते हैं

अनवज्जता च फासु विहारो च, (= निर्दोष और प्राशु विहार), अनुचित रूप से ढूँढ़ने, लेने, परिभोग करने के त्याग से निर्दोष और परिमित भोजन से प्राशु विहार होता है, या अनुचित और अ-परिमित भोजन के कारण उदासी, तन्द्रा (= मचलानेवाली नींद), जम्हाई, विज्ञों द्वारा निन्दित होने आदि के दोषों के न होने से निर्दोष और उचित, परिमित भोजन के कारण शारीरिक बल के उत्पन्न होने से प्राशु (= सुख पूर्वक)-विहार होता है। अथवा जितना खा सके उतना ठूँस-ठूँस कर पेट भर खाने के त्याग से शयन, स्पर्श, निद्रा के सुख को त्यागने से निर्दोष और चार-पाँच ग्रास मात्र कम खाने से चारों ईर्य्यापथों (= सोना, बैठना, उठना, चलना) के योग्य (शरीर को) बनाने से मुझे प्राशु विहार होगा; (सोचकर) भी प्रतिसेवन करता है। यह कहा भी गया है—

चत्तारो पञ्च आलोपे अभुत्वा उदकं पिवे।
अलं फासुविहाराय पहितत्तस्स भिक्खुनो ॥[1]

[चार-पाँच ग्रास न खाकर पानी पी ले, (ऐसा करना) ध्यान-रत (= प्रेपितात्मा)[2] भिक्षु के सुख पूर्वक विहरने के लिए पर्याप्त है।]

यहाँ तक, प्रयोजन का परिग्रहण और मध्यम प्रतिपदा बतलाई गई है—ऐसा जानना चाहिये।

सेनासनं, शयन और आसन। जहाँ-जहाँ सोता है, विहार में या अटारी (=अड्डयोग) आदि में; वह शयन है। जहाँ-जहाँ आसन लगाता है, बैठता है; वह आसन है। उन्हें एक में करके शयनासन कहा जाता है।

उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थं[3], पीड़ित करने के अर्थ में ऋतु ही ऋतु-परिश्रय (=उपद्रव) है। (उस) ऋतु-परिश्रयको दूर करने तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए। जो शरीर में रोग पैदा करनेवाला और चित्त को विक्षिप्त (=चंचल) करनेवाला ऋतु होता है, उसको दूर करने और एकाग्रता से उत्पन्न सुख के लिए कहा गया है। सर्दी के बचाव आदि से ही ऋतुपरिश्रय (=मौसम की गड़बड़ी से उत्पन्न कष्ट) को दूर करना कहा गया है, जैसे कि चीवर का प्रतिसेवन करने में लज्जाङ्ग को ढँकना खास मतलब है, दूसरे कभी-कभी होते हैं—कहा गया है। इसी प्रकार यहाँ भी खास ऋतु की गड़बड़ी से उत्पन्न कष्ट को दूर करने के प्रति ही कहा गया—जानना चाहिए। अथवा यह उक्त प्रकार का ही ऋतु, ऋतु है; किन्तु परिश्रय दो प्रकार का होता है—प्रगट परिश्रय और प्रतिच्छन्न परिश्रय। प्रगट-परिश्रय (=उपद्रव) सिंह, बाघ आदि हैं और प्रतिच्छन्न राग-द्वेष आदि। वे जहाँ बिना रखवाली और अयुक्त रूपों को देखने आदि से पीड़ित नहीं करते हैं, उस शयनासन को जानकर भली-भाँति सोच-विचार कर प्रतिसेवन करते हुए भिक्षु "प्रज्ञा से भली प्रकार जानकर ऋतु के परिश्रय को दूर करने के लिए शयनासन का सेवन करता है"—ऐसा जानना चाहिए।

तथा इस प्रत्यय के वशीभूत शरीर की यात्रा चिरकाल तक होती रहती है, अतः मेरे शरीर की यात्रा चिरकाल तक होगी, ऐसा सोचकर भिक्षु प्रत्यय-सेवन करता है।

१. थेरगाथा ९८३।

२. 'निर्वाण की ओर भेजे हुए चित्त वाले भिक्षु के'—सिंहल सन्नय।

३. ऋतु के परिश्रय को दूर करने तथा चित्त एकाग्र करने के लिये।

गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं, (=ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार); यहाँ, रोग का विपक्षी (= प्रति-अयनार्थ) होने के अर्थ में प्रत्यय होता है। विरुद्ध होना—इसका अर्थ है। जिस किसी भी पथ्य (= सप्राय) का यह नाम है। वैद्य द्वारा आज्ञा किये जाने से भिषक् (= वैद्य) का काम भैषज्य कहा जाता है। ग्लान (= रोगी) का प्रत्यय ही भैषज्य है, ...जो कुछ रोगी के लायक दवा तेल, मधु, खाँड़ आदि...... । **परिक्खारो** (=परिष्कार), "सात नगरपरिष्कारों[1] से भली-भाँति घिरा हुआ था[2]।" आदि में परिवार कहा जाता है। "रथ शील-परिष्कारयुक्त[3] है, ध्यान इसकी धुरी है और वीर्य चक्के हैं*।" आदि में अलंकार। "जो कोई ये प्रव्रजित द्वारा जीवन के लिए परिष्कार जुटाने योग्य हैं[4]?" आदि में सम्भार (= कारण)। यहाँ परिवार और सम्भार दोनों ही उपयुक्त हैं। वह ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य, जीवन-नाशक रोगों को उत्पन्न होने के लिए मौका न देकर रक्षा करने से जीवन का परिवार भी होता है। जैसे बहुत दिनों तक चलता रहता है, ऐसे (ही) इसके होने के कारण सम्भार भी है। इसलिये परिष्कार कहा जाता है। इस प्रकार ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य-परिष्कार को। वैद्य द्वारा बतलाया गया, रोगी के लिये जो कुछ पथ्य तेल, मधु, खाँड आदि जीवन-परिष्कार कहा गया है।

उप्पन्नानं, उत्पन्न हुए का, पैदा हुए का, जन्मे का। **वेय्याबाधिकानं** (= आबाधाओं का), यहाँ, व्याबाधा कहते हैं धातु-प्रकोप को। और उससे उत्पन्न कोढ़, फोड़े, फुंसियाँ आदि। व्याबाधा से उत्पन्न होने से व्याबाधिक कहा जाता है। **वेदनानं**, (= वेदनाओं का), दुःख-वेदना, अकुशल-विपाक-वेदना। उन व्याबाधाओं (= रोगों) की वेदनाओं (= पीड़ाओं) का। **अब्याप-ज्झपरमताय**, दुःख-रहित होने के लिये। जब तक वह सारा दुःख दूर होता है, तब तक।......।

इस तरह संक्षेप में प्रज्ञा से भली-प्रकार जानकर प्रत्ययों के परिभोग (= सेवन) करने के लक्षणवाला 'प्रत्यय-सन्निश्रित-शील'—समझना चाहिये।

यहाँ, यह शब्दार्थ है—चूँकि उनके प्रत्यय (= कारण), सहारे, परिभोग करते हुए प्राणी चलते हैं, प्रवर्तित होते हैं (= जीवित रहते हैं), इसलिये प्रत्यय कहे जाते हैं। उन प्रत्ययों के सन्निश्रित होना प्रत्यय-सन्निश्रित है।

ऐसे इन चारों प्रकार के शीलों में श्रद्धापूर्वक 'प्रातिमोक्ष-संवर' को पूर्ण करना चाहिये। शिक्षापदों का प्रज्ञापन करना श्रावकों के सामर्थ्य के बाहर होने के कारण, वह श्रद्धा से ही पूर्ण

---

* संयुत्त नि० ५. ४३. १. ६।

१. नगर के सात परिष्कार हैं—(१) एशिका (= इन्द्रकील) (२) खाई (३) ऊँचे और चौड़े फैले हुए मार्ग (४) बहुत हथियार, (५) फौज (६) पंडित, व्यक्त, चतुर द्वारपाल (= दौवारिक) (७) ऊँची और चौड़ी चहारदीवारी। [देखिये अंगुत्तर नि० ७, ७, ३] किन्तु टीका में लिखा है—"किवाड़, खाई, नींव, चहारदीवारी, इन्द्रकील, चौखट, चहारदीवारी का फैलाव—यह सात नगर-परिष्कार कहलाते हैं।"

२. अंगुत्तर नि० ७, ७, ३।

३. "सुविशुद्ध शील का अलंकार। आर्य-मार्ग यहाँ रथ अभिप्रेत है और सम्यक् वचन आदि अलंकार के अर्थ में परिष्कार कहे गये हैं।"—टीका।

४. मज्झिम नि० १, १०७।

किया जानेवाला है। शिक्षा-पद की प्रज्ञप्ति का प्रतिक्षेप न करना ही यहाँ उदाहरण है[1]। इसलिये जैसे शिक्षा-पद बतलाये गये हैं, (वैसे) सब को श्रद्धा से ग्रहण करके (अपने) जीवन की चाह न करते हुए भली-भाँति पूरा करना चाहिये। यह कहा भी है—

किकी'व अण्डं चमरी'व वालधिं
पियं व पुत्तं नयनं व एककं।
तथेव सीलं अनुरक्खमानका
सुपेसला होथ सदा सगारवा'ति॥

[जैसे टिटहरी (अपने) अण्डे की, चमरी अपने पूँछ की, (माता) एकलौते प्रिय-पुत्र की, काना (अपनी) अकेली आँख की रक्षा करता है, वैसे ही शील की भली-भाँति रक्षा करते हुए (शील के प्रति) सर्वदा प्रेम और गौरव करनेवाले होवो।]

दूसरा भी कहा है—"ऐसे ही महाराज,[2] जो मैंने शिष्योंके लिये शिक्षापद बनाये हैं, उनका मेरे शिष्य जीवन के लिये भी उल्लंघन नहीं करते हैं।"[3] इस सम्बन्ध में चोरों द्वारा जंगल में बाँधे गये स्थविरों की कथायें जाननी चाहिये—

महावर्तनि के जंगल[4] में (एक) स्थविर को चोर **कालवल्ली** (= लताविशेष) द्वारा बाँधकर सुला दिये। स्थविर जिस प्रकार सोये थे, उसी प्रकार सात दिनों विपश्यना बढ़ा, अनागामी फल को प्राप्त कर, वहीं मर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए।

(एक) दूसरे भी स्थविर को ताम्रपर्णी द्वीप (= लंका) में पूति-लता (= गुरुचि की लता) से बाँधकर सुला दिये। वह जंगल में आग लगने पर लता को बिना तोड़े ही[5] विपश्यना करके **'समसीसी'**[6] होकर परिनिर्वृत हुए। दीर्घ-भाणक

१. एक बार सारिपुत्र स्थविर ने शिक्षापदों को बनाने के लिये भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने प्रतिक्षेप (= इन्कार) कर दिया। यह कहा गया है—"आयुष्मान् सारिपुत्र ने आसन से उठकर उत्तरासंग को एक कन्धे पर कर दोनों हाथ जोड़ भगवान् को प्रणाम् किया और ऐसा कहा—'भगवान्, इसी का समय है······जो कि भगवान् शिष्यों के लिये शिक्षा-प्रद का प्रज्ञापन करें। प्रातिमोक्ष का उद्देश करें, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य······चिरस्थायी हो।"

"सारिपुत्र, तू ठहरो, सारिपुत्र तू ठहरो। तथागत ही वहाँ समय जानेंगे।"

—पाराजिका पालि १।

२. अंगुत्तर निकाय [८,२,९] में 'प्रह्लाद' पाठ है।

३. अंगुत्तर निकाय ८,२,९।

४. महावर्तनि का जंगल कहते हैं विन्ध्य के जंगल को। 'हिमालय की तराई का जंगल'—ऐसा भी कोई-कोई बतलाते हैं—टीका।

५. उस लता को चोरों ने जड़ से काटा न था और भिक्षु लोगों को 'लता' वृक्षादि काटने-तोड़ने में 'पाचित्तिय' का दोष होता है, इसलिये उन्होंने आपत्ति के डर से लता को नहीं तोड़ा।

६. **'समसीसी'** तीन प्रकार के होते हैं—(१) ईर्य्यापथ समसीसी (२) रोग समसीसी (३) जीवित समसीसी। जो खड़ा होना आदि ईर्य्यापथों में से किसी एक का अधिष्ठान कर—"इसे बिना भङ्ग किये ही अर्हत्व पाऊँगा।" विपश्यना करता है, तब उसे अर्हत्व की प्राप्ति और ईर्य्यापथ का भङ्ग एक ही साथ होता है, इसे **ईर्य्यापथसमसीसी** कहते हैं। जो चक्षु-रोग आदि में किसी एक के

अभयस्थविर[1] ने पाँच सौ भिक्षुओंके साथ आते हुए देख, शरीर को जलाकर चैत्य बनवाया। इसलिए दूसरा भी श्रद्धावान् कुलपुत्र—

पातिमोक्खं विसोधेन्तो अप्पेव जीवितं जहे।
पञ्ञत्तं लोकनाथेन न भिन्दे सीलसंवरं॥

[प्रातिमोक्ष का विशुद्ध रूपसे पालन करते हुए भले ही मर जाय, किन्तु लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) द्वारा प्रज्ञप्त शील-संवरका भेद (=नाश) न करे।]

जैसे प्रातिमोक्ष-संवर श्रद्धा से, ऐसे स्मृति से इन्द्रिय-संवर को पूर्ण करना चाहिये। (चूँकि) स्मृति (=होश) से बचाई गई इन्द्रियाँ, अभिध्या (=लोभ) आदि से नहीं पछाड़ी जाती हैं, अतः वह (इन्द्रिय-संवर-शील) स्मृति से पूर्ण किया जानेवाला है। इसलिये—"उत्तम है भिक्षुओ, गर्म, जलती, लपटती, धधकती लोहे की छड़ से चक्षु-इन्द्रिय को दाग लेना, किन्तु आँख से दिखाई देनेवाले रूपों में बनावट के अनुसार निमित्त (=लक्षण) ग्रहण करना अच्छा नहीं[2]।" आदि प्रकार से **आदित्त परियाय** (=आदिप्त पर्याय सूत्र) को भली प्रकार स्मरण करके रूप आदि विषयों[3] में चक्षु-द्वार[4] आदि से उत्पन्न हुए विज्ञान का अभिध्या आदि से पछाड़े जानेवाले निमित्त आदि के ग्रहण करने को, बनी हुई स्मृति से रोकते हुए अच्छी तरह इसे पूर्ण करना चाहिये।

ऐसे इनके नहीं पूर्ण किये जाने पर प्रातिमोक्ष-संवर-शील भी बहुत दिनों तक नहीं रहने वाला = अ-चिरस्थायी होता है। शाखा-समूह (=रूँधान) से अच्छी तरह नहीं घिरी हुई फसल के समान यह क्लेश रूपी चोरों से हना जाता है। जैसे कि खुले फाटकवाला गाँव लुटेरों से (लूटा जाता है)। उसके चित्त में राग घुस जाता है, ठीक से न छाये हुए घर का वृष्टि (-जल) के समान। कहा भी है—

रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु
गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एते हि द्वारा विवटा अरक्खिता
हनन्ति गामं'व परस्स हारिनो॥

होने पर—"यहाँ से बिना उठे ही अर्हत्व पाऊँगा" विपश्यना को करता है, तब उसे अर्हत्व की प्राप्ति और रोग से मुक्ति एक साथ होती है, इसे **रोग समसीसी** कहते हैं।......जिसका आश्रवक्षय और जीवित-क्षय एक साथ ही होता है, इसे **जीवित समसीसी** कहते हैं।" [देखिये संयुत्त नि० अट्ठकथा १,४,३,३] पुग्गलपञ्ञत्ति में भी कहा गया है "जिस व्यक्ति का न आगे न पीछे एक साथ आश्रवों का क्षय और जीवन का क्षय होता है, उस व्यक्ति को समसीसी कहते हैं।" [पुग्गल० १,१९] उक्त व्याख्या विस्तार के साथ इसकी अट्ठकथा में भी है। यहाँ जीवित-समसीसी ही जानना चाहिये। विस्तार से जानने के लिये देखिये पुग्गलपञ्ञत्तिप्परणट्ठकथा में 'समसीसी' की व्याख्या [१,१९] और पटिसम्भिदा० १,४१। मनोरथपूरणी में चार प्रकार के समसीसी बतलाये गये हैं, वहाँ **वेदना-समसीसी** भी कहा गया है। [७,२,६]।

१. अभय-स्थविर महा-अभिज्ञा-प्राप्त थे, इसलिये चैत्य बनवाया—टीका।

२. संयुत्त नि० ४, ३४, १, ३, ६।

३. रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म—यह छः विषय हैं।

४. चक्षु-द्वार, श्रोत्र-द्वार, घ्राण-द्वार, जिह्वा-द्वार, काय-द्वार, मनो-द्वार—ये छः द्वार हैं।

[रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शों में इन्द्रिय की रक्षा करो, इन द्वारों के खुले और अरक्षित होने पर लुटेरों द्वारा (लूटे जानेवाले) गाँव के समान हने जाते हैं।]

यथा अगारं दुच्छन्नं वुट्ठि समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति[1] ॥

[जैसे बुरी तरह छाये घर में वृष्टि का जल घुस जाता है, उसी प्रकार ध्यानाभ्यास से रहित चित्त में राग घुस जाता है।]

उसके पूर्ण किये जाने पर प्रातिमोक्ष-संवर-शील भी बहुत दिनों तक रहने वाला = चिर-स्थायी होता है। शाखा-समूह (= रूँधान) से अच्छी तरह घिरी हुई फसल के समान यह क्लेश रूपी चोरों से नहीं हना जाता है। ठीक से बन्द किये गये फाटकवाला गाँव जैसे कि लुटेरों से (नहीं लूटा जाता है)। उसके चित्त में राग नहीं घुसता है, ठीक से छाये हुए घर का वृष्टि के जल के समान। यह कहा भी है—

रूपेसु सद्देसु अथो रसेसु
गन्धेसु फस्सेसु च रक्ख इन्द्रियं।
एते हि द्वारा पिहिता सुसंवुता
न हनन्ति गामं'व परस्स हारिनो ॥

[रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शों में इन्द्रिय की रक्षा करो, इन द्वारों के बन्द और ठीक से संवृत होने से लुटेरों द्वारा (लूटे जानेवाले) गाँव के समान नहीं हने जाते।]

यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति[1] ॥

[जैसे अच्छी तरह छाये घर में वृष्टि का जल नहीं घुसता, वैसे ही ध्यानाभ्यास से अभ्यस्त चित्त में राग नहीं घुसता।]

यह अत्यन्त उत्कृष्ट (= उत्तम) उपदेश है। यह चित्त बहुत ही जल्दी-जल्दी बदलता रहता है। इसलिए उत्पन्न राग को अशुभ के मनस्कार (= मन में करना) से हटाकर इन्द्रिय संवर को पूर्ण करना चाहिये। नये प्रव्रजित हुए **वङ्गीस-स्थविर** के समान। हाल ही में प्रव्रजित हुए स्थविरको भिक्षाटन के लिये घूमते हुए, एक स्त्री को देखकर राग उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् (उन्होंने) आनन्द स्थविर से कहा—

कामरागेन डय्हामि, चित्तं मे परिडय्हति।
साधु निब्बापनं ब्रूहि अनुकम्पाय गोतमा'ति ॥[2]

[मैं काम-राग से जल रहा हूँ। मेरा चित्त भी जल रहा है, हे गौतम[3]! अनुकम्पा करके इसे शान्त करने का जरा उपाय कहिये।]

स्थविर ने कहा—

---

१. धम्मपद १, १३।

२. संयुत्त नि० १, ८, ३।

३. आनन्द स्थविर को गोत्र से सम्बोधित कर रहे हैं—टीका।

सञ्ञाय विपरियेसा चित्तं ते परिडय्हति
निमित्तं परिवज्जेहि सुभं रागूपसंहितं ॥
असुभाय चित्तं भावेहि एकग्गं सुसमाहितं ।
संखारे परतो पस्स, दुक्खतो नो च अत्ततो ।
निब्बापेहि महारागं, मा डय्हित्थो पुनप्पुनं ॥

[विपरीत ख्याल होने के कारण तेरा चित्त जल रहा है, (इसलिए) राग से युक्त शुभ-निमित्त को त्यागो। अशुभ (निमित्त) से एकाग्र और सुसमाहित चित्त की भावना करो। संस्कारों को अनित्य (=पर) और दुःख के तौर पर देखो, 'आत्मा' के तौर पर नहीं। महाराग को शान्त करो, मत बार-बार जलो।]

स्थविर ने राग को दूर कर भिक्षाटन किया।

इन्द्रिय-संवर पूर्ण करनेवाले भिक्षु को कुरण्डक महालेण (= गुफा) में रहने वाले **चित्रगुप्त स्थविर** और **चोरक-विहार** में रहने वाले **महामित्र-स्थविर** के समान होना चाहिए।

कुरण्डक महालेण में सात बुद्धों के अभिनिष्क्रमण का चित्र-कर्म बड़ा सुन्दर था। बहुत से भिक्षु शयनासन को घूमते देखते हुए चित्र-कर्म को देखकर—"भन्ते, मनोरम है चित्र-कर्म।" कहे। स्थविर ने कहा—"आवुस, साठ वर्ष से भी अधिक (इस) लेण (=गुफा) में रहते हुए हो गया, किन्तु (इसमें) चित्र-कर्म है या नहीं, भी नहीं जानता हूँ। आज चक्षुष्मानों के कारण जाना।"

स्थविर ने इतने दिनों तक (वहाँ) रहते हुए, आँख उठाकर लेण को पहले कभी नहीं देखा था। उस लेण के द्वार पर (एक) बहुत बड़ा नाग का पेड़ भी था। उसे भी स्थविर ने पहले कभी ऊपर नहीं देखा था। हर वर्ष जमीन पर केशर गिरी हुई, देखकर उसके फूलने को जानते थे।

राजा ने[1] स्थविर की गुण-सम्पत्ति को सुनकर, वन्दना करने की इच्छा से तीन बार (सन्देश) भेजकर, स्थविर के नहीं आने पर उस गाँव में[2] छोटे बच्चोंवाली स्त्रियों के स्तनों को बँधवा कर मुहर लगवा दी—"तब तक बच्चे दूध न पीने पावें, जब तक कि स्थविर नहीं आते।"

स्थविर बच्चों पर कृपा करके महाग्राम[3] गये। राजा ने सुनकर, "जाओ भणे, स्थविर को साथ लिवा लाओ, शीलों को ग्रहण करूँगा।" कहा।

अन्तःपुर में लिवा लाकर प्रणाम् करके भोजन करवाया। "भन्ते, आज फुरसत नहीं है, कल शीलों को ग्रहण करूँगा।" (कहकर) स्थविर का पात्र लेकर थोड़ी (दूर) पीछे-पीछे आकर रानी के साथ प्रणाम् करके लौटा। स्थविर राजा प्रणाम् करे या रानी, "महाराज, सुखी हो।" कहा करते थे। इस प्रकार सात दिन गुजर गये।

भिक्षुओं ने पूछा—"भन्ते, क्या आप राजा के प्रणाम् करने पर भी, रानी के प्रणाम् करने पर भी—"महाराज, सुखी हो। इतना ही कहते हैं ?" स्थविर ने कहा, "आवुस, यह राजा है, यह रानी है—मैं ऐसा नहीं विचार करता।" सप्ताह के बीतने पर "स्थविर का यहाँ रहना दुःखदायक है" (कहकर) राजा द्वारा छुट्टी पाने पर वे कुरण्डक महालेण में जाकर रात में

१. दुट्ठगामिनी अभय का पिता कावन्तिष्य (= काकवण्ण) ई० पूर्व १०१ से पहले।
२. महाग्राम में—टीका।
३. तत्कालीन लंका की राजधानी। वर्तमान तिष्यमहाराम के पास में। मातर से ७७ मील दूर।

चंक्रमण करना प्रारम्भ किये। नाग के पेड़ पर रहनेवाला देवता दण्ड-दीपक (= मशाल) लेकर खड़ा हुआ। तब उनका कर्मस्थान अत्यन्त परिशुद्ध रूप से प्रगट हुआ। स्थविर ने "क्या आज मेरा कर्मस्थान अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है ?" (सोच) खुश हो, लगभग मझले पहर के समय सारे पर्वत को गुँजाते हुए अर्हत्व पा लिया। इसलिये दूसरा भी अपनी भलाई चाहनेवाला कुलपुत्र—

मक्कटो' व अरञ्ञम्हि वने भन्तमिगो विय,
बालो विय च उत्रस्तो न भवे लोललोचनो।
अधो खिपेय्य चक्खूनि युगमत्तदसो सिया,
वनमक्कटलोलस्स न चित्तस्स वसं वजे॥

[जंगल में बन्दर के समान, वन में चंचल मृग के समान, मूर्ख के समान त्रस्त-हृदय और चंचल-नेत्रवाला न होवे। आँखों को नीचे कर, चार हाथ दूर तक देखनेवाला (= युग्मदर्शी)[1] बने, जंगली चंचल बन्दर के समान चित्त के वश में न जाये।]

महामित्र स्थविर की माता को जहरबाद (= विषगण्ड)[2] निकला। उसकी लड़की भी भिक्षुणियों में प्रव्रजित हो गई थी। उसने उसे कहा—"जाओ ! आर्ये ! (अपने) भाई के पास जाकर मेरी बीमारी को बतलाकर दवा लाओ।" उसने जाकर कहा। स्थविर ने कहा—"मैं जड़ी-बूटी वगैरह दवाइयों को इकट्ठा करके दवा पकाना नहीं जानता, किन्तु तुझे दवा बतलाऊँगा। 'मैं जब से प्रव्रजित हुआ, तब से लोभ-चित्त से मैंने कभी भी इन्द्रियों को खोलकर विषभाग-रूप[3] को नहीं देखा। इस सत्य वचन से मेरी माँ निरोग हो जाय।' जाओ, इसे कहकर उपासिका के शरीर को मलो।" उसने जाकर, इस बात को कह, वैसा किया। उपासिका का फोड़ा उसी क्षण फेन के पिण्ड के समान फूटकर अन्तर्धान हो गया। उसने उठकर—"यदि सम्यक् सम्बुद्ध जीवित होते, तो क्यों नहीं मेरे पुत्र के समान भिक्षु के सिर को (अपने) जाल के समान हाथ से सहलाते ?" आनन्द के वचन कहे। इसलिये—

कुलपुत्तमानी अञ्ञोपि पब्बजित्वान सासने।
मित्तत्थेरो' व तिट्ठेय्य वरे इन्द्रियसंवरे॥

[कुल-पुत्र का दावा रखनेवाले अन्य को भी शासन में प्रव्रजित होकर मित्र-स्थविर के समान श्रेष्ठ-इन्द्रिय-संवर में खड़ा होना चाहिये।]

जैसे इन्द्रिय-संवर स्मृति से, वैसे ही वीर्य से आजीव-पारिशुद्ध को पूर्ण करना चाहिये। ठीक से आरम्भ किये गये वीर्य से मिथ्या (= बे-ठीक)-आजीविका का प्रहाण होने के कारण, वह वीर्य द्वारा ही पूरा किया जाने वाला है। इसलिए अनुचित अन्वेषण को छोड़कर वीर्य्य द्वारा भिक्षाटन आदि सम्यक् (= उचित=ठीक) खोज से इसे पूर्ण करना चाहिये। परिशुद्ध रूप से उत्पन्न प्रत्ययों को सेवन करने और अपरिशुद्धों को आशीविष (= गेहुअन साँप) की भाँति त्याग देने से।

धुताङ्ग नहीं धारण किये हुए (भिक्षु) का संघ से, गण से और धर्मोपदेश आदि उसके गुणों से प्रसन्न गृहस्थों के पास से उत्पन्न प्रत्यय परिशुद्ध-उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। भिक्षाटन आदि

१. जुआठ के बराबर देखनेवाला—सिंहलसन्नय। दो हाथ देखनेवाला—बँगला।

२. विष-गण्ड रोग कहते हैं 'स्तन-कन्दल रोग' को। खराब रोगों को भी विषगण्ड कहते ही हैं—टीका।

३. जिस रूप को देखने से काम-राग उत्पन्न होता है, उसे विषभाग रूप कहते हैं।

से अत्यन्त परिशुद्ध उत्पन्न हैं ही। धुताङ्ग धारण किये हुए (भिक्षु) का भिक्षाटन आदि और उसके गुणों से प्रसन्न के पास से धुताङ्ग के नियमानुकूल उत्पन्न परिशुद्ध उत्पन्न है। एक बीमारी को अच्छा कर सकने के योग्य पूतिहरीतिकी (= गाय के मूत्र में भिगोई हुई हर्रे) और चार मधुर चीजों[1] के उत्पन्न होने पर—चार मधुर चीजों को दूसरे भी सब्रह्मचारी खायेंगे ' सोचकर हर्रे के एक भाग को ही खानेवाले का धुताङ्ग का ग्रहण करना योग्य होता है। यही उत्तम आर्य-वंश का भिक्षु कहा जाता है।

जो ये चीवर आदि प्रत्यय हैं, उनमें जिस-किसी आजीव का परिशोधन करनेवाले को चीवर और पिण्डपात (= भिक्षान्न) में निमित्त, अवभास, परिकथा की विज्ञप्तियाँ नहीं करनी चाहिये। शयनासन में जिसने धुताङ्ग धारण नहीं किया है, वह निमित्त, अवभास, परिकथा कर सकता है।

निमित्त कहते हैं शयनासन के लिये भूमि ठीक-ठाक आदि करनेवाले को—'भन्ते, क्या किया जा रहा है? कौन करवा रहा है?' गृहस्थों द्वारा कहने पर "कोई नहीं" उत्तर देना अथवा जो कुछ दूसरा भी इस प्रकार का निमित्त करना। **अवभास** कहते हैं "उपासको, तुम लोग कहाँ रहते हो?"

"प्रासाद में भन्ते!"

"किन्तु, उपासको! भिक्षु लोगों को प्रासाद नहीं चाहिये?" इस प्रकार कहना अथवा जो कुछ दूसरा भी ऐसा अवभास करना। **परिकथा** कहते हैं "भिक्षु संघ के लिये शयनासन की दिक्कत है।" कहना, या जो दूसरी भी इस तरह की पर्याय-कथा है।

भैषज्य (= दवाई) में सब उचित है, किन्तु उस प्रकार से मिला हुआ भैषज्य रोग के दूर हो जाने पर खाना चाहिये या नहीं?

"भगवान् ने द्वार दिया है, इसलिए उचित है।" (ऐसा) विनयधर[2] कहते हैं, किन्तु सूत्रान्तिक[3] कहते हैं—"यद्यपि आपत्ति नहीं होती है, लेकिन आजीविका कुपित होती है। इसलिए उचित नहीं है।"

जो कि भगवान् द्वारा बतलाये हुए भी निमित्त, अवभास, परिकथा की विज्ञप्तियों को नहीं करते हुए अल्पेच्छता आदि गुणों के ही सहारे जान जाने का समय आने पर भी अवभास आदि के बिना मिले हुए प्रत्ययों का प्रतिसेवन करता है, यह परम सल्लेख-वृत्ति कही जाती है। जैसे कि सारिपुत्र स्थविर।

वे आयुष्मान् एक समय प्रविवेक बढ़ाते हुए[4], महामौद्गल्यायन स्थविर के साथ किसी एक जंगल में विहरते थे। एक दिन उन्हें पेट में वायु का रोग उत्पन्न होकर बहुत पीड़ित किया। महामौद्गल्यायन स्थविर सन्ध्या के समय उस आयुष्मान् के पास गये। स्थविर को लेटे हुए देख, उस बात को पूछकर—"आवुस, पहले आपका (यह रोग) किस चीज से अच्छा होता था?" पूछा। स्थविर ने कहा—"आवुस, गृहस्थ-काल में मेरी माँ घी, मधु, चीनी आदि मिलाकर

१. चार मधुर चीज हैं—घी, मक्खन, मधु और चीनी।

२. सम्पूर्ण विनय पिटक को कण्ठस्थ रखने वाले भिक्षु विनयधर कहे जाते हैं।

३. सूत्र-पिटक को कण्ठस्थ रखनेवाले भिक्षु सूत्रान्तिक कहे जाते हैं।

४. गण को छोड़कर एकान्त में जा फल-समापत्ति के साथ विहरने के समय।

पानी रहित, दूध से पकायी हुई खीर देती थी, उसी से मेरा रोग अच्छा होता था।" उस आयुष्मान् ने भी—"बहुत अच्छा आवुस, यदि मेरा या आपका पुण्य है, तो शायद कल पायेंगे।" कहा।

उनकी इस बातचीत को चंक्रमण के एक सिरे पर पेड़ पर रहनेवाले देवता ने सुनकर—"कल आर्य के लिए खीर उत्पन्न करूँगा।" उसी समय स्थविर के सेवक (=उपस्थाक) के घर जाकर जेठे (=ज्येष्ठ) लड़के के शरीर में घुसकर पीड़ित किया। उसकी दवा करने के लिए इकट्ठे हुए सम्बन्धियों से कहा—"यदि कल स्थविर के लिए ऐसी खीर तैयार करोगे, तो मैं उसे छोड़ूँगा।" उन्होंने "तेरे बिना कहने पर भी हम लोग स्थविरों को रोज बँधी भिक्षा देते हैं।" कहकर दूसरे दिन वैसी खीर तैयार की।

महामौद्गल्यायन स्थविर ने सबेरे ही आकर—"आवुस, जब तक मैं भिक्षाटन से आता हूँ, तब तक यहीं रहिये।" कह कर गाँव में प्रवेश किया। उन आदमियों ने आगे बढ़ स्थविर के पात्र को ले, उक्त प्रकार की खीर से भरकर दिया। स्थविर ने जाने के लिए संकेत किया। उन्होंने—"भन्ते, खाइये आप, दूसरी भी देंगे।" कहकर स्थविर को खिला कर फिर पात्र भर कर दिया। स्थविर जाकर—"अच्छा आवुस, सारिपुत्र! खाइए।" (कहकर) पास ले गये। स्थविर ने भी उसे देखकर—"खीर अत्यन्त सुन्दर है, कैसे यह मिली है?" विचारते हुए, उसके मिलने के (कारण) को देखकर कहा—"आवुस, मौद्गल्यायन! (यह) भिक्षान्न खाने योग्य नहीं है।"[1]

वह भी आयुष्मान्—"मुझ जैसे द्वारा लाये हुए भिक्षान्न को नहीं खाते हैं।" (ऐसा) चित्त मात्र भी न करके एक बात में ही पात्र को मुख की धार (=अँवठि) से पकड़कर एक तरफ औंधा दिये। खीर के जमीन पर पड़ने के साथ ही स्थविर की बीमारी भी दूर हो गई। तब से लेकर पैंतालीस[2] वर्ष फिर नहीं पैदा हुई। तत्पश्चात् (उन्होंने) मौद्गल्यायन से कहा—"आवुस बातचीत करने के कारण मिली हुई खीर आँतों के निकल कर जमीन पर घूमने पर भी खाना अनुचित है।" और इस उदान को भी कहा—

वची विञ्ञत्ति विप्फारा उप्पन्नं मधुपायासं।
सचे भुत्तो भवेय्याहं साजीवो गरहितो मम॥
यदिपि मे अन्तगुणं निक्खमित्वा बहि चरे।
नेव भिन्देय्यमाजीवं चजमानोपि जीवितं॥[3]

---

१. "क्यों ऐसा उन्होंने कहा, जब कि अवभास कर्म आदि के लिए उनका मन नहीं था? यह सत्य है किन्तु आशय नहीं जानते हुए कोई-कोई पृथग्जन वैसा मानेंगे। साथ ही भविष्यत् काल में भिक्षु मेरी देखादेखी करेंगे, सोचकर निषेध किया और भी महास्थविर की सल्लेख-प्रवृत्ति बहुत ही उत्कृष्ट थी। वैसा ही एक तरुण भिक्षु के—"किसे बढ़ियाँ खाना प्रिय नहीं होता?" कहने के कारण परिनिर्वाण-पर्यन्त उन्होंने पिट्ठा नहीं खाया।"—टीका।

२. मूल पालि और सिंहल, बर्मी आदि सब व्याख्या-ग्रन्थों में पैंतालीस वर्ष ही पाँठ आया है, किन्तु भगवान् बुद्धत्व के बाद केवल ४५ वर्ष तक रहे। और सारिपुत्र स्थविर उनके बुद्धत्व-प्राप्ति के दूसरे वर्ष प्रव्रजित हुए तथा परिनिर्वाण के पहले ही परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये। अतः जान पड़ता है कि 'पञ्चचत्तालीस' शब्द में पाँच पीछे से जुड़ गया है। केवल चत्तालीस (=चालीस) होना चाहिये था।

३. मिलिन्द पञ्हो ६, १, ५।

[बातचीत करने के कारण मिली हुई मीठी खीर को मैं खाये होता, तो मेरा आजीव (=रोजी) निन्दित होता । यदि मेरी अँतड़ी भी निकलकर बाहर घूमने लगे, तब भी मैं आजीव को नहीं तोड़ सकता, भले ही प्राण निकल जाय ।]

आराधेमि सकं चित्तं विवज्जेमि अनेसनं ।
नाहं बुद्धपतिकुट्ठं काहामि च अनेसनं ॥

[मैं अपने चित्त को वश में करता हूँ, अन्वेषण का त्याग करता हूँ । बुद्ध द्वारा निन्दित अन्वेषण को मैं नहीं करता हूँ ।]

चीरगुम्ब के रहने वाले, आम्रखादक महातिष्य स्थविर की कथा[१] भी यहाँ कहनी चाहिए । ऐसे सब प्रकार से भी—

अनेसनाय चित्तम्पि, अजनेत्वा विचक्खणो ।
आजीवं परिसोधेय्य, सद्धा पब्बजितो यती 'ति ॥

[श्रद्धा से प्रव्रजित बुद्धिमान् भिक्षु अन्वेषण के लिए चित्त भी उत्पन्न न करके (अपनी) आजीविका को परिशुद्ध करे ।]

जैसे वीर्य से आजीव-परिशुद्धि होती है, वैसे ही प्रत्यय सन्निश्रित-शील को प्रज्ञा से पूर्ण करना चाहिए । प्रज्ञावान् ही प्रत्ययों के सदोष-निर्दोष होने को जान सकता है, अतः वह प्रज्ञा द्वारा ही साध्य है । इसलिए प्रत्यय के प्रति गृद्ध-स्वभाव (=लालच) को त्याग कर धर्म के साथ मिले प्रत्ययों को, कही गई विधि के अनुसार[२] प्रज्ञा से प्रत्यवेक्षण करके परिभोग करते हुए उसे पूर्ण करना चाहिए ।

दो प्रकार का प्रत्यवेक्षण

प्रत्यवेक्षण दो प्रकार का होता है—प्रत्ययों के पाने के समय और परिभोग करने के समय । पाने के समय में भी धातु के अनुसार[३] या प्रतिकूल के अनुसार[४] प्रत्यवेक्षण करके रखे

१. महातिष्य स्थविर अकाल के समय मार्ग में जाते हुए भोजन नहीं मिलने और मार्ग की थकावट से थककर दुर्बल शरीर हो, किसी एक फले हुए आम के पेड़ के नीचे लेट गये । बहुत से आम इधर-उधर गिरे पड़े थे । वहाँ एक बहुत बूढ़ा गृहस्थ स्थविर के पास जाकर, थका हुआ जानकर आम का शर्बत पिलाकर अपनी पीठ पर बैठा, उनके रहने के स्थान में लाया । स्थविर ने—"न तेरे पिता, न माता, न रिश्तेदार, न भाई वैसा काम करते, जैसा कि शीलवान् होने के नाते यह व्यक्ति कर रहा है ।" अपने को उपदेश कर, विपश्यना करके उसकी पीठ पर ही अर्हत्व पा लिया ।"—टीका ।

२. 'सर्दी के बचाव के लिए' आदि प्रकार से पहले कही गई विधि से ।

३. धातुयें चार हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु । "जो यह प्रत्यय से प्रवर्तित है यह केवल धातु मात्र है, जैसे कि चीवर आदि और उसका उपभोग करनेवाला व्यक्ति भी ।" ऐसे धातु-मनस्कार के अनुसार ।

४. प्रथम आहार में प्रतिकूल संज्ञा से—'ये सब चीवर आदि अजिगुप्सनीय हैं किन्तु इस गन्दी काया को पाकर अत्यन्त जिगुप्सनीय हो जाते हैं ।" ऐसे प्रतिकूल मनस्कार के अनुसार ।

हुए चीवर आदि, उसके बाद परिभोग करनेवाले का परिभोग निर्दोष ही होता है, परिभोग करने के समय भी।

चार प्रकार के परिभोग

यह निश्चयात्मक निश्चिय है—परिभोग चार प्रकार के होते हैं—(१) स्तेय-परिभोग, (२) ऋण-परिभोग, (३) दायाद-परिभोग, (४) स्वामी-परिभोग। संघ के बीच में भी बैठकर परिभोग करते हुए दुःशील का परिभोग स्तेय परिभोग है। शीलवान् का बिना प्रत्यवेक्षण करके परिभोग करना ऋण-परिभोग है। इसलिए चीवर को जब-जब पहने ओढ़े, तब-तब प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। पिण्डपात (=भोजन) कवर-कवर पर। वैसा नहीं कर सकनेवाले को दोपहर के भोजन से पहले, पीछे, पहले पहर, बिचले पहर, अन्तिम पहर में। यदि उनके बिना प्रत्यवेक्षण किये ही अरुणोदय हो जाता है, तो (वह) ऋण-परिभोग करनेवाला हो जाता है। शयनासन भी जब-जब परिभोग करे, तब-तब प्रत्यवेक्षण करना चाहिए। दवा लेने के समय भी, परिभोग करने-करने के समय भी प्रत्यय का ख्याल रखना ही उचित है। ऐसा होने पर भी लेने के समय ख्याल करके, परिभोग करने के समय (प्रत्यवेक्षण) नहीं करने वालों को आपत्ति होती है, किन्तु लेने के समय ख्याल नहीं करके परिभोग करने के समय (प्रत्यवेक्षण) करनेवाले को आपत्ति नहीं होती है।

चार शुद्धियाँ

शुद्धि चार प्रकार की होती है। देशना-शुद्धि, संवर-शुद्धि, पर्येष्टि-शुद्धि, प्रत्यवेक्षण-शुद्धि। देशना-शुद्धि कहते हैं प्रातिमोक्ष-संवर-शील को। वह देशना से शुद्ध होने के कारण देशना-शुद्धि कहा जाता है। संवर-शुद्धि, इन्द्रिय-संवर-शील को कहते हैं। वह "मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा" इस प्रकार मन में अधिष्ठान करने के संवर से ही शुद्ध होने के कारण संवर-शुद्धि कहा जाता है। पर्येष्टि-शुद्धि कहते हैं आजीव-पारिशुद्धि शील को। वह अन्वेषण को त्याग कर धर्म के साथ प्रत्यय लाभ करनेवाले के पर्येषण (=तलाश) की शुद्धता से पर्येष्टि-शुद्धि कहा जाता है। प्रत्यवेक्षण-शुद्धि प्रत्यय-सन्निश्रित-शील को कहते हैं। वह कहे गये के अनुसार प्रत्यवेक्षण से शुद्ध होने के कारण प्रत्यवेक्षण-शुद्धि कहा जाता है। इसी से कहा है—"लेने के समय ख्याल नहीं करके परिभोग करने के समय (प्रत्यवेक्षण) करने वाले को आपत्ति नहीं होती है।"

सात शैक्ष्यों[1] का परिभोग दायाद-परिभोग है। वे भगवान् के पुत्र हैं, इसलिए पिता के पास रहनेवाले प्रत्यय के दायाद (=उत्तराधिकारी) होकर प्रत्यय का परिभोग करते हैं। क्या वे भगवान् के प्रत्ययों का परिभोग करते हैं या गृहस्थों के प्रत्ययों का? गृहस्थों के द्वारा दिये गये भी, भगवान् द्वारा स्वीकार किये जाने के कारण भगवान् की ही वस्तु होती हैं, इसलिए भगवान् के प्रत्ययों का परिभोग करते हैं। ऐसा जानना चाहिये "धम्मदायादसुत्त"[2] यहाँ प्रमाण है। क्षीणाश्रवों का परिभोग स्वामी-परिभोग है। वे तृष्णा के दासत्व से निकल जाने के कारण स्वामी होकर परिभोग करते हैं।

इन परिभोगों में स्वामी-परिभोग और दायाद-परिभोग सबको उचित है। ऋण-परिभोग

१. सात शैक्ष्य हैं—स्रोतापत्ति मार्ग-प्राप्त, स्रोतापत्ति फल-प्राप्त, सकृदागामी मार्ग-प्राप्त, सकृदागामी फल-प्राप्त, अनागामी मार्ग-प्राप्त, अनागामी फल-प्राप्त और अर्हत् मार्ग-प्राप्त।

२. मज्झिम नि० १, १, ३।

उचित नहीं। स्तेय-परिभोग की बात ही नहीं। जो यह शीलवान् का प्रत्यवेक्षण है, वह ऋण-परिभोग के बिल्कुल विरुद्ध होने के कारण आनृण्य (=अन्-ऋण = ऋणरहित) परिभोग होता है। या दायाद-परिभोग में ही संगृहीत होता है। शीलवान् भी इस शिक्षा से[1] युक्त होने से शैक्ष्य ही कहा जाता है।

इन परिभोगों में चूँकि स्वामी-परिभोग सर्व-श्रेष्ठ है, इसलिए उसे चाहनेवाले भिक्षु को कहे गये के अनुसार प्रत्यवेक्षण करके परिभोग (=सेवन) करते हुए, प्रत्यय सन्निश्रित शील को पूर्ण करना चाहिए। ऐसा करने वाला ही कृत्यकारी होता है। यह कहा भी है—

पिण्डं विहारं सयनासनञ्च
आपञ्च संघाटि रजूपवाहनं।
सुत्वान धम्मं सुगतेन देसितं।
संखाय सेवे वरपञ्ञसावको॥[2]

[भोजन, विहार, शयन-आसन, जल और संघाटी की धूल को धोना—सुगत (= बुद्ध) द्वारा उपदेशित धर्म को सुनकर प्रज्ञावान् भिक्षु प्रत्यवेक्षण करके उपभोग करे।]

तस्मा हि पिण्डे सयनासने च
आपे च संघाटिरजूपवाहने।
एतेसु धम्मेसु अनूपलित्तो
भिक्खु यथा पोक्खरे वारिबिन्दु॥[3]

[इसलिये भोजन, शयन-आसन, जल और संघाटी की धूल को धोना—इतनी बातों में कमल के पत्ते पर पानी की बूँद की भाँति भिक्षु लिप्त न हो।]

कालेन लद्धा परतो अनुग्गहा
खज्जेसु भोज्जेसु च सायनेसु।
मत्तं सो जञ्ञा सततं उपट्ठितो
वणस्स आलेपनरूहने यथा॥

[दूसरे की कृपा से समय पर मिले खाद्य-भोज्य और शयन-आसन में सर्वदा मात्रा जाने, जैसे कि घाव के भरने के लिये (दवाई) का आलेप।]

कन्तारे पुत्तमंसं'व, अक्खस्सब्भञ्जनं यथा।
एवं आहरे आहारं, यापनत्थममुच्छितो॥

[रेगिस्तान में पुत्र के मांस और धुरी को तेलियाने के समान बहुत खाने की तृष्णा को छोड़कर जीवन-यापन करने के लिये भोजन करे।]

इस प्रत्यय-सन्निश्रित-शील की पूर्ति के लिये भागिनेय संघरक्षित श्रामणेर की कथा कहनी चाहिये। वह भलीभाँति प्रत्यवेक्षण करके खाता था। जैसे कहा है—

१. शील कही जानेवाली शिक्षा से—टीका।
२. सुत्त नि० २, १४, १६।
३. सुत्त नि० २, १४, १७।

उपज्झायो मं भुञ्जमानं सालिकूरं सुनिब्बुतं।
मा हेव त्वं सामणेर जिव्हं झापेसि असञ्ञतो॥
उपज्झायस्स वचो सुत्वा संवेगमलभिं तदा।
एकासने निसीदित्वा अरहत्तं अपापुणिं॥
सोहं परिपुण्णसङ्कप्पो चन्दो पण्णरसो यथा।
सब्बासवपरिक्खीणो नत्थि दानि पुनब्भवो'ति॥

[खूब ठण्डे[1] धान के भात को मेरे खाते समय उपाध्याय ने मुझे कहा—'श्रामणेर, मत ऐसे ही तू असंयमी होकर जीभ जलाओ' उपाध्याय के वचन को सुनकर उस समय मैं संवेग को प्राप्त हुआ और एक आसन पर बैठकर अर्हत्व को पा लिया। वह मैं पूर्णिमा के चन्द्र-जैसा पूर्ण सङ्कल्प वाला हूँ; (मेरे) सभी आस्रव क्षीण हो गये, अब फिर जन्म लेना नहीं है।]

तस्मा अञ्ञोपि दुक्खस्स पत्थयन्तो परिक्खयं।
योनिसो पच्चवेक्खित्वा पटिसेवेथ पच्चये'ति॥

[इसलिये दूसरा भी दुःख का नाश चाहनेवाला (भिक्षु) ठीक से प्रत्यवेक्षण करके प्रत्ययों का सेवन करे।]

ऐसे प्रातिमोक्ष-संवर-शील आदि से (शील) चार प्रकार का होता है।

[पञ्चक]

पाँच प्रकार के भागों में से पहले पञ्चक में—अनुपसम्पन्न शील आदि के अनुसार अर्थ समझना चाहिये। प्रतिसम्भिदा-मार्ग में यह कहा गया है—कौन-सा पर्यन्त-पारिशुद्धि शील है? पर्यन्त शिक्षापदवाले अनुपसम्पन्नों का—पर्यन्त पारिशुद्धि-शील है। कौन-सा अ-पर्यन्त पारिशुद्धि-शील है? अ-पर्यन्त शिक्षापदवाले उपसम्पन्नों का—अपर्यन्त पारिशुद्धि शील है। कौन-सा परिपूर्ण पारिशुद्धि शील है? कुशल-धर्म में लगे रहनेवाले कल्याण-पृथग्जनों का, शैक्ष्य-पर्यन्त परिपूर्ण करनेवालों का, शरीर तथा जीवन के प्रति चाह नहीं रखनेवालों का, और जीवन त्यागे हुए लोगों का (शील)—परिपूर्ण पारिशुद्धि शील है। कौन-सा अपरामृष्ट पारिशुद्धि शील है? सात शैक्ष्यों का—अपरामृष्ट पारिशुद्धि शील है। कौन सा प्रतिप्रश्रब्धि पारिशुद्धि शील है? तथागत के श्रावकों का, प्रत्येक बुद्धों का और तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का—प्रतिप्रश्रब्धि-पारिशुद्धि शील है।''[2]

अनुपसम्पन्नों के शील को गिनती में सपर्यन्त (=सीमा सहित) होने से **पर्यन्त-पारिशुद्धि-शील** जानना चाहिए। उपसम्पन्नों का—

नवकोटि सहस्सानि असीति सतकोटियो।
पञ्ञाससतसहस्सानि छत्तिंसा च पुनापरे॥

---

१. टीका में 'सुनिब्बुतन्ति सुसीतलं' आया है। किन्तु धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'सुनिब्बुत्तन्ति सुनिट्ठितं सुट्ठुकतं' लिखा है, जो सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि जीभ जलानेवाली बात से मेल नहीं खाता। शाब्दिक अर्थ भी तो टीका का ही ठीक है।

२. पटिसम्भि० १, १६।

एते संवर विनया सम्बुद्धेन पकासिता।
पेय्यालमुखेन निद्दिट्ठा सिक्खा विनयसंवरे॥

[आठ खरब, नब्बे अरब, पचास लाख, छत्तिस (=८,९०,००,५०,००,०३६)—इतने सम्बुद्ध द्वारा बतलाये गये संवर-विनय हैं, जो पेय्याल[1] से विनय-पिटक में निर्दिष्ट हैं।]

ऐसे गिनती से सपर्यन्त को भी सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना और लाभ, यश, ज्ञाति, अङ्ग, जीवित के अनुसार अ-दृष्ट-पर्यन्त को अ-पर्यन्त पारिशुद्धि शील जानना चाहिए। चीरगुम्ब के रहने वाले आम्रखादक महातिष्य स्थविर[2] के शील के समान। वैसा ही उस आयुष्मान् ने—

धनं चजे अङ्गवरस्स हेतु
अङ्गं चजे जीवितं रक्खमानो।
अङ्गं धनं जीवितञ्चापि सब्बं
चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो॥

[अच्छे अङ्ग को बचाने के लिए धन का त्याग करे, जिन्दगी की रक्षा करते हुए अङ्ग का त्याग करे। अङ्ग, धन और जिन्दगी—सभी को (आदमी) धर्म का स्मरण करते हुए त्याग दे।]

इस सत्पुरुष[3] की अनुश्रुति को नहीं छोड़ते हुए प्राण जाने की शंका रहते हुए भी, शिक्षा-पद का उल्लंघन न कर, उसी अपर्यन्त पारिशुद्धि शील के सहारे उपासक की पीठ पर ही अर्हत्व पा लिया। जैसे कहा है—

न पिता नपि ते माता न जाति नपि बन्धवो।
करोते तादिसं किच्चं सीलवन्तस्स कारणा॥
संवेगं जनयित्वान सम्मसित्वान योनिसो।
तस्स पिट्ठिगतो सन्तो अरहत्तं अपापुणि॥

[(यह) न तो तेरा पिता है, न माता है, न रिस्तेदार है और न तो बन्धु ही है, (केवल) शीलवान् होने के कारण वैसा काम कर रहा है—(इस प्रकार) संवेग पैदा करके और ठीक रूप से विचार करके उसकी पीठ पर बैठे ही हुए अर्हत्व को पा लिया।]

कल्याण-पृथग्जन का शील उपसम्पदा से लेकर अच्छी तरह धोयी हुई जातिमणि के समान और अच्छी तरह निखरे सोने की तरह अत्यन्त परिशुद्ध होने से, चित्त उत्पन्न करने मात्र के मल से भी रहित अर्हत्व का ही प्रत्यय होता है, इसलिये परिपूर्ण-पारिशुद्धि कहा जाता है। महासङ्घरक्षित और भागिनेय सङ्घरक्षित स्थविरों के समान।

महासङ्घरक्षित स्थविर से साठ वर्ष से अधिक की उम्र में मृत्यु-मञ्च पर सोते हुए, भिक्षु-संघ ने लोकोत्तर (- धर्म) की प्राप्ति के विषय में पूछा। स्थविर ने—"मुझे लोकोत्तर धर्म (की

१. पालि में यह नियम है कि किसी एक ही वाक्य के बार-बार आने पर, उसे संक्षेप में ही कह देने के लिए आदि-अन्त के शब्दों को देकर बीच में "पे" "अथवा" "पेय्याल" "लिख देते हैं, जिससे ऊपर का आया हुआ वह परिपूर्ण पाठ समझा जाता है। उसका अर्थ है—'इतने ही में अर्थ जानना पर्याप्त है (पातुं + अलं)। "वह-वह स्थान विस्तार-पूर्वक निर्दिष्ट है"—सिंहल व्याख्या (=सन्नय) में अर्थ लिखा है।

२. देखिये पादटिप्पणी पृष्ठ ४४।

३. महासुतसोम बोधिसत्व की—टीका। देखिये जातकट्ठकथा २१, ५।

प्राप्ति) नहीं हुई है।" कहा। तब उनके सेवा-टहल करनेवाले तरुण भिक्षु ने कहा—"भन्ते, आप परिनिर्वृत हो गये।" (जान,) चारों ओर बारह योजन से आदमी इकट्ठे हुए हैं, आपकी पृथक्-जन-मृत्यु से महाजनसमूह को पछतावा होगा।"

"आवुस, मैं 'मैत्रेय भगवान् का दर्शन करूँगा' (सोचकर,) विपश्यना नहीं किया, अच्छा, मुझे (उठा) बैठाकर अवकाश करो।" वह स्थविर को बैठाकर बाहर निकल आया। स्थविर ने उसके निकलने के साथ ही अर्हत्व को पाकर चुटकी से संकेत किया। संघ इकट्ठा होकर कहा—"भन्ते, ऐसे मरने के समय में लोकोत्तर धर्म को उत्पन्न करते हुए आपने कठिन काम किया है।"

"आवुस, यह कठिन नहीं है, फिर भी तुम लोगों को कठिन बात बतलाऊँगा। आवुस, मैं प्रव्रजित होने के समय से लेकर स्मृति-रहित अज्ञानता से किये गये काम को नहीं देखता हूँ।"

उनका भांजा (= भाग्नेय) भी पचास वर्ष की अवस्था में ऐसे ही अर्हत्व पाया।

अप्पस्सुतोपि चे होति सीलेसु असमाहितो।
उभयेन नं गरहन्ति सीलतो च सुतेन च॥

[यदि अल्पश्रुत भी होता है और शीलों में भी असंयमी, तो उसकी शील और श्रुत दोनों से ही निन्दा करते हैं।]

अप्पस्सुतोपि चे होति सीलेसु सुसमाहितो।
सीलतो नं पसंसन्ति तस्स सम्पज्जते सुतं॥

[यदि अल्पश्रुत भी होता है किन्तु होता है शीलों में संयमी, तो उसकी शील से प्रशंसा करते हैं, उसके लिये श्रुत अपने आप पूर्ण हो जाता है।]

बहुस्सुतोपि चे होति सीलेसु असमाहितो।
सीलतो नं गरहन्ति नास्स सम्पज्जते सुतं॥

[यदि बहुश्रुत भी होता है किन्तु होता है शीलों में असंयमी, तो उसकी शील से निन्दा करते हैं, उसके लिये श्रुत सुखदायक नहीं होता।]

बहुस्सुतोपि चे होति सीलेसु सुसमाहितो।
उभयेन नं पसंसन्ति सीलतो च सुतेन च॥

[यदि बहुश्रुत भी होता है और होता है शीलों में संयमी, तो उसकी शील और श्रुत दोनों से प्रशंसा करते हैं।]

बहुस्सुतं धम्मधरं सप्पञ्ञं बुद्धसावकं।
नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति॥
देवापि नं पसंसन्ति ब्रह्मुनापि पसंसितो'ति[1]॥

[बहुश्रुत, धर्म-धर, प्रज्ञावान्, बुद्ध के शिष्य की सोने के निष्क (= असर्फी) की भाँति कौन निन्दा करने के योग्य है? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं, वह ब्रह्मा से भी प्रशंसित होता है।]

शैक्ष्यों के दृष्टि से, या पृथग्जनों के भव से परामृष्ट (=पकड़े) नहीं हुए शील को अपरामृष्ट-शील जानना चाहिये। कुटुम्बिय-पुत्र तिष्य स्थविर के शील के समान। उस आयुष्मान् ने वैसे शील के सहारे अर्हत्व पाने की इच्छा से वैरियों को कहा—

---

१. अंगुत्तर नि० ४, १, ६।

उभो पादानि भिन्दित्वा सञ्ञापेस्सामि वो अहं ।
अट्टियामि हरायामि सरागमरणं अहं ॥

[दोनों पैरों को तोड़कर मैं तुम लोगों को समझाता हूँ[१], मैं राग के साथ मरने में घृणा और लज्जा करता हूँ[२] ।]*

और भी कोई महास्थविर बहुत सख्त बीमार हो, अपने हाथ से भोजन भी नहीं खा सकते हुए, अपने पेशाब-पाखाना में लिपटे हुए करवट बदल रहे थे। उन्हें देखकर किसी एक तरुण ने कहा—"अहा, जीवन-संस्कार कैसे दुःखकर हैं ?" तब उसे महास्थविर ने कहा—"आवुस, मैं इस समय मरकर स्वर्ग की सम्पत्ति पाऊँगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं है, किन्तु इस शील को तोड़कर पाई हुई सम्पत्ति (भिक्षु-) शिक्षा को त्याग कर गृहस्थ हो जाने के समान है।" (और ऐसा) कह कर—"शील के साथ ही मरूँगा" (प्रतिज्ञा कर) वहीं लेटे उसी रोग को विचारते हुए अर्हत्व पाकर भिक्षु-संघ को इन गाथाओं से कहा—

फुट्ठस्स मे अञ्ञतरेन ब्याधिना
रोगेन बाळ्हं दुक्खितस्स रुप्पतो ।
परिसुस्सति खिप्पमिदं कलेवरं
पुप्फं यथा पंसुनि आतपे कतं ॥

[मुझे एक रोग के होने पर, उस रोग से बहुत ही दुःखित और पीड़ित मेरा यह शरीर धूप के समय धूल में रखे गये फूल के समान जल्दी-जल्दी सूख रहा था ।]

अजञ्ञं जञ्ञसङ्खातं असुचिं सुचिसम्मतं ।
नाना कुणप परिपूरं जञ्ञरूपं अपस्सतो ॥

---

१. थोड़े समय के लिये छोड़ने के विचार से कहा—टीका ।

२. कुटुम्बिय पुत्र स्थविर की कथा मज्झिम निकाय की अट्ठकथा (१, १, १०) में इस प्रकार आई है—"श्रावस्ती में तिष्य नामक एक कुटुम्बिय (=वैश्य) का पुत्र था। वह चालीस करोड़ सोना छोड़कर प्रव्रजित हो गाँव से शून्य जंगल में रहता था। उसके छोटे भाई की स्त्री ने "जाओ उसे मार डालो।" कहकर पाँच सौ चोरों को भेजा। वे जाकर स्थविर को घेर कर बैठ गये। स्थविर ने कहा—"उपासक, किसलिये आये हो ?" "आपको मारेंगे।" "उपासक, जामिन लेकर मुझे आज एक रात के लिये प्राण दो।" "श्रमण, कौन यहाँ आपका जामिन होगा ?" स्थविर ने बड़े पत्थर को लेकर दोनों जाँघ की हड्डियों को तोड़कर—"उपासक, जामिन ठीक है ?" कहा। वे हटकर चंक्रमण के किनारे आग जलाकर सोये। स्थविर को पीड़ा को दबाकर शील का प्रत्यवेक्षण करते हुए, परिशुद्ध शील के कारण प्रीति-प्रामोद्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने विपश्यना को बढ़ाकर तीनों पहर रात में श्रमण धर्म करके अरुणोदय के समय अर्हत्व पा लिया।"

* मज्झिम नि० अट्ठकथा [१, १, १०] । इस गाथा के अतिरिक्त धर्मानन्द कौशाम्बी ने विशुद्धिमार्ग में नहीं रहते हुए भी, अट्ठकथा से लेकर यह अधिक गाथा लिख दी है, जो किसी भी सिंहली, बर्मी, बँगला आदि की व्याख्याओं तथा मूल संस्करणों में नहीं है—

एवाहं चिन्तयित्वान सम्मसित्वान योनिसो ।
सम्पत्ते अरुणुग्गम्हि अरहत्तं अपापुणि'न्ति ॥

इस गाथा का भी दूसरा पद अट्ठकथा में—"यथाभूतं विपस्सिसं" है।

[(यह) घृणित (शरीर मूर्खों द्वारा) मनोहर कहलानेवाला तथा अपवित्र होते हुए भी पवित्र माना जानेवाला है, नाना गन्दगियों से भरा हुआ (यथार्थ को) नहीं देखनेवालों के लिये मनोहर है ।]

धीरत्थुमं आतुरं पूतिकायं
दुग्गन्धियं असुचिं व्याधिधम्मं ।
यत्थप्पमत्ता अधिमुच्छिता पजा
हापेन्ति मग्गं सुगतूपपत्तिया[1] ॥

[इस आतुर, दुर्गन्ध बहानेवाले, अ-पवित्र, रोगी, गन्दे शरीर को धिक्कार है, जिसमें कि प्रमादी बने (= भूले हुए) मूर्छित हो लोग स्वर्ग की प्राप्ति के मार्ग (= शील) को त्याग देते हैं ।]

अर्हन्त आदि के शील को सभी क्लेशों के शान्त और परिशुद्ध होने से **प्रतिप्रश्रब्धि-पारिशुद्धि** जानना चाहिये ।

दूसरे पञ्चक में—जीव-हिंसा आदि के त्याग आदि के अनुसार अर्थ समझना चाहिये । प्रतिसम्भिदा में यह कहा गया है—"शील पाँच हैं, (१) प्राणातिपात का प्रहाण-शील (२) विरति (= वेरमणि=विरमना) शील, (३) चेतना शील(४) संवर-शील (५) उल्लंघन न करना, (=अव्यतिक्रम=अनुल्लंघन)-शील ।···चोरी, व्यभिचार, झूठ-बोलना, चुगलखोरी, कटुवचन, बकवास, अभिध्या (= विषम लोभ), व्यापाद (= प्रतिहिंसा), मिथ्या-दृष्टि का नैष्क्रमण (= काम-भोगों को त्याग कर निकल भागना) से कामच्छन्द (= काम-भोग की चाह) का, अव्यापाद (= अविहिंसा) से व्यापाद का, आलोक संज्ञा (= रोशनख्याल) से स्त्यान-मृद्ध (=मानसिक और चैतसिक आलस्य) का, अ-विक्षेप (= एकाग्रता) से उद्धतपन (= चंचल स्वभाव) का, धर्म सम्बन्धी विचार-विमर्ष से विचिकित्सा (= शंका) का, ज्ञान से अविद्या का, प्रामोद्य (= प्रमुदित होना) से उदासी का, प्रथमध्यान से नीवरणों[2] का, द्वितीय ध्यान से वितर्क और विचार का, तृतीय ध्यान से प्रीति का, चतुर्थ ध्यान से सुख-दुःख का, आकाशानन्त्यायतन समापत्ति से रूप-संज्ञा, प्रतिघ और नानात्म-संज्ञा का, विज्ञानानन्त्यायतन समापत्ति से आकाशानन्त्यायतन संज्ञा का, आकिंचन्यायतन समापत्ति से विज्ञानानन्त्यायतन संज्ञा का, नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन समापत्ति से आकिंचन्यायतन संज्ञा का, अनित्य के अवलोकन से नित्य संज्ञा का, दुःख के अवलोकन से सुखसंज्ञा का, अनात्म के अवलोकन से आत्म-संज्ञा का, निर्वेदानुपश्यना से नन्दि (= प्रीतियुक्त तृष्णा) का, विरागानुपश्यना से राग का, निरोधानुपश्यना से समुदय (= उत्पत्ति) का, प्रतिनिःसर्गानुपश्यना से (नित्य आदि के रूप में) ग्रहण करने का, क्षयानुपश्यना से घन-संज्ञा (= एकत्व ग्रहण का ख्याल) का, व्यय (= विनाश) अनुपश्यना से आयूहन (= राशिकरण) का, विपरिणामानुपश्यना से ध्रुव संज्ञा का, अनिमित्तानुपश्यना से निमित्त का, अप्रणिहितानुपश्यना से प्रणिधि (= इच्छा) का, शून्यतानुपश्यना से अभिनिवेष (= आत्म-दृष्टि) का, अधि-प्रज्ञा-धर्म-विपश्यना (= दुःख आदि के अनुसार सब त्रैभूमिक धर्म का विचार) से

१. जातकट्ठकथा २, ४३७ ।

२. नीवरण पाँच हैं— (१) कामच्छन्द (२) व्यापाद (३) स्त्यानमृद्ध (४) औद्धत्य कौकृत्य (५) विचिकित्सा ।

सारग्रहण करने के ख्याल का, यथाभूत ज्ञानदर्शन (= स्थिरभाव को प्राप्त अनित्य आदि की विपश्यना) से संमोह के ख्याल का, आदीनवानुपश्यना (= दोषों को देखना) से आलस्य (= चित्त में घर की हुई तृष्णा) का, प्रतिसंख्यानुपश्यना (= संस्कारों के त्याग का अवलोकन) से अप्रतिसंख्या का। विवर्त्तानुपश्यना (= निर्वाण का अवलोकन) से संयोग के ख्याल का, स्रोतापत्ति मार्ग से दृष्टि से उत्पन्न क्लेशों का, सकृदागामी मार्ग से स्थूल क्लेशों का, अनागामी मार्ग से सूक्ष्म क्लेशों का, अर्हत् मार्ग से सारे क्लेशों का प्रहाण-शील है, वेरमणि (= विरति) शील है, चेतना शील है, संवर शील है, अनुल्लंघन-शील है।

इस प्रकार के शील चित्त में पश्चात्ताप नहीं आने देते। प्रमोद को लाने वाले होते हैं, प्रीति, प्रश्रब्धि, सौमनस्य, ध्यानाभ्यास, भावना, आधिक्य, अलंकार, परिष्कार, परिवार, परिपूर्ति, एकान्त निर्वेद, विराग, निरोध, उपशमन, अभिज्ञा, ज्ञान और निर्वाण को लाने वाले होते हैं[1]।"

यहाँ, प्रहाण, उक्त प्रकार की जीवहिंसा (= प्राणातिपात) आदि के नहीं होने के अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म नहीं है। चूँकि विभिन्न प्रहाण (= त्याग) विभिन्न कुशल-धर्म की प्रतिष्ठा (= आधार) के अर्थ में धारण करने वाला होता है और कम्पित नहीं होने के कारण समाधान (= काय-कर्म आदि का संयम)। इसलिये पहले कहे गये[2] प्रकार से ही आधार (= ठहराव) और संयम कहे जाने वाले शीलन के अर्थ में शील कहा गया है। दूसरी चार बातें उस-उस (कर्म) से विरमने, उस उस (कार्य) के संवर, उन दोनों से युक्त चेतना और उस-उस (बात) का उल्लंघन न करने वाले के उल्लंघन न करने के अनुसार चित्त की प्रवृत्ति होने के प्रति कहा गया है। उनका शीलार्थ पहले[3] बतलाया ही जा चुका है। ऐसे प्रहाण आदि के अनुसार शील पाँच प्रकार का होता है।

यहाँ तक, शील क्या है ? किस अर्थ में शील है ? इसके लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान, पद-स्थान क्या हैं ? शील का फल क्या है ? यह शील कितने प्रकार का है ?—इन प्रश्नों का उत्तर समाप्त हो गया।

६-७. संक्लेश और विशुद्धि

जो कहा गया है—'इसका संक्लेश (= मल) क्या है ? क्या इसकी विशुद्धि है ? उसे कहते हैं—खण्डित (= टूट जाना) आदि होना शील का संक्लेश है और अ-खण्डित होना विशुद्धि। वह खण्डित आदि होना लाभ, यश आदि के कारण भेद (=नाश) होने और सात प्रकार के मैथुन-संयोग में गिने जाते हैं। जिसका सात आपत्ति-स्कन्धों में से प्रारम्भ में या अन्त में शिक्षापद टूटा होता है, उसका शील किनारे फटे हुए कपड़े की भाँति खण्डित होता है। जिसका बीच में टूटा होता है, उसका बीच में छेद हुए कपड़े की भाँति छेद-युक्त होता है। जिसके लगातार दो-तीन टूटे होते हैं, उसका पीठ पर या पेट पर हुए खराब रंग से काला, लाल आदि किसी रंग के शरीरवाली गाय के समान चितकबरा (=सबल) होता है। जिसका अन्तर डाल-डालकर टूटा होता है, उसका अन्तर डाल-डालकर भद्दे रंगों के बिन्दु से युक्त विचित्र गाय के समान कल्मष (=कम्मास) होता है। इस प्रकार लाभ आदि के कारण भेद (=नाश) होने से खण्डित आदि होता है।

---

१. प्रतिसम्भिदा १,१६।

२. देखिये पृष्ठ ९।

३. देखिये पृष्ठ ९।

ऐसे ही सात प्रकार के मैथुन-संयोग से। भगवान् ने कहा है—"(१) ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ स्त्री के साथ तो मैथुन-सेवन नहीं करता है, किन्तु स्त्री से बुकवा (=उबटन) लगवाता है, शरीर मलवाता है, (उसके हाथ से) नहाता है। शरीर दबवाता है, वह उसका मजा लेता है, उसको पसन्द करता है, और उससे प्रसन्न मन होता है—ब्राह्मण, यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है, सबल (=चितकबरा होना) भी है। ब्राह्मण, यह कहा जाता है कि अपरिशुद्ध ब्रह्मचर्य चर रहा है, मैथुन-संयोग से संयुक्त। वह जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु,……से नहीं छुटकारा पाता है और नहीं छूटता है दुःख से—ऐसा मैं कहता हूँ।

(२) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ स्त्री के साथ मैथुन सेवन नहीं करता और न तो बुकवा ही लगवाता है, किन्तु स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है, मजाक करता है, मजाक करते हुए विचरता है, वह उसका मजा लेता है।……।

(३) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण…स्त्री के साथ मैथुन सेवन नहीं करता, न स्त्री से बुकवा ही लगवाता है और न तो स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है, न मजाक करता है, न मजाक करते विचरता है, किन्तु (अपनी) आँख से स्त्री की आँख मिलाकर देखता है, अवलोकन करता है, वह उसका मजा लेता है।……।

(४) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण……न स्त्री के साथ मैथुन सेवन करता है, न स्त्री से बुकवा लगवाता है, न स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है और न तो (अपनी) आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है……भीत की आड़ से, चहारदीवारी की ओट से हँसती हुई, बोलती हुई, गाती हुई या रोती हुई स्त्री का शब्द सुनता है, वह उसका मजा लेता है।……।

(५) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण……न स्त्री के साथ मैथुन सेवन करता है, न स्त्री से बुकवा लगवाता है, न स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है, न आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है और न तो…स्त्री का शब्द सुनता है, किन्तु जो पहले स्त्री के साथ हँसी-मजाक किये रहता है, उन्हें याद करता है और वह उसका मजा लेता है।……।

(६) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई श्रमण या ब्राह्मण……न स्त्री के साथ मैथुन सेवन करता है, न स्त्री से बुकवा लगवाता है, न स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है, न आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है और न तो जो पहले स्त्री के साथ हँसी, मजाक किये रहता है, उसे याद करता है, किन्तु पाँच कामगुणों में समर्पित, समङ्गी-भूत (= तल्लीन), उसमें आनन्द लेते गृहपति या गृहपति-पुत्र को देखता है, वह उसका मजा लेता है।……।

(७) और फिर ब्राह्मण, यहाँ कोई ब्राह्मण या श्रमण……न स्त्री के साथ मैथुन सेवन करता है, न स्त्री से बुकवा लगवाता है, न स्त्री के साथ ठट्ठा मारकर हँसता है, न आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है, न जो पहले स्त्री के साथ हँसी-मजाक किये रहता है, उसे याद करता है और न तो पाँच कामगुणों में समर्पित, समंगीभूत (= तल्लीन), उसमें आनन्द लेते गृहपति या गृहपति-पुत्र को देखता है, किन्तु वह किसी

देव-निकाय की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता है—'मैं इस शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से देवता होऊँगा या कोई विशेष देवता होऊँगा। वह उसका मजा लेता है।......।[1]"

इस प्रकार लाभ आदि के कारण भेद और सात प्रकार के मैथुन संयोग से खण्डित आदि होना गिना गया जानना चाहिये।

खण्डित आदि न होना सब प्रकार से शिक्षापदों के नहीं टूटने से, टूटे हुए (शिक्षापदों) का प्रतिकर्म (=सुधार) करने योग्य का प्रतिकर्म करने से, सात प्रकार के मैथुन-संयोग के न होने से और अन्य क्रोध, बँधा हुआ वैर (=उपनाह), म्रक्ष (=दूसरे के गुण को हीन करके दिखाना और अपने उससे अधिक गुणवान् बनना), निष्ठुर (=पलास), ईर्ष्या (=डाह), मात्सर्य्य (=कंजूसी), माया, शठता, जड़ता, हिंसा, मान, अतिमान, मद, प्रमाद आदि बुरी बातों के न उत्पन्न होने से अल्पेच्छ होना, संतोष, संलेख आदि गुणों की उत्पत्ति में संगृहीत हैं।

जो शील लाभ आदि के लिए भी नहीं टूटे हैं या भूल-चूक से टूटे हुए भी प्रतिकर्म कर लिये गये हैं, मैथुन-संयोग या क्रोध, बँधा वैर आदि बुरे धर्मों से परेशान नहीं हुए हैं, वे सब प्रकार अखण्ड, अ-छिद्र, अ-सबल, अकल्मष कहे जाते हैं। वे ही भुजिस्स (=स्वाधीन, तृष्णा के दासत्व से मुक्त) कर देने से स्वतन्त्र (= भुजिस्स) हैं। विज्ञ लोगों से प्रशंसनीय हैं, तृष्णा और दृष्टि से दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़े होने से अपरामृष्ट हैं। उपचार-समाधि या अर्पणा-समाधि[2] को दिलानेवाले होते हैं। अतः समाधि दिलानेवाले होते हैं, इसलिए उनके यह अ-खण्ड आदि होने को विशुद्धि जानना चाहिये।

यह विशुद्धि दो प्रकार से पूर्ण होती है—शील-विपत्ति के दोष और शील सम्पत्ति के गुण को देखने से। "भिक्षुओ, दुःशील की शील-विपत्ति में यह पाँच दोष हैं[3]।" ऐसे सूत्रों के अनुसार शील-विपत्ति के दोष समझना चाहिए।

दुःशील-व्यक्ति दुःशील होने के कारण देवता और मनुष्यों को अप्रिय होता है। सब्रह्मचारी उसकी आज्ञा नहीं मानते। दुःशील होने की निन्दा से दुःखित रहता है। शीलवानों की प्रशंसा के समय पछताता है और वह दुःशील होने के कारण सन (= सान = सनई) के कपड़े के समान दुर्वर्ण होता है। जो उसकी नकल करते हैं, उनके बहुत दिनों तकके लिए अपाय-दुःख को लाने वाला होने से दुःख भोगते हैं। जिनके दान की चीजों को ग्रहण करता है, उनको महा-फलदायक न होने के कारण कम-कीमती होता है। अनेक वर्षों से भरे हुए गूथ (= पाखाना) के कूएँ की भाँति साफ नहीं किया जा सकनेवाला होता है। श्मशान की जली हुई लकड़ी (= मुरदाठी) के समान दोनों तरफ[4] से जाता रहता है। भिक्षु होने का दावा करते हुए भी भिक्षु नहीं होता, गौवों के पीछे-पीछे जानेवाले गदहे के समान। सबसे दुश्मनी रखनेवाले आदमी की भाँति हमेशा उद्विग्न रहता है। मुर्दा के समान एक साथ रहने योग्य नहीं होता। श्रुत आदि गुणों से युक्त होने पर भी सब्रह्मचारियों के लिए पूजनीय नहीं होता है, ब्राह्मणों के लिए श्मशान की आग के समान। विशेष अधिगम (=मार्ग-फल की प्राप्ति) में असमर्थ होता है, रूप देखने में अन्धे के समान। सद्धर्म में आशारहित होता है, राज्य में चण्डाल के लड़के के समान। मैं सुखी

१. अंगुत्तर नि० ७,५,७
२. देखिये समाधि-निर्देश।
३. अंगुत्तर नि० ५, २, ३।
४. श्रामण्य मार्ग-फल और गृहस्थी के काम-भोग-विलास से।

हूँ—ऐसा मानते हुए भी दुःखी ही होता है, 'अग्गिक्खन्ध-परियाय'[1] में कहे गये दुःखों का भागी होने के कारण।

दुःशीलों के पाँच-कामगुणों के परिभोग, वन्दना, सत्कार करना आदि सुख का मजा लेने में तल्लीन चित्तवालों का, उसे याद करने से भी हृदय-सन्ताप को पैदा करके गर्म खून उगलने में समर्थ, अत्यन्त कटुक दुःख को दिखलाते हुए, सब प्रकार से कर्म के विपाक को प्रत्यक्ष देखनेवाले भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, तुम लोग आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए उस आग के बहुत बड़े ढेर को देखते हो न ?" "हाँ, भन्ते !" "तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन सा उत्तम है, जो कि उस आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए आग के बहुत बड़े ढेर का आलिंगन करके, उसके पास बैठे या सोये अथवा जो कि बहुत कोमल हाथ-पैर वाली क्षत्रिय-कन्या (= राजकुमारी), ब्राह्मण कन्या या गृहपति-कन्या का आलिंगन करके उसके साथ बैठे या सोये ?"

"भन्ते, यही उत्तम है जो कि बहुत कोमल हाथ पैरवाली क्षत्रिय-कन्या, ब्राह्मण-कन्या या गृहपति-कन्या का आलिंगन करके उसके साथ बैठे या सोये। भन्ते, यह दुःखदायक है जो कि आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए उस आग के बहुत बड़े ढेर का आलिंगन करके उसके पास बैठे या सोये।"

"भिक्षुओ, मैं तुम्हें कहता हूँ, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि उस दुःशील, पापधर्मी, अपवित्र, सन्देह के साथ काम करने वाले, छिपे-छिपे कर्म करने वाले, अ-श्रमण, जो कि श्रमण होने का दावा करता है, अ-ब्रह्मचारी, जो कि ब्रह्मचारी होने का दावा करता है, भीतर गन्दगी से भरे हुए, अवश्रुत (= उत्पन्न राग आदि से भींगा), कूराकरकट के समान हो गये के लिये यही उत्तम है जो कि उस आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए, आग के बहुत बड़े ढेर का आलिंगन करके उसके पास बैठे या सोये। सो किस कारण ? भिक्षुओ, वह उसके कारण मृत्यु को प्राप्त होगा या मृत्यु मात्र के दुःख को, किन्तु उससे शरीर छूटने पर मरकर अपाय=दुर्गति=विनिपात नरक में नहीं ही उत्पन्न होगा और जो कि भिक्षुओ, वह दुःशील···कूराकरकट के समान हुआ···क्षत्रिय कन्या···के साथ बैठे या सोये। भिक्षुओ, वह उसके बहुत दिनों के अहित, और दुःख के लिये होगा, (क्योंकि) शरीर छूटने पर···दुर्गति···नरक में उत्पन्न होगा[2]।"

ऐसे अग्नि-स्कन्ध की उपमा से स्त्री सम्बन्धी पाँच काम-गुणों के सेवन के कारण उत्पन्न दुःख को दिखलाकर उसी उपाय से—"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन-सा उत्तम है, जो कि बलवान् आदमी मजबूत बाल की रस्सी से दोनों पैर की नरहरें लपेट कर रगड़े, वह छवि (= उपरी सूक्ष्म चर्म) को छेदे, छवि को छेदकर चाम को छेदे, चाम को छेदकर मांस को छेदे, मांस को छेदकर स्नायु (= नस) को छेदे, स्नायु को छेदकर हड्डी को छेदे, हड्डी को छेदकर मज्जा पर जाकर रुके अथवा जो कि क्षत्रिय महासार[3], ब्राह्मण महासार या गृहपति महासार का अभिवादन पाये[4] ?"

---

१. देखिये अंगुत्तर निकाय में अग्गिक्खन्ध सुत्त ७, ७, ८।

२. अंगुत्तर नि० ७,७,८

३. "कम से कम सौ करोड़ कार्षापण जिन्हें निधान हैं और बीस अम्मण व्यवहार में आते हैं, उन्हें क्षत्रिय महासार कहते हैं। अस्सी करोड़ कार्षापण जिन्हें निधान हैं और नित्य दस अम्मण व्यवहार में आते हैं, उन्हें ब्राह्मण महासार कहते हैं और उनके आधा जिन्हें निधान हैं और नित्य व्यवहार में भी आधा ही आता है, उन्हें गृहपति महासार कहते हैं।"—अभिधान० ३३७-३९

४. अंगुत्तर नि० ७,७,९

और—"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन उत्तम है, जो कि बलवान् आदमी तेल में धोये तेज बर्छी से ठीक छाती में मारे या क्षत्रिय महासार, ब्राह्मण महासार या गृहपति महासार का अञ्जलि (= दोनों हाथ जोड़ना) करना पाये[1] ?"

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन-सा उत्तम है जो कि बलवान् आदमी तप्त, आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए लौह-पत्र से शरीर को बेठे (= लपेटे) या जो कि क्षत्रिय···ब्राह्मण··· गृहपति के श्रद्धापूर्वक दिये चीवर का परिभोग करे ?"

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन सा उत्तम है जो कि बलवान् आदमी गर्म, आदिप्त, धधकती, एकलपट हुई, लोहे की शंकु से मुँह फैलाकर तप्त, धधकते, एकलपट हुए लोहे के गोले को मुँह में डाले, वह उसके ओठ को भी जलाये, मुँह को भी, कंठ को भी, पेट को भी जलाये, आँत को भी, अन्तगुण (= छोटी आँत) को भी लेकर नीचे की ओर निकले अथवा क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति महासारों के श्रद्धापूर्वक दिये हुए भोजन (= पिण्डपात) को खाये ?"[2] और—

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन सा उत्तम है, जो कि बलवान् आदमी सिर या कन्धे से पकड़ कर तप्त, आदिप्त, धधकती, एकलपट हुई लोहे की चारपाई या लोहे की चौकी (=पीठ) पर बैठाये या सुलाये अथवा क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति के श्रद्धापूर्वक दिये चारपाई और चौकी का परिभोग करे ?"

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ, कौन सा उत्तम है जो कि बलवान् आदमी ऊपर पैर नीचे सिर करके पकड़ कर तप्त, आदिप्त, धधकते, एकलपट हुए लोहे के घड़े में डाले, वह वहाँ फेन छोड़कर पकता हुआ, एक बार ऊपर भी आये, एक बार नीचे भी जाये, एक बार तिरछे भी जाये अथवा जो कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति महासार के श्रद्धापूर्वक दिये हुए विहार का उपभोग करे ?"

बाल की रस्सी, तेज बर्छी, लौह-पत्र, लोहे का गोला, लोहे की चारपाई, लोहे की चौकी, लोहे का महा-घड़ा,—इन उपमाओं से अभिवादन, हाथ जोड़ना, चीवर, पिण्डपात, चारपाई-चौकी, विहार के परिभोग के कारण उत्पन्न दुःख को दिखलाया गया है। इसलिये—

अग्गिक्खन्धालिङ्गन दुक्खातिदुक्खं कटुकं फलं।
अविजहतो कामसुखं सुखं कुतो भिन्नसीलस्स॥

[आग के ढेर के आलिंगन के दुःख से भी अत्यन्त दुःखदायक और कड़ुवा फल देने वाले कामसुख को नहीं त्यागने वाले टूटे-शील (भिक्षु) को सुख कहाँ ?]

अभिवादन सादियने किं नाम सुखं विपन्नसीलस्स।
दळ्हवालरज्जुघंसन-दुक्खाधिक-दुक्ख-भागिस्स॥

[मजबूत बाल की रस्सी से रगड़ने के दुःख से भी अधिक दुःख भोगने वाले शील-रहित (= दुःशील) को अभिवादन लेने में क्या सुख है ?]

सद्धानमञ्जलिकम्मसादियने किं सुखं असीलस्स।
सत्तिप्पहार दुक्खाधिमत्तदुक्खस्स यं हेतु॥

[श्रद्धावानों के हाथ जोड़कर प्रणाम् करने का आस्वादन करनेमें शील-रहित व्यक्ति को क्या सुख है, जो कि बर्छी से मार खाने के दुःख से भी अधिक दुःख का कारण है ?]

---

१. अंगुत्तर नि० ७,७,१०

२. अंगुत्तर नि० ७,७,८

चीवरपरिभोग सुखं किं नाम असंयतस्स येन चिरं।
अनुभवितब्बा निरये जलित अयोपट्ट-सम्फस्सा॥

[असंयमी को चीवर-परिभोग करने का क्या सुख? जिससे कि नरक में बहुत दिनों तक जलते हुए लोहे के पत्रों के स्पर्श भोगने पड़ते हैं।]

मधुरोपि पिण्डपातो हलाहलविसूपमो असीलस्स।
आदित्ता गिलितब्बा आयोगुळा येन चिररत्तं॥

[अशीलवान् के लिये मीठा भी भिक्षान्न हलाहल विष के समान है, जिससे कि उसे गर्म लोहे का गोला बहुत दिनों तक गिलना पड़ता है।]

सुखसम्मतोपि दुक्खो असीलिनो मञ्चपीठपरिभोगो।
यं बाधिस्सन्ति चिरं जलित-अयोमञ्च-पीठानि॥

[दुःशील का चारपाई-चौकी का परिभोग सुख सम्मत होनेपर भी दुःखदायक है, जो कि बहुत दिनों तक लोहे की जलती हुई चारपाई-चौकी पीड़ित करेंगी।]

दुस्सीलस्स विहारे सद्धादेय्यम्हि का निवासरति?
जलितेसु निवसितब्बा येन अयोकुम्भिमज्झेसु॥

[दुःशील का श्रद्धापूर्वक दान किये गये विहार में वास करने की रति क्या? जिससे कि उसे जलते हुए लोहे की बहुत बड़ी कुम्भी[1] में वास करना होगा।]

सङ्कस्सरसमाचारो कसम्बुजातो अवस्सुतो पापो।
अन्तोपूती'ति च यं निन्दन्तो आह लोकगुरु॥

[जिसे कि लोक-गुरु (भगवान्) ने निन्दा करते हुए कहा—(यह) सन्देह करते विचरनेवाला है, कूड़ाकरकट हुआ है, अवश्रुत (= रागादिसे भींगा हुआ) है और अन्दर गन्दगी से भरा हुआ है।]

धि जीवितं अधञ्जस्स तस्स समणजनवेसधारिस्स।
अस्समणस्स उपहतं खतमत्तानं वहन्तस्स॥

[उस अभागे श्रमण वेषधारी अ-श्रमण, परेशान, अपनी जड़ को खोदते हुए व्यक्ति के जीवन को धिक्कार है।]

गूथं विय कुणपं विय मण्डनकामा विवज्जयन्तीध।
यं नाम सीलवन्तो सन्तो किं जीवितं तस्स॥

[यहाँ अपने को सँवारने वाले गूथ (= पाखाना) के समान, मुर्दे के समान जिसे कि शीलवान्, सज्जन त्याग देते हैं, उसके जीवन से क्या?]

सब्बभयेहि अमुत्तो मुत्तो सब्बेहि अधिगम-सुखेहि।
सुपिहित-सग्गद्वारो अपाय मग्गं समारूळ्हो॥
करुणाय वत्थुभूतो कारुणिकजनस्स नाम को अञ्ञो।
दुस्सीलसमो दुस्सीलताय इति बहुविधा दोसा'ति॥

---

१. लौहकुम्भी नरक में।

[सारे भयों से न-मुक्त और सारे अधिगम (= मार्ग-फल) के सुखों से वंचित जिसके लिए कि स्वर्ग का द्वार बिल्कुल बन्द हो गया है, जो अपाय के मार्ग पर चल रहा है। करुणालुओं को करुणा करने के योग्य बना, दुःशील के समान और कौन है? इस तरह दुःशीलता के बहुत प्रकार के दोष हैं।]

इस प्रकार प्रत्यवेक्षण आदि से शील-विपत्ति में दोष देखने और उक्त प्रकार के विपरीत शील-सम्पत्ति में गुण देखने को जानना चाहिये।

और भी :—

तस्स पासादिकं होति पत्तचीवरधारणं।
पब्बज्जा सफला तस्स यस्स सीलं सुनिम्मलं॥

[जिसका शील सुनिर्मल है, उसका पात्र और चीवर का धारण करना प्रासादिक (=सुंदर) होता है। उसकी प्रव्रज्या सफल होती है।]

अत्तानुवादादिभयं सुद्धसीलस्स भिक्खुनो।
अन्धकारं विय रविं हदयं नावगाहति॥

[शुद्ध शील वाले भिक्षु के हृदय में अपनी निन्दा आदि का भय[1] उसी प्रकार नहीं घुसता है जैसे कि अन्धकार सूर्य्य में।]

सीलसम्पत्तिया भिक्खु सोभमानो तपोवने।
पभासम्पत्तिया चन्दो गगने विय सोभति॥

[शील सम्पत्ति द्वारा भिक्षु तपोवन में उसी प्रकार शोभा देता है, जिस प्रकार कि प्रभा-सम्पत्ति द्वारा चन्द्रमा आकाशमें शोभता है।]

कायगन्धोपि पामुज्जं सीलवन्तस्स भिक्खुनो।
करोति अपि देवानं सीलगन्धे कथा व का॥

[शीलवान् भिक्षु के शरीर का भी गन्ध देवों तक को प्रमुदित करता है, शील के गन्ध की बात ही क्या?]

सब्बेसं गन्धजातानं सम्पत्तिं अभिभुय्य हि।
अविघाति दसदिसा सीलगन्धो पवायति॥

[सब प्रकार की सुगन्धियों की सम्पत्ति को नीचा करती हुई शील की सुगन्धी दसों दिशाओं में बे-रोक-टोक बहती है।]

अप्पकम्पि कता कारा सीलवन्ते महप्फला।
होन्तीति सीलवा होति पूजा सक्कारभाजनं॥

[शीलवान् के लिये अल्पमात्र भी किये गये उपकार महाफलदायक होते हैं, इसलिये शीलवान् पूजा-सत्कार का भाजन होता है।]

सीलवन्तं न बाधन्ति आसवा दिट्ठधम्मिका।
सम्परायिकदुक्खानं मूलं खनति सीलवा॥

---

१. भय चार प्रकार के होते हैं—अपनी निन्दा का भय, दूसरे की निन्दा का भय, राजा का भय और दुर्गति का भय—देखिए अंगुत्तर निकाय ४, ३, १।

दूसरा परिच्छेद

धुताङ्ग-निर्देश

अब, जिन अल्पेच्छ, सन्तोष आदि गुणों से उक्त प्रकार के शील की परिशुद्धि होती है, उन गुणों को पूर्ण करने के लिये, चूँकि भली प्रकार शील का पालन करने वाले योगी को धुताङ्ग धारण करना चाहिये, ऐसे ही उसके अल्पेच्छपन, सन्तोषी होना, संलेख, प्रविवेक, (क्लेशों का) दूरीकरण, उद्योग, सुभरता (= सेवा-टहल करने वालों को सुख देना, उनका पालन-पोषण करना) आदि गुण रूपी जल से (चित्त-) मल धुल जायेगा और शील परिशुद्ध होगा। व्रत भी पूर्ण होंगे। इस प्रकार निर्दोष शील-व्रत-गुण से परिशुद्ध सब आचरणों वाला, पुराने तीन आर्यवंश[1] में प्रतिष्ठित हो, चौथे भावना-रामता नामक आर्य-वंश की प्राप्ति के योग्य होगा। इसलिते धुताङ्ग-कथा प्रारम्भ करूँगा।

जिन कुलपुत्रों ने लोकामिष (= लाभ-सत्कार आदि) का त्याग कर दिया है, शरीर और जीवन के प्रति ममता रहित हैं, उन अनुलोम प्रतिपद् (= विपश्यना-भावना) को पूर्ण करने की इच्छा वालों के लिए भगवान् ने तेरह धुताङ्ग बतलाये हैं। जैसे कि :—

(१) पांशुकूलिकाङ्ग (२) त्रैचीवरिकाङ्ग (३) पिण्डपातिकांग (४) सापदान-चारिकांग (५) एकासनिकांग (६) पात्रपिण्डिकांग (७) खलुपच्छाभत्तिकांग (८) आरण्यकांग (९) वृक्षमूलिकांग (१०) अभ्यवकाशिकांग (११) श्मशानिकांग (१२) यथा संस्थरिकांग। (१३) नैसाद्यकांग।

अत्थतो लक्खणादीहि समादानविधानतो।
पभेदतो भेदतो च तस्स तस्सानिसंसतो॥
कुसलत्तिकतो चेव धुतादीनं विभागतो।
समासब्यासतो चापि विञ्ञातब्बो विनिच्छयो॥

[अर्थ से, लक्षण आदि से, ग्रहण करने के विधान से, प्रभेद और विनाश से, उनके गुण से, कुशल-त्रिक् से, धुत आदि के विभाग से तथा संक्षेप-विस्तार से विनिश्चय जानना चाहिये।]

अर्थ

प्रथम, अर्थ से, सड़क, श्मशान, कूराकरकट के ढेरों और जहाँ कहीं भी धूल (= पांशु) के ऊपर पड़े उठे होने के अर्थ में, उनके बीच पांशु (= धूल) के किनारे के समान होने से पांशुकूल है। अथवा पांशु (= धूल) के समान कुत्सित अवस्था को प्राप्त होने से पांशुकूल

१. आर्यवंश चार हैं—(१) चीवर से सन्तोष (२) पिण्डपात से सन्तोष (३) शयनासन से सन्तोष और (४) भावना रामता। विस्तार के लिए देखिये अंगुत्तर निकाय ४,३,८ और उसकी अट्ठकथा भी। तेरह धुताङ्ग इन्हीं में आ जाते हैं। कहा भी है—

पञ्चसेनासने वुत्ता पञ्चआहार निस्सिता।
एको विरियसंयुत्तो द्वे च चीवर निस्सिता'ति॥

है···। ऐसे नाम से पुकारे जाने वाले पांशुकूल का धारण करना ही पांशुकूल है। जिसका वह शील है, वह पांशुकूलिक है। पांशुकूलिक का अंग **पांशुकूलिकांग** है। अंग कहते हैं कारण को। इसलिये जिसके ग्रहण करने से वह पांशुकूलिक होता है, उसी का यह नाम जानना चाहिये। इसी प्रकार संघाटी, उत्तरासंग, अन्तरवासक,—इन तीन चीवरों को धारण करना इसका शील है, इसलिये (यह भिक्षु) त्रैचीवरिक है। त्रैचीवरिक का अंग '**त्रैचीवरिकांग**' है।

भिक्षा कहे जाने वाले अन्न के पिण्डों का पतन (= पात) ही पिण्डपात है। दूसरों से दिये पिण्डों का पात्र में गिरना कहा गया है। उस पिण्डपात को खोजता है, घर-घर जाकर तलाशता है, इसलिये पिण्डपात है। अथवा पिण्ड (= भिक्षा) के लिये पतना इसका व्रत है, इसलिये यह पिण्डपाती है। पतना का अर्थ है घूमना। पिण्डपाती ही पिण्डपातिक है। पिण्डपातिक का अंग **पिण्डपातिकांग** है।

दान कहते हैं अन्तर डालने को। दान से रहित अपदान है। जिसका अर्थ है अन्तर नहीं डालना। अपदान के साथ होना सापदान है। 'बिना अन्तर डाले प्रत्येक घर' कहा गया है। सापदान घूमने के शील वाला सापदानचारी है। सापदानचारी ही सापदानचारिक है। उसका अङ्ग **सापदानचारिकाङ्ग** है।

एक आसनपर का भोजन एकासन है। वह शील होना एकासनिक है। उसका अङ्ग **एकासनिकाङ्ग** है। दूसरे बर्तन के इन्कार करने से केवल एक ही पात्र में पड़ा पिण्ड पात्र-पिण्ड है। अब पात्र-पिण्ड को ग्रहण करने में पात्र-पिण्ड का ख्याल करके पात्र-पिण्ड शीलवाला पात्र-पिण्डिक है। उसका अङ्ग **पात्रपिण्डिकाङ्ग** है।

खलु इन्कार करने के अर्थ में निपात है। खा चुकने पर पीछे मिले भात का ही नाम पच्छाभत्त है। उस पीछे पाये भात का खाना पच्छाभत्त भोजन है। उस पीछे के पाये भात के खाने में पीछे भात का ख्याल करके, पीछे के भात को लेने के शीलवाला पच्छाभत्तिक है। नहीं पच्छाभत्तिक ही खलुपच्छाभत्तिक है। ग्रहण करने के अनुसार अतिरिक्त भोजन को इन्कार करने वाले का यह नाम है। किन्तु अट्ठकथा में कहा गया है—"खलु एक पक्षी है। वह मुँहमें लिये फल के गिर जाने पर फिर दूसरा नहीं खाता है। वैसा ही यह (भिक्षु) है, इसलिये खलुपच्छाभत्तिक है। उसका अंग **खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग** है।

आरण्य (= जंगल) में रहना इसका शील है, इसलिये आरण्यक है। उसका अंग **आरण्यकांग** है।

वृक्ष के मूल (= नीचे) में रहना वृक्षमूल है। वह इसका शील है, इसलिये वृक्षमूलिक है। वृक्षमूलिक का अंग **वृक्षमूलिकांग** है। **अभ्यवकाशिकांग, श्मशानिकांग** में भी इसी प्रकार।

जो भी बिछाया गया हो, वह यथासंस्थत है। "यह तेरे लिये है" इस प्रकार पहले उद्देश्य करके बिछाये गये शयनासन का ही यह नाम है। उस यथासंस्थत में विहरना इसका शील (= स्वभाव) है, इसलिये यथासंस्थिक है। उसका अंग **यथासंस्थिकांग** है। सोने को त्यागकर बैठे हुए विहरने का इसका शील है, इसलिये नैसद्यिक है। उसका अंग **नैसाद्यकांग** है।

धुताङ्ग क्या है ?

ये सभी ग्रहण करने से क्लेशों को नष्ट कर देने के कारण धुत (= परिशुद्ध) भिक्षु के अंग हैं। या क्लेशों को धुन डालने से 'धुत' नाम से कहा जानेवाला ज्ञानांग इन्हें है, इसलिये

ये धुतांग हैं। अथवा अपने प्रतिपक्ष (= वैरी) को धुनने से वे धुत और प्रतिपत्ति के अंग होने से भी धुतांग हैं। इस प्रकार 'अर्थ से' विनिश्चय जानना चाहिये।

लक्षण आदि

ग्रहण करने की चेतना इन सब का लक्षण है। अट्ठकथा में यह कहा भी गया है—ग्रहण करता है, वह व्यक्ति है, जिससे ग्रहण किया जाता है–ये चित्त-चैतसिक धर्म हैं। जो ग्रहण करनेकी चेतना है, वह धुतांग है। जिसे त्यागता है, वह वस्तु है। ये सभी चंचल स्वभाव को दूर करने वाले हैं। चंचलता-रहित होना इनके जानने के आकार (= प्रत्युपस्थान) हैं। अल्पेच्छ आदि आर्यधर्म इनके प्रत्यय (= पदस्थान) हैं।

इस प्रकार लक्षण आदि से विनिश्चय जानना चाहिये।

ग्रहण करने का विधान

'ग्रहण करने के विधान' आदि पाँचों में, सभी धुतांगों को भगवान् के जीते समय, भगवान् के ही पास ग्रहण करने चाहिये। (उनके) परिनिर्वृत्त होने पर महाश्रावक के पास, उनके न होने पर क्षीणाश्रव, अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न, त्रिपिटकधारी, दो पिटकधारी, एक पिटकधारी, एक सङ्गीति[1] को धारण करनेवाले, अर्थकथाचार्य के पास[2]। उसके नहीं होने पर धुताङ्गधारी के पास। उसके भी नहीं होने पर चैत्य का आँगन झाड़-बहार कर उकड़ूँ बैठ, सम्यक् सम्बुद्ध के पास कहने के समान ग्रहण करना चाहिये। स्वयं भी ग्रहण करना उचित है। यहाँ पर, चैत्य पर्वत पर (रहने वाले) दो भाई-स्थविरों में से जेठे भाई के धुताङ्ग की अल्पेच्छता की कथा[3] कहनी चाहिये। यह अभी साधारण कथा है।

१. पांशुकूलिकाङ्ग

अब, एक-एक के ग्रहण करने का विधान, प्रभेद, विनाश और गुण का वर्णन करूँगा।

प्रथम, पांशुकूलिकाङ्ग—"गृहपति द्वारा दिये गये चीवर को त्यागता हूँ, पांशुकूलिकांग ग्रहण करता हूँ।" इन दोनों वाक्यों में से किसी एक को ग्रहण करता है—यह ग्रहण करना है।

इस प्रकार जिसने धुतांग ग्रहण किया है, उसे श्मशानिक, पार्पणिक, रथियचोल (=मार्ग में फेंका हुआ कपड़ा), संकार चोल (= घूरा पर का वस्त्र), स्वस्ति-वस्त्र, स्नान-वस्त्र, तीर्थ (=घाट) का वस्त्र, गतप्रत्यागत (= श्मशान में जाकर छोड़ गये हुए वस्त्र), आग से जला हुआ, गौ से खाया हुआ, दीमक का खाया हुआ, चूहा का खाया हुआ, किनारी कटा हुआ, झालर कटा हुआ, ध्वजाहृत, स्तूप पर का वस्त्र, श्रमण का चीवर, अभिषेक का वस्त्र, ऋद्धिमय, पान्थिक, वाताहृत, देवदत्तिय (= देवताओं द्वारा दिया हुआ), सामुद्रिक—इनमें से किसी को लेकर फाड़, कमजोर

---

१. दीघनिकाय आदि पाँचों निकायों में से एक निकाय को याद रखनेवाला एक सङ्गीतिक है।

२. जिसे अट्ठकथा में आई हुई तन्ति (=पालि) याद है, उसके पास।

३. वे स्थविर नैसाद्यिक थे। इस बात को कोई नहीं जानता था। एक दिन रात में उन्हें सोने वाली चौकी पर बैठे बिजली की चमक में देखकर दूसरे ने पूछा—'क्या भन्ते, आप नैसाद्यिक हैं?' स्थविर ने धुताङ्ग की अल्पेच्छता से उसी क्षण सोकर पीछे फिर (धुताङ्ग) ग्रहण किया।—टीका

जगह को छोड़, मजबूत जगहों को साफ करके चीवर बना, पुराने गृहपति चीवर को त्याग कर परिभोग करना चाहिये।

श्मशानिक कहते हैं श्मशान में पड़े हुए (वस्त्र) को। **पार्पणिक,** दूकान के दरवाजे पर पड़े हुए। **रथियचोल,** पुण्य चाहनेवालों के द्वारा खिड़की से मार्ग में फेंका हुआ वस्त्र। **संकार चोल** कूराकरकट रखने की जगह (= घूरा) पर फेंका हुआ वस्त्र। **स्वस्ति-वस्त्र,** गर्भ के मल को पोंछकर फेंका हुआ वस्त्र।

तिष्य अमात्य की माँ ने सौ की कीमतवाले वस्त्र से गर्भ के मल को पोंछवा कर—पांशुकूलिक (इसे) ले लेंगे।" (सोचकर) **तालवेलि**[1] नामक मार्ग में फेंकवा दिया। भिक्षु फटी-पुरानी जगह को (सीनें) के लिए ही लेते हैं।

स्नानवस्त्र, जो ओझों (=भूत-वैद्यों) द्वारा सिर से स्नान किये व्यक्ति—"यह अभागा वस्त्र है" (कहकर) छोड़ चले जाते हैं। **तीर्थ का वस्त्र,** स्नान-तीर्थ (=नहाने के घाट) पर छोड़ा हुआ कपड़े का टुकड़ा। **गतप्रत्यागत,** जिसे आदमी श्मशान जाकर आते समय, स्नान करके (वहीं) छोड़ देते हैं। **आग से जला हुआ,** आग से जला हुआ भाग। उसे आदमी फेंक देते हैं। गौ से खाया हुआ आदि स्पष्ट ही हैं। उस प्रकार के (वस्त्र को) भी लोग फेंक देते हैं। **ध्वजाहृत,** नाव पर चढ़ते समय ध्वजा बाँधकर चढ़ते हैं, उसे उनके आँख से ओझल होने पर लेना चाहिये। और जो कि लड़ाई के मैदान में ध्वजा बाँधकर रखा रहता है, उसे दोनों सेनाओं के चले जाने के बाद लेना चाहिये।

स्तूप पर का वस्त्र, दीमक को घेर कर बलिकर्म किया हुआ। **श्रमण का चीवर,** भिक्षु के पास से प्राप्त चीवर। **अभिषेक का वस्त्र,** राजा के अभिषेक होने के स्थान में छोड़ा हुआ वस्त्र। **ऋद्धिमय,** "आओ भिक्षु" (कहकर प्रव्रजित हुये भिक्षुओं का ऋद्धि से उत्पन्न हुआ) चीवर। **पान्थिक,** मार्ग में गिरा हुआ। जो (वस्त्र) मालिक की भूल से गिरा है, उसे थोड़ा रुक कर लेना चाहिये। **वाताहृत,** हवा से लाकर दूर में गिराया गया। उसे मालिकों को नहीं देखते हुए ही लेना चाहिये। **देवदत्तिय,** जो अनुरुद्ध स्थविर के समान देवताओं द्वारा दिया गया हो। **सामुद्रिक,** समुद्र की लहरों से स्थल पर लगाया हुआ।

जो कि "संघ के लिये देते हैं" (कह कर) दिया गया है या वस्त्र माँगते हुये घूमने से मिला है, वह पांशुकूल नहीं है। भिक्षु द्वारा दिये गये (वस्त्र) में भी जो वर्षावास के अन्त में (उपासकों द्वारा भिक्षुओं को पकड़वा कर पांशुकूलिक को) दिया जाता है या शयनासन का चीवर[2] होता है, वह पांशुकूल नहीं है। नहीं पकड़वाया हुआ ही पांशुकूल है। उसमें भी जो दायकों द्वारा भिक्षु के पैर पर चढ़ा दिया गया है, उस भिक्षु द्वारा पांशुकूलिक (भिक्षु) के हाथ पर रख दिया गया है, वह एक ओर से शुद्ध है। जो भिक्षु के पैर पर रखा गया है उससे भी वैसे ही दिया गया है, वह दोनों ओर से शुद्ध है। जो हाथ पर रखकर मिला है और (दूसरों के) हाथ पर ही रखा गया है, वह अनुत्कृष्ट चीवर है। इस प्रकार इस पांशुकूल के भेद को जानकर पांशुकूलिक (भिक्षु) को चीवर का परिभोग करना चाहिये—यही विधान है।

---

१. महाग्राम (वर्तमान् तिष्य महाविहार, लंका) में एक वीथि—टीका।

२. शयनासन बनवाकर "इस शयनासन में रहने वाले इसका उपभोग करें" कहकर दिया गया चीवर।

यह प्रभेद है—पांशुकूलिक तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) मृदु। केवल श्मशान में पड़े हुए (वस्त्र) को ही ग्रहण करने वाला उत्कृष्ट होता है। "(कोई) प्रव्रजित ले लेगा।" (सोचकर) रखे हुए को ग्रहण करने वाला मध्यम। पैर पर रख कर दिये हुए को लेने वाला मृदु। उनमें जिस किसी का अपनी रुचि, इच्छा से गृहस्थ के दिये हुए को लेने के क्षण ही धुतांग टूट जाता है—यही भेद (= विनाश) है।

यह गुण है—"पांशुकूल चीवर के सहारे प्रव्रज्या है।" इस वाक्य से निश्रय[1] के अनुरूप प्रतिपत्ति का होना, पहले आर्यवंश[2] में प्रतिष्ठित होना, रक्षा करने के दुःख का अभाव, दूसरे के कब्जे से बाहर रहने की वृत्ति, चोरों के डर से निडर, परिभोग करने की तृष्णा का अभाव, श्रमण के योग्य परिष्कार का होना, "वे थोड़े हैं (किन्तु) सुलभ और निर्दोष हैं"[3] (ऐसे) भगवान् द्वारा प्रशंसा किये गये प्रत्यय का होना, दूसरे के देखने में सुन्दर लगने वाला, अल्पेच्छ आदि के गुणों की पूर्णता, भली प्रकार प्रतिपत्ति का बढ़ाव, पिछली जनता का देखा देखी चलना।"

मारसेन विघाताय पंसुकूलधरो यति।
सन्नद्धकवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति॥

[पांशुकूल धारण करने वाला भिक्षु मार की सेना को नाश करने के लिये युद्ध में कवच पहन कर तैयार क्षत्रिय के समान शोभता है।

पहाय कासिकादीनि वरवत्थानि धारितं।
यं लोकगुरुना को तं पंसुकूलं न धारये॥

[काशी आदि के बने सुन्दर वस्त्रों को छोड़कर लोकगुरु (भगवान्) ने भी जिसे धारण किया। उस पांशुकूल को कौन नहीं धारण करेगा ?]

तस्मा हि अत्तनो भिक्खु पटिञ्ञं समनुस्सरं।
योगाचारानुकूलम्हि पंसुकूले रतो सिया॥

[इसलिये भिक्षु अपनी प्रतिज्ञा को[4] स्मरण करते हुये योगाचार के अनुकूल पांशुकूल (धारण करने) में लगे।]

यह पांशुकूलिकांग में ग्रहण करने का विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

२. त्रैचीवरिकाङ्ग

उसके बाद, त्रैचीवरिकांग है। "चौथे चीवर को त्यागता हूँ, त्रैचीवरिकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस त्रैचीवरिकांग को चीवर के

१. जब भिक्षु उपसम्पन्न होता है, तब उसे चार निश्रय बतलाये जाते हैं—(१) यह तेरी प्रव्रज्या भिक्षाटन के सहारे है। (२) पांशुकूल चीवर के सहारे है। (३) वृक्ष मूल के शयनासन के सहारे है। (४) गाय के मूत्र में भिगोई हुई हर्रे के सहारे है। इनमें तुझे जीवन-पर्यन्त उत्साह करणीय है।

२. देखिये पृष्ठ ६० की पादटिप्पणी।

३. अंगुत्तर नि० ४,३,७; इतिवुत्तक ४,२।

४. उपसम्पदा के समय "हाँ भन्ते" कहकर की गई प्रतिज्ञा को।

लिये कपड़ा पाकर, जब तक कठिनाई के कारण (चीवर) नहीं बना सकता है, विचारक[1] को नहीं पाता है या सुई आदि में से कुछ नहीं मिलता है, तब तक रख छोड़ना चाहिये। रख छोड़ने में दोष नहीं है। रँगने के समय से नहीं रख छोड़ना चाहिये। (ऐसा करने वाला) धुतांग-चोर होता है—यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट द्वारा रंगने के समय पहले अन्तरवासक या उत्तरासंग को रँगकर उसे पहन, दूसरे को रँगना चाहिये। उसे ओढ़कर संघाटी रँगनी चाहिये। संघाटी को पहनना नहीं चाहिये। यह इसका गाँव के पास वाले शयनासन में नियम है। जंगल में (रहते समय) दोनों को एक साथ धोकर रँगना चाहिये और ऐसे समीप स्थान में बैठना चाहिये, ताकि कुछ देखकर काषाय (वस्त्र) को खींचकर ऊपर कर सके। चीवर रँगने वाले घर (=रजनशाला) में (एक) रँगने का काषाय[2] (- वस्त्र) होता है, उसे पहन कर या ओढ़ कर रँगाई का काम करना चाहिये।

मृदु को (अपने) मेलजोल के भिक्षुओं के चीवर को पहनकर या ओढ़कर रँगाई का काम करना चाहिये। वहाँ बिछा हुआ बिछावन[3] भी उसके लिये ठीक है, किन्तु हमेशा धारण करना ठीक नहीं है। मेलजोल के भिक्षुओं का चीवर भी अन्तर डालकर परिभोग करना चाहिये। धुतांगधारी त्रैचीवरिक के लिये चौथा होते हुए अंशकाषाय (= एक कन्धे वाली बंडी) ही होना चाहिये। वह भी चौड़ाई में एक बालिश्त और लम्बाई में तीन हाथ ही होना चाहिये। इन तीनों (=उत्कृष्ट, मध्यम, मृदु) का भी चौथे चीवर के ग्रहण करने के ही क्षण धुतांग टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—तीन चीवर धारण करने वाला भिक्षु काय-परिहरण करनेवाले चीवर से सन्तुष्ट होता है। उससे इसे—चिड़िया की भाँति[4] लेकर ही जाना, थोड़े काम वाला होना, कपड़ों को एकत्र करने का त्याग, बोझ-रहित वृत्ति, अधिक चीवर के लिये लालच का न होना, विहित (=कल्प्य) होते हुए भी मात्रा जानने के कारण संलेख का विचार, अल्पेच्छता आदि के गुणों की प्राप्ति—इत्यादि इस प्रकार के गुण सिद्ध होते हैं।

अतिरेकवत्थतण्हं पहाय सन्निधिविवज्जितो धीरो।
सन्तोससुखरसञ्ञू तिचीवरधरो भवति योगी॥

[तीन चीवर को धारण करनेवाला धीर योगी अधिक वस्त्र रखने की तृष्णा को छोड़कर (चीवर-) इकट्ठा करने को त्याग, सन्तोष-सुख के रस का जाननेवाला होता है।]

---

१. विचारक कहते हैं सहायक भिक्षु या श्रामणेर को, जो उस काम को करने में समर्थ होता है।

२. चीवर रँगने के समय पहनने के लिये काषाय-वस्त्र।

३. अपना या दूसरे का चीवर शयनासन पर बिछावन के रूप से बिछा। अंशकाषाय (=एक कन्धे वाली बंडी), दस्तीरूमाल (=परिक्खार चोल)—ये दोनों अधिक चीवर होते हुये भी धुतांग नहीं टूटता है—टीका।

४. जिस प्रकार चिड़िया जहाँ जाती है, अपने पंखों के साथ ही; ऐसे ही भिक्षु जहाँ जाता है, तीनों चीवरों के साथ ही।

तस्मा सपत्तचरणो पक्खी'व सचीवरो'व योगिवरो ।
सुखमनुविचरितुकामो चीवर-नियमे रतिं कयिरा'ति ॥

[इसलिए अपनी पाँखों के साथ विचरण करनेवाले पक्षी के समान चीवर के ही साथ सुखपूर्वक विचरने की इच्छावाला उत्तमयोगी चीवर के नियम में मन लगाये ।]

यह त्रैचीवरिकांग में ग्रहण करने का विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है ।

३. पिण्डपातिकाङ्ग

पिण्डपातिकांग भी—"अधिक लाभ को त्यागता हूँ, पिण्डपातिकांग को ग्रहण करता हूँ"—इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस पिण्डपातिक द्वारा सांघिक-भोजन, उद्देश्य-भोजन[१], निमन्त्रण, शलाका-भोजन[२], पखवारे का भोजन, उपोसथ का भोजन, प्रतिपदा का भोजन, आगन्तुक-भोजन, गमिक-भोजन (=जानेवाले को दिया जानेवाला भोजन), बीमार (भिक्षु) के लिए भेजा गया भोजन, बीमार (भिक्षु) की सेवा-टहल करनेवालों को दिया जानेवाला भोजन, विहार में दिया जानेवाला भोजन, घर में दिया जानेवाला भोजन, भाँजा से दिया जाने वाला भोजन—ये चौदह प्रकार के भोजन नहीं ग्रहण करने चाहिये ।

यदि "सांघिक भोजन ग्रहण कीजिए" आदि प्रकार से न कहकर "हमारे घर में संघ भिक्षा ग्रहण करता है, आप भी भिक्षा ग्रहण कीजिये" (ऐसे) कहकर दिये गये होते हैं, उन्हें ग्रहण करना चाहिए। संघ द्वारा निरामिष-शलाका (=दवा-दारू आदि की शलाका) भी, विहारमें पकाया हुआ भात भी (ग्रहण) करना ठीक ही है । यह इसका विधान है ।

प्रभेद से, यह भी तीन प्रकार का होता है । उनमें उत्कृष्ट आगे से भी, पीछे से भी लाई गई भिक्षा को ग्रहण करता है, दरवाजे के बाहर खड़े पात्र ग्रहण करनेवाले को भी देता है, लौटकर लाई भिक्षा को भी ग्रहण करता है, किन्तु उस दिन बैठकर भिक्षा नहीं ग्रहण करता है। मध्यम उस दिन बैठकर भी ग्रहण करता है, किन्तु कल के लिए नहीं स्वीकार करता है। मृदु कल के लिये भी, अगले दिन के लिए भी भिक्षा स्वीकार करता है । वे दोनों भी स्वतन्त्रता पूर्वक विहरने का सुख नहीं पाते, किन्तु उत्कृष्ट पाता है ।

एक गाँव में "आर्यवंश"[३] (सूत्र का उपदेश) हो रहा था । उत्कृष्ट ने दूसरे को कहा—"आओ आवुस, चलें धर्म सुनने के लिए ।" उनमें से एक ने—"भन्ते, एक आदमी द्वारा मैं बैठाया गया हूँ ।" कहा । दूसरे ने—"भन्ते, मैंने कल के लिये एक ही भिक्षा स्वीकार की है ।" इस प्रकार दोनों वंचित रहे । दूसरे ने सबेरे ही भिक्षाटन कर जा, धर्म-रस का अनुभव (= प्रतिसंवेदन) किया । इन तीनों का भी संघ-भोजन आदि अतिरेक-लाभ[४] ग्रहण करने के क्षण ही धुतांग टूट जाता है । यह भेद है ।

---

१. कुछ भिक्षुओं को उद्देश्य करके दिया गया भोजन ।

२. दायक 'इतने भिक्षु आवें' कहकर शलाका भेजते हैं, उन शलाकाओं को इतने भिक्षुओं को दिया जाता है और वे भोजन करने जाते हैं, वह शलाका-भोजन कहा जाता है ।

३. देखिये अंगुत्तर नि० ४, ३, ८

४. "पिण्ड-पिण्ड करके मिले हुए भोजन के सहारे प्रव्रज्या है" इस प्रकार कही गई भिक्षा से अधिक सांघिक भोजन आदि अतिरेक लाभ कहे जाते हैं ।

यह गुण है—"पिण्ड-पिण्ड करके मिले ग्रास (= आलोप) के सहारे प्रव्रज्या है" इस वाक्य से निश्रय के अनुरूप[1] प्रतिपत्ति का होना, दूसरे आर्यवंश[2] में प्रतिष्ठित होना, दूसरे के अधिकार से बाहर रहने की वृत्ति, "वे थोड़े हैं किन्तु सुलभ और निर्दोष हैं[3]" भगवान् द्वारा प्रशंसा किये गये प्रत्यय का होना, आलसीपन का नाश, परिशुद्ध आजीविका का होना, सेखिय-प्रतिपत्ति को पूर्ण करना[4], दूसरे का पोषण-पालन न करना, दूसरों पर अनुग्रह करना, मान (= घमंड) का त्याग, रसास्वादन करने की तृष्णा का त्याग, रोक, गण-भोजन, परम्पर-भोजन[5], चारित्र[6]-शिक्षापदों से आपत्ति का न होना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार विचार का होना, भली-भाँति प्रतिपत्ति का बढ़ाव, पिछली जनता के ऊपर अनुकम्पा करना।

पिण्डियालोपसन्तुट्ठो अपरायत्तजीविनो।
पहीणाहारलोलुप्पो होति चातुद्दिसो यति॥
विनोदयति कोसज्जं आजीवस्स विसुज्झति।
तस्मा हि नातिमञ्ञेय्य भिक्खाचरियं सुमेधसो॥

[पिण्ड-पिण्ड करके मिले हुए आलोप (= ग्रास) से सन्तुष्ट, स्वतंत्र रोजीवाला, आहार की लोलुपता से रहित यति (= भिक्षु) चारों दिशाओं में जाने वाला होता है। वह आलस को छोड़ता है, उसकी आजीविका परिशुद्ध होती है, इसलिये प्रज्ञावान् (भिक्षु) (कभी भी) भिक्षाटन की अवहेलना न करे।]

इस प्रकार के भिक्षु का—

पिण्डपातिकस्स भिक्खुनो अत्तभरस्स अनञ्ञपोसिनो।
देवा पिहयन्ति तादिनो, नो चे लाभसिलोकनिस्सितो'ति॥

[दूसरे का पालन-पोषण न कर केवल अपना भरण करने वाले (मन, काय, वाणी तीनों में) एक जैसे पिण्डपातिक भिक्षु को देवता भी चाहते हैं, यदि वह लाभ, प्रशंसा को चाहने वाला नहीं होता।]

यह पिण्डपातिकाङ्ग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

४. सापदानचारिकाङ्ग

'सापदानचारिकांग' भी "लोलुप स्वभाव को त्यागता हूँ, सापदानचारिकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस सापदानचारिकांग को गाँव के

---

१. देखिये पृष्ठ ६४

२. दूसरा आर्यवंश है पिण्डपात से सन्तोष।

३. देखिये अंगुत्तर नि० ४,३,७ और इतिवुत्तक ४,२

४. हमेशा गाँव में जाते समय सुप्रतिच्छन्न होकर जाने वाले सेखिय-शिक्षापद को पूर्ण करना।

५. गणभोजन और परम्पर-भोजन दोनों में पाचित्तिय की आपत्ति होती है—देखिये पाचित्तिय पालि।

६. जो भिक्षु निमंत्रित किये जाने पर बिना समय के विचरण करता है, उसमें पाचित्तिय की आपत्ति होती है।

बाहरी दरवाजे पर खड़ा होकर परिश्रय[1] (विघ्न-बाधा) के न होने का विचार करना चाहिये। जिस गली या गाँव में उपद्रव (= परिश्रय) होता है, उसे छोड़कर दूसरी जगह भिक्षाटन करना चाहिये। जिस घर, गली या गाँव में कुछ नहीं मिलता है, (वहाँ) गाँव न होने का ख्याल कर चला जाना चाहिये। जहाँ कुछ मिलता है, उसे छोड़कर जाना ठीक नहीं। इस भिक्षु को समय से ही (गाँव में) घुसना चाहिये। ऐसा होने से कठिनाई से (भिक्षा मिलने वाले) स्थानों को छोड़कर दूसरी जगह जा सकेगा। यदि विहार में दान देते हुए या रास्ते में आते हुए आदमी पात्र को लेकर भोजन देते हैं, (तो) वह योग्य है। इसे रास्ता चलते हुए भी भिक्षाटन करने के समय मिले गाँव को बिना छोड़े ही, भिक्षाटन करना चाहिये। वहाँ न पाकर अथवा थोड़ा पाकर गाँव की परिपाटी से भिक्षाटन करना चाहिये। यह इसका विधान है।

प्रभेद से—यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट आगे से भी, पीछे से भी, लौटकर ला, दी जाती हुई भी भिक्षा को नहीं ग्रहण करता है, किन्तु प्राप्त दरवाजे पर पात्र दे देता है। इस धुतांग में **महाकाश्यप स्थविर** के समान कोई नहीं हुआ। उनके भी पात्र देने की जगह दीखती है। मध्यम आगे-पीछे अथवा लौटकर लाई हुई भी (भिक्षा) को ग्रहण करता है। प्राप्त दरवाजे पर पात्र को भी देता है, किन्तु भिक्षा जोहता हुआ बैठता नहीं है। इस प्रकार वह उत्कृष्ट पिण्डपातिक के समान होता है। मृदु उस दिन बैठकर जोहता है। इन तीनों का भी धुतांग लोलुप (= लालची) स्वभाव उत्पन्न होने मात्र से टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—कुलों में नित्य नया बना रहना, चन्द्रमा के समान होना, कुल की कंजूसी का त्याग, सब पर एक प्रकार की अनुकम्पा का होना, कुलूपक से उत्पन्न दोषों का अभाव, निमन्त्रण को न चाहना, भिक्षा लाकर देने की इच्छा वाला न होना, अल्पेच्छ आदि के अनुसार वृत्ति का होना।

चन्दूपमो निच्चनवो कुलेसु, अमच्छरी सब्बसमानुकम्पो।
कुलूपकादीनवविप्पमुत्तो होतीध भिक्खु सपदानचारी॥

[चन्द्रमा के समान नित्य कुल में नया, कंजूसी रहित, सब पर बराबर अनुकम्पा करने वाला, कुलूपक के दोषों से रहित, सापदानचारी भिक्षु होता है।]

लोलुप्पचारञ्च पहाय तस्मा ओक्खित्तचक्खू युगमत्तदस्सी।
आकङ्खमानो भुवि सेरिचारं चरेय्य धीरो सपदानचारं॥

[इसलिए लोलुप स्वभाव को त्याग, आँखें नीची किये, चार हाथ तक देखनेवाला हो। धीर (भिक्षु) संसार में इच्छानुरूप विचरने का इच्छुक सापदानचारी बने।]

यह सापदानचारिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

५. एकासनिकाङ्ग

एकासनिकांग भी—"नाना प्रकार के भोजन को त्यागता हूँ, एक आसन पर के भोजन को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस एकासनिक को

१. परिश्रय कहते हैं चण्ड साँड़, कुत्ते आदि या वेश्या, शराबी, विधवा आदि के उपद्रव को।

आसनशाला में बैठते समय स्थविर (=बूढ़े भिक्षु) के आसन पर न बैठकर "यह (आसन) मेरा होगा" (ऐसे) अपने योग्य आसन का विचार कर बैठना चाहिए। यदि भोजन आरम्भ करने के बाद आचार्य या उपाध्याय आते हैं, तो उठकर व्रत (=अपने करने योग्य काम) करना चाहिए। त्रिपिटकधारी **चूड़ाभय स्थविर** ने कहा—"आसन को देखे या तो भोजन को; यह है प्रारम्भ किया हुआ भोजन, इसलिए व्रत करे, किन्तु (फिर) खाना मत खाये।" यह इसका विधान है।

प्रभेद से, यह भी तीन प्रकार का होता है। उसमें उत्कृष्ट थोड़ा हो या बहुत, जिस भोजन में हाथ उतारता है, उसके बाद दूसरा नहीं ले सकता। यदि आदमी—"स्थविर ने कुछ नहीं खाया" (सोच) घी आदि लाते हैं, (तब उसे भी) दवा-दारू के लिए ही ग्रहण करना चाहिये, न कि आहार के लिये। मध्यम जब तक भात नहीं खत्म होता, तब तक दूसरा ले सकता है। यह 'भोजन-पर्यन्तक' होता है। मृदु जब तक आसन से नहीं उठता, तब तक खा सकता है। वह जब तक पात्र धोने के लिये पानी नहीं लेता, तब तक खाते हुए आसन-पर्यन्तक होता है अथवा जब तक नहीं उठता है, तब तक खाते हुए आसन पर्यन्तक होता है। नाना आसनों पर खाना खाने के क्षण इन तीनों का धुतांग टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—निरोग होना, सुखपूर्वक जीना, स्फूर्ति, बल, सुख से विहरना, अतिरिक्त भोजन नहीं करने के कारण आपत्ति का न होना, रसास्वादन की तृष्णा का नाश, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

एकासनभोजने रतं न यतिं भोजनपच्चया रुजा।
विसहन्ति रसे अलोलुपो परिहापेति न कम्ममत्तनो॥

[एक आसन पर भोजन करने में लीन हुए यति (=भिक्षु) को भोजन के कारण रोग नहीं सताते, वह रस में अलोलुप हुआ अपने काम को नहीं बिगाड़ता।]

इति फासुविहारकारणे सुचिसल्लेखरतूपसेविते।
जनयेथ विसुद्धमानसो रतिमेकासनभोजने यती॥

[इसलिए विशुद्ध चित्तवाला यति (=भिक्षु) सुखपूर्वक विहरने के लिये कारण बने और पवित्र सल्लेख की रति से सेवित, एक आसन पर भोजन करने में प्रेम करे।]

यह एकासनिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

६. पात्रपिण्डिकाङ्ग

पात्रपिण्डिकांग भी—'दूसरे बर्तन को त्यागता हूँ, पात्रपिण्डिकांग को ग्रहण करता हूँ' इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस पात्रपिण्डिकांग को यवागु (=पीने के लिये बनी हुई पतली खिचड़ी) पीने के समय के बर्तन के अतिरिक्त व्यञ्जन पाने पर, व्यञ्जन को पहले खाना चाहिये अथवा यवागु पीना। यदि यवागु में डाल लेता है, (तो) सड़ी मछली आदि व्यञ्जनों के डालने पर यवागु प्रतिकूल (=अरुचिकर) होती है, अ-प्रतिकूल ही करके खाना चाहिये। इसलिये वैसे व्यञ्जन के सम्बन्ध में ही यह कहा गया है। जो मधु, शक्कर आदि अप्रतिकूल होता है, उसे (यवागु) में डाल लेना चाहिये। ग्रहण करते समय मात्रा से ग्रहण करना चाहिये। कच्चे साग को हाथ से पकड़ कर खाना चाहिये। वैसा नहीं करके पात्र में ही डाल लेना

चाहिये। दूसरे बर्तन को त्याग देने के कारण किसी पेड़ का पत्ता भी (लेना) योग्य नहीं। यह इसका विधान है।

प्रभेद से, यह भी तीन प्रकार का होता है—उनमें उत्कृष्ट को ऊख खाने के समय अतिरिक्त कूराकरकट भी नहीं छोड़ना चाहिये। भात का पिण्ड, मछली, मांस, पूवा को भी तोड़ कर नहीं खाना चाहिये। मध्यम को एक हाथ से तोड़कर खाना चाहिये। इसे हस्तयोगी कहते हैं। मृदु पात्रयोगी होता है। उसके लिये जो पात्रमें डाला जा सकने लायक होता है, उस सबको हाथ से या दाँत से तोड़कर खाना चाहिये। इन तीनों का भी धुतांग दूसरे बर्तन को लेने के क्षण टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—नाना प्रकार के रसों की तृष्णा का दूरीकरण, (भोजन की) बलवती इच्छा का त्याग, आहार में प्रयोजन मात्र को देखना, थाली आदि के ढोने से उत्पन्न खेद का अभाव, अविक्षिप्त होकर भोजन करना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

नानाभोजनविक्खेपं हित्वा ओखित्तलोचनो।
खणन्तो विय मूलानि रसतण्हाय सुब्बतो॥
सरूपं विय सन्तुट्ठिं धारयन्तो सुमानसो।
परिभुञ्जेय्य आहारं को अञ्ञो पत्तपिण्डिका॥

[नाना भोजन के विक्षेप को त्याग, नीचे गिराई आँखों वाला, सुन्दर व्रती भिक्षु रसतृष्णा की जड़ को खोदते हुए के समान, स्वरूप के समान सन्तोष को धारण करते हुए, भले मन वाला पात्रपिण्डिक को छोड़ कौन दूसरा आहार को खायेगा ?]

यह पात्रपिण्डिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

७. खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग

खलुपच्छाभत्तिकांग भी—"अतिरिक्त भोजन को त्यागता हूँ, खलुपच्छाभत्तिकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से किया होता है। उस खलुपच्छाभत्तिकांग को खा चुकने पर फिर भोजन कल्प्य कराके नहीं खाना चाहिये। यह इसका विधान है।

प्रभेद से, यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट, चूँकि पहले भिक्षान्न में प्रवारण नहीं होता, उसके खाते समय दूसरा त्यागा हुआ होता है; इसलिये ऐसे प्रवारित प्रथम भिक्षान्न को खाकर दूसरे भिक्षान्न को नहीं खाता है, मध्यम जिस भोजन को पाया होता है उसी को खाता है। मृदु जब तक आसन से नहीं उठता है, तब तक खाता है। इन तीनों का भी धुतांग (पाये हुए भिक्षान्न को) खा चुकने पर कल्प्य कराके खाने के क्षण टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—अतिरिक्त भोजन न खाने की आपत्ति से बचे रहना, पेटू-स्वभाव का न होना, आमिष (= अन्न) का संचय न करना, फिर (भिक्षान्न) खोजने का अभाव, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

परियेसनाय खेदं न याति न करोति सन्निधिं धीरो।
ओदरिकत्तं पजहति खलुपच्छाभत्तिको योगी॥

[खलुपच्छाभत्तिक धीर योगी (= भिक्षु) (भोजन) ढूँढ़ने का दुःख नहीं उठाता, न तो संचय करता है और पेटू स्वभाव को त्यागता है।]

तस्मा सुगतपसत्थं सन्तोसगुणादि वुड्ढिसञ्जननं।
दोसे विधुनितकामो भजेय्य योगी धुतङ्गमिदं॥

[इसलिये सन्तोष आदि गुणों को बढ़ाने वाले, दोषों को नाश करने की इच्छा से सुगत (= बुद्ध) द्वारा प्रशंसित इस धुतांग का योगी पालन करे।]

यह खलुपच्छाभत्तिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

८. आरण्यकाङ्ग

आरण्यकांग भी, "गाँव के शयनासन को त्यागता हूँ, आरण्यकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस आरण्यक को गाँव के शयनासन को छोड़, जंगल में सबेरे अरुणोदय करना चाहिये।

उपचार (= गोंयड़ा) के साथ गाँव ही ग्रामान्त शयनासन है। जो कोई एक झोंपड़ी वाला अथवा अनेक झोंपड़ी वाला, घिरा हुआ अथवा नहीं घिरा हुआ, मनुष्यों वाला या मनुष्यों से खाली, यहाँ तक कि चार महीने से अधिक बसा हुआ सार्थ (= काफिला) भी गाँव है। गाँव का उपचार (= गोंयड़ा) होता है—'(प्राकार से) घिरे हुए गाँव के, यदि **अनुराधपुर**[1] के समान दो इन्द्रकील (= ग्रामद्वार पर गड़े मजबूत चौखट) होते हैं, तो चौखट पर भीतर खड़े मध्यम बल वाले आदमी के (फेंके) ढेला के गिरने तक। उसका लक्षण—"जैसे जवान आदमी अपने बल को दिखलाते हुए बाँह को फैलाकर ढेले फेंकते हैं, ऐसे फेंके ढेले के गिरे स्थान के भीतर"— **विनयधर** कहते हैं। किन्तु **सौत्रान्तिक**—'कौवों को भगाने के लिए फेंके ढेले के गिरनेके भीतर" —कहते हैं। बिना घिरे हुए गाँव में जो सबसे अन्त के घर के द्वार पर खड़ी स्त्री बर्तन से पानी फेंकती है, उसके गिरने की जगह तक घर का उपचार (= कोला) है। वहाँ से उक्त प्रकार से फेंके हुए एक ढेले के गिरने की जगह गाँव और दूसरे के गिरने की जगह गाँव का उपचार (= गोंयड़ा) है।

आरण्य,—विनय के पर्याय से—"गाँव और गोंयड़ा को छोड़, बाकी सब आरण्य[2]" कहा गया है। अभिधर्म के पर्याय से—"इन्द्रकील से बाहर निकल कर सब आरण्य"[3] कहा गया है। किन्तु इस सूत्रान्त के पर्याय में—'आरण्यक शयनासन कम से कम पाँच सौ धनुष (२००० हाथ) होता है, और—यह लक्षण है। उसे चढ़ाये हुये आचार्य की धनुष द्वारा घिरे हुए गाँव की इन्द्रकील से, न घिरे हुये (गाँव) के पहले ढेला गिरने से लेकर विहार के घेरे तक नाप कर ठीक करना चाहिये।

यदि विहार घिरा हुआ नहीं होता है, तो जो सबसे पहले शयनासन, भोजनशाला, सर्वदा एकत्रित होने का स्थान (= बैठका), बोधि-वृक्ष और चैत्य होता है, और यदि शयनासन से दूर भी होता है, तो उसे अलग करके नापना चाहिये। ऐसा विनय की अट्ठकथाओं में कहा गया है। किन्तु मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में—विहार का भी, गाँव के ही उपचार को लाकर, दोनों ढेलों के गिरने के बीच को नापना चाहिये—कहा गया है। यह प्रमाण है।

यदि पास में गाँव होता है, विहार में खड़े हुए (भिक्षु) को मनुष्यों का शब्द सुन पड़ता है, पहाड़, नदी आदि के बीच-बीच में होने के कारण सीधे नहीं जा सकते, जो

१. लंका की पुरानी राजधानी।
२. पाराजिका पालि २
३. विभङ्ग १२

उसका स्वाभाविक मार्ग होता है, यदि नाव से जाना पड़ता है, (तो) उस मार्ग से पाँच सौ धनुष लेना चाहिये। जो पास वाले गाँव के अङ्ग की पूर्ति के लिये वहाँ-वहाँ से आये हुए मार्ग को बन्द करता है—यह धुताङ्ग-चोर है।

यदि आरण्यक भिक्षु का उपाध्याय या आचार्य बीमार होता है, उसे आरण्य में पथ्य को न पा सकने के कारण गाँव वाले शयनासन में लेजाकर सेवा करानी चाहिये। (समयानुसार) सबेरे ही निकल कर अङ्ग-युक्त स्थान में अरुणोदय करना चाहिये। यदि अरुणोदय के समय उनका रोग बढ़ता है, (तो) उनका ही काम करना चाहिये। धुताङ्ग की शुद्धि को नहीं देखना चाहिये। यह इसका विधान है।

प्रभेद से, यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट को सर्वदा आरण्य में अरुणोदय बिताना चाहिये। मध्यम चार महीना वर्षा के, गाँव में वस सकता है। मृदु जाड़े में भी। इन तीनों का भी नियत समय के अनुसार आरण्य से आकर गाँव के शयनासन में धर्मोपदेश सुनते हुए, अरुणोदय होने पर भी धुताङ्ग नहीं टूटता है। सुनकर जाते हुए मार्ग में अरुणोदय होने पर भी नहीं टूटता है। यदि धर्मोपदेशक के उठ जाने पर भी—मुहूर्त भर सोकर जाऊँगा" (सोच) सोते हुए अरुणोदय होता है या अपनी इच्छा से गाँव के शयनासन में अरुणोदय करते हैं, तब धुताङ्ग टूट जाता है। यह भेद है।

यह गुण है—आरण्यक भिक्षु आरण्य का ख्याल मन में करते हुए, न पाये हुए, समाधि को पा सकने में समर्थ होता है। या पाये हुये की रक्षा कर सकता है। शास्ता भी इस पर प्रसन्न होते हैं। जैसे कहा है—"नागित, मैं उस भिक्षु के आरण्य विहार से प्रसन्न हूँ।[1]" एकान्त शयनासन-वासी इस (भिक्षु) के चित्त को अनुचित रूप आदि विक्षिप्त नहीं करते हैं। वह भय रहित होता है। जीने की इच्छा त्यागता है। एकान्त-सुख के रस का अनुभव करता है। पांशुकूलिक होना आदि भी उसके योग्य होता है।

पविवित्तो असंसट्ठो पन्तसेनासने रतो।
आराधयन्तो नाथस्स वनवासेन मानसं॥
एको अरञ्ञे निवसं यं सुखं लभते यति।
रसं तस्स न विन्दन्ति अपि देवा सइन्दका॥

[एकान्त चिन्तन में लीन, संसर्ग रहित, एकान्त शयनासन में लगा, वन के वास से नाथ (भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध) के मन को प्रसन्न करता हुआ, अकेले जंगल में रहने वाला यति, जिस सुख को पाता है, उसके रस को इन्द्र के साथ (सभी) देवता भी नहीं पाते।]

पंसुकूलं च एसो व कवचं विय धारयं।
अरञ्ञसङ्गामतो अवसेसधुतायुधो॥
समत्थो नचिरस्सेव जेतुं मारं सवाहनं।
तस्मा अरञ्ञवासम्हि रतिं कयिराथ पण्डितो॥

[यह पांशुकूल को कवच के समान धारण किये, आरण्य-संग्राम से अवशेष धुताङ्ग के हथियारों से (सुसज्जित) थोड़े ही दिनों में सेना के साथ मार को जीतने में समर्थ है। इसलिये आरण्य-वास में पण्डित रति करे।]

१. अंगुत्तर नि० ३,२,३

यह आरण्यकाङ्ग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

९. वृक्षमूलिकाङ्ग

वृक्षमूलिकाङ्ग भी—"छाये हुए को त्यागता हूँ, वृक्ष के नीचे रहने को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस वृक्षमूलिक को (संघ–) सीमा के वृक्ष, (देवी-देवताओं के) चैत्य पर के वृक्ष, गोंद के पेड़, फले हुए पेड़, चमगीदड़ों वाला पेड़, घोंघड़वाला पेड़, विहार के बीच खड़े पेड़—इन पेड़ों को छोड़कर, विहार से दूर वाले पेड़ को ग्रहण करना चाहिये। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट रुचि के अनुसार पेड़ ग्रहण करके साफ-सुथरा नहीं करा सकता। गिरे हुए पत्तों को पैर से हटा कर (उसे) रहना चाहिये। मध्यम उस स्थान को आये हुए आदमियों से साफ-सुथरा करा सकता है। मृदु को मंठ के श्रामणेरों को बुला कर साफ करवा, बराबर करके बालू छिटवा, चहारदीवारी से घेरा बनवा कर, दरवाजा लगवा रहना चाहिये। पूजा के दिन वृक्षमूलिक को वहाँ न बैठकर दूसरी जगह आड़ में बैठना चाहिये। इन तीनों का धुताङ्ग छाये हुए (स्थान) में वास करने के क्षण टूट जाता है। "जानकर छाये हुए (स्थान) में अरुणोदय उगाने पर" अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—"वृक्षमूल वाले शयनासन के सहारे प्रव्रज्या है"[१] इस वाक्य से निश्रय के अनुसार प्रतिपत्ति का होना। "वे थोड़े किन्तु सुलभ और निर्दोष हैं"[२] भगवान् द्वारा प्रशंसित होने का प्रत्यय, हर समय पेड़ की पत्तियों के विकारों को देखने से अनित्य का ख्याल पैदा होना, शयनासन की कंजूसी और (नाना) काम में जुटे रहने का अभाव, देवताओं के साथ रहना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

> वण्णितो बुद्धसेट्ठेन निस्सयोति च भासितो।
> निवासो पविवित्तस्स रुक्खमूल समो कुतो॥

[श्रेष्ठ भगवान् बुद्ध द्वारा प्रशंसित और निश्रय कहे गये एकान्त निवास के लिये वृक्ष-मूल के समान दूसरा क्या है ?]

> आवासमच्छेर हरे देवता परिपालिते।
> पविवित्ते वसन्तो हि रुक्खमूलम्हि सुब्बतो॥
> अभिरत्तानि नीलानि पण्डूनि पतितानि च।
> पस्सन्तो तरुपण्णानि निच्चसञ्ञं पनूदति॥

[मठ (सम्बन्धी) कंजूसी दूर हो जाती है। देवताओं द्वारा परिपालित एकान्त में वृक्ष के नीचे रहता हुआ, शीलवान् (भिक्षु) लाल, नीले और पीले गिरे हुए, पेड़ के पत्तों को देखते, नित्य (होने) के ख्याल को छोड़ देता है।]

> तस्मा हि बुद्धदायज्जं भावनाभिरतालयं।
> विवित्तं नातिमञ्ञेय्य रुक्खमूलं विचक्खणो॥

---

१. महावग्ग।

२. अंगुत्तर नि० ४, ३, ७; इतिवुत्तक ४, २।

[इसलिये बुद्ध-दायाद, भावना में लगे रहने के आलय और एकान्त वृक्षमूल की बुद्धिमान् (भिक्षु) अवहेलना न करे।]

यह वृक्षमूलिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

१०. अभ्यवकाशिकाङ्ग

अभ्यवकाशिकांग भी—"छाये हुए और वृक्ष को त्यागता हूँ, खुले मैदान में रहने के व्रत को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस अभ्यवकाशिकांगको धर्म सुनने या उपोसथ करने के लिये उपोसथ-गृह में घुसना चाहिये। यदि घुसने पर वर्षा होती है, तो वर्षा के होते समय न निकलकर वर्षा के खत्म होते निकलना चाहिये। भोजनशाला अथवा अग्निशाला में जाकर व्रत करने, भोजनशाला में बूढ़े भिक्षुओं को भात देने के लिये, पढ़ने या पढ़ाने वालेको छाये हुए में घुसना चाहिये। और बाहर पड़ी हुई चारपाई-चौकी आदि को भीतर रखना चाहिये। यदि राह चलते हुए (अपने से) बूढ़े भिक्षुओं का परिष्कार ग्रहण किया रहता है, तो वर्षा होने पर राह में स्थित शाला में घुसना चाहिए। यदि कुछ नहीं लिया है, तो "शाला में खड़ा होऊँगा" (सोचकर) तेजी से नहीं जाना चाहिए। स्वाभाविक चाल से जाकर घुसने पर वर्षा के रुकने तक रहकर जाना चाहिये। यह इसका विधान है। वृक्षमूलिक का भी इसी प्रकार।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उनमें उत्कृष्ट को पेड़, पहाड़ या घर के सहारे नहीं रहना चाहिए। खुले मैदान में ही चीवर की कुटी बनाकर रहना चाहिए। मध्यम को पेड़, पहाड़, घर के सहारे भीतर बिना घुसे हुए रहना चाहिए। मृदु को मर्यादा[1] न काटी गई गुफा (=पब्भार) भी, डालियों से बना मण्डप भी, खली से जमा कर कड़ा किया गया कपड़ा भी, खेत की रखवाली करने वालों से छोड़ी वहाँ पड़ी हुई झोंपड़ी (=खोंपी) भी उचित है। इन तीनों का भी धुतांग रहने के लिए छाये हुए (स्थान) और पेड़ के नीचे जाने के क्षण टूट जाता है। "जानकर वहाँ अरुणोदय करने मात्र पर" (ऐसा) अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—आवास (=मठ) की बाधाओं का उपच्छेद, स्त्यानमृद्ध (=मानसिक और शारीरिक आलस्य) का दूर होना, "मृग के समान बिना घर के विचरण करनेवाले भिक्षु आलय रहित होकर विहरते हैं[2]।" (इस प्रकार की) प्रशंसा के योग्य, घर-बार से रहित होना, चारों दिशाओं में जाना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति।

अनगारियभावस्स अनुरूपे अदुल्लभे।
तारामणि वितानम्हि चन्ददीपप्पभासिते॥
अब्भोकासे वसं भिक्खु मिगभूतेन चेतसा।
थीनमिद्धं विनोदेत्वा भावनारामतं सितो॥
पविवेक रसस्सादं न चिरस्सेव विन्दति।
यस्मा तस्मा हि सप्पञ्ञो अब्भोकासे रतो सिया॥

---

१. गुफा के ऊपर पत्थर को काट कर एक लकीर बना दी जाती है, जिससे कि पानी गुफा में नहीं घुसता, उसे मर्यादा कहते हैं।

२. संयुत्त निकाय १, १, ९, ४।

[प्रव्रजितों के अनुरूप, सुलभ, तारा-मणि से (सजे), चन्द्र रूपी दीपक से प्रभासित, खुले मैदान रूपी वितान में भिक्षु मृग के समान मनवाला होकर रहते हुए, शारीरिक और मानसिक आलस्य को दूर करके भावना करने में लगा हुआ, चूँकि शीघ्र ही प्रविवेक (=एकान्तचिन्तन) का रसास्वादन करता है, इसलिए प्रज्ञावान (भिक्षु) खुले मैदान में रहने का अभ्यास करे।]

यह अभ्यवकाशिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है।

११. श्मशानिकाङ्ग

श्मशानिकांग भी—"श्मशान को नहीं त्यागूँगा, श्मशानिकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है। उस श्मशानिक को, जो कि आदमी गाँव बसाते हुए "यह श्मशान है" मानते हैं, वहाँ नहीं रहना चाहिये। क्योंकि बिना मुर्दा जलाया हुआ वह (स्थान) श्मशान नहीं होता। जलाने के समय से लेकर यदि बारह वर्ष भी छोड़ा गया रहता है, तो (वह) श्मशान ही है।

उसमें रहनेवाले को चंक्रमण, मण्डप आदि बनवा, चारपाई-चौकी बिछाकर, पीने के लिए पानी रख धर्म बाँचते हुए नहीं रहना चाहिए। यह धुतांग बहुत कठिन है। इसलिए उत्पन्न उपद्रव को मिटाने के लिए संघ-स्थविर (=संघ के बूढ़े भिक्षु) या राजकर्मचारी को जना कर अप्रमाद के साथ रहना चाहिए। चंक्रमण करते समय, आधी आँख से मुर्दा-घाटी (=मुर्दा जलाने के स्थान) को देखते हुए चंक्रमण करना चाहिए। श्मशान में जाते हुए भी महामार्ग से उतरकर, बे-राह जाना चाहिए। दिन में ही आलम्बन को भलीभाँति देखकर (मन में) बैठा लेना चाहिए। इस प्रकार (करने से) उसके लिए वह रात्रि भयानक न होगी। अमनुष्यों के शोर करके घूमते हुए भी किसी चीज से मारना नहीं चाहिए। श्मशान नित्य जाना चाहिए। (रात्रि के) बिचले पहर को श्मशान में बिताकर पिछले पहर में लौटना चाहिये।" ऐसा अंगुत्तर भाणक कहते हैं। अमनुष्यों के प्रिय तिल की पिट्ठी (=तिल का कसार), उर्द से मिलाकर बनाया भात (=खिचड़ी), मछली, मांस, दूध, तेल, गुड़ आदि खाद्य-भोज्य को नहीं खाना चाहिये। (लोगों के) घरों में नहीं जाना चाहिये। यह इसका विधान है।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है। उत्कृष्ट को जहाँ हमेशा मुर्दे जलाये जाते हैं, हमेशा मुर्दे पड़े रहते हैं, हमेशा रोना-पीटना (लगा) रहता है, वहीं बसना चाहिए। मध्यम के लिए तीनों में से एक के भी होने पर ठीक है। मृदु के लिए उक्त प्रकार से श्मशान को पाने मात्रपर। इन तीनों का भी धुतांग अ-श्मशान (=जो श्मशान न हो) में वास करने से टूट जाता है। 'श्मशान को नहीं जाने के दिन' (ऐसा) अंगुत्तर-भाणक कहते हैं। यह भेद (=विनाश) है।

यह गुण है—मरने का ख्याल बने रहना, अप्रमाद के साथ विहरना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, हमेशा शरीर के स्वभाव को देखना, संवेग की अधिकता, आरोग्यता आदि के घमण्डों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, अमनुष्यों का गौरवनीय होना, अल्पेच्छ आदि के अनुसार वृत्ति का होना।

सोसानिकं हि मरणानुसतिप्पभावा।
निद्दागतम्पि न फुसन्ति पमाददोसा॥
सम्पस्सतो च कुणपानि बहूनि तस्स।
कामानुराग वसगम्पि न होति चित्तं॥

[श्मशानिक को मरणानुस्मृति के प्रभाव से सोते हुए भी प्रमाद से होनेवाले दोष नहीं छू पाते और बहुत से मुर्दों को देखते हुए, उसका चित्त कामराग के भी वशीभूत नहीं होता ।]

संवेगमेति विपुलं न मदं उपेति ।
सम्मा अथो घटति निब्बुतिमेसमानो ॥
सोसानिकङ्गमिति नेकगुणावहत्ता ।
निब्बाननिन्न हदयेन निसेवितब्बं ॥

[बहुत संवेग उत्पन्न होता है । घमण्ड नहीं आता । वह शान्ति (= निर्वाण) को खोजते हुए भलीभाँति उद्योग करता है, इसलिए अनेक गुणों को लानेवाले श्मशानिकांग का निर्वाण की ओर झुके हुए हृदय से सेवन करना चाहिये ।]

यह श्मशानिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है ।

१२. यथासंस्थरिकाङ्ग

यथासंस्थरिकांग भी—"शयनासन की लोलुपता को त्यागता हूँ, यथासंस्थरिकांग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है । उस यथासंस्थरिक को, जो उसके लिए शयनासन होता है, "यह तेरे लिये है" (कह कर) दिया गया होता है, उसी से सन्तोष करना चाहिए । दूसरे को नहीं उठाना चाहिए । यह इसका विधान है ।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है । उत्कृष्ट अपने शयनासन को—'दूर है ? बहुत पास है ? या अमनुष्य, दीर्घ-जातिक (= साँप) आदि से उपद्रवयुक्त है अथवा गर्म या शीतल है ? पूछ नहीं सकता । मध्यम पूछ सकता है । किन्तु जाकर देख नहीं सकता है । मृदु जाकर देख, यदि वह उसे अच्छा नहीं लगता है, (तो) दूसरे को ग्रहण कर सकता है । इन तीनों का भी धुतांग शयनासन की लोलुपता के उत्पन्न होने मात्र से टूट जाता है । यह भेद (=विनाश) है ।

यह गुण है—"जो मिले उससे सन्तोष करना चाहिए[1]" कहे उपदेश का पालन करना, सब्रह्मचारियों का हितैषी होना, हीन-उत्तम के विचार का त्याग, अनुरोध और विरोध का प्रहाण, अधिक इच्छा के द्वार को बन्द करना, अल्पेच्छता आदि के अनुसार वृत्ति का होना ।

यं लद्धं तेन सन्तुट्ठो यथासन्थतिको यति ।
निब्बिकप्पो सुखं सेति तिणसन्थरणेसुपि ॥

[जो पाया उसी से सन्तुष्ट रहनेवाला यथासंस्थरिक भिक्षु बिछे तृणों पर भी निर्विकल्प सुखपूर्वक सोता है ।]

न सो रज्जति सेट्ठम्हि हीनं लद्धा न कुप्पति ।
सब्रह्मचारि नवके हितेन अनुकम्पति ॥

[वह उत्तम पाकर उसमें राग नहीं करता और न तो हीन पाकर क्रोध ही । नये सब्रह्मचारियों की भलाई करने की अनुकम्पा करता है ।]

तस्मा अरियसताचिण्णं मुनिपुङ्गव वण्णितं ।
अनुयुञ्जेथ मेधावी यथासंथतरामतं ॥

---

१. जातक १, ४७६ और पाचित्तिय ।

[इसलिए आर्य-जनों से बराबर सेवे गये, मुनिपुंगव (=भगवान् बुद्ध) से प्रशंसित यथासंस्थर-विहार में प्रज्ञावान् जुटे ।]

यह यथासंस्थरिकांग में समादान, विधान, प्रभेद, भेद और गुण का वर्णन है ।

१३. नैषद्यकाङ्ग

नैषद्यकाङ्ग भी—"शय्या को त्यागता हूँ, नैषद्यकाङ्ग को ग्रहण करता हूँ" इनमें से किसी एक वाक्य से ग्रहण किया होता है । उस नैषद्यक को रात्रि के तीन पहरों में से एक पहर उठकर चंक्रमण करना चाहिये । ईर्य्यापथों में केवल सोना ही न चाहिये । यह इसका विधान है ।

प्रभेद से यह भी तीन प्रकार का होता है । उत्कृष्ट को ओठँगनिया नहीं लेनी चाहिये । न चीवर के साथ पालथी मारने चाहिये और न आयोगपट्ट[1] ही । मध्यम को इन तीनों में से जो कोई भी योग्य है । मृदु को ओठँगनिया भी, चीवर के साथ पालथी मारना भी, आयोगपट्ट भी, तकिया भी, और पाँच अंगों से युक्त आसन भी, सात अंगों से युक्त आसन भी उचित है । पाँच अंग कहते हैं—पीठ की ओठँगनिया के साथ बनाये हुए (आसन) को । पीठ की ओठँगनिया के साथ दोनों बगलमें ओठँगनिया लगाकर बनाया हुआ आसन सात अंगवाला कहलाता है । उसे पीलहाभय स्थविर के लिये बनवाये थे । स्थविर अनागामी होकर परिनिर्वृत हुए । इन तीनों का भी धुताङ्ग शय्या का सेवन करने मात्र से टूट जाता है । यह भेद (= विनाश) है ।

यह गुण है—"शय्या-सुख, करवट बदल-बदलकर सोने का सुख, और निद्रा-सुख में लगा हुआ विहरता है" कहे गये चित्त के बन्धन का नाश होना, सभी कर्मस्थानों में लगने की सहूलियत, सुन्दर ईर्य्यापथ का होना, उद्योग करने की अनुकूलता, भली-भाँति प्रतिपत्ति का पूर्ण करना।

आभुजित्वान पल्लङ्कं पणिधाय उजुं तनुं ।
निसीदन्तो विकम्पेति मारस्स हदयं यति ॥

[शरीर को सीधाकर पालथी लगा बैठा हुआ योगी मार के हृदय को कँपाता है ।]

सेय्यसुखं मिद्धसुखं हित्वा आरद्धवीरियो ।
निसज्जाभिरतो भिक्खु सोभयन्तो तपोवनं ॥
निरामिसं पीतिसुखं यस्मा समधिगच्छति ।
तस्मा समनुयुञ्जेय्य धीरो नेसज्जिकं वतं ॥

[शय्या और निद्रा के सुख को त्यागकर आरब्ध-वीर्य (=उद्योगी), (केवल) बैठकर (बिताने) में रत भिक्षु तपोवन को सुशोभित करते हुए, चूँकि निरामिष प्रीतिसुख को पाता है, इसलिये धीर नैषद्यक-व्रत में लगे ।]

विनिश्चय-कथा

अब,—

कुसलत्तिकतो चेव धुतादीनं विभागतो ।
समासब्यासतो चापि विञ्ञातब्बो विनिच्छयो ॥

[कुशल-त्रिक्, धुतांग आदि के विभाग और संक्षेप तथा विस्तार से भी विनिश्चय जानना चाहिये ।]

---

१. विश्राम के लिये लकड़ी का बनवाया हुआ तख्ता ।

—इस गाथा के अनुसार वर्णन होता है।

कुशलत्रिक् से, सभी धुतांग शैक्ष्य, पृथग्जन, क्षीणाश्रव के अनुसार कुशल हो सकते हैं, अव्याकृत हो सकते हैं, किन्तु धुतांग अकुशल नहीं होता। जो कहे—"बुरी इच्छावाला, इच्छाचारी आरण्यक होता है"[1] आदि वाक्यों से धुतांग अकुशल भी होता है, उसे कहना चाहिये—हम नहीं कहते कि अकुशल चित्त से जंगल में नहीं रहता है, जो जंगल में रहता है, वह आरण्यक है। वह बुरी इच्छावाला हो या अल्पेच्छ। किन्तु ये (धुतांग) उन-उन के ग्रहण से क्लेशों से धोये हुए होने के कारण, धोये भिक्षु के अंग हैं अथवा क्लेशों को धुन डालने से 'धुत' नाम से व्यवहृत ज्ञान इनका अंग है, इसलिये ये धुतांग हैं। या (वे क्लेशों से) धोये हुए हैं और प्रतिपत्ति की विरुद्ध बातों को धुनने से अंग बने भी धुतांग हैं। कोई भी अकुशल से धुत (=धोया हुआ=परिशुद्ध) नहीं होता, जिसका कि ये अंग न हों। अकुशल कुछ धुनता भी नहीं है। जिनका कि उन्हें अंग मानकर धुतांग कहे जायँ। न तो चीवर की लोलुपता आदि को ही धुनता है और न प्रतिपत्ति का अंग होता है, इसलिए यह ठीक कहा गया है कि—"अकुशल धुतांग नहीं है।"

जिनका भी[2] (कहना है कि) धुतांग कुशल-त्रिक् से अलग है, उनके लिए असल में धुतांग ही नहीं है। नहीं होते हुए किसके धुनने से धुतांग नाम होगा? "धुत के गुणों का पालन कर रहा है" इस वचन का उन्हें विरोध भी होता है, अतः उसे नहीं मानना चाहिए।...।

धुत आदि के विभाग से, धुत जानना चाहिए, धुतवादी जानना चाहिये। धुत-धर्मों को जानना चाहिए। धुतांग जानना चाहिए। धुतांग का सेवन किसके लिए उपयुक्त है—इसे जानना चाहिए।

धुत होता है धोये क्लेशवाला व्यक्ति अथवा क्लेशों को धुननेवाला धर्म। **धुतवाद**, यहाँ, (१) धुत है, धुतवादी नहीं, (२) धुत नहीं, धुतवादी है, (३) न धुत है, न धुतवादी (४) धुत भी है, धुतवादी भी।

जो धुत से अपने क्लेशों को धुन डालता है किन्तु दूसरे को धुतांग के लिए उपदेश नहीं करता है, नहीं अनुशासन करता है, **बक्कुल स्थविर** के समान—यह धुत है, धुतवादी नहीं। जैसे कहा है—"यह आयुष्मान् बक्कुल धुत हैं, धुतवादी नहीं।" जो धुतांग से अपने क्लेश नहीं धुना, केवल दूसरों को धुतांग का उपदेश करता है, अनुशासन करता है, **उपनन्द स्थविर** के समान, यह धुत नहीं धुतवादी है। जैसे कहा है—"यह आयुष्मान् शाक्यपुत्र उपनन्द धुत नहीं धुतवादी हैं।" जो दोनों से रहित हैं **लालुदायी** के समान—यह न धुत है, न धुतवादी है। जैसे कहा है—"यह आयुष्मान् लालुदायी न धुत हैं, न धुतवादी।" जो दोनों से युक्त हैं, **धर्मसेनापति** के समान—यह धुत और धुतवादी है। जैसे कहा है—"यह आयुष्मान् **सारिपुत्र** धुत और धुतवादी भी हैं।"

धुतधर्मों को जानना चाहिए, अल्पेच्छता, सन्तुष्टि-भाव, संलेखता, प्रविवेक का होना, ज्ञान का इसी में लगा होना—ये पाँच धर्म धुतांग-परिवार की चेतनाएँ हैं। "अल्पेच्छ के ही सहारे"[3] आदि वचन से धुतधर्म होते हैं।

---

१. अंगुत्तर नि० ३।

२. अभयगिरि (लंका में) विहार-वासियों के विषय में कहा गया है, वे कहते हैं कि 'धुताङ्ग प्रज्ञप्ति मात्र है।'—टीका

३. अंगुत्तर नि० ३।

उनमें अल्पेच्छता और सन्तुष्टि अलोभ है। संलेखता और प्रविवेक अलोभ और अमोह दोनों में आते हैं। ज्ञान का इसी में लगा होना, ज्ञान ही है। अलोभ से विरोधी वस्तुओं में लोभ, अमोह से उन्हीं में दोषों को छिपाये रहनेवाले मोह को धुनता है। अलोभ से (भगवान् के) बतलाए हुए का प्रतिसेवन करने से प्रवर्तित काम-सुख में लगना, अमोह से धुतांगों में अत्यन्त संलेख से प्रवर्तित अपने को नाना प्रकार से कष्ट देने में लगे रहने (= अत्तकिलमथानुयोग) को धुनता है। इसलिए इन धर्मों को धुतधर्म जानना चाहिये।

धुतांगों को जानना चाहिए, तेरह धुतांगों को जानना चाहिए। पांशुकूलिकांग…[1] नैषद्यकांग। वे अर्थ और लक्षण आदि से कहे ही गये हैं।

किसके लिए धुतांग का सेवन उपयुक्त है? राग और मोह-चरित वालों के लिए। क्यों? धुतांग का सेवन दुःख-प्रतिपद् और संलेख विहार है। दुःख-प्रतिपद् के सहारे राग शान्त हो जाता है। संलेख के सहारे अप्रमत्त का मोह दूर हो जाता है। अथवा आरण्यकांग, वृक्षमूलिकांग का प्रतिसेवन द्वेष-चरित के लिए भी उपयुक्त है। विना संघर्ष के विहरते हुए, उसका द्वेष भी शान्त हो जाता है।

यह धुत आदि के विभाग से वर्णन है।

संक्षेप और विस्तार से, ये धुतांग संक्षेप में—तीन शीर्ष-अंग (=प्रधान अंग) और पाँच असम्भिन्न (=अमिश्र)-अंग, (कुल) आठ ही होते हैं। उनमें सपदानचारिकांग, एकासनिकांग, अभ्यवकाशिकांग—ये तीन शीर्ष अंग हैं। सपदानचारिकांग का पालन करते हुए पिण्डपातिकांग का भी पालन करेगा। एकासनिकांग का पालन करते हुए पात्रपिण्डिकांग और खलुपच्छाभत्तिकांग का भी पालन होता जायेगा। अभ्यवकाशिकांग का पालन करने वाले को क्या है वृक्षमूलिकांग और यथासंस्थरिकांग का पालन? इस प्रकार ये तीन शीर्ष अंग हैं और आरण्यकांग, पांशुकूलिकांग, त्रैचीवरिकांग, नैषद्यकांग, श्मशानिकांग—ये पाँच असम्भिन्न (=अमिश्र) अंग—(सब) आठ ही होते हैं।

पुनः, दो चीवर सम्बन्धी, पाँच पिण्डपात सम्बन्धी, पाँच शयनासन सम्बन्धी, एक वीर्य सम्बन्धी,—इस प्रकार चार ही होते हैं। उनमें नैषद्यकांग वीर्य सम्बन्धी है, अन्य प्रगट ही है। पुनः सभी निश्रय के अनुसार दो होते हैं। प्रत्यय-सन्निश्रित बारह और वीर्य सम्बन्धी एक। सेवन करने योग्य, न सेवन करने योग्य के अनुसार भी दो ही होते हैं। जिसको धुतांग का पालन करते हुए कर्मस्थान बढ़ता है। उसे (उसका) पालन करना चाहिये। जिसको पालन करते हुए घटता है, उसे नहीं पालन करना चाहिये। नहीं पालन करते हुए भी बढ़ता है। घटता नहीं, उसे भी पिछली जनता पर अनुकम्पा करते हुए (धुतांग का) पालन करना चाहिये। जिसको पालन करते हुए भी, नहीं पालन करते हुये भी, नहीं बढ़ता है। उसे भी भविष्य-फल के लिये (धुतांग का) पालन करना चाहिये ही।

ऐसे सेवन करने योग्य, न सेवन करने योग्य के अनुसार दो प्रकार के भी सभी चेतना के अनुसार एक तरह के होते हैं। एक ही धुतांग को ग्रहण करने की चेतना है। अर्थकथा में भी कहा गया है—"जो चेतना है, वह धुतांग है—ऐसा कहते हैं।"

विस्तार से, भिक्षुओं के लिये तेरह, भिक्षुणियों के लिये आठ, श्रामणेरों के लिये बारह,

---

१. देखिए पृष्ठ ६०

शिक्षमाणा और श्रामणेरियों के लिये सात, उपासक-उपासिकाओं के लिये दो—इस तरह बयालिस होते हैं।

यदि खुले मैदान में आरण्य के अंगों से युक्त श्मशान होता है, एक भी भिक्षु एकदम सारे धुतांगों का परिभोग कर सकता है। भिक्षुणियों के लिये आरण्यकांग और खलुपच्छाभत्तिकांग दोनों भी शिक्षापद से ही निषेध किये गये हैं। अभ्यवकाशिकांग, वृक्षमूलिकांग, श्मशानिकांग—ये तीन निभाने मुश्किल हैं। भिक्षुणी को बिना सहायिका के रहना नहीं चाहिये। ऐसे स्थान में समान इच्छावाली सहायिका दुर्लभ होती है। यदि पाये भी तो संसर्ग-विहार से न छूटे। ऐसा होने पर जिसके लिये धुतांग का पालन करती है, उसे उसी अर्थ की सिद्धि न हो। इस प्रकार परिभोग न कर सकने के कारण पाँच (धुतांग) को कम करके भिक्षुणियों के लिये आठ ही (धुतांग) होते हैं—ऐसा जानना चाहिये।

यथोक्त में से त्रैचीवरिकांग को छोड़, शेष बारह श्रमणों के लिये, सात शिक्षमाणा और श्रामणेरियों के लिये जानना चाहिये। उपासक-उपासिकाओं के लिये एकासनिकांग और पात्रपिण्डिकांग—ये दो योग्य हैं और इनका परिभोग भी कर सकते हैं। इसलिए दो धुतांग (कहे गये) हैं। इस तरह विस्तार से (सब) बयालिस होते हैं ...।

यहाँ तक, "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" इस गाथा के द्वारा शील, समाधि, और प्रज्ञा के अनुसार उपदेश दिये गये विशुद्धिमार्ग में जिन अल्पेच्छता, सन्तुष्टिता आदि गुणों से उक्त प्रकार के शील का शुद्धि-करण होता है, उन्हें पूर्ण करने के लिये ग्रहण करने योग्य धुतांग की बात बतलायी गई है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में धुतांग
निर्देश नामक दूसरा परिच्छेद समाप्त।

तीसरा परिच्छेद

कर्मस्थान ग्रहण-निर्देश

अब, चूँकि इस प्रकार धुतांग का पूर्ण रूप से पालन कर अल्पेच्छता आदि गुणों से विशुद्ध, इस शील में प्रतिष्ठित हुये (भिक्षु) को—"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं" वचन से चित्त-शीर्ष से निर्दिष्ट समाधि की भावना करनी चाहिये। वह अत्यन्त संक्षेप में उपदेश दिये जाने के कारण जानना तक भी सहज नहीं, भावना की बात ही क्या? इसलिये उसके विस्तार और भावना करने की विधि को दिखलाने के लिये, ये प्रश्न होते हैं:—

(१) समाधि क्या है?
(२) किस अर्थ में समाधि है?
(३) इसका लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान, पदस्थान क्या है?
(४) समाधि कितने प्रकार की है?
(५) इसका संक्लेश और व्यवदान (= परिशुद्धि) क्या है?
(६) कैसे भावना करनी चाहिये?
(७) समाधि की भावना करने में कौन-सा गुण है?
इनका यह उत्तर है—

समाधि क्या है?

समाधि बहुत प्रकार की होती है,...। उन सबकी व्याख्या करनी आरम्भ करने पर, उत्तर इच्छित अर्थ को ही नहीं सिद्ध कर सकेगा और आगे भी विक्षेप का कारण बनेगा। इसलिये यहाँ इच्छित के ही विषय में कहेंगे। "कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।"

किस अर्थ में समाधि है?

समाधान के अर्थ में समाधि है। यह समाधान क्या है? एक आलम्बन में चित्त-चैतसिकों का बराबर और भली-भाँति प्रतिष्ठित होना; रखना कहा गया है। इसलिये जिस धर्म के आनुभाव से एक आलम्बन में चित्त-चैतसिक बराबर और भली-भाँति विक्षेप और विप्रकीर्ण हुए बिना ठहरते हैं—इसे समाधान जानना चाहिये।

इसका लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान, पदस्थान क्या है?

विक्षेप न होना समाधि का लक्षण है। विक्षेप को मिटाना इसका रस (= कृत्य) है। विकम्पित न होना प्रत्युपस्थान (= जानने का आकार) है। "सुखी का चित्त एकाग्र होता है"[1] वचन से सुख इसका पदस्थान है।

१. दीघ नि० १, २।

समाधि कितने प्रकार की है ?

विक्षेप न होने के लक्षण से तो एक ही प्रकार की है। उपचार-अर्पणा के अनुसार तीन प्रकार की। वैसे ही लौकिक—लोकोत्तर, सप्रीतिक-निष्प्रीतिक और सुखसहगत-उपेक्षासहगत के अनुसार। तीन प्रकार की होती है हीन, मध्यम, प्रणीत (= उत्तम) के अनुसार। वैसे ही सवितर्क-सविचार आदि, प्रीतिसहगत आदि और परित्र, महद्गत, अप्रमाण के अनुसार। चार प्रकार की दुःखाप्रतिपदा-दन्धअभिज्ञा आदि के अनुसार और परित्र, परित्र आलम्बन आदि, चार ध्यानांग, हानभागीय आदि, कामावचर आदि और अधिपति के अनुसार। पाँच प्रकार की पाँच ध्यान के अंगों के अनुसार।

द्विक्

उनमें एक प्रकार के भाग का अर्थ सरल ही है। दो प्रकार के भाग में छः अनुस्मृति-(कर्म-) स्थान, मरण-स्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा (= ख्याल), चार धातुओं का व्यवस्थापन,—इनके अनुसार प्राप्त चित्त की एकाग्रता और जो अर्पणा-समाधि के पूर्व भाग में एकाग्रता होती है—यही **उपचार समाधि** है। "प्रथम ध्यान का परिकर्म, प्रथम-ध्यान का अनन्तर प्रत्यय से प्रत्यय होता है[1]" आदि वचन से जो परिकर्म के अनन्तर एकाग्रता होती है-यही **अर्पणा-समाधि** है। ऐसे उपचार-अर्पणा के अनुसार (समाधि) दो प्रकार की होती है।

दूसरे द्विक् में—तीनों भूमियों (= काम, रूप और अरूप) में कुशलचित्त की एकाग्रता लौकिक-समाधि है। आर्य-मार्ग से युक्त एकाग्रता लोकोत्तर समाधि है। इस तरह लौकिक-लोकोत्तर के अनुसार (समाधि) दो प्रकार की होती है।

तीसरे द्विक् में—चार ध्यानों के अनुसार दो (ध्यानों की) और पाँच ध्यानों के अनुसार तीन ध्यानों की एकाग्रता सप्रीतिक-समाधि है। शेष दो ध्यानों की एकाग्रता निष्प्रीतिक समाधि है। उपचार-समाधि सप्रीतिक भी हो सकती है, निष्प्रीतिक भी हो सकती है। ऐसे सप्रीतिक-निष्प्रीतिक के अनुसार (समाधि) दो प्रकार की होती है।

चौथे द्विक् में—चार ध्यानों के अनुसार तीन (ध्यानों में) और पाँच ध्यानों के अनुसार चार ध्यानों में सुखसहगत समाधि होती है। शेष में उपेक्षासहगत। उपचार समाधि सुखसहगत भी हो सकती है, उपेक्षा सहगत भी हो सकती है। ऐसे सुखसहगत, उपेक्षा-सहगत के अनुसार (समाधि) दो प्रकार की होती है।

त्रिक्

त्रिकों में से पहले त्रिक् में—प्राप्त की गई मात्र (समाधि) हीन है, बहुत अभ्यास न की गई मध्यम है और भली प्रकार अभ्यस्त, कब्जे में की गई प्रणीत (= उत्तम) है। इस तरह हीन, मध्यम, प्रणीत के अनुसार (समाधि) तीन प्रकार की होती है।

दूसरे त्रिक् में—प्रथम ध्यान की समाधि उपचार समाधि के साथ सवितर्क-सविचार है। पाँच ध्यानों के अनुसार द्वितीय ध्यान की समाधि अ-वितर्क-विचार मात्र है। जो वितर्क मात्र में ही दोष को देख, विचार में (दोष को) न देख, केवल वितर्क का प्रहाणमात्र चाहता हुआ प्रथम

१. पट्ठानप्पकरण।

ध्यान को लाँघता है, वह अ-वितर्क-विचारमात्र समाधि को पाता है। उसके सम्बन्ध में ही यह कहा गया है। चार ध्यानों के अनुसार द्वितीय आदि और पाँच ध्यानों के अनुसार तीसरे आदि तीनों ध्यानों की एकाग्रता अ-वितर्क-विचार समाधि है। इस तरह सवितर्क-सविचार आदि के अनुसार (समाधि) तीन प्रकार की होती है।

तीसरे त्रिक् में—चार ध्यानों के अनुसार आदि से दोनों की और पाँच ध्यानों के अनुसार तीन ध्यानों की एकाग्रता प्रीति-सहगत-समाधि है। उनमें ही तीसरे और चौथे ध्यान की एकाग्रता सुखसहगत समाधि है, अन्तिम की उपेक्षा सहगत। उपचार समाधि प्रीति-सुख सहगत होती है अथवा उपेक्षा सहगत। इस तरह प्रीति सहगत आदि के अनुसार तीन प्रकार की (समाधि) होती है।

चौथे त्रिक् में—उपचार (ध्यान) की अवस्था की एकाग्रता परित्र (= कामावचर)-समाधि है। रूपावचर-अरूपावचर के कुशल चित्त की एकाग्रता महद्गत समाधि है। आर्यमार्ग सम्प्रयुक्त एकाग्रता अप्रमाण समाधि है। इस तरह परित्र, महद्गत, अप्रमाण के अनुसार समाधि तीन प्रकार की होती है।

चतुष्क्

चतुष्कों में से पहले चतुष्क में—(१) दुःखा-प्रतिपदा-दन्ध-अभिज्ञावाली समाधि है। (२) दुःखा-प्रतिपदा तीक्ष्ण (= क्षिप्र) अभिज्ञावाली समाधि है। (३) सुखा-प्रतिपदा दन्ध-अभिज्ञा-वाली समाधि है। (४) सुखा-प्रतिपदा तीक्ष्ण अभिज्ञा (= ज्ञान) वाली समाधि है।

उनमें (भावना आरम्भ करने के) प्रथम समन्नाहार (= उसकी ओर चित्त को लगाना) से लेकर जबतक उस ध्यान का उपचार उत्पन्न होता है। तबतक होनेवाली समाधि-भावना **प्रति-पदा** कही जाती है। उपचार से लेकर जबतक अर्पणा होती है, तबतक होनेवाली प्रज्ञा (=ज्ञान) **अभिज्ञा** कही जाती है। वह प्रतिपदा किसी की दुःखद होती है, नीवरण[1] आदि विरोधी बातों के उत्पन्न होकर चित्त को पकड़े रहने के कारण कठिन होती है। सुख-पूर्वक नहीं प्राप्त करना इसका अर्थ है। किसी की (उनके) अभाव से सुखपूर्ण होती है। अभिज्ञा भी किसी की दन्ध (= मन्द) होती है, मंद और शीघ्रता से नहीं प्रवर्तित होने वाली। किसी की तीक्ष्ण, अमन्द और शीघ्रता से प्रवर्तित होने वाली होती है।

जो बाद में अनुकूल और न-अनुकूल, परिबोध (=विघ्न) का उपच्छेद आदि पूर्व-कृत्य और अर्पणा में कुशल (=चतुर) होने का वर्णन करेंगे, उनमें जो न-अनुकूल (=असप्राय) का सेवन करने वाला होता है, उसकी प्रतिपदा दुःखद और अभिज्ञा दन्ध होती है। अनुकूल (=सप्राय) का सेवन करने वाले की प्रतिपदा सुखद और अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है। जो पूर्व भाग में न-अनुकूल (चीजों) का सेवन कर, पीछे, अनुकूल (चीजों) का सेवन करता है या पहले अनुकूल (चीजों) का सेवन करके पीछे न-अनुकूल (चीजों) का सेवन करता है, उसे मिश्रित जानना चाहिये। वैसे ही परिबोध (=विघ्न) का उपच्छेद (=नाश) आदि पूर्व-कृत्य को नहीं पूर्ण कर भावना में जुटे हुए (भिक्षु) की प्रतिपदा दुःखद होती है। तथा इसके विपर्याय (=खिलाफ) से सुखद। अर्पणा की कुशलता (=चतुरता) को नहीं पूर्ण करने वाले (भिक्षु) की अभिज्ञा दन्ध होती है और पूर्ण करने वाले की तीक्ष्ण।

---

१. नीवरण पाँच हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा।

और भी, तृष्णा-अविद्या के अनुसार और शमथ-विपश्यना के अनुसार भी इनका भेद जानना चाहिये। तृष्णा से पछाड़े गये (=बहुत प्रबल तृष्णा वाले) की प्रतिपदा दुःखद होती है और नहीं पछाड़े गये की सुखद। अविद्या से पछाड़े गये की अभिज्ञा दन्ध होती है और नहीं पछाड़े गये की तीक्ष्ण। जो शमथ का अभ्यास नहीं किया हुआ है, उसकी प्रतिपदा दुःखद होती है और अभ्यास किये हुए की सुखद। जो विपश्यना का अभ्यास नहीं किया होता है, उसकी अभिज्ञा दन्ध होती है और अभ्यास किये हुए की तीक्ष्ण।

क्लेश और इन्द्रिय के अनुसार भी इसका भेद जानना चाहिये। तीव्र क्लेश और मृदु (श्रद्धा आदि) इन्द्रिय वाले की प्रतिपदा दुःखद और अभिज्ञा दन्ध होती है। तीक्ष्ण इन्द्रिय वाले की अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है। मन्द क्लेश और मृदु इन्द्रिय वाले की प्रतिपदा सुखद और अभिज्ञा दन्ध होती है। तीक्ष्ण इन्द्रिय वाले की अभिज्ञा तीक्ष्ण होती है।

इस प्रकार इन प्रतिपदा और अभिज्ञाओं में जो व्यक्ति दुःखद प्रतिपदा और दन्ध अभिज्ञा से समाधि को पाता है, उसकी वह समाधि **दुःखा-प्रतिपदा-दन्ध-अभिज्ञा** कही जाती है। ऐसे ही शेष तीनों में भी। इस तरह दुःखा-प्रतिपदा-दन्ध-अभिज्ञा आदि के अनुसार (समाधि) चार प्रकार की होती है।

दूसरे चतुष्क् में—(१) परित्र-परित्रालम्बन समाधि है। (२) परित्र-अप्रमाणालम्बन समाधि है। (३) अप्रमाण-परित्रालम्बन समाधि है। (४) अप्रमाण-अप्रमाणालम्बन समाधि है। उनमें, जो समाधि अभ्यस्त नहीं है, ऊपर वाले ध्यान का प्रत्यय नहीं हो सकती—यह **परित्र** है। जो बिना बढ़े हुए आलम्बन में प्रवर्तित है—यह **परित्रालम्बन** है। जो अभ्यस्त है, भली प्रकार (जिसकी) भावना की गई है और ऊपर वाले ध्यान का प्रत्यय हो सकती है—यह **अप्रमाण** है। जो बढ़े हुये आलम्बन में प्रवर्तित है—यह **अप्रमाणालम्बन** है। उक्त लक्षणों के मिश्रित होने से मिश्रित के अनुसार जानना चाहिये। इस तरह परित्र-परित्रालम्बन आदि के अनुसार (समाधि) चार प्रकार की होती है।

तीसरे चतुष्क् में— दबा डाले गये नीवरण वालों का प्रथम ध्यान वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, समाधि (=चित्त की एकाग्रता) के अनुसार पाँच अंगों वाला होता है। उसके बाद वितर्क, विचार के शान्त हो जाने पर तीन अंगों वाला दूसरा (ध्यान)। प्रीति रहित दो अंगों वाला तीसरा और तत्पश्चात् सुख रहित, उपेक्षा-वेदना सहित समाधि के अनुसार दो अंगों वाला चौथा। इस तरह इन चारों ध्यानों के अंग बनी हुई चार समाधि होती है। ऐसे चार ध्यानों के अनुसार समाधि चार प्रकार की होती है।

चौथे चतुष्क् में—(१) हानभागीय (=परिहानि की ओर जाने वाली) समाधि है। (२) स्थितभागीय (=एक जैसी बनी रहने वाली) समाधि है। (३) विशेषभागीय (=बढ़ने वाली) समाधि है। (४) निर्वेधभागीय समाधि है।

उनमें विरोधी आचरण के अनुसार हानभागीय, उसके स्वभाव से स्मृति के स्थित होने के अनुसार स्थित भागीय, ऊपर विशेषता की प्राप्ति के अनुसार विशेषभागीय, और निर्वेद सहगत (=युक्त) संज्ञा (=ख्याल) को मन में करने के अनुसार निर्वेधभागीय जानना चाहिए। जैसे कहा है—"प्रथम ध्यान के लाभी को काम-सहगत-संज्ञा-मनस्कार (=मन में करना) उत्पन्न होते हैं, (तब) प्रज्ञा हानभागीय होती है। उसके स्वभाव के अनुसार स्मृति बनी रहती है, (तब) प्रज्ञा स्थितभागीय होती है। (जब) अवितर्क-सहगत-संज्ञा-मनस्कार उत्पन्न होते हैं,

(तब) प्रज्ञा विशेषभागीय होती है। निर्वेद के साथ संज्ञा मनस्कार उत्पन्न होते हैं विराग से युक्त, तब प्रज्ञा निर्वेधभागीय होती है।[१]" उस प्रज्ञा से मिली हुई समाधि भी चार होती हैं। इस तरह हानभागीय आदि के अनुसार समाधि चार प्रकार की होती है।

पाँचवें चतुष्क् में—कामावचर समाधि, रूपावचर समाधि, अरूपावचर समाधि, अपर्यापन्न समाधि—ऐसे चार समाधि हैं। उनमें सभी उपचार की एकाग्रता कामावचर समाधि है। वैसे ही रूपावचर आदि के कुशल चित्त की एकाग्रता अन्य तीन। इस तरह कामावचर आदि के अनुसार समाधि चार प्रकार की होती है।

छठें चतुष्क् में—"यदि भिक्षु छन्द को अधिपति (=प्रधान) करके समाधि प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है, (तो)—यह छन्द समाधि कही जाती है। यदि भिक्षु वीर्य······चित्त···मीमांसा (=प्रज्ञा) को अधिपति करके समाधि प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है, (तो)—यह मीमांसा समाधि कही जाती है।"[१] इस तरह अधिपति के अनुसार समाधि चार प्रकार की होती है।

पञ्चक

पञ्चक में—जो चतुष्क् के भेद में द्वितीय ध्यान कहा गया है, वह वितर्क मात्र के अतिक्रमण से द्वितीय, वितर्क-विचार के अतिक्रमण से तृतीय (ध्यान होता है),—ऐसे दो भाग करके पाँच ध्यान जानना चाहिये। और उनके अंग हुई पाँच समाधि। इस तरह पाँच ध्यानों के अनुसार समाधि पाँच प्रकार की जाननी चाहिये।

इसका संक्लेश और व्यवदान क्या है ?

इसका उत्तर विभंग में कहा गया ही है—"संक्लेश (=मल) परिहानि की ओर ले जाने वाला धर्म है। व्यवदान (=पारिशुद्धि) उन्नति को ओर ले जानेवाले धर्म हैं।" "जब प्रथम ध्यान के लाभी को काम सहगत-संज्ञा के मनस्कार (=विचार) उत्पन्न होते हैं, (तब) प्रज्ञा परिहानि की ओर ले जानेवाली होती है।" इस प्रकार हानभागीय धर्म को जानना चाहिये। "जब अ-वितर्क-सहगत-संज्ञा के विचार उत्पन्न होते हैं, (तब) प्रज्ञा विशेषभागीय (=उन्नति की ओर ले जाने वाली) होती है।" इस प्रकार विशेषभागीय धर्म को जानना चाहिये।

कैसे भावना करनी चाहिये ?

जो 'लौकिक-लोकोत्तर के अनुसार दो प्रकार की समाधि होती है' आदि में आर्यमार्ग से युक्त समाधि कही गई है, उस समाधि को भावना करने का ढंग "प्रज्ञा की भावना" करने के ढंग में ही आ जाता है क्योंकि वह प्रज्ञा की भावना से भावित होती है। इसलिये उसके विषय में—'इस प्रकार भावना करनी चाहिये', कुछ अलग नहीं कहेंगे।

जो यह लौकिक है, वह उक्त प्रकार से शीलों को शुद्ध करके, अच्छी तरह से परिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित होकर, जो उसे दस परिबोधों (=विघ्नों) में से परिबोध है, उसे दूर करके, कर्मस्थान देनेवाले कल्याण मित्र के पास जाकर, अपनी चर्य्या के अनुकूल चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण कर समाधि-भावना के अयोग्य विहार को त्याग कर, योग्य

१. विभङ्ग १२

विहार में विहरते हुए, छोटे परिबोधों को दूर करके, भावना करने के सम्पूर्ण विधान का पालन करते हुए, भावना करनी चाहिये।

यह विस्तार है। जो कहा गया है—"उसे दस परिबोधों में से परिबोध है, उसे दूर करके" इसमें :—

आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मञ्च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥

[आवास, कुल, लाभ, गण और काम—ये पाँच तथा मार्ग, ज्ञाति, रोग, ग्रन्थ और ऋद्धि (के साथ) वे दस होते हैं।]
—ये दस परिबोध हैं। आवास (= मठ) ही आवास परिबोध है। ऐसे ही कुल आदि में भी।

इनमें **आवास**, एक कमरा (= कोठरी) भी कहा जाता है। एक भी **परिवेण**[१], सम्पूर्ण संघाराम (= मठ) भी। यह सबके लिये परिबोध नहीं होता। जो नये कामों के करने में भिड़ता है, बहुत से सामानों को इकट्ठा किये हुये होता है, अथवा जिस किसी कारण से चाह किये प्रतिबद्ध चित्त वाला होता है, उसी के लिये परिबोध होता है, दूसरे के लिये नहीं।

इसके विषय में यह कथा है—दो कुलपुत्र **अनुराधपुर**[२] से निकलकर क्रमशः **स्तूपाराम**[३] में प्रव्रजित हुए। उनमें एक दो मात्रिकाओं[४] को याद कर पाँच वर्ष का हो, प्रवारणा कर **'प्राचीन खण्ड राजि'**[५] (नामक स्थान) में गया। एक वहीं रहा। प्राचीनखण्डराजि में गया हुआ, वहाँ बहुत दिनों तक रहकर स्थविर हो, सोचा—यह स्थान विवेक के योग्य है, इसलिये इसे अपने मित्र को भी बतलाऊँगा। वहाँ से निकलकर क्रमशः स्तूपाराम को गया और विहार में घुसते ही उसे देख बराबर आयु वाले स्थविर ने आगे बढ़कर पात्र-चीवर सम्हाल (आगन्तुक) व्रत किया।

आगन्तुक स्थविर ने शयनासन में प्रवेश कर सोचा—अब, मेरा साथी घी, राब अथवा पेय भेजेगा, यह इस नगर में बहुत दिनों से रहता है। वह रात में बिना पाये, सबेरे सोचा—इस समय उपस्थाकों से यवागु खाने के लिये भेजेगा। उसे भी न देख, भेजने वाले नहीं हैं (गाँव में) जाने पर शायद देंगे, (सोच) सबेरे ही उसके साथ गाँव में प्रवेश किया। उन्होंने एक गली में घूमकर करछुल भर खिचड़ी (=यवागु) पा, **आसनशाला**[६] में बैठ कर पिया।

उसके बाद आगन्तुक ने सोचा—'मालूम होता है रोज बँधी हुई मिलने वाली यवागु नहीं है, अब भोजन के समय लोग उत्तम भोजन देंगे।' तत्पश्चात् भोजन के समय भी भिक्षा के लिये घूमकर पाये हुए को ही खा, दूसरे ने कहा—

"भन्ते, क्या सब समय ऐसे ही बिताते हैं?"

---

१. 'घिरा हुआ अलग दिखाई देने से परिवेण कहा जाता है, विहार में भिक्षुओं रहने के लिये बने हुए स्थान'।—टीका। जहाँ पर रहकर भिक्षु धर्म सीखते हैं—अनुटीका।

२. लंका की प्राचीन राजधानी।

३. अनुराधपुर में एक प्राचीन विहार, जिसके ध्वंसावशेष अब भी वर्तमान हैं।

४. भिक्षु-भिक्षुणी प्रातिमोक्ष को 'उभय मातिका' कहते हैं।

५. (अनुराधपुर) की पूर्व दिशा में पर्वत-खण्डों के बीच वनों की पंक्ति—टीका।

६. भिक्षुओं को बैठने के लिये गाँव में बनवाई गई शाला।

"हाँ, आवुस !"

"भन्ते, प्राचीनखण्डराजि अच्छी है, वहाँ चलें।"

स्थविर ने नगर के दक्षिण द्वार से निकलते समय **कुम्भकार-ग्राम** को जाने वाले मार्ग को पकड़ा। दूसरे ने कहा—"क्या भन्ते, इस मार्ग से चलेंगे ?"

"आवुस, नहीं तुमने प्राचीनखंडराजि की प्रशंसा की ?"

"भन्ते, क्या आपके इतने दिनों तक रहने वाली जगह में कोई अधिक चीज नहीं है ?"

"हाँ आवुस, चौकी-चारपाई सांघिक है, वह सौंपी ही गई हैं, दूसरा कुछ नहीं है।"

"भन्ते, किन्तु मेरी लाठी, तेल रखने की फोंफी और उपानह (=जूता) रखने का थैला वहीं है।"

"आवुस, तूने एक दिन रहकर इतना रखा है ?"

"हाँ, भन्ते !"

उसने प्रसन्न मन ही स्थविर को प्रणाम कर—भन्ते, आप जैसे लोगों के लिये सब जगह जंगल में ही रहने के समान है, **स्तूपाराम** चारों बुद्धों की धातुओं[१] के निधान करने का स्थान है। **लौह-प्रासाद**[२] में सुन्दर धर्म का श्रवण, **महाचैत्य**[३] का दर्शन करना और स्थविर लोगों का दर्शन मिलता है। बुद्ध-काल के समान होता है। आप यहीं रहिये।"

दूसरे दिन पात्र-चीवर लेकर स्वयमेव गया।

—इस प्रकार के (भिक्षु) के लिये आवास परिबोध नहीं होता।

कुल, जाति बिरादरी का कुल या उपस्थाक (= सेवा टहल करने वाले) का कुल। किसी का उपस्थाक कुल भी—"सुखी होने पर सुखी होना"[४] आदि प्रकार से संसर्ग के साथ विहरनेसे परिबोध होता है। वह (उस) कुल के आदमियों के बिना पास वाले विहारों में धर्म सुनने के लिये भी नहीं जाता। किसी के माता-पिता भी परिबोध नहीं होते हैं। **कोरण्डक विहार**[५] में रहनेवाले स्थविर के भांजा तरुण भिक्षु के समान।

वह पढ़ने के लिये **रोहण**[६] गया। स्थविर की बहिन उपासिका भी सर्वदा स्थविर के पास जाकर उसका समाचार पूछती थी। स्थविर ने एक दिन—'तरुण को (बुला) लाऊँगा' (सोचकर) रोहण की ओर प्रस्थान किया। तरुण भी 'मैं यहाँ बहुत दिनों तक रहा, अब उपाध्यायको देख और उपासिका का समाचार पूछकर आऊँगा।' (सोच) रोहण से निकला। वे दोनों ही नदी के किनारे[७] मिले। वह एक पेड़ के नीचे स्थविर का व्रत कर—"कहाँ जाते हो ?" पूछने पर, उस बात को कहा। स्थविर ने—'तूने बहुत अच्छा किया, उपासिका भी सर्वदा पूछती है, मैं भी

---

१. इस भद्रकल्प के चार बुद्ध ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सप और गौतम के क्रमशः काय-बन्धन, धम्मकरक, स्नान शाटिका और अक्ष-धातु का निधान-स्थान है।

२. अनुराधपुर में सात मंजिला भिक्षु-सीमा गृह जिसे आज 'लोव महापाय' कहते हैं।

३. रुवन् वेलि सैय (=सुवर्णमाली चैत्य) अनुराधपुर।

४. संयुत्त नि० ३,११

५. अनुराधपुर के पास एक प्राचीन गाँव में बने विहार का नाम।

६. दक्षिणी लंका का एक जनपद। जिसे 'रुहुनरट' कहते हैं।

७. महवेलि गंग नामक लंका की प्रधान नदी के किनारे, जिसे पालि में महावालुका नदी कहते हैं।

इसीलिये आया हूँ, तू जाओ, मैं यहीं इस वर्षावास भर रहूँगा।' कहकर उसे विदा किया। वह वर्षावास पकड़ने के दिन ही उस विहारको पाया। उसके लिये शयनासन भी (उसके) पिता द्वारा बनवाया हुआ ही मिला।

दूसरे दिन उसका पिता आकर—"किसको हमारा शयनासन मिला है?" पूछ "आगन्तुक तरुण (भिक्षु) को" सुनकर, उसके पास जा प्रणाम कर कहा—"भन्ते, हमारे शयनासन में रहनेवाले (भिक्षु) के लिये (एक) नियम है।"

"क्या है उपासक?"

"तीन महीना हमारे ही घर भिक्षा ग्रहण कर प्रवारणा करके जाने के समय पूछना चाहिये।"

उसने मौन भाव से स्वीकार किया। उपासक ने भी घर जाकर कहा—"हमारे आवास में एक आगन्तुक आर्य (= भिक्षु) आये हैं, (आदर-) सत्कार के साथ (उनकी) सेवा-टहल करनी चाहिये।" उपासिका ने "बहुत अच्छा" कह, स्वीकार कर उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार किया। तरुण भी भोजन के समय (अपने) ज्ञाति के घर गया। उसे कोई भी नहीं पहचाना।

वह तीनों महीने भी वहीं भोजन करके वर्षावास भर रह कर "मैं जाऊँगा" कहा। तब उसके रिश्तेदारों ने—"भन्ते, कल जाइये।" (कह कर) दूसरे दिन घर में ही खाना खिला कर तेल की फोंफी को (तेल से) भर कर, एक गुड़ की भेली और नव हाथ कपड़ा दे—"जाइये, भन्ते!" कहा। वह अनुमोदन करके रोहण की ओर चल पड़ा।

उसका उपाध्याय भी प्रवारणा करके उसी रास्ते आते हुए पहले देखे स्थान पर ही उसे देखा। वह किसी एक पेड़ के नीचे स्थविर का व्रत किया। तब स्थविर ने उससे पूछा—"क्या भद्रमुख! तूने उपासिका को देखा?" वह "हाँ भन्ते!" सब समाचार कह कर उस तेल से स्थविर के पैर को मल कर गुड़ से रस बनाकर, उस कपड़े को भी स्थविर को ही दे, स्थविर को प्रणाम कर—"भन्ते, मुझे रोहण ही अनुकूल है" कह कर चला गया। स्थविर भी विहार में आकर दूसरे दिन **कोरण्डक** गाँव को गये।

उपासिका भी—"मेरे भाई मेरे पुत्र को लेकर अब आयेंगे" (सोच) सर्वदा राह देखती हुई ही रहती थी। उसने उन्हें अकेले ही आते हुए देख—"जान पड़ता है मेरा पुत्र मर गया, यह स्थविर अकेले ही आ रहे हैं" (कह) स्थविर के पैरों पर गिर कर विलाप करते हुए रोयी। स्थविर ने—"तरुण ने अल्पेच्छ स्वभाव के कारण अपने को नहीं जना कर ही गया है" उसे समझा-बुझाकर सब समाचार कह, पात्र के थैले से उस कपड़े को निकालकर दिखलाया।

उपासिका प्रसन्न हो पुत्र के जानेवाली दिशा की ओर छाती के बल सोकर नमस्कार करती हुई, कही—"जान पड़ता है मेरे पुत्र के समान भिक्षु को लक्ष्य करके भगवान् ने **रथ-विनीत**[1]-प्रतिपद्, **नालक**[2]-प्रतिपद्, **तुवटक**-[3]प्रतिपद् और चारों प्रत्ययों में सन्तोष करने के साथ भावना-रामता को प्रकट करनेवाले **महाआर्यवंश**[4]-प्रतिपद् का उपदेश किया। पैदा की हुई

१. मज्झिम नि० १, ३, ४
२. सुत्तनिपात ३, ११
३. सुत्तनिपात ४, १४
४. अंगुत्तर नि० ४, ३, ८

माता के घर तीन महीने भोजन करते हुए भी—"मैं (तेरा) पुत्र हूँ, तू मेरी माँ है" नहीं कहा। अहा ! विस्मयजनक आदमी !"

इस प्रकार के (भिक्षु) के लिए माता-पिता भी बाधक नहीं होते। उपस्थाक-कुल की तो बात ही क्या ?

लाभ, चार प्रत्यय। वे कैसे परिबोध होते हैं ? पुण्यवान् भिक्षु को गये हुए स्थान पर आदमी बहुत अधिक प्रत्यय देते हैं। वह उनका अनुमोदन और धर्मोपदेश करते हुए, श्रमण-धर्म करने के लिये छुट्टी नहीं पाता। अरुणोदय से जबतक पहला पहर होता है, तबतक मनुष्य-संसर्ग नहीं छूटता। फिर भोर के समय भी जोड़ू-बटोरू पिण्डपातिक (भिक्षु) आकर—"भन्ते, अमुक उपासक, उपासिका, अमात्य की पुत्री आपको देखना चाहती है" कहते हैं। वह "आवुस, पात्र-चीवर लो" (कहकर) जाने के लिये तैयार ही होता है। इस प्रकार नित्य ही फँसा रहता है। ऐसे उसके लिये वे प्रत्यय परिबोध होते हैं। उसे गण को छोड़कर जहाँ लोग नहीं जानते हैं, वहाँ अकेले विचरना चाहिये। इस तरह वह बाधा दूर होती है।

गण, सौत्रान्तिक गण या आभिधार्मिक गण। जो उसका पाठ कराते अथवा प्रश्नोत्तर देते हुए श्रमण धर्म करने के लिये छुट्टी नहीं पाता है, उसी के लिये गण परिबोध होता है। उसे इस प्रकार दूर करना चाहिये—यदि वे भिक्षु बहुत पढ़ गये होते हैं, थोड़ा शेष होता है, (तो) उसे समाप्त करके जंगल में जाना चाहिये। यदि थोड़ा पढ़े होते हैं, बहुत शेष होता है, (तो) 'योजन भर से बाहर न जाकर, योजन भर के भीतर दूसरे गण को पढ़ानेवाले के पास जाकर—"आयुष्मान्, इन्हें पढ़ायें, (इनकी) देखभाल करें" कहना चाहिये। ऐसा भी न पाकर—"आवुस, मुझे एक काम है, तुमलोग अपने अनुकूल स्थानों पर जाओ।" (कहकर) गण को छोड़, अपना काम करना चाहिये।

काम, नया काम। उसे करने वाले को बढ़ई आदि के (काम के लिये) पायी और नहीं पायी हुई (वस्तुओं) को जानना होता है, किये और नहीं किये गये (काम के लिये) प्रयत्न करना पड़ता है" इस तरह (वह) सर्वदा परिबोध होता है। उसे भी ऐसे दूर करना चाहिये—यदि थोड़ा बाकी हो, तो खत्म कर लेना चाहिये। यदि बहुत हो और हो संघ का काम, तो संघ अथवा संघ के कार्यों की देख-रेख करनेवाले भिक्षुओं को सौंप देना चाहिये। यदि अपनी चीज हो, तो अपने कार्यों की देख-रेख करनेवालों को सौंपना चाहिये। वैसे (लोगों) को नहीं पा, संघ को देकर जाना चाहिये।

मार्ग, राह चलना। जिसका कहीं प्रव्रजित होने की इच्छावाला (कोई) होता है अथवा कुछ प्रत्यय पाना होता है, यदि उसे बिना पाये नहीं रह सकता, (तो) जंगल में जाकर श्रमण-धर्म करनेवाले को भी राह चलने का मन नहीं मिटाया जा सकता। इसलिये जा, उस कामको खत्म करके ही श्रमण-धर्म में भिड़ना चाहिये।

ज्ञाति, विहार में—आचार्य, उपाध्याय, साथ में रहनेवाले भिक्षु, शिष्य, एक उपाध्याय के शिष्य, गुरुभाई; घर में—माता, पिता, भाई आदि ऐसे लोग। वे रोगी होने पर इसके लिये परिबोध होते हैं। इसलिये उस परिबोध को, सेवा-टहल करके, उनको पहले जैसा (निरोग) करके दूर करना चाहिये।

उनमें से उपाध्याय के रोगी होने पर, यदि जल्दी नहीं अच्छा होते, तो जीवन भर सेवा करनी चाहिये। वैसे ही प्रव्रज्या के आचार्य, उपसम्पदा के आचार्य, साथ विहरनेवाले भिक्षु,

उपसम्पन्न किये गये और प्रव्रजित किये गये शिष्य तथा एक उपाध्याय के शिष्य, निश्रय के आचार्य, (ग्रन्थ) पढ़ाने वाले आचार्य, निश्रय के शिष्य, (ग्रन्थ) पढ़ने वाले शिष्य और गुरु-भाई की, जब तक निश्रय लेना, पढ़ना, लगा हुआ है, तब तक सेवा करनी चाहिये। हो सके तो उससे अधिक भी सेवा करनी चाहिये ही।

माता-पिता के लिये उपाध्याय के समान वर्तना चाहिये। यदि वे राज्य करते हों और पुत्र से उपस्थान चाहते हों, तो करना ही चाहिये। उनके पास दवा न हो, तो अपने पास से देना चाहिये। (अपने पास भी) न होने पर भीख माँग, खोजकर भी देना चाहिये ही। भाई-बहिनों के लिये उनके ही पास की चीज को लगा कर देना चाहिये। यदि (उनके पास) नहीं है, (तो) अपने पास की चीज उस समय के लिये (उधार देकर) पीछे पाने पर ले लेना चाहिये, किन्तु नहीं पाने पर निन्दा नहीं करनी चाहिये। न विरादरी वाली बहिन के पति के लिये दवा न करनी चाहिये और न देनी ही। "अपने स्वामी को दो" कह कर बहिन को देना चाहिये। भाई की स्त्री (=भौजाई) के लिये भी इसी प्रकार किन्तु उनके पुत्र इसके ज्ञाति ही हैं—इसलिये उनकी (दवा) करनी चाहिये।

रोग, जो कोई रोग। वह पीड़ित करते हुए परिबोध होता है। इसलिये दवा करके उसे दूर करना चाहिये। यदि कुछ दिन दवा करते हुए भी नहीं अच्छा होता है—"मैं तेरा दास नहीं हूँ और न तो नौकर ही, तुझे ही पोषते हुए अनादि संसार के चक्कर में दुःख पाया।" (इस प्रकार) निन्दा करके श्रमणधर्म करना चाहिये।

ग्रन्थ, पर्य्याप्ति[1] (= परियत्ति) का परायण करना। वह स्वाध्याय आदि में नित्य लगे रहने वाले के लिये परिबोध होता है। दूसरे के लिये नहीं। यहाँ यह कथायें हैं :—

अ—मज्झिम-भाणक[2] **रेवत स्थविर** ने **मलयवासी**[3] **रेवत स्थविर** के पास जाकर कर्म-स्थान माँगा। स्थविर ने पूछा—"आवुस, पर्य्याप्ति में कैसे हो ?"

"भन्ते, मज्झिम (-निकाय) मुझे याद है।"

"आवुस, मज्झिम (निकाय) का परायण कठिन है, मूलपण्णासक का स्वाध्याय करने वाले को मज्झिम पण्णासक आ जाता है और उसका स्वाध्याय करने वाले को उपरि-पण्णासक। तुझे कर्मस्थान कहाँ ?"

"भन्ते, आपके पास कर्मस्थान को पाकर फिर (उसे) नहीं देखूँगा।" (कह) कर्म-स्थान ग्रहण कर उन्नीस वर्ष स्वाध्याय नहीं करके बीसवें वर्ष अर्हत्व को प्राप्त कर, स्वाध्याय करने के लिये आये हुये भिक्षुओं को—"आवुस, मुझे पर्य्याप्ति को न देखे बीस वर्ष हो गये, फिर भी मैं इसका अभ्यास किया हूँ, आरम्भ करो।" कह शुरू से लेकर अन्त तक एक व्यञ्जन में भी उन्हें शंका नहीं हुई।

आ—**कारलियगिरि**[4] वासी **नागस्थविर** ने भी अठारह वर्ष पर्य्याप्ति को छोड़कर भिक्षुओं

---

१. पर्य्याप्ति कहते हैं दुःख रहित परम शान्ति की प्राप्ति के लिये बतलाये गये सारे बुद्धवचन को; जिसे हम सम्प्रति 'त्रिपिटक' नाम से जानते हैं।

२. मज्झिम निकाय के भाणक।

३. वर्तमान् लंका में त्रिकोणमलय प्रदेश के रहने वाले।

४. कैरलिगिरि नामक स्थान के रहने वाले।

को धातुकथा[1] पढ़ाये। उन्हें एक गाँव में रहने वाले [2]स्थविरों के साथ मिला-मिलाकर पूछने पर एक भी प्रश्न ऊटपटाँग नहीं आया था।

इ—महाविहार में भी त्रिपिटक चूड़ाभय स्थविर ने अट्ठकथा को बिना पढ़े ही पाँच-निकायों (= दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर, संयुत्त, खुद्दक) और तीन पिटकों (= विनय, सुत्तन्त, अभिधम्म) का वर्णन करूँगा, (कह कर) सुवर्ण-भेरी को बजवाया। भिक्षु संघ ने—"किस आचार्य द्वारा शिक्षित है? शिक्षित होने वाले अपने आचार्य को ही बतलाये अन्यथा बोलने नहीं देंगे।" कहा। उपाध्याय ने भी अपने पास आने पर उससे पूछा—"आवुस, तूने भेरी बजवायी?"

"हाँ भन्ते!"

"किस कारण से?"

"भन्ते, पर्य्याप्ति (– धर्म) का वर्णन करूँगा।"

"आवुस, अभय! आचार्य लोग 'इस पद' को कैसे कहते हैं?"

"भन्ते, ऐसा कहते हैं।" स्थविर ने 'हुँ' कहकर निषेध किया। फिर उसने दूसरे-दूसरे पर्याय से—"भन्ते, ऐसा कहते हैं।" तीन बार कहा। स्थविर ने सारा 'हुँ' (कहकर) निषेध कर—"आवुस, तेरा पहले का कहा हुआ ही आचार्यों का मार्ग है, किन्तु (तू) आचार्यों के मुख से नहीं पढ़ने के कारण—'ऐसा आचार्य कहते हैं स्थिरतापूर्वक नहीं कह सके। जाओ अपने आचार्यों के पास सुनो।"

"भन्ते, कहाँ जाऊँ?"

"नदी पार [3]रोहण जनपद में तुलाधार-पर्वत-विहार[4] में त्रिपिटकधारी महाधर्मरक्षित नामक स्थविर रहते हैं, उनके पास जाओ।"

"अच्छा, भन्ते!" (कह) स्थविर को प्रणाम कर, पाँच सौ भिक्षुओं के साथ स्थविर के पास जा, प्रणाम कर बैठा। स्थविर ने—"क्यों आये हो? पूछा।

"भन्ते, धर्म सुनने के लिये।"

"आवुस, अभय! दीघ, मज्झिम में मुझे समय-समय पर पूछते हैं, किन्तु शेष को मैंने लगभग तीन वर्षों से कभी नहीं देखा। फिर भी तू रात में मेरे पास पाठ करो, मैं तुझे दिन में बतलाऊँगा।"

उसने "भन्ते, बहुत अच्छा" (कह) वैसा ही किया।

परिवेण के दरवाजे पर (एक) बहुत बड़ा मण्डप बनवाकर, गाँव के लोग प्रतिदिन धर्म-श्रवण के लिये आते थे। स्थविर ने रात्रि में पाठ किये हुए को दिन में बतलाते हुए क्रमशः धर्मोपदेश समाप्त कर, अभय स्थविर के पास टाटी (= तट्टिका = चटाई) पर बैठाकर कहा—"आवुस, मेरे लिये कर्मस्थान कहो।"

"भन्ते, क्या कह रहे हैं? मैंने आप के ही पास सुना न? क्या मैं आप से बिना जाना हुआ कहूँगा?"

उसके बाद स्थविर ने उसे कहा—"आवुस, गये हुये का यह दूसरा ही रास्ता है।"

---

१. अभिधर्मपिटक का ग्रन्थ विशेष।

२. अनुराधपुरवासी स्थविरों के साथ—टीका।

३. महावेलि गंगा के उस पार।

४. तरहल् पवु वेहेर, लंका।

अभय स्थविर उस समय स्रोतापन्न हो गये थे। इसलिये वह उन्हें कर्मस्थान देकर आ, **लौहप्रासाद** में धर्म कहते हुए—"स्थविर का परिनिर्वाण हो गया।" सुने। सुनकर—"आवुस, चीवर लाओ" (कहकर) चीवर ओढ़—"आवुस, हमारे आचार्य का अर्हत्-मार्ग बड़ा ही सुन्दर था। आवुस, हमारे आचार्य, सीधे-सादे, भले-बुरे को जाननेवाले थे। अपने (पास) धर्म पढ़ने वाले शिष्य के पास टाटी पर बैठकर—'मेरे लिये कर्मस्थान कहो' कहे थे। आवुस, स्थविर का अर्हत्-मार्ग बड़ा ही सुन्दर था।"

इस प्रकार के (भिक्षुओं के) लिये ग्रन्थ परिबोध नहीं होता।

ऋद्धि, पृथग्जनों की ऋद्धि। वह उतान सोनेवाले बच्चे और छोटे धान के पौधे के समान[1] बहुत कठिनाई के साथ रक्षा की जानेवाली होती है। अल्पमात्र में ही नष्ट हो जाती है। वह विपश्यना (= विदर्शना) के लिये परिबोध होती है। समाधि के लिये नहीं, समाधि को पाकर प्राप्त होने के कारण। इसलिये विपश्यना करनेवाले को ऋद्धि की बाधाओं (= विघ्नों) को दूर कर लेना चाहिये। दूसरे (= शमथ-भावना वाले भिक्षु) को अवशेष (नव बाधायें)। यह परिबोध कथा का विस्तार है।

कर्मस्थान को देनेवाले कल्याणमित्र के पास जाकर, कर्मस्थान दो प्रकार का होता है—(१) सब जगह चाहा जानेवाला कर्मस्थान (= सब्बत्थक कम्मट्ठान) और (२) परिहरण करने योग्य कर्मस्थान। उनमें सब जगह चाहा जानेवाला कर्मस्थान है—भिक्षु संघ आदि पर मैत्री करना और मरण-स्मृति। कोई-कोई अशुभ-संज्ञा भी कहते हैं।

कर्मस्थान में लगे हुए भिक्षु को पहले परिच्छेद करके सीमा में रहनेवाले भिक्षु-संघ पर "सुखी, दुःख रहित होवे" (ऐसे) मैत्री-भावना करनी चाहिए। उसके बाद एक सीमाके भीतर रहनेवाले देवताओं पर, उसके बाद पासवाले गाँव के मालिकों पर, तत्पश्चात् वहाँ के मनुष्यों से लेकर सब प्राणियों पर। वह भिक्षु संघ पर मैत्री करने से (अपने) साथ रहनेवाले भिक्षुओं के चित्त में मृदुता उत्पन्न करता है, तब वे उसके लिए सुख-पूर्वक रहनेवाले होते हैं। एक सीमामें रहनेवाले देवताओं पर मैत्री करने से मृदु चित्त हुए देवताओं द्वारा धार्मिक रक्षासे भलीभाँति रक्षित होता है। पास के गाँव वाले मालिकों पर मैत्री करने से मृदु किये गये चित्त सन्तान वाले मालिकों की धार्मिक रक्षा से परिष्कारों द्वारा रक्षित होता है। मनुष्यों पर मैत्री से प्रसन्न किये गये चित्त द्वारा उनसे अ-निन्दित होकर विचरता है। सब प्राणियों पर मैत्री करने से सब जगह बे रोक-टोक घूमनेवाला होता है। मरण-स्मृति (=मरने का ख्याल) की भावना से—"मुझे अवश्य मरना पड़ेगा।" (ऐसे) विचारते हुए गलत-खोज को छोड़ अधिकाधिक बढ़ते हुए संवेग वाला होता है, चित्त को सिकोड़ने वाला नहीं होता। अशुभ-संज्ञा से अभ्यस्त चित्त वाले के मन को दिव्य भी आलम्बन लोभ से नहीं दबाते।

इस प्रकार बहुत उपकार होने के कारण इसकी सर्वत्र आवश्यकता होती है···और अभिप्रेत भावना में लगने का हेतु होता है, इसलिए (इसे) सब जगह चाहा जानेवाला कर्मस्थान कहते हैं।

---

१. यही अर्थ बर्मी, सिंहली की व्याख्याओं में भी है, किन्तु आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है—"पक्का हुआ पौधा, जिसे पक्षी आदि खाते हैं, इसलिये रखना कठिन होता है।" किन्तु यह अर्थ युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता।

चालीस कर्मस्थानों में से जो जिसकी चर्य्या के अनुकूल हैं, वह उसे नित्य परिहरण करने के योग्य और ऊपर-ऊपर की भावना का पदस्थान होने के कारण 'परिहरण करने योग्य कर्मस्थान' कहा जाता है। अतः इन दोनों प्रकार के भी कर्मस्थानों को जो देता है—यह कर्मस्थान देनेवाला है, उस कर्मस्थान को देने वाले।

कल्याण मित्र,

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गम्भीरञ्च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजये॥[1]

[प्रिय, गौरवनीय, आदरणीय, वक्ता, बात सहने वाला, गंभीर बातों को बतलानेवाला और अनुचित कामों में नहीं लगाने वाला।]

—इस प्रकार के गुणों से युक्त एकदम हितैषी, उन्नति की ओर ले जानेवाले कल्याण मित्र को।

"आनन्द, मुझ कल्याण मित्र को पाकर उत्पत्ति-स्वभाव वाले प्राणी उत्पत्ति से छुटकारा पाते हैं।"[2] आदि वचन से सम्यक् सम्बुद्ध ही सब गुणों से युक्त कल्याण मित्र हैं। इसलिए उनके रहने पर उन्हीं भगवान् के पास ग्रहण किया हुआ कर्मस्थान सुगृहीत होता है। उनके परिनिर्वृत हो जाने पर अस्सी महाश्रावकों में से जो जीवित रहे, उसके पास ग्रहण करना चाहिए। उनके भी न होने पर, जिस कर्मस्थानको ग्रहण करना चाहता है, उसी के अनुसार चतुष्क्-पञ्चक ध्यानों को उत्पन्न करके, ध्यान के सहारे विपश्यना को बढ़ा, आस्रवक्षय को प्राप्त हुए क्षीणास्रव के पास ग्रहण करना चाहिए।

क्या क्षीणास्रव 'मैं क्षीणास्रव हूँ' इस प्रकार अपने को प्रगट करता है ? क्या कहना ? भावना करनेवाले को जानकर प्रगट करता है। क्या अश्वगुप्त[3] स्थविर ने कर्मस्थान को आरम्भ किये भिक्षु के लिये "यह कर्मस्थान को करने वाला है" जानकर आकाश में चर्म-खण्ड को बिछा कर, वहाँ पालथी मारकर बैठे हुए कर्मस्थान नहीं कहा ? इसलिए यदि क्षीणास्रव मिलता है, तो बहुत अच्छा है, यदि नहीं मिलता है तो अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न ध्यान को प्राप्त पृथक्जन, त्रिपिटकधारी, दो पिटकधारी, एक पिटक को धारण करने वालों में से पहले-पहले के पास। एक पिटकधारी के भी न रहने पर, जिसे एक संगीति[4] भी, अट्ठकथा के साथ याद हो और स्वयं लज्जी हो, उसके पास ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार का तन्तिधर (=बुद्धोपदेश को धारण करनेवाला भिक्षु) (बुद्धानुबुद्ध के) वंश का रक्षक, परम्परा का पालन करनेवाला आचार्य, आचार्य की ही मति का होता है, अपनी मति का नहीं होता। इसीलिये पुराने स्थविरों ने तीन बार कहा—"लज्जावान् रक्षा करेगा, लज्जावान् रक्षा करेगा।"

पहले कहे गये क्षीणास्रव आदि अपने प्राप्त किये हुएमार्ग को ही बतलाते हैं। बहुश्रुत उस-उस आचार्य के पास जाकर सीख, पूछकर भलीभाँति (कर्मस्थान का) शोधन करके, इधर-

१. अंगुत्तर नि० ७, ४, ६।

२. संयुत्त नि० ३, २, ८।

३. देखिए—मिलिन्द प्रश्न १, १, ४–११।

४. यहाँ संगीति का अर्थ निकाय है। पाँचों निकायों में से कोई एक। सिंहली भाषा में इसी को 'सँगिय' कहते हैं। जैसे—दीगसँगिय (= दीघ निकाय), मदुम सँगिय (= मज्झिम निकाय) आदि।

उधर से सूत्र और कारण को विचार कर योग्य-अयोग्य को ठीक करके घने स्थान में जानेवाले महा-हाथी के समान महामार्ग को दिखलाते हुए कर्मस्थान कहेगा। इसलिये इस प्रकार के कर्मस्थान-दायक कल्याणमित्र के पास जाकर उसका सेवा-टहल करके कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिये। यदि वह एक विहार में ही मिलता है, तो बहुत अच्छा है, यदि नहीं मिलता है, तो जहाँ वह रहता है वहाँ जाना चाहिये। जानेवाले को न धोये मले हुये पैरों में चप्पल (= उपानह) पहन कर, छाता ले, तेल की फोंफी, मधु, राब आदि लिवा शिष्यों से घिरा हुआ जाना चाहिये। जाने के पहले करने योग्य कार्यों को पूर्ण करके, अपने पात्र-चीवर को स्वयं लेकर (जाते हुए) मार्ग में जिस-जिस विहार में जाता है, सब जगह व्रत-प्रतिव्रत[1] करते हुए, हल्के सामानों के साथ अत्यन्त, संलेख विचार का होकर जाना चाहिये। उस विहार में प्रवेश करते समय मार्ग में ही दातौन को कप्य[2] करवा, लेकर प्रवेश करना चाहिये। "मुहूर्त भर विश्राम करके पैर धो, (तेल) आदि मलकर आचार्य के पास जाऊँगा" (ऐसा सोच), अन्य परिवेण में नहीं जाना चाहिये। क्यों ? यदि वहाँ उसके आचार्य के अनमेल भिक्षु हों, वे (उसके) आने के कारण को पूछ, आचार्य की निन्दा करके यदि उसके पास आये हों, तो तुम नष्ट हो गये" (इस प्रकार कहकर) पछतावा पैदा करें, जिससे कि वह वहीं से लौट जाय। इसलिये आचार्य रहने की जगह को पूछकर सीधे वहीं जाना चाहिये।

यदि आचार्य (अपने से) बहुत छोटा होता है, तो (उससे) पात्र-चीवर को ग्रहण करने आदि का काम नहीं लेना चाहिये और यदि बूढ़ा होता है तो जाकर आचार्य को प्रणाम करके खड़ा हो जाना चाहिये। "आवुस, पात्र-चीवर रखो" कहने पर रखना चाहिये। "पानी पीवो" कहने पर यदि इच्छा हो तो पीना चाहिये। "पैरों को धोवो" कहने पर पैर नहीं धोने चाहिये। यदि जल आचार्य द्वारा लाया गया हो, तो योग्य नहीं है। "आवुस, धोवो, मैंने नहीं लाया, दूसरे लाये हैं" कहने पर जहाँ आचार्य नहीं देख (सकता) हो, वैसे आड़ में अथवा विहार के मैदान में भी एक ओर बैठकर पैर धोने चाहिये।

यदि आचार्य तेल की फोंफी लाता है, तो उठकर दोनों हाथों से पकड़ना चाहिये। यदि नहीं पकड़े, तो यह भिक्षु अभी से इस्तेमाल नहीं करता है" (ऐसा) आचार्य के मन में हो। (तेल को) लेकर शुरू से पैर में नहीं मलना चाहिये। यदि वह आचार्य के शरीर में मलने का तेल हो, तो योग्य नहीं। इसलिये पहले शिर में मलकर कन्धे आदि में मलना चाहिये। "आवुस, सब के काम में आनेवाला तेल है, पैरों में मलो" कहने पर थोड़ा सा शिर में रखकर, पैरों को मल—'भन्ते इस तेल की फोंफी को रखता हूँ" कहकर आचार्य के लेने पर देना चाहिये।

आने के दिन "भन्ते, मुझे कर्मस्थान कहिये" ऐसा नहीं कहना चाहिये। दूसरे दिन, यदि आचार्य का हमेशा सेवा-टहल करनेवाला सेवक हो, तो उससे (अपने लिये भी मौका) माँगकर सेवा-टहल करना चाहिये। यदि माँगने पर भी नहीं देता है, तो मौका पाने पर ही करना चाहिये। (सेवा-टहल) करनेवाले को छोटी, मझली, बड़ी-तीन दातौन (आचार्य के) पास लानी चाहिये। ठंडा-गर्म दो तरह का मुख धोने और नहाने के लिये जल तैयार करना चाहिये। उसके बाद आचार्य तीन दिनों तक जो खाता है, वैसा ही नित्य ले जाकर देना चाहिये। बिना नियम के खानेवाले के लिये, जैसा पाना चाहिये, ले जाकर देना चाहिये।

---

१. आने-जाने के समय के समीचीन कर्म। विस्तार के लिये देखिये चुल्लवग्ग।

२. भिक्षु किसी पेड़ की पत्ती या डाली तोड़ते-काटते नहीं, अतः दूसरे से तोड़वाने और कटवाने आदि को कप्य करना कहते हैं।

बहुत कहने से क्या ? जो भगवान् ने—"भिक्षुओ, शिष्य को आचार्य के साथ ठीक से पेश आना चाहिये। यह ठीक से पेश आने का नियम है—बहुत सबेरे ही उठकर चप्पल (=उपानह) को उतार उत्तरासंग को एक कंधे पर करके दातौन देनी चाहिये। मुख धोने के लिये जल देना चाहिये। आसन बिछाना चाहिये। यदि यवागु हो तो बर्तन धोकर यवागु (= खिचड़ी) ले जाकर देनी चाहिये।" आदि **स्कन्ध**[1] में ठीक से पेश आने का नियम बतलाया है, वह सभी करना चाहिये।

ऐसे सेवा-टहल करके गुरु को प्रसन्न कर सन्ध्या के समय प्रणाम करके "जाओ" कहकर छुट्टी देने पर जाना चाहिये। जब वह—"किसलिये आये हो ?" पूछे, तब आने के कारण को बतलाना चाहिये। यदि वह नहीं पूछे, सेवा-टहल ले, तो दस दिन या एक पखवारे के बीत जाने पर, एक दिन छुट्टी देने पर भी न जाकर, अवकाश माँग कर आने के कारण को बतलाना चाहिये। अथवा बेसमय में जाकर—"किसलिये आये हो ?" पूछने पर कहना चाहिये। यदि वह—"सबेरे ही आओ" कहता है, तो सबेरे ही जाना चाहिये।

यदि उस समय उसे पित्त के रोग से पेट में जलन होती हो, मंदाग्नि के कारण भोजन नहीं पचता हो अथवा दूसरा ही कोई रोग पीड़ित करता हो, तो उसे यथार्थ प्रकट करके अपने अनुकूल समय को बतलाकर, उस समय (आचार्य के) पास जाना चाहिये। समय के अनुकूल न होने से कहा जाता हुआ भी कर्मस्थान मन में नहीं बैठाया जा सकता।

यह, "कर्मस्थान को देनेवाले कल्याणमित्र के पास जाकर" का विस्तार है।

चर्य्या

अपनी चर्य्या के अनुकूल,··· छः चर्य्या हैं—(१) राग चर्य्या (२) द्वेष चर्य्या (३) मोह चर्य्या (४) श्रद्धा चर्य्या (५) बुद्धि चर्य्या (६) वितर्क चर्य्या। कोई-कोई राग आदि को मिला-जुला कर और भी चार तथा वैसे ही श्रद्धा आदि को—इन भावों के साथ चौदह बतलाते हैं।[2] इस प्रकार भेदों को कहने पर राग आदि को श्रद्धा आदि से भी मिलाकर बहुत सी चर्य्या होती हैं।[3] इसलिये संक्षेप में छः ही चर्य्या जाननी चाहिये। चर्य्या, प्रकृति (= स्वभाव), उत्सन्नता—ये अर्थ से एक हैं। उनके अनुसार छः ही व्यक्ति होते हैं—(१) रागचरित (२) द्वेष चरित (३) मोह चरित (४) श्रद्धा चरित (५) बुद्धि चरित (६) वितर्क चरित।

उनमें, चूँकि राग चरित वाले को कुशल-चित्त के उत्पन्न होने के समय श्रद्धा बलवान् होती है, राग (= स्नेह) के समान गुणवाली होने के कारण। जैसे कि अकुशल चित्त के उत्पन्न होने पर राग स्निग्ध होता है, बहुत रूखा नहीं; ऐसे ही कुशलचित्त की उत्पत्ति के समान श्रद्धा। जैसे राग भोग-विलास की वस्तुओं को खोजता है, ऐसे ही श्रद्धाशील आदि गुणों को। जैसे राग

---

१. विनयपिटक के महास्कन्ध में। देखिये महावग्ग १, २०

२. राग आदि को मिला-जुलाकर—(१) रागमोह चर्य्या (२) द्वेषमोह चर्य्या (३) रागद्वेष चर्य्या (४) राग-द्वेष-मोह-चर्य्या। ये चार होते हैं। ऐसे ही श्रद्धा आदि को मिला-जुलाकर—(१) श्रद्धा-बुद्धि चर्य्या (२) श्रद्धा वितर्क चर्य्या (३) बुद्धि वितर्क चर्य्या (४) श्रद्धा बुद्धि वितर्क चर्य्या—ये चार होते हैं।

३. तिरसठ या उससे भी अधिक। वे **'असम्मोसानन्तरधानसुत्त'** संयुत्त निकाय की टीका में विस्तार पूर्वक दिखलाई गई हैं। वहाँ कहे गये प्रकार से जानना चाहिये—ये चार होते हैं।

बुराई करना नहीं छोड़ता, ऐसे ही श्रद्धा भलाई करना नहीं छोड़ती। इसलिये रागचरित का श्रद्धा चरित मेली (= सभाग) है।

चूँकि द्वेष चरितवाले को कुशल चित्त के उत्पन्न होने के समय प्रज्ञा बलवान् होती है, द्वेष के समान गुणवाली होने के कारण। जैसे कि अकुशल चित्त के उत्पन्न होने पर द्वेष रूखा होता है, आलम्बन से नहीं लगता है, ऐसे ही कुशल होने के समय प्रज्ञा। और जैसे द्वेष, नहीं हुए दोष को भी खोजता है, ऐसे ही प्रज्ञा रहते हुए दोष को ही। जैसे द्वेष प्राणियों को त्यागने के रूप में होता है, ऐसे ही प्रज्ञा संस्कार त्यागने के रूप में। इसलिये द्वेष चरित का बुद्धि चरित मेली है।

चूँकि मोहचरित वाले को नहीं उत्पन्न हुए कुशल धर्मों को उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न करते हुए अधिकतर विघ्नकारक वितर्क उत्पन्न होते हैं, मोह के समान लक्षणवाले होने के कारण। जैसे कि मोह बहुत ही व्याकुल होने के कारण। और जैसे मोह (आलम्बनों को) नहीं पकड़ने के कारण चंचल होता है, वैसे ही वितर्क जल्दी-जल्दी कल्पना करने के कारण। इसलिये मोह-चरित का वितर्क चरित मेली है।

दूसरे, तृष्णा, मान, दृष्टि के अनुसार और भी तीन चर्या कहते हैं। उनमें तृष्णा राग ही है और मान उसमें मिला हुआ है, इसलिए दोनों राग-चर्या से अलग नहीं होते। दृष्टिको मोहसे उत्पन्न होने के कारण दृष्टि चर्या मोह चर्या में ही आ जाती है।

इन चर्याओं का क्या निदान है? कैसे जानना चाहिए कि यह व्यक्ति रागचरित वाला है, यह व्यक्ति द्वेष आदि चर्याओं में से कोई एक? किस चरित वाले व्यक्ति के लिए क्या अनुकूल है?

चर्या-निदान

उनमें, पहले की तीन चर्यायें पूर्व जन्मों में अभ्यस्त होने और (श्लेष्मा आदि) धातु-दोष के कारण (होती हैं)—(ऐसा) कोई-कोई[1] कहते हैं। पहले (जन्म में जो) प्रेम में लगा हुआ अधिकांश शोभन कार्य करता है, (वह) राग चरित होता है। अथवा स्वर्ग से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुआ। पहले जन्ममें काटने, मारने, बाँधने, दुश्मनी का काम अधिकांश करनेवाला द्वेष चरित होता है। अथवा नरक, सर्प-योनि से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुआ। पहले जन्म में अधिकांश शराब पीने वाला और सुनने-पूछने से वंचित मोह चरित होता है। अथवा पशु-योनि से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुआ। ऐसे पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण कहते हैं।

दो धातुओं की अधिकता से व्यक्ति मोहचरित वाला होता है—पृथ्वी धातु और जल धातु के। अन्य दो की अधिकता से द्वेष चरित। सबकी समानता से रागचरित। द्वेष वालों में श्लेष्मा अधिक वाला रागचरित होता है। वायु अधिक वाला मोहचरित अथवा श्लेष्मा अधिक वाला मोहचरित और वायु अधिक वाला राग चरित—ऐसे धातु-दोष के कारण कहते हैं।

चूँकि पहले (जन्म में) प्रेम में लगे हुए अधिकांश शोभन कार्य करने वाले भी और स्वर्ग से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुए भी—सभी रागचरित वाले ही नहीं होते अथवा दूसरे द्वेष-मोह चरितवाले। इस प्रकार कहे गये के अनुसार धातुओं का उत्सद नियम नहीं है। द्वेष के नियम में राग-मोह दो ही कहे गये हैं। और वह भी पूर्वापर विरोधी हैं। श्रद्धा चर्या आदिमें एक का भी निदान नहीं कहा गया है। इसलिए यह सब अनिश्चित कथन है।

---

१. **कोई-कोई,** उपतिष्यस्थविर के सम्बन्ध में कहा गया है, उन्होंने **'विमुक्ति मार्ग'** में वैसा कहा है—टीका।

जानने के लक्षण

जो कहा गया है—'कैसे जानना चाहिए कि यह व्यक्ति रागचरित वाला है ?'[१] आदि। उसके लिए यह विधि है :—

इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।
धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये॥

[ईर्य्यापथ, काम, भोजन, देखने आदि और धर्म की प्रवृत्ति से चर्य्याओं को जाने।]

उनमें, **ईर्य्यापथ से**, रागचरित वाला स्वाभाविक चाल से चलते हुए बनठन कर चलता है, धीरे से पैर रखता है, बराबर रखता है, बराबर उठाता है, और उसके पैर का विचला भाग जमीन नहीं छूता है। द्वेष चरितवाला पैर के अगले भाग से (जमीन) खोदते हुए के समान चलता है, सहसा पैर रखता है, सहसा उठाता है और वह पैर रखने के समय काढ़ते (=खींचते) हुए के समान रखता है। मोहचरितवाला हाथ-पैर चलाते हुए चलता है, सशंकित[२] के समान पैर रखता है, सशंकित के समान उठाता है और उसका पैर सहसा अनुपीड़ित (=पैर के पंजे और एँड़ी से सहसा ही पेरना) होता है। मागन्दिय सूत्र की उत्पत्ति में यह कहा भी है—

रत्तस्स हि उक्कुटिकं पदं भवे
दुट्ठस्स होति अनुकड्ढितं पदं।
मूळ्हस्स होति सहसानुपीळितं
विवट्टच्छदस्स इदमीदिसं पदं॥[३]

[रागी का पैर निचले भाग में जमीन को नहीं छूता है। द्वेषी का पैर जमीन पर रखने के समय खींचते हुए होता है। मोही का पैर पंजे और एँड़ी से सहसा जमीन को पेरता हुआ[४] होता है, किन्तु छत-रहित (=प्रहीण-क्लेश) का पैर इस प्रकार का होता है।]

रागचरितवाले का स्थान भी सुन्दर और मनोहर होता है। द्वेष चरितवाले का कड़ा, मोह चरितवाले का तितर-बितर (=आकुल)। बैठने में भी ऐसे ही। रागचरित वाला धीरे-धीरे बराबर बिछावन बिछा, धीरे से लेट, अंग-प्रत्यङ्गों को समेट कर सुन्दर ढंग से सोता है और उठाते हुए जल्दी से उठकर डरे हुए के समान धीरे से जवाब देता है। द्वेषचरित वाला जैसे तैसे बिछावन बिछा, शरीर फेंके हुए भौं चढ़ाकर सोता है और उठाते हुए जल्दी से उठकर गुस्सा होने के समान जवाब देता है। मोहचरित वाला बेतुका बिछावन बिछाकर इधर-उधर अंग-प्रत्यङ्गों को फेंके हुए अधिकतर नीचे मुख करके सोता है और उठाते हुए 'हुँ', 'हुँ' करते हुए देर में उठता है।

श्रद्धाचरित आदि चूँकि रागचरित के सदृश होते हैं, इसलिए उनका भी ईर्य्यापथ वैसा ही होता है। इस प्रकार ईर्य्यापथ से चर्य्याओं को जाने।

काम से, झाड़ू लगाने आदि के कामों में रागचरित वाला अच्छी तरह झाड़ू को पकड़कर धीरे-धीरे बालू को न फैलाते हुए सेहुँड़ (=Vitex nigunda) के बिछे फूलों के समान बिछाते

१. देखिये पृष्ठ ९६

२. डरे हुए के समान—कोई-कोई अर्थ कहते हैं—टीका।

३. सुत्त-निपात ४, ९ और धम्मपदट्ठकथा २, १; किन्तु गाथा में असदृशता है।

४. रूँधता हुआ —टीका।

हुए शुद्ध बराबर झाड़ू लगाता है। द्वेष चरितवाला जोर से झाड़ू को पकड़कर जल्दी-जल्दी दोनों ओर बालू उठाते हुए कर्कश शब्द से शुद्ध, विषम झाड़ू लगाता है। मोहचरितवाला ढीला झाड़ू पकड़कर उलाटते-पलाटते (बालू और कूड़ाकरकट) मिलाते हुए अशुद्ध और विषम झाड़ू लगाता है। जैसे झाड़ू लगाने में, ऐसे ही चीवर धोने, रँगने आदि में भी, सब कामों में निपुण, प्रिय, भली प्रकार सत्कार पूर्वक करनेवाला रागचरित, जोर से पकड़ने, कड़ा और विषम करनेवाला द्वेष-चरित, अ-निपुण, तितर-बितर, विषम और असीमित करनेवाला मोहचरित। चीवर पहनना भी रागचरित वाले का न बहुत कसा और न बहुत ढीला होता है। (वह) सुन्दर और गोलाकार होता है। द्वेषचरित वाले का न बहुत कसा, न गोलाकार। मोहचरितवाले का ढीला और तितर-बितर। श्रद्धाचरित आदि उनके समान होने के कारण उनके ही अनुसार जानने चाहिये। इस प्रकार काम से चर्य्याओं को जाने।

भोजन से, रागचरित वाले को चिकना, मीठा भोजन प्रिय होता है और खाते हुए न बहुत बड़ा, गोल कौर (= ग्रास) करके रस को चखते हुए धीरे-धीरे खाता है। कुछ स्वादिष्ट पाकर प्रसन्न होता है। द्वेषचरित वाले को रूखा, खट्टा खाना प्रिय होता है और खाते हुए मुँहभर कौर करके रस को न चखते हुए जल्दी-जल्दी खाता है, कुछ अ-स्वादिष्ट पाकर अप्रसन्न होता है। मोह चरितवाला अनियत रुचिवाला होता है और खाते हुए न गोल, छोटा कौर करके बर्तन में छींटते हुए, मुँह पर लेपते हुये, विक्षिप्त-चित्त नाना बातों को सोचते हुए खाता है।

श्रद्धाचरित आदि भी उनके समान होने के कारण उनके ही अनुसार जानने चाहिये। इस प्रकार भोजन से चर्य्याओं को जाने।

देखने आदि से, रागचरित वाला थोड़ा भी मनोरम रूप को देखकर अचम्भे में पड़े हुए के समान देरतक देखता है। थोड़े से भी गुण में फँस जाता है। यथार्थ दोष को भी नहीं मानता है। जाते हुए भी न छोड़ने की इच्छावाले के समान होकर सापेक्ष्य ही जाता है। द्वेष-चरितवाला थोड़ा भी बुरा देखकर (नहीं सह सकने के कारण) दुःखित होने के समान बहुत देर तक नहीं देखता है। थोड़े से भी दोष में लड़ पड़ता है। यथार्थ गुण को भी नहीं मानता है। जाते हुए भी छूटने की ही इच्छावाला होकर, इच्छारहित जाता है। मोहचरित वाला जिस किसी रूप को देखकर, दूसरे की नकल करनेवाला होता है। दूसरे को निन्दा करते हुए सुनकर निन्दा करता है। प्रशंसा करते हुए सुनकर प्रशंसा करता है। स्वयं अज्ञानता की उपेक्षा से उपेक्षा ही करनेवाला होता है। ऐसे ही शब्द-श्रवण आदि में भी।

श्रद्धाचरित आदि भी उनके समान होने के कारण उनके ही अनुसार जानने चाहिये। इस प्रकार देखने आदि से चर्य्याओं को जाने।

धर्म की प्रवृत्ति से, रागचरित वाले को माया, शठता, घमण्ड, बुरी इच्छायें, बड़ी-बड़ी आशायें, अ-सन्तोष, दूसरे को चोट पहुँचाना, चपलता आदि इस प्रकार की बातें अधिकतर होती हैं। द्वेषचरित वाले को क्रोध, उपनाह (= वैर बाँधना), म्रक्ष (= दूसरे के गुण को मिटाने का प्रयत्न), निष्ठुरता, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि इस प्रकार के। मोहचरित वाले को स्त्यान (= मानसिक आलस्य)-मृद्ध (= शारीरिक आलस्य), औद्धत्य (= उद्धतपन), कौकृत्य (= पछतावा), विचिकित्सा (= शंका), अपनी बात पर दृढ़ता से डटे रहना, अपनी बात को न छोड़ना आदि इस प्रकार के। श्रद्धाचरित वाले को खुलेहाथ दान देना, आर्यों के दर्शन की इच्छा, सद्धर्म को सुनने की अभिलाषा, प्रमोद की अधिकता संसर्ग से रहित रहना, मायावी न होना, चित्त-प्रसन्न करने की

बातों (= बुद्ध, धर्म, संघ) में चित्त को प्रसन्न करना आदि इस प्रकार के। बुद्धिचरित वाले को आज्ञाकारी (= सुवच), कल्याण मित्रों का साथ करना, भोजन में मात्रा जानना, स्मृति और सम्प्रजन्य (=प्रज्ञा) वाला होना, जागरण में लगे रहना, संवेग करनेवाली बातों में संवेग करना और संविग्न का ठीक-ठीक प्रयत्न करना आदि इस प्रकार के। वितर्क चरितवाले को बहुत बातचीत करना, झुण्ड-झुण्ड होकर विहरने की इच्छा, पुण्यकर्मों में मन न लगना, चंचल चित्त का होना, रात में धुँधुँवाना (=ऐसा-ऐसा करूँगा—सोचना), दिन में जलना (= उन सोचे हुए कामों को करना), इधर-उधर (मन को) दौड़ाना आदि इस प्रकार की बातें अधिकतर होती हैं। इस प्रकार धर्म की प्रवृत्ति से चर्याओं को जाने।

चूँकि यह चर्या के जानने का विधान सब प्रकार से न तो पालि में और न अर्थकथा में ही आया है, केवल आचार्य के मतानुसार कहा गया है, इसलिये सार रूप में नहीं मानना चाहिये। क्योंकि रागचरित वाले के लिये कहे गये ईर्यापथ आदि को द्वेषचरित आदि भी अप्रमाद से विहरने वाले कर सकते हैं। और मिश्र चरित वाले एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न लक्षण वाले ईर्यापथ आदि नहीं उत्पन्न होते हैं। जो अर्थ-कथाओं में चर्या के जानने की विधि बतलाई गई है, उसे ही सार रूप में मानना चाहिये। कहा है—"चैतोपर्य ज्ञान[1] (=दूसरे के चित्त को जान लेने वाला ज्ञान) को प्राप्त आचार्य चर्या को जान कर कर्मस्थान कहेगा। दूसरे (आचार्य) को शिष्य से पूछना चाहिये।" इसलिये चैतोपर्य ज्ञान से अथवा उस व्यक्ति से पूछकर जानना चाहिये कि यह व्यक्ति रागचरित वाला है, यह द्वेष आदि (चर्याओं) में से कोई एक।

चरित के अनुसार अनुकूलता

किस चरित वाले व्यक्ति के लिये क्या अनुकूल है?, यहाँ रागचरित वाले के लिये शयनासन अपरिशुद्ध वेदी वाला, भूमि पर ही बना, पब्भार[2] नहीं बनाया हुआ, तृण की कुटी, पर्णशाला आदि में से कोई धूल से भरा, चमगीदड़ों से पूर्ण, ढहता-ढिमलाता, बहुत ऊँचा या बहुत नीचा जंगली[3], (सिंह आदि के) भय से युक्त, अपवित्र, विषम मार्ग वाला, जहाँ चारपाई-चौकी भी खटमल से भरी और बदसूरत होती हैं, जिसे देखते ही घृणा पैदा होती है, वैसा अनुकूल है। पहनने-बिछाने का (वस्त्र) किनारे-किनारे फटा, लटकते-झूलते हुये सूतों से भरा जलेबी (=जालपूवं) के समान, बोरे के समान रूखर स्पर्श वाला, मैला, भारी, मुश्किलाहट से ढोये जाने वाला अनुकूल होता है। पात्र भी भद्दा (= दुर्वर्ण), मिट्टी का पात्र अथवा काँटी और गाँठ से भरा हुआ लोहे का पात्र, भारी और बुरी बनावट का, सिर की खोंपड़ी के समान घृणा करने के योग्य होना चाहिये। भिक्षाटन का मार्ग भी अप्रिय, दूर गाँव वाला विषम होना चाहिये। भिक्षाटन करने का गाँव भी, जहाँ आदमी बिना देखे हुए के समान घूमते हैं, जहाँ एक घर में भी भिक्षा न पाकर निकलते हुए—'भन्ते, आइये' (कहकर) आसनशाला में ले जाकर यवागु-भात देकर जाते समय गाय को ढाँठर में घुसाने के समान प्रवेश कराके बिना देखते हुए जाते हैं,

१. देखिये, परिच्छेद तेरहवाँ।

२. पर्वत के झुके हुए स्थान को पब्भार कहते हैं, जहाँ कि उसके नीचे रहा जा सके।

३. छाया और जल से रहित—टीका।

वैसा होना चाहिये। परोसने वाले आदमी भी दास या नौकर कुरूप, भद्दे, मैला कपड़ा पहने, दुर्गन्ध, जिगुप्सा पैदा करने वाले—जो बे-मन से खिचड़ी-भात फेंकने के समान परोसते हैं। वैसे अनुकूल होते हैं। खिचड़ी-भात-खाने की चीज़ें भी रूखी, ख़राब, सावाँ-कोदो, कण आदि से बनी, सड़ा माठा, माँड़, पुराने साग का तेवना, जो कुछ केवल पेट-भर होना चाहिये। इसका ईर्य्यापथ भी खड़ा रहना या टहलना होना चाहिये। आलम्बन नीला आदि **वर्ण-कसिण** में से जो कोई अपरिशुद्ध-वर्ण—यह रागचरित वाले के अनुकूल है।

द्वेषचरित वाले का शयनासन न बहुत ऊँचा, न बहुत नीचा, छाया और जल से युक्त, दीवार, खम्भे, सीढ़ियों में बँटा हुआ, माला-लता कर्मों से पूर्ण (=चित्रित), नाना प्रकार के चित्र-कर्म से सुसज्जित, बराबर-चिकना-नर्म सतह वाला, ब्रह्मविमान के समान पुष्प-माला और विचित्र रंग के वितान से अच्छी तरह सजा, शुद्ध, मनोरम बिछावनों से भली भाँति बिछी चौकी-चारपाई जगह-जगह पर सुगन्धी के लिये रखे फूल और सुगन्धियों के सुवास से सुगन्धित,जो देखने मात्र से प्रीति-प्रामोद्य पैदा करता है—इस प्रकार का अनुकूल होता है।

उसके शयनासन का मार्ग भी सब तरह के विघ्नों से रहित, पवित्र, बराबर तल वाला, खूब सजाधजा हुआ ही होना चाहिये। सोने-बिछाने के सामान भी कीड़े, खटमल, दीर्घ-जातिक (=सर्प आदि), चूहों के उपद्रवों को दूर करने के लिये बहुत नहीं होना चाहिये। एक ही चारपाई-चौकी मात्र होनी चाहिये। पहनने-बिछाने के भी उसके (वस्त्र) **चीन देश** का बना कपड़ा (= चीनपट्ट), **सोमार देश**[1] का वस्त्र (= सोमारपट्ट), रेशमी, कपाससे बना महीन वस्त्र, तीसी का बना हुआ महीन कपड़ा (= क्षौमवस्त्र)[2] आदि में जो-जो अच्छा हो, उससे एकहरा या दोहरा हलका श्रमण (-वेष) के योग्य अच्छी तरह रँगा हुआ, सुपरिशुद्ध वर्ण वाला होना चाहिये। पात्र पानी के बुलबुले के समान अच्छी बनावट वाला, मणि के समान चिकना और निर्मल। श्रमण वेष के योग्य सुपरिशुद्ध वर्ण लोहे का होना चाहिये। भिक्षाटन का मार्ग विघ्न-रहित, समतल, प्रिय और न बहुत दूर, न बहुत समीप गाँववाला होना चाहिये। भिक्षाटन करने का गाँव भी जहाँ आदमी—"अब आर्य आयेंगे" (सोच) पानी छिड़क बहार कर साफ किये हुए स्थान पर आसन बिछा, आगे बढ़कर पात्र को ले घर में प्रवेश कराकर बिछे आसन पर बैठा, सत्कारपूर्वक अपने हाथों से परोसते हैं, वैसा होना चाहिये।

जो उसे परोसनेवाले होते हैं, (वे) खूबसूरत, चित्त को प्रसन्न करनेवाले, अच्छी तरह नहाये हुए, शरीर में लेपन किये (= पाउडर लगाये), धूप, पुष्प, गन्ध की सुगन्धियों से सुगन्धित, नाना प्रकार के पवित्र मनोहर वस्त्र-आभरण से सजे-धजे, सत्कार करनेवाले—वैसे अनुकूल होते हैं।

खिचड़ी-भात, खाने की चीजें भी वर्ण-गन्ध, रस से युक्त ओजवाली, मनोरम, सब तरह से उत्तम (= प्रणीत) इच्छा भर (खाने के लिए) होनी चाहिये। इसका ईर्य्यापथ भी लेटना या बैठना होना चाहिये। आलम्बन नील आदि कसिणों में से जो कोई सुपरिशुद्ध वर्ण। यह द्वेष चरितवाले के अनुकूल है।

---

१. 'सोवीर' मिलिन्द प्रश्न ५, १५। यह देश राजपूताना के दक्षिण और अवन्ती के पश्चिम पड़ता था, इसकी राजधानी रोरुक थी—देखिये, सिंहली बुद्धचरित की भूमिका।

२. तीसी के महीन कपड़े के लिये पूर्वकाल में शाक्यों का **'खोमदुस्स निगम'** प्रसिद्ध था। वहाँ का क्षौम-वस्त्र देश-विदेश भेजा जाता था—देखिये, संयुत्त नि० अट्ठ० १, ७, २, १२।

मोहचरितवाले का शयनासन खुले मैदान की ओर मुखवाला, विघ्नरहित होना चाहिये। जहाँ कि बैठनेवालेको खुली दिशा दिखाई देती है। ईर्य्यापथों में टहलना होना चाहिये। इसका आलम्बन सूप या परई (= शराव) के बराबर छोटा नहीं होना चाहिये। सँकरी (= सम्बाध) जगह में चित्त अधिकतर सम्मोह को प्राप्त होता है, इसलिये कसिण बड़ा और महान् होना चाहिये। शेष (बातें) द्वेषचरित वाले के लिये कही गई के समान। यह मोहचरित वाले के लिये अनुकूल है।

श्रद्धाचरितवाले के लिए द्वेषचरित में कहा गया सभी विधान अनुकूल है। इसके आलम्बनों में अनुस्मृति (-कर्म-) स्थान[1] भी होना चाहिये। बुद्धिचरितवाले के लिये शयनासन में 'यह अनुकूल है' ऐसी बात नहीं है। वितर्कचरितवाले के लिए शयनासन खुले मैदान की ओर मुख वाला, जहाँ बैठे हुए बाग, बगीचे, वन, पुष्करणी (= पोखरी) की रमणीयता, गाँव, देहात (= निगम), जवार (= जनपद) की तरतीब (= परिपाटी) और नीले रंगवाले पर्वत दिखाई देते हैं—वह नहीं होना चाहिये। वह तो वितर्क की दौड़ान का कारण ही बनता है।[2] इसलिए पर्वत की घाटी में, वन से ढँके हुए **हस्तिकुक्षिपब्भार**[3] और **महेन्द्रगुहा**[4] के समान शयनासन में वास करना चाहिये। इसका आलम्बन भी बड़ा नहीं होना चाहिये। वैसा वितर्क के अनुसार दौड़ान का हेतु होता है। (वह) छोटा होना चाहिये। शेष रागचरितवाले के लिये कहे गये के समान। यह वितर्कचरितवाले के लिए अनुकूल है।

यह, "अपनी चर्य्या के अनुकूल" इसमें आई हुई चर्य्याओं का प्रभेद, निदान का स्पष्टीकरण और अनुकूलता के परिच्छेद के अनुसार विस्तार है।

अभी तक चर्य्या के अनुकूल कर्मस्थान सब प्रकार से नहीं स्पष्ट किया गया है। वह बाद वाली मात्रिका (=शीर्षक) के विस्तार में अपने आप स्पष्ट होगा। इसलिए जो कहा गया है—"चालीस कर्मस्थानों में किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण करके"[5]—यहाँ (१) संख्या के निर्देश से (२) उपचारअर्पणा ध्यान के आवाहन से, (३) ध्यान के प्रभेद से, (४) (आलम्बनों के) समतिक्रमण से, (५) बढ़ाने-घटाने से, (६) आलम्बन से, (७) भूमि से, (८) ग्रहण करने से, (९) प्रत्यय से, (१०) चर्य्या के अनुकूल होने से—इन दस आकारों से कर्मस्थान का विनिश्चय जानना चाहिये।

चालीस कर्मस्थान

उनमें, **संख्या निर्देश से**, 'चालीस कर्मस्थानों में'—इस प्रकार जो कहा गया है, वहाँ चालीस कर्मस्थान ये हैं—(१) दस कसिण (=कृत्स्न), (२) दस अशुभ, (३) दस अनुस्मृतियाँ (४) चार ब्रह्मविहार (५) चार आरुप्य (६) एक संज्ञा और (७) एक व्यवस्थान।

---

१. बुद्धानुस्मृति कर्मस्थान आदि छः कर्मस्थान। देखिये, सातवाँ परिच्छेद।

२. जैसे आयुष्मान् **मेघिय** स्थविर का—टीका। विस्तार के लिए देखिये—उदान ४, १

३. लंका में एक पर्वत-गुहा।

४. महेन्द्र स्थविर के सोने के लिये बनी गुफा, जो लंका में सेगिरि (मिहिन्तले, अनुराधपुर से ८ मील दूर) आज भी वर्तमान है।

५. देखो पृष्ठ ८५।

अ—पृथ्वी कसिण, आप्-(=जल) कसिण, तेज (=अग्नि)-कसिण, वायु-कसिण, नील-कसिण, पीत-कसिण, लोहित-(=लाल) कसिण, अवदात (=श्वेत) कसिण, आलोक-कसिण, परिछिन्ना-काश कसिण—ये दस कसिण (= कृत्स्न) हैं।

आ—ऊर्ध्वमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, विक्षिप्तक, हत-विक्षिप्तक, लोहितक, पुलुवक, अस्थिक—ये दस अशुभ हैं।

इ—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, सङ्घानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगता-स्मृति, आनापानस्मृति, उपशमानुस्मृति,—ये दस अनुस्मृतियाँ हैं।

ई—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—ये चार ब्रह्मविहार हैं।

उ—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—ये चार आरुप्य हैं।

ऊ—आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा (= ख्याल)—एक संज्ञा है।

ए—चारों धातुओं का व्यवस्थान—एक व्यवस्थान है।

—ऐसे संख्या के निर्देश से विनिश्चय जानना चाहिये।

उपचार-अर्पणा का आवाहन

उपचार अर्पणा के आवाहन से, कायगतास्मृति और आनापानस्मृति को छोड़कर शेष आठ स्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा, चारों धातुओं का व्यवस्थान—यही दस कर्मस्थान उपचार को आवाहन करने वाले हैं। शेष अर्पणा को आवाहन करने वाले। ऐसे उपचार-अर्पणा के आवाहन से (कर्मस्थान का विनिश्चय जानना चाहिये)।

ध्यान के भेद

ध्यान के प्रभेद से, अर्पणा का आवाहन करने वालों में यहाँ आनापानस्मृति के साथ दस कसिण चार ध्यान वाले होते हैं। कायगतास्मृति के साथ अशुभ प्रथम ध्यान वाले। पहले के तीन ब्रह्मविहार (=मैत्री, करुणा, मुदिता) तीसरे ध्यान वाले। चौथा ब्रह्मविहार (=उपेक्षा) और चारों आरुप्य चौथे ध्यान वाले हैं।...।

समतिक्रमण

(आलम्बनों के) समतिक्रमण से, दो प्रकार के समतिक्रमण होते हैं—अङ्ग का समतिक्रमण और आलम्बन का समतिक्रमण। उनमें सभी तीसरे-चौथे ध्यान वाले कर्मस्थानों में अङ्ग का समतिक्रमण होता है। वितर्क-विचार आदि ध्यान के अङ्गों का समतिक्रमण करके उन्हीं आलम्बनों में द्वितीय ध्यान आदि को पाने के कारण। वैसे ही चौथे ब्रह्मविहार में। वह भी मैत्री आदि के ही आलम्बन में सौमनस्य का समतिक्रमण करके पाने के कारण। चारों आरुप्यों में आलम्बन का समतिक्रमण होता है। पहले के नव कसिणों में से किसी एक का समतिक्रमण (=लांघना) करके आकाशानन्त्यायतन को पाया जाता है और आकाश आदि का समतिक्रमण करके विज्ञानन्त्यायतन आदि। शेषों में समतिक्रमण नहीं है।...।

बढ़ाव-घटाव

बढ़ाने-घटाने से, इन चालीस कर्मस्थानों में दस कसिणों को ही बढ़ाना चाहिये। जितनी जगह कसिण को फैलाता है, उसके अन्दर दिव्य श्रोत्रधातु से शब्द को सुनने के लिये, दिव्य-चक्षु से रूप को देखने के लिये और दूसरे प्राणियों के चित्त को (अपने) चित्त से जानने के लिए समर्थ होता है।

कायगतास्मृति और अशुभ को नहीं बढ़ाना चाहिये। क्यों? दायरे में बँटे हुए होने और गुण के अभाव के कारण। वह उनका जगह से अलग होना भावना करने की विधि में आयेगा। उनके बढ़ने पर मुर्दों का ढेर ही बढ़ता है और (उसमें) कोई गुण नहीं है। **सोपाक** प्रश्नोत्तर में कहा भी गया है—"भगवान्! रूप-संज्ञा प्रगट है किन्तु अ-प्रगट है अस्थिक संज्ञा।"[१] उसमें निमित्त के बढ़ने के अनुसार रूप-संज्ञा प्रगट कही गई है, और अस्थिक संज्ञा नहीं बढ़ने के अनुसार अप्रगट।

जो यह—"अस्थिक संज्ञा से सम्पूर्ण इस पृथ्वी को स्फरण (= फैलाना) किया।"[२] कहा गया है, वह पाये हुए (व्यक्ति) के जान पड़ने के अनुसार कहा गया है। जैसे कि **धर्माशोक** के समय में **करविंक** (= करवीक) पक्षी चारों ओर ऐनक की दीवारों में अपनी छाया को देख, सब ओर करविंक पक्षी हैं—ऐसा समझकर मीठी बोली बोला[३]। ऐसे ही स्थविर[४] ने भी अस्थिक संज्ञा की प्राप्ति के कारण सब दिशाओं में उपस्थित निमित्त को देखते हुए, सारी ही पृथ्वी को हड्डियों से भरा हुआ समझा।

यदि ऐसा है तो जो अशुभ-ध्यानों का अप्रमाणालम्बन कहा गया है[५], वह विरुद्ध होता है? वह नहीं विरुद्ध होता। कोई बड़े ऊर्ध्वमातक या अस्थिक (= हड्डी) में निमित्त को ग्रहण करता है और कोई छोटे। इस कारण किसी का परित्रालम्बन का ज्ञान होता है और किसी का अप्रमाणालम्बन का। अथवा जो इसके बढ़ने में दोष को नहीं देखते हुए (इसे) बढ़ाता है, उसके प्रति "अप्रमाणालम्बन" कहा गया है। अतः गुण के अभाव के कारण नहीं बढ़ाना चाहिये।

जैसे इन्हें, ऐसे ही शेषों को भी नहीं बढ़ाना चाहिये। क्यों? उनमें आनापान के निमित्त को बढ़ाते हुए दायरे में बँटी हुई वायुराशि ही बढ़ती है। इसलिए दोष होने और दायरे में बँटे होने के कारण नहीं बढ़ाना चाहिये। ब्रह्मविहार प्राणियों के आलम्बनवाले हैं, उनके निमित्त को बढ़ाते हुए प्राणियों का समूह ही बढ़ेगा और उससे कोई मतलब नहीं है, इसलिए उसे भी नहीं बढ़ाना चाहिये।

जो कि कहा गया है—"मैत्रीयुक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण कर"[६] आदि। वह परिग्रहण करने के अनुसार ही कहा गया है। एक घर, दो घर आदि के क्रम से एक दिशा (में रहने वाले) प्राणियों को परिग्रहण करके भावना करते हुए 'एक दिशा को पूर्ण कर' कहा गया है,

१. थेरगाथट्ठकथा ७, ४ और अपदानट्ठकथा १, १९।
२. थेरगाथा १, १५, १८।
३. देखिये, कथा सुमङ्गल विलासिनी २, १, १४ में।
४. सिगालपिता स्थविर।
५. देखिये—धम्मसंगणी ३, १८।
६. दीघनि० १, २।

न कि निमित्त को बढ़ाते हुए। इसमें प्रतिभाग-निमित्त[1] ही नहीं है जो कि बढ़े। परित्र-अप्रमाण आलम्बन का होना भी यहाँ परिग्रहण के अनुसार जानना चाहिये।

'आरूप्य के आलम्बनों में भी आकाश कसिण का उद्घाटन (= उघाड़ना) मात्र है। उसे कसिण को छोड़ कर मन में करना चाहिए। उसके बाद बढ़ाते हुए कुछ नहीं होता है, विज्ञान को स्वभाव-धर्म होने के कारण। स्वभाव-धर्म को बढ़ाया नहीं जा सकता। विज्ञान के अभाव होने के कारण **आकिंचन्यायतन** के आलम्बन को नहीं बढ़ाना चाहिये और स्वभाव धर्म के ही **नैवसंज्ञानासंज्ञायतन** के आलम्बन को नहीं बढ़ाना चाहिये। शेषों[2] को निमित्त नहीं होने के कारण। प्रतिभाग-निमित्त ही को बढ़ाना होगा। बुद्धानुस्मृति आदि का प्रतिभाग-निमित्त आलम्बन नहीं होता है। इसलिए उसे नहीं बढ़ाना चाहिये।···।

आलम्बन

इन चालीस कर्मस्थानों में—दस कसिण, दस अशुभ, आनापान स्मृति, कायगता स्मृति—ये बाइस प्रतिभाग-निमित्त वाले आलम्बन हैं। शेष प्रतिभाग निमित्तवाले आलम्बन नहीं हैं। वैसे ही दस अनुस्मृतियों में से आनापान स्मृति और कायगता स्मृति को छोड़, शेष आठ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा, चार धातुओं का व्यवस्थान, विज्ञानन्त्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—ये बाइस निमित्त आलम्बन वाले हैं। शेष छः नहीं कहे जा सकते (कि ये निमित्तवाले आलम्बन हैं अथवा अनिमित्त वाले)। वैसे ही विपुब्बक, लोहितक, पुलवक, आनापानस्मृति, जल-कसिण, अग्नि-कसिण, वायु-कसिण और जो कि आलोक कसिण में सूर्य आदि के प्रकाश के मण्डल का आलम्बन है—ये आठ चलते रहने वाले आलम्बन हैं और वह भी पूर्व भाग में। किन्तु (उनका) प्रतिभाग (-निमित्त) शान्त ही होता है। शेष चलने वाले आलम्बन नहीं हैं।···।

भूमि

दस अशुभ, कायगतास्मृति, आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा—ये बारह देव लोकों में नहीं प्रवर्तित होते हैं। वे बारह और आनापानस्मृति—ये तेरह ब्रह्मलोक में नहीं प्रवर्तित होते हैं। अरूप लोक में चारों आरूप्यों को छोड़ कर अन्य नहीं प्रवर्तित होते हैं। मनुष्य लोकमें सभी प्रवर्तित होते हैं।···।

ग्रहण करना

देख, छू, सुनकर (आलम्बनों को) ग्रहण करने से भी विनिश्चय जानना चाहिये। वायु कसिण को छोड़ कर शेष नव कसिण, दस अशुभ—इन उन्नीस को देख कर ग्रहण करना चाहिये। पहले आँख से देख-देख कर उनके निमित्त को ग्रहण करना चाहिये—यह इसका अर्थ

१. देखिये—चौथा परिच्छेद।

२. बुद्धानुस्मृति आदि दस कर्मस्थानों की।

है। कायगतास्मृति में त्वक् पञ्चक्[1] को देख कर, शेष को सुन कर। ऐसे उस (कायगतास्मृति-) का आलम्बन देख, सुन कर ग्रहण करना चाहिये। आनापानस्मृति स्पर्श कर, वायु-कसिण को देख, छू कर, और शेष अठारह (आलम्बनों) को सुन कर ग्रहण करना चाहिये। उपेक्षा ब्रह्म-विहार, चार आरुप्य—इन्हें कर्मस्थान को प्रारम्भ करने वाले (=आदिकर्मिक) को नहीं ग्रहण करना चाहिये। शेष पैंतीस को ग्रहण करना चाहिये।…।

प्रत्यय

इन कर्मस्थानों में आकाश-कसिण को छोड़ शेष नव कसिण अरूप (ध्यानों) के प्रत्यय होते हैं। दस कसिण अभिज्ञाओं के। तीन ब्रह्म विहार चौथे ब्रह्म विहार के। निचला-निचला अरूप (ध्यान) ऊपरी-ऊपरी का। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन **निरोध समापत्ति** का, और सभी (दृष्ट-धर्म) सुख विहार, विपश्यना और (देव लोक आदि में होने की) भव-सम्पत्ति का।…।

चर्या के अनुकूल होना

चर्या के अनुकूल होने से भी विनिश्चय जानना चाहिये। जैसे कि—रागचरित वाले के लिये दस अशुभ और कायगतास्मृति—ये ग्यारह कर्मस्थान अनुकूल हैं। द्वेष चरित वाले के लिये चार ब्रह्म विहार और चार वर्ण कसिण[2]—ये आठ। मोहचरित और वितर्क चरित वाले के लिये एक आनापान स्मृति-कर्मस्थान ही। श्रद्धाचरित वाले के लिये पहले की छः अनुस्मृतियाँ। बुद्धि-चरित वाले के लिये मरणस्मृति, उपशमानुस्मृति, चार धातुओं का व्यवस्थान और आहार में प्रतिकूलता की संज्ञा—ये चार। शेष कसिण और चार आरुप्य सब चरित वालों के लिये अनुकूल हैं। कसिणों में जो कोई छोटा (आलम्बन) वितर्क चरित वाले और अप्रमाण मोह चरित वाले के लिये।…।

यह सब पक्ष-विपक्ष और अत्यन्त अनुकूल होने के अनुसार कहा गया है। क्योंकि कुशल की भावना ऐसी नहीं है, जो कि राग आदि को न दबाये अथवा श्रद्धा आदि को न बढ़ाये। **मेघिय सूत्र** में यह कहा भी गया है—"चार धर्मों की आगे भावना करनी चाहिये। (१) राग को दूर करने के लिये अशुभ की भावना करनी चाहिये। (२) व्यापाद को दूर करने के लिये मैत्री की भावना करनी चाहिये। (३) वितर्क को दूर करने के लिये आनापानस्मृति की भावना करनी चाहिये। (४) 'मैं हूँ' के अभिमान को नाश करने के लिए अनित्यसंज्ञा की भावना करनी चाहिये।"[3] **राहुलसूत्र** में भी—"मैत्री की भावना करो।"[4] आदि प्रकार से एक के लिये ही सात कर्मस्थान कहे गये हैं।[5] इसलिए वचनमात्र में न पड़कर सर्वत्र मतलब को ही ढूँढ़ना चाहिये। यह "कर्मस्थान ग्रहण करके" इस कर्मस्थान-कथा का विनिश्चय है।

---

१. जिनका पाँचवाँ त्वक् हो, उन्हें 'त्वक् पञ्चक' कहते हैं। वे ये हैं—केश, लोम, नख, दाँत और त्वक् (=चमड़ी)।

२. चार वर्ण-कसिण हैं—नील कसिण, पीत कसिण, लोहित कसिण, अवदात कसिण।

३. अंगुत्तर नि० ४ और उदान में भी ४, १।

४. मज्झिम नि० २, २, २।

५. सात कर्मस्थान हैं—(१) मैत्री, (२) करुणा, (३) मुदिता, (४) उपेक्षा, (५) अशुभ, (६) अनित्य संज्ञा, (७) आनापानस्मृति। विस्तार के लिये देखिये मज्झिम नि० २, २, २।

ग्रहण करके—

इस पद का यह अर्थ है—उस योगी को "कर्मस्थान देने वाले कल्याण मित्र के पास जाकर"[1] यहाँ कहे गये के ही अनुसार उक्त प्रकार के कल्याण मित्र के पास जाकर बुद्ध भगवान् या आचार्य को अपने को सौंप कर विचार और अधिमुक्ति से युक्त होकर कर्मस्थान माँगना चाहिये।

"भगवान्, मैं इस शरीर को आपके लिये त्यागता हूँ" ऐसे भगवान् बुद्ध को अपने को सौंप देना चाहिये। इस प्रकार नहीं सौंप कर एकान्त, शून्य, शयनासनों में विहरते हुए, भयानक आलम्बन के दिखाई देने पर, (वहाँ) नहीं रुक सकते हुए गाँव में जाकर, गृहस्थों के साथ मिलजुल कर अनर्येपण (= धर्म के विरुद्ध चीवर, पिण्डपात, ग्लान प्रत्यय और भैषज्य को ढूँढ़ना) करते हुए विनाश को प्राप्त हो जायेगा। किन्तु जिसने अपने को सौंप दिया है, उसे भयानक आलम्बन के दिखाई देने पर भी भय नहीं उत्पन्न होता है। "नहीं तूने पण्डित, पहले ही अपने को बुद्धों को सौंप दिया ?" (इस प्रकार) विचार करते हुए उसे सौमनस्य ही उत्पन्न होता है।

जैसे (किसी) आदमी के पास उत्तम काशी का बना हुआ वस्त्र हो, उसके मूस या कीड़ों से खाये जाने पर उसे दौर्मनस्य उत्पन्न हो ; यदि वह उसे बिना चीवर वाले भिक्षु को दे, तब वह उसे उस भिक्षु द्वारा टुकड़े-टुकड़े किये जाते हुए देख कर भी सौमनस्य ही उत्पन्न हो, ऐसे ही इसे भी जानना चाहिये।

आचार्य को सौंपने वाले को भी—"भन्ते ! मैं इस शरीर को आपके लिये त्यागता हूँ।" कहना चाहिये। इस प्रकार नहीं सौंपने वाला (भिक्षु) डाँटने योग्य नहीं होता अथवा कहना नहीं मानने वाला, उपदेश को नहीं ग्रहण करने वाला, इच्छाचारी या बिना पूछे हुए ही जहाँ चाहता है, वहाँ जाने वाला होता है। आचार्य आमिष (= चीवर आदि चार प्रत्यय) या धर्म (= उपदेश) आदि से उसका संग्रह नहीं करता है। गूढ़ (= गम्भीर) ग्रन्थों को नहीं पढ़ाता है। वह इन दो प्रकार के संग्रहों को नहीं पाते हुए शासन में प्रतिष्ठा नहीं पाता है। थोड़े ही दिनों में दुःशील हो जाता है अथवा गृहस्थ बन जाता है। जो अपने को सौंप दिया होता है, वह डाँटने योग्य होता है, इच्छाचारी नहीं होता है, कहना मानने वाला तथा आचार्य की इच्छा के अनुसार चलने वाला होता है। वह आचार्य से दोनों प्रकार के संग्रह को पाते हुए शासन में वृद्धि, फैलाव और वैपुल्यता को प्राप्त होता है। चूळ पिण्डपातिक तिष्य स्थविर के शिष्यों के समान।

स्थविर के पास तीन भिक्षु आये। उनमें से एक ने—"भन्ते, मैं आपके लिये हूँ" कहने पर—"सौ पोरसा (गहरे) प्रपात में गिरने के लिये तैयार हूँ" कहा। दूसरे ने—"भन्ते, मैं आपके लिये हूँ" कहने पर—"इस शरीर को एँड़ी से लेकर पत्थर की चट्टान पर रगड़ते हुए बिना बाकी लगाये खत्म करने के लिये तैयार हूँ" कहा। तीसरे ने—"भन्ते, मैं आपके लिये हूँ" कहने पर—"साँस लेने-छोड़ने को रोक कर मर जाने के लिये तैयार हूँ।" कहा।

स्थविर ने "ये भिक्षु योग्य हैं" (सोचकर) कर्मस्थान को कहा। वे उनके उपदेश के अनुसार चलकर तीनों ही अर्हत्व को पा लिये।

अपने को सौंपने में यह फल है। इसीलिये कहा है—"बुद्ध भगवान् या आचार्य को अपने को सौंप देना चाहिये।"

---

१. पृष्ठ ८५

विचार और अधिमुक्ति से युक्त होकर, का अर्थ है, उस योगी को अ-लोभ आदि के अनुसार छः प्रकार के विचार से युक्त होना चाहिये। इस प्रकार विचार युक्त (योगी) तीनों बोधियों[1] में से किसी एक को अवश्य पाता है। जैसे कहा है—"बोधिसत्त्वों के ज्ञान की परिपक्वता के लिए छः विचार (= अध्याशय) हैं। (१) बोधिसत्त्व अलोभ विचारवाले होते हैं, लोभ करने में दोष देखते हैं। (२) बोधिसत्त्व अद्वेष विचारवाले होते हैं, द्वेष करने में दोष समझते हैं। (३) बोधिसत्त्व अ-मोह विचारवाले होते हैं, मोह करने में दोष देखते हैं। (४) बोधिसत्त्व नैष्क्रम्य[2] (= कामभोगों से निकलना) के विचार वाले होते हैं, घर में रहने के दोष देखते हैं। (५) बोधिसत्त्व एकान्त-विहार के विचारवाले होते हैं, समूह के साथ होकर रहने में दोष देखते हैं। (६) बोधिसत्त्व निस्तार (= निर्वाण) के विचारवाले होते हैं, सब भव[3] और (सब) गतियों[4] में दोष देखते हैं।"

जो कोई भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी, क्षीणाश्रव, प्रत्येक बुद्ध, सम्यक् सम्बुद्ध होते हैं, वे सब लोग इन्हीं छः आकारों से अपने पाने योग्य गुणों को पाते हैं। इसलिए इन छः प्रकार के विचारों से युक्त होना चाहिये।

(जिसके लिये भावना में जुटना है, उसी के लिए प्रव्रज्या भी है) इस प्रकार उसे अधिमुक्ति से युक्त होना चाहिये। इसका अर्थ है कि समाधि की अधिमुक्ति, समाधि के गौरव, समाधि की ओर झुकाव, निर्वाण की अधिमुक्ति, निर्वाण का गौरव, निर्वाण की ओर झुकाव होना चाहिये।

इस प्रकार विचार और अधिमुक्ति से युक्त कर्मस्थान माँगनेवाले को **चेतोपर्यज्ञान**[5] को प्राप्त आचार्य द्वारा (उसके) चित्त की गति-विधि को देखकर चर्य्या जाननी चाहिये। दूसरे (आचार्य) द्वारा—"तू किस चरितवाले हो ?" या "कौन-सी बातें तुझे अधिकतर होती हैं ?" अथवा "तुझे क्या विचारते हुए सरलता होती है ?" या "किस कर्मस्थान में तेरा चित्त लगता है ?" आदि, इस प्रकार से पूछकर जाननी चाहिये। ऐसे जानकर चर्य्या के अनुसार कर्मस्थान को कहना चाहिये। कहते हुए भी तीन प्रकार से कहना चाहिये—(१) स्वयं सीखे हुए कर्मस्थान को एक-दो बार बैठा पाठ करा के देना चाहिये। (२) समीप रहनेवाले को आने के ही समय कहना चाहिये। (३) सीख कर दूसरी जगह जाने की इच्छा वाले को न बहुत संक्षिप्त और न तो बहुत विस्तार करके कहना चाहिये।

पृथ्वीकसिण कहने वाले को कसिण (= कृत्स्न) के चार दोष, कसिण को करना, किये हुए की भावना-विधि, दो प्रकार के निमित्त, दो प्रकार की समाधि, सात प्रकार की अनुकूलता और न-अनुकूलता, दस प्रकार की अर्पणा की निपुणता, वीर्य की समता, अर्पणा-विधान —इन सब आकारों को कहना चाहिये। शेष कर्मस्थानों को भी उनके अनुरूप कहना चाहिये। वह सब उनके भावना-विधान में आयेगा। ऐसे कर्मस्थान के कहे जाते समय उस योगी को निमित्त ग्रहण करके सुनना चाहिये।

---

१. तीन बोधि हैं—(१) श्रावक बोधि (२) प्रत्येक बोधि (३) सम्यक् सम्बोधि।

२. यहाँ इसका अर्थ—'प्रव्रज्या' है—टीका।

३. भव तीन हैं—कामावचर भव, रूपावचर भव, अरूपावचर भव।

४. गतियाँ पाँच हैं—निरय (= नरक), तिर्यक् (= पशु-पक्षी आदि) योनि, प्रेत्य-विषय (= भूत प्रेत आदि), मनुष्य, देव।

५. देखो तेरहवाँ परिच्छेद।

निमित्त को ग्रहण करके :—

"यह निचला पद है, यह ऊपरी पद है, यह इसका अर्थ है, यह अभिप्राय है, यह उपमा है" ऐसे उस-उस आकार को हृदय में करके, अर्थ है। इस प्रकार निमित्त को ग्रहण करके, आदर के साथ सुनते हुए कर्मस्थान भली-भाँति ग्रहण किया हुआ होता है। तब उसे इसके सहारे विशेषता की प्राप्ति होती है। दूसरे को नहीं। यह 'ग्रहण करके' पद के अर्थ की व्याख्या है।

यहाँ तक—"कल्याण मित्र के पास जाकर अपनी चर्या के अनुकूल चालीस कर्मस्थानों में से किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण करके"—सब प्रकार से इन पदों की व्याख्या हो जाती है।

सज्जनों के प्रमोद के लिए लिखे गये विशुद्धि-मार्ग में कर्मस्थान ग्रहण निर्देश नामक तीसरा परिच्छेद समाप्त।

चौथा परिच्छेद

पृथ्वीकसिण-निर्देश

अब, जो कहा गया है—"समाधि भावना के अयोग्य विहार को त्याग कर योग्य विहार में विहरते हुए"[1] यहाँ, जिसे आचार्य के साथ एक विहार में रहने की सुविधा होती है, उसे वहीं कर्मस्थान का परिशोधन करते हुए रहना चाहिये। यदि वहाँ सुविधा नहीं होती है, तो गव्यूति[2] आधा योजन या योजन भर में भी जो दूसरा अनुकूल विहार हो, वहाँ रहना चाहिये। ऐसा होने पर कर्मस्थान की किसी भी बात में सन्देह या विस्मरण हो जाने पर बहुत सबेरे ही विहार में करने वाले कामों को करके रास्ते में भिक्षाटन कर भोजन के पश्चात् ही आचार्य के रहने के स्थान में जाकर उस दिन आचार्य के पास कर्मस्थान का शोधन करके, दूसरे दिन आचार्य को प्रणाम कर निकल मार्ग में भिक्षाटन कर बिना थके-मादे ही अपने रहने के स्थान पर आ सकेगा। जो योजन भर में भी सुविधाजनक स्थान को नहीं पाता है, उसे कर्मस्थान में सब ग्रन्थिस्थानों को काट कर (= कठिन बातों को भली भाँति समझ कर) अत्यन्त परिशुद्ध, मन होते ही सब दिखाई देने योग्य कर्मस्थान को बनाकर दूर भी जाकर समाधि-भावना के अयोग्य विहार को छोड़ योग्य विहार में रहना चाहिये।

अ—अयोग्य विहार

अयोग्य (विहार) कहते हैं, अठारह दोषों में से किसी एक से युक्त। ये अठारह दोष हैं—(१) बड़ा होना (२) नया होना (३) पुराना होना (४) मार्ग के किनारे होना (५) पानी पीने का स्थान (प्याऊ) (६) पत्ते का होना (७) फूल का होना (८) फल का होना (९) पूजनीय स्थान (१०) शहर से मिला हुआ होना (११) लकड़ी का स्थान होना (१२) खेतों से युक्त होना (१३) अनमेल व्यक्तियों का होना (१४) बन्दरगाह के पास होना (१५) निर्जन प्रदेश में होना (१६) राज्य की सीमा पर होना (१७) अनुकूल न होना (१८) कल्याण मित्रों का न मिलना। इन अठारह दोषों में से किसी एक दोष से युक्त (विहार) अयोग्य होता है, वहाँ नहीं रहना चाहिये। क्यों ?

महाविहार

महाविहार में बहुत से नाना विचारों के (भिक्षु) एकत्र होते हैं। वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण व्रत[3] नहीं करते। बोधि (-वृक्ष) का आँगन आदि बिना झाड़े-बहारे ही होते हैं। परि-

१. देखिये पृष्ठ ८५।

२. "५६०० गज का एक गव्यूति होता है।"—अभिधानप्पदीपिका।

३. विहार में चैत्य और बोधि-वृक्ष के पास झाड़ू लगाने, घड़े में पानी रखने आदि के काम को करना ही व्रत है।

भोग करने और पीने के लिये पानी भी (घड़े में) नहीं रखा होता है। वहाँ, "गोचर-ग्राम (= भिक्षा माँगने का गाँव) में भिक्षाटन करूँगा" (सोच) पात्र-चीवर को लेकर निकलते हुए यदि व्रत को बिना किया हुआ अथवा पीने वाले पानी के घड़े को खाली देखता है, तब उसे व्रत करना पड़ता है, पानी को लाकर रखना पड़ता है। (ऐसा) नहीं करते हुए व्रत के टूटने से दुष्कृत (=दुक्कट) का अपराध होता है (और) करते हुए समय निकल जाता है। बहुत दिन चढ़े गाँव में जाने पर भिक्षा के समाप्त हो जाने से कुछ भी नहीं पाता है। एकान्त में जाकर ध्यान करने पर भी श्रामणेर और तरुण भिक्षुओं के ऊँचे शब्द और सांघिक कार्यों से (चित्त) विक्षिप्त हो जाता है। जहाँ सारा व्रत किया हुआ ही होता है और अवशेष भी संघर्ष नहीं होते, ऐसे महा-विहार में भी रहना चाहिये।

नया विहार

नये विहार में बहुत-सा नया काम होता है, नहीं करने वाले पर बिगड़ते हैं। किन्तु जहाँ भिक्षु ऐसा कहते हैं—"आयुष्मान् सुख-पूर्वक श्रमण-धर्म करें, हम लोग नया काम करेंगे।" वहाँ ऐसे (विहार) में रहना चाहिये।

पुराना विहार

पुराने विहार में बहुत मरम्मत करना होता है, यहाँ तक कि अपने आसन-बिछावनमात्र का भी मरम्मत नहीं करने वाले पर बिगड़ते हैं और मरम्मत करने वाले का कर्मस्थान नष्ट होता है।

मार्ग-निश्रित विहार

महामार्ग के किनारे वाले विहार में रातों-दिन आगन्तुक एकत्र होते रहते हैं। अ-समय में आने वालों को अपना आसन-बिछावन देकर पेड़ के नीचे या पत्थर की चट्टान पर रहना पड़ता है। दूसरे दिन भी ऐसे ही। कर्मस्थान के लिये अवकाश नहीं मिलता है। जहाँ इस प्रकार आगन्तुकों की भीड़ नहीं होती है। वहाँ रहना चाहिये।

प्याऊ-युक्त विहार

प्याऊ (=सोण्डि) पथरीली पोखरी को कहते हैं। वहाँ पानी के लिये बहुत-से लोग जुटते हैं। शहर में रहने वाले राजकुलूपग स्थविरों के शिष्य चीवर रँगने के लिये आते हैं। उन्हें बर्तन, (चीवर रँगने के लिये) लकड़ी की बनी द्रोणी आदि पूछने पर "अमुक-अमुक स्थान पर हैं" (कह कर) दिखलाना पड़ता है। इस प्रकार सारे समय काम में लगा रहता है।

साग के पत्तों से युक्त विहार

जहाँ नाना प्रकार के साग की पत्तियाँ होती हैं, वहाँ कर्मस्थान ग्रहण करके दिन के विहार के लिए बैठे हुए (भिक्षु) के भी पास सागहारिणी (=भाजी खोंटने वाली स्त्रियाँ) गाती हुई पत्तों को चुनती (=खोंटती) हुई काम-गुण सम्बन्धी शब्दों के संघर्ष से कर्मस्थान का विघ्न करती हैं।

पुष्प से युक्त विहार

जहाँ नाना प्रकार के फूलों के पौधे सुपुष्पित होते हैं, वहाँ भी उसी प्रकार का उपद्रव होता है।

फलपूर्ण विहार

जहाँ नाना प्रकार के आम, जामुन, कटहल आदि फल होते हैं, वहाँ फल चाहने वाले लोग आकर माँगते हैं। नहीं देने वाले (भिक्षु) पर नाराज़ होते हैं अथवा जबरदस्ती ले लेते हैं। सायंकाल विहार के बीच टहलते हुए उन्हें देखकर—"उपासको ! क्यों ऐसा कर रहे हो ?" कहने पर मनचाहा आक्रोशन करते हैं। उस (भिक्षु) को वहाँ नहीं रहने देने के लिये भी प्रयत्न करते हैं।

पूजनीय स्थान

पूजनीय, लोगों द्वारा सम्मानित दक्षिणा-गिरि[1], हस्तिकुक्षि[2], चैत्य-गिरि[3], चित्तलपर्वत[4] के समान विहार में रहने वाले को—"यह अर्हत् हैं" मानकर प्रणाम करने के लिये चारों ओर से लोग आते हैं। उससे उसे सुविधा नहीं होती। किन्तु जिसे वह (स्थान) सुविधाजनक होता है, उसे दिन में दूसरी जगह जाकर रात में (वहाँ) रहना चाहिये।

नगराश्रित-विहार

शहर से मिले हुए (विहार) में प्रिय-अप्रिय आलम्बन (इन्द्रियों के) सम्मुख आते हैं। पनिहारिनी दासियाँ भी घड़ों से रगड़ती हुई जाती हैं। मार्ग से हट कर (जाने के लिये) रास्ता नहीं देती हैं। धनी-मानी आदमी भी विहार के बीच परदा डाल कर बैठते हैं।

लकड़ी के स्थान का विहार

लकड़ी के स्थान में—जहाँ काष्ठ और सामान बनाने के योग्य पेड़ होते हैं, वहाँ लकड़हारिनी पहले कहे साग, फूल ले जाने वाली स्त्रियों के समान विघ्न करती हैं। "विहार में पेड़ हैं, उन्हें काट कर हम लोग घर बनायेंगे" (सोच) मनुष्य आकर काटते हैं। यदि सायंकाल ध्यान करने वाली कोठरी से निकल कर, विहार के बीच टहलते हुए उन्हें देख कर—"उपासको ! क्यों ऐसा कर रहे हो ?" कहता है, तो मनचाहा आक्रोशन करते हैं। उस (भिक्षु) को वहाँ नहीं रहने के लिए भी प्रयत्न करते हैं।

खेतों से युक्त विहार

जो (विहार) खेतों से युक्त होता है। चारों ओर से घिरा होता है। वहाँ आदमी विहार के बीच में ही खलिहान बनाकर धान मींसते हैं। ओसारे में सुखाते हैं और बहुत कुछ

१. मगध-जनपद में दक्षिणागिरि को कहते हैं—टीका।

२. अत् कुस् लेणय, लंका।

३. सैगिरिय (मिहिन्तले), लंका। ४. सितुल् पवुवय, कतरगम के पास (रोहण जनपद में), लंका।

विघ्न करते हैं। जहाँ भिक्षु-संघ की (राजा द्वारा दी गई) बहुत खेती-बारी होती है, वहाँ विहार-वासी गृहस्थों की गायों को नहीं आने देते हैं। पानी की बारी का निषेध करते हैं। लोग धान के सिरों को पकड़—"देखिये आपके आश्रमवाले गृहस्थों का काम है" (कह कर) भिक्षु-संघ को दिखलाते हैं। भिन्न-भिन्न कारणों से राजा और राजा के महामात्यों के घर-द्वार जाना पड़ता है—यह भी खेतों से युक्त विहार में ही आ जाता है।

अनमेल व्यक्तियों वाला विहार

जहाँ परस्पर अनमेली, वैरी भिक्षु रहते हैं जो कि झगड़ा करते हुए—"भन्ते ! ऐसा मत कीजिये" (कहकर) रोकने पर "इस पांसुकूलिक के आने के समय से लेकर हमलोग नष्ट हो गये" कहने लगते हैं।

बन्दरगाह के पास का विहार

जो (विहार) बन्दरगाह या स्टेशन (=स्थल पट्टन) से सटा हुआ होता है, वहाँ हमेशा नाव और सार्थ (= काफिला = आजकल रेलगाड़ी) से आये हुए आदमी "जगह दीजिए, पानी दीजिये, नमक दीजिये", इत्यादि कहकर शोर करते हुए असुविधा करते हैं।

निर्जन प्रदेश का विहार

निर्जन प्रदेशों के मनुष्यों की बुद्ध आदि (त्रिरत्न) में श्रद्धा नहीं होती है।

सीमा-स्थित विहार

राज्य की सीमा पर स्थित विहार में राजभय होता है, क्योंकि उस प्रदेश-वासियों को "ये हमारे वश में नहीं रहते हैं" (कहकर) एक राजा पीटता है, तो दूसरा भी "मेरे वश में नहीं रहते हैं" (कहकर)। वहाँ भिक्षु कभी इस राजा के राज्य में घूमता है तो कभी उसके। तब उसे "यह चर-पुरुष (= गुप्तचर) है" समझ कर पीड़ित करते हैं।

अननुकूल विहार

प्रिय-अप्रिय आदि आलम्बनों के एकत्र होने या अमनुष्य (= यक्ष आदि) से परिगृहीत होने से जो विहार अनुकूल नहीं होता है उसे अननुकूल विहार कहते हैं। यहाँ यह कथा है—

एक स्थविर जंगल में रहते थे। (एक रात) एक यक्षिणी उनकी पर्णशाला के द्वार पर खड़ी होकर गीत गाई। वे निकल कर द्वार पर खड़े हुए। यक्षिणी जाकर चंक्रमण करनेवाले स्थान के किनारे गाई। स्थविर चंक्रमण करनेवाले स्थान के किनारे गये। वह सौ पोरसा के गहरे प्रपात में खड़ी होकर गाई। स्थविर लौट पड़े। तब उसने उन्हें वेग से (आकर) पकड़, "भन्ते ! मैंने आप जैसे एक-दो को नहीं खाया !" कहा।

कल्याण-मित्रों का अभाव

जहाँ आचार्य या आचार्य के समान, उपाध्याय या उपाध्याय के समान कल्याण-मित्र को नहीं पाया जा सकता, वहाँ वह कल्याण-मित्रों का न मिलना महादोष ही है।

इन अठारह दोषों में से किसी एक से युक्त (विहार) को अयोग्य विहार जानना चाहिये। अट्ठकथाओं में यह कहा भी गया है—

"महावासं नवावासं जरावासञ्च पन्थनिं।
सोण्डिं पण्णञ्च पुप्फञ्च फलं पत्थितमेव च ॥
नगरं दारुना खेत्तं विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमासप्पायं यत्थ मित्तो न लब्भति ॥
अट्ठारसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं पटिभयं यथा ॥"

[(१) महा आवास (=विहार), (२) नया आवास, (३) पुराना आवास, (४) मार्ग के पास वाला, (५) प्याऊ के पास वाला, (६) पत्ती, (७) फूल, (८) फल से युक्त तथा (९) पूजनीय स्थान, (१०) नगरवाला, (११) लकड़ी वाला, (१२) खेतों से घिरा, (१३) अनमेल व्यक्तियोंवाला, (१४) बन्दरगाह और स्टेशन, (१५) निर्जन प्रदेश, (१६) राज्य-सीमा, (१७) अननुकूल स्थान और (१८) जहाँ मित्र नहीं मिलता—इन अठारह स्थानों को पण्डित (पुरुष) जानकर भयावने मार्ग के समान दूर से ही त्याग दे।]

आ—योग्य विहार

भिक्षाटन करनेवाले ग्राम से न बहुत दूर, न बहुत पास होना आदि पाँच अंगों से युक्त जो विहार होता है, वह योग्य विहार है। भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ! शयनासन पाँच अंगों से युक्त कैसे होता है? भिक्षुओ! शयनासन न बहुत दूर होता है और न बहुत निकट। (वह) आने-जाने की सुभीता वाला होता है। दिन में लोगों से भरा हुआ नहीं होता है, रात में बहुत शब्द और शोर नहीं होता है। (वह) डँस, मच्छड़, वायु, धूप, सरीसृप (= साँप-बिच्छू) के स्पर्श से रहित होता है। उस शयनासन में रहनेवाले (भिक्षु) को सुखपूर्वक ही चीवर, पिण्डपात (= भोजन), आसन-बिछावन, ग्लान-प्रत्यय, भैषज्य, परिष्कार मिलते हैं। उस शयनासन में बहुश्रुत, आगम धारण किये हुए आते हैं। धर्म (= सूत्र-अभिधर्म)-धारी, विनयधारी, मात्रिका (= धर्म-विनय की मात्रिका) को धारण करनेवाले स्थविर (= वृद्ध) भिक्षु रहते हैं। समय-समय पर उनके पास जाकर पूछता है, प्रश्न करता है—"भन्ते! यह कैसे (होता है)? इसका क्या अर्थ है?" उसे वे आयुष्मान् ढँके को उघाड़ देते हैं, अप्रगट को प्रगट कर देते हैं और अनेक प्रकार की शंका होनेवाले धर्मों के प्रति शंका दूर करते हैं। भिक्षुओ! इस प्रकार शयनासन पाँच अंगों से युक्त होता है।"[१]

—यह, "समाधि-भावना के लिये अयोग्य विहार को छोड़ योग्य विहार में विहरते हुए" का विस्तार है।

बाधाओं का दूरीकरण

"छोटी-छोटी बाधाओं को दूर करके" जो कहा गया है उसका अर्थ है—इस प्रकार के योग्य विहार में रहते हुए जो भी उसकी वह छोटी-छोटी बाधाएँ होती हैं, उन्हें भी दूर कर लेना

१. अंगुत्तर निकाय।

चाहिये। जैसे कि—लम्बे बाल, नख और रोओं को काटना चाहिये। फटे पुराने चीवरों में पेबन्द लगा या सी लेना चाहिये। गन्दे चीवरों को रँग लेना चाहिये। यदि पात्र में मैल (बैठ गया) हो तो उसे पका लेना चाहिये। चौकी-चारपाई आदि को साफ कर लेना चाहिये।…… ।

भावना का आरम्भकाल

अब, "सारे भावना-विधान को पूर्ण करते हुए भावना करनी चाहिये।"—जो कहा गया है, इसमें यह 'पृथ्वी कसिण'[1] से प्रारम्भ करके सब कर्मस्थानों के अनुसार विस्तारपूर्वक वर्णन होता है—

इस प्रकार छोटी-छोटी बाधाओं से रहित भिक्षु को भोजन के पश्चात्, भोजन से निपट लेने पर भोजन से उत्पन्न थकावट को मिटाकर एकान्त स्थान में आराम के साथ बैठ (गोल) बनाये हुए या नहीं बनाये हुए पृथ्वी के निमित्त को ग्रहण करना चाहिये। यह कहा गया है[2]—

"पृथ्वी कसिण को ग्रहण करने के समय (गोल) बनाये हुए या नहीं बनाये हुए, अन्त सहित वाले, न अन्त रहित वाले, छोर सहित वाले, न छोर रहित वाले, वर्तुलाकार, न अवर्तुलाकार, सपर्यन्त, न अपर्यन्त, सूप के बराबर या परई (=शराव) के बराबर पृथ्वी में निमित्त को ग्रहण करता है। वह उस निमित्त को भली भाँति धारण करता है। भली प्रकार विचारता है। भली भाँति उसके आकार प्रकार को देखकर मन में करता है। वह उस निमित्त को भली भाँति धारण करके, भली प्रकार विचार करके, भली भाँति आकार प्रकार को देख मन में करके, लाभ देखने वाले रत्नसंज्ञी (= रत्न की भाँति समझने वाला) होकर मन लगाकर प्रेम पूर्वक उस आलम्बन में चित्त को बाँधता है—"अवश्य मैं इस प्रतिपत्ति से जरा-मरण से छुटकारा पा जाऊँगा।" वह कामों से रहित…प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है।"

कृताधिकार

जिसने पूर्व जन्म में भी शासन (=बुद्ध धर्म) या ऋषि प्रव्रज्या में प्रव्रजित होकर पृथ्वी कसिण में चौथे-पाँचवें ध्यान को प्राप्त किया है, उस ऐसे पुण्यवान्, पूर्व-सञ्चित हेतु से युक्त को (गोल) नहीं बनायी हुई पृथ्वी के जोते हुए स्थान भी खलिहान के घेरे में मल्लक स्थविर के समान निमित्त उत्पन्न होता है। उस आयुष्यमान् को जोते हुए स्थान को देखते हुए उस स्थान के बराबर ही निमित्त उत्पन्न हुआ। वह उसे बढ़ा पाँचवें ध्यान को उत्पन्न कर ध्यान के ही साथ विपश्यना को करके अर्हत्व पा लिये।

कसिण के दोष

जिसने पूर्व जन्मों में पुण्य का सञ्चय किया है, उसको आचार्य के पास सीखे हुए कर्मस्थान के विधान को बिना गड़बड़ाये, कसिण के चार दोषों को दूर करते हुए कसिण को बनाना चाहिये।

१. 'कसिण' शब्द पालि है, इसका संस्कृत रूप 'कृत्स्न' होगा। कृत्स्न का अर्थ है सकल। मैंने उच्चारण और परिचय की सुविधा के लिये पालि शब्द को ही लिखा है।

२. पुरानी सिंहल की अट्ठकथाओं में—टीका।

नीला, पीला, लाल, श्वेत—ये चार कसिण के दोष हैं। इसलिये नीले आदि रंग की मिट्टी को नहीं लेकर गङ्गा[1] के तट की मिट्टी के समान अरुण रंग की मिट्टी से कसिण बनाना चाहिये।

स्थान

उसे विहार के बीच श्रामणेर आदि के इधर-उधर घूमने के स्थान पर नहीं बनाना चाहिये। विहार के बाहर (किसी) आड़, झुके हुए पहाड़ की छाया (=पब्भार) या पर्णशाला में समेटकर ले जाने योग्य अथवा वहीं रहने योग्य (कसिण) को बनाना चाहिये।

बनाने का ढङ्ग

समेट कर ले जाने योग्य (कसिण) को छोटे-छोटे चार - डण्डों में कपड़े का टुकड़ा या चटाई को बाँधकर उसपर तृण, जड़, रोड़े, बालू से रहित खूब गूँधी हुई मिट्टी से लीप कर बतलाये हुए प्रमाण के बराबर गोला बनाना चाहिये। निमित्त को ग्रहण करने के समय में उसे भूमि पर बिछाकर देखना चाहिये।

बने हुए स्थान पर ही रहने योग्य वाले (कसिण) को भूमि पर पद्म की कर्णिका के समान खूँटों को गाड़ लताओं से बाँधकर बनाना चाहिये। यदि वह मिट्टी पर्याप्त न हो तो नीचे दूसरी मिट्टी को डालकर ऊपरी भाग में अच्छी तरह शुद्ध की हुई अरुण रंग की मिट्टी से एक बालिश्त चार अंगुल फैलाव में गोला बनाना चाहिये। इसी प्रमाण के लिये **"सूप के बराबर या परई के बराबर"**[2] कहा गया है।

"अन्त सहित, न अन्त रहित" आदि उसके परिच्छेद के लिये कहा गया है। इसलिये ऐसे कहे गये प्रमाण से परिच्छेद करना चाहिये। चूँकि लकड़ी की बनी थोपी[3] मिट्टी के रंग को बिगाड़ देती है, इसलिये उसे नहीं लेकर पत्थर की थोपी से घिस कर नगाड़े के तल के समान बराबर करना चाहिये। उस स्थान को झाड़ नहाकर आ कसिण-मण्डल से ढाई हाथ की दूरी पर बिछी, एक बालिश्त चार अंगुल पाये वाली चौकी पर बैठना चाहिये। उससे अधिक दूर बैठने वाले को कसिण नहीं जान पड़ता है। अधिक पास में कसिण के दोष दीख पड़ते हैं। ऊँचे बैठने वाले को गर्दन झुकाकर देखना पड़ता है और बहुत नीचे (बैठने वाले के) घुटने दुखते हैं।

भावना-विधि

इसलिये बतलाये हुए (नियम) के अनुसार बैठकर "काम अल्पस्वाद हैं"[4] आदि प्रकार से कामों में दोष को देखकर कामोपभोग के निकास तथा सारे दुःखों से छुटकारा पाने के मार्ग के समान नैष्क्रम्य का अभिलाषी होकर बुद्ध, धर्म, संघ के गुणों को स्मरण कर प्रीति-प्रामोद्य उत्पन्न करके—"यह सम्बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, आर्य श्रावकों द्वारा प्रतिपन्न नैष्क्रम्य-मार्ग है" (इस प्रकार

---

१. सिंहल द्वीप में **'रावणगंगा'** नाम की एक नदी है, उसके स्रोत से कटे हुए तट की मिट्टी अरुण रंग की होती है, उसी के प्रति कहा गया है—टीका। आजकल रावणगंगा कहाँ है? कोई नहीं जानता।

२. पृष्ठ ११५।

३. कुचन्दन आदि की लकड़ी से बनी हुई थोपी मिट्टी के रंग को लाल कर देती है—टीका।

४. मज्झिम निकाय १, २, ४।

विचार करके) प्रतिपत्ति का गौरव करते हुए—"इस प्रतिपत्ति से अवश्य एकान्त में रहने के सुख के रस को पाऊँगा" (ऐसा) उत्साह उत्पन्न करके सम-आकार से आँखों को उघाड़ कर निमित्त को ग्रहण करते हुए भावना करनी चाहिये। बहुत उघाड़ने वाले की आँख दुखती है और (कसिण-) मण्डल अत्यन्त स्पष्ट होता है, इसलिये उसे निमित्त नहीं उत्पन्न होता है। बहुत कम उघाड़ने वाले को (कसिण-) मण्डल स्पष्ट नहीं होता है और चित्त संकुचित हो जाता है। इस प्रकार से भी निमित्त नहीं उत्पन्न होता है। अतः ऐनक में मुख-निमित्त को देखने वाले (व्यक्ति) के समान सम-आकार से आँखों को उघाड़कर निमित्त को ग्रहण करते हुए भावना करनी चाहिये।

न तो रंग को ध्यान पूर्वक देखना चाहिये और न लक्षण को ही मन में करना चाहिये, प्रत्युत रंग को बिना त्यागे 'रंग के साथ ही पृथ्वी है' ऐसे पृथ्वी-धातु के आधिक्य के अनुसार प्रज्ञप्ति-धर्म में चित्त को लगाकर मन में करना चाहिये। पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामों में से जिसे चाहे, जो नाम उसके लिए अनुकूल हो उसको बोलना चाहिये। फिर भी 'पृथ्वी' ही नाम स्पष्ट है, इसलिये स्पष्टताके अनुसार ही 'पृथ्वी' 'पृथ्वी' (कहकर) भावना करनी चाहिये। समय-समय पर आँखोंको उघाड़कर, समय-समयपर मूँदकर मनन करना चाहिये। जब तक उग्गह-निमित्त[1] नहीं उत्पन्न हो, तबतक सैकड़ों, हजारों, समय भी, उससे अधिक भी इसी प्रकार भावना करनी चाहिये।

उस इस प्रकार भावना करने वाले को जब आँख मूँदकर मनन करते हुए आँख उघाड़कर देखनेके समयके समान दिखाई देता है, तब उग्गह-निमित्त उत्पन्न हो गया होता है। उसके उत्पन्न हो जाने के समय से लेकर उस स्थान पर नहीं बैठना चाहिये। अपने वास-स्थान में जाकर वहाँ बैठे हुए भावना करनी चाहिये। पैर धोने के झंझट को दूर करने के लिए उसे एकतल्ले वाला जूता और डण्डा होना चाहिये। यदि तरुण समाधि किसी खराबी के कारण नष्ट हो जाती है, तो जूता को पहन डण्डा को ले उस स्थान पर जा निमित्त को ग्रहण कर, आकर आराम से बैठ भावना करनी चाहिये। बार-बार (निमित्त का) मनन करना चाहिये, तर्क-वितर्क करना चाहिये। उसे ऐसा करते हुए क्रमशः नीवरण[2] दब जाते हैं, क्लेश बैठ जाते हैं, उपचार-समाधि से चित्त एकाग्र हो जाता है, प्रतिभाग-निमित्त[3] उत्पन्न होता है। पहले के उग्गह निमित्त और इस (प्रतिभाग-निमित्त) की यह विशेषता है—

उग्गह-निमित्त में कसिण का दोष जान पड़ता है। प्रतिभाग-निमित्त झोले से निकाले ऐनक के समान, अच्छी तरह से धोये शंखके समान, बादलों के बीच से निकले चन्द्रमण्डल के समान, बादल में बकुली के समान, उग्गह निमित्त को गिराकर निकलते हुए के समान, उससे सैकड़ों गुना, हजारों गुना सुपरिशुद्ध होकर दिखाई देता है। वह भी न वर्णवान्, न बनावट के

---

१. जब वह कसिण-निमित्त चित्त से भली प्रकार ग्रहण कर लिया जाता है, और आँखों के देखने के समान मन में जान पड़ने लगता है, तब उसी निमित्त को उग्गह-निमित्त कहते हैं।

२. नीवरण पाँच हैं—(१) कामच्छन्द, (२) व्यापाद, (३) स्त्यानमृद्ध, (४) औद्धत्य-कौकृत्य, (५) विचिकित्सा।

३. उग्गह-निमित्त उत्पन्न होने पर भावना में लगे रहने से जब कसिण मण्डल के बराबर परिशुद्ध, वैसा ही निमित्त उत्पन्न होता है तो वह प्रतिभाग निमित्त कहा जाता है।

अनुसार। यदि वह ऐसा होवे, तो आँख से दिखाई देने योग्य स्थूल, विचार के योग्य, तीनों लक्षणों (अनित्य, दुःख, अनात्म) से युक्त हो; किन्तु वह वैसा नहीं होता—केवल समाधि के लाभी जनों को जान पड़ने के आकार मात्र की संज्ञा से उत्पन्न है।

प्रतिभाग-निमित्त के उत्पन्न होने के समय से लेकर उस (भिक्षु) के नीवरण दबे हुए ही होते हैं, क्लेश बैठे हुए ही और उपचार-समाधि से चित्त एकाग्र हुआ ही।

दो प्रकार की समाधि

समाधि दो प्रकार की होती है—(१) उपचार समाधि और (२) अर्पणा समाधि। दो प्रकार से चित्त एकाग्र होता है—उपचार की अवस्था में या ध्यान-प्राप्ति की अवस्था में। उपचार की अवस्था में नीवरणों के प्रहाण से चित्त एकाग्र होता है, और ध्यान-प्राप्ति की अवस्था में अंगों के प्रकट होने से। दोनों समाधियों का यह अन्तर है—उपचार की अवस्था में (ध्यान के) अंग बल न उत्पन्न होने के कारण बलवान् नहीं होते। जैसे कि छोटा बच्चा उठाकर (बिछावन) पर रखे जाते हुए पुनः पुनः भूमि पर गिरता है, ऐसे ही उपचार-ध्यान के उत्पन्न होने पर चित्त एक समय निमित्त को आलम्बन करता है, एक समय भवांग में उतर जाता है। किन्तु अर्पणा के अंग बलवान् होते हैं……। जैसे कि बलवान् आदमी आसन से उठकर दिनभर भी खड़ा रहे, ऐसे ही अर्पणा-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त एकबार भवांग चित्त को रोककर सारी रात और सारे दिन रहता है, **कुशल जवन-चित्त**[1] की परिपाटी के अनुसार ही प्रवर्तित होता है। जो कि उपचार समाधि के साथ प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है, उसका उत्पन्न करना बहुत कठिन है। इसलिए यदि (योगी) उसी पर्यङ्क (= बद्धासन) से उस निमित्त को बढ़ाकर अर्पणा को प्राप्त कर सकता है, तो बहुत अच्छा है। यदि (ऐसा) नहीं कर सकता है, तो उसे उस निमित्त को सावधानी से चक्रवर्ती के गर्भ के समान बचाना चाहिये। ऐसे—

निमित्तं रक्खतो लद्धं परिहानि न विज्जति।
आरक्खम्हि असन्तम्हि लद्धं लद्धं विनस्सति॥

[पाये हुए निमित्त को बचानेवाले की परिहानि नहीं होती, किन्तु बचाव न होने पर पाया-पाया हुआ ही नष्ट हो जाता है।]

यह बचाव का ढंग है—

आवासो गोचरो भस्सं
पुग्गलो भोजनं उतु।
इरियापथो'ति सत्तेते
असप्पाये विवज्जये॥

[आवास, गोचर, बातचीत, व्यक्ति, भोजन, ऋतु, ईर्य्यापथ—इन सात विपरीत बातों का त्याग करे।]

सप्पाये सत्त सेवेथ
एवं हि पटिपज्जतो।
नचिरेनेव कालेन
होति कस्सचि अप्पना॥

---

१. देखो पृष्ठ २३।

[सात अनुकूल बातों का सेवन करो—ऐसे प्रतिपन्न होने से थोड़े ही समय में किसी को अर्पणा (उत्पन्न) होती है ।]

आवास

उस (योगी) को जिस आवास में रहते हुए नहीं उत्पन्न हुआ निमित्त नहीं उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न हुआ विनष्ट हो जाता है और अनुपस्थित-स्मृति नहीं उपस्थित होती है, न एकाग्र चित्त नहीं एकाग्र होता है, वह विपरीत है । जहाँ निमित्त उत्पन्न और स्थिर होता है, स्मृति बनी रहती है, चित्त एकाग्र होता, **नाग-पर्वत** पर रहनेवाले **प्रधानिय तिष्य स्थविर** के समान—वह अनुकूल है । इसलिए जिस विहार में बहुत से आवास होते हैं, वहाँ एक-एक में तीन-तीन दिन तक रहकर जहाँ चित्त एकाग्र हो वहाँ रहना चाहिये । आवास के अनुकूल होने के कारण **ताम्रपर्णी द्वीप** (= लंका) के **चुल्लनाग** नामक गुफा में वास करते हुए वहीं कर्मस्थान ग्रहण करके पाँच सौ भिक्षु अर्हत्व पाये । स्रोतापन्न आदि और अन्य स्थानों पर आर्यभूमि को पाकर वहाँ अर्हत्व पाये हुए (व्यक्तियों) की तो गणना नहीं है । ऐसे ही दूसरे भी **चित्तल-पर्वत** के विहार आदि में ।

गोचर-ग्राम

जो गोचर-ग्राम शयनासन से उत्तर या दक्षिण, न बहुत दूर डेढ़ कोश के भीतर आसानी से भिक्षा मिलने योग्य होता है, वह अनुकूल है, अन्यथा विपरीत ।

बातचीत

बत्तिस व्यर्थ की (= तिरश्चीन) कथाओं से युक्त बातचीत करना विपरीत है, वह उसके निमित्त के अन्तर्धान के लिए होती है । दस-कथावस्तु[1] से युक्त बातचीत अनुकूल होती है । उसे भी मात्रा के अनुसार ही कहना चाहिये ।

व्यक्ति

व्यक्ति भी व्यर्थ की कथा न करने वाला, शील आदि गुणों से युक्त, जिसके सहारे न एकाग्र-चित्त एकाग्र होता है अथवा एकाग्र हुआ चित्त स्थिरता को प्राप्त होता है—इस प्रकार का अनुकूल है, किन्तु (अपना) शरीर पोसने में लगा हुआ व्यर्थ की कथा करने वाला विपरीत है । वह उसे कीचड़ वाले पानी के समान स्वच्छ पानी को गँदला ही करता है । वैसे (व्यक्ति) को पाकर **कोट पर्वतवासी** तरुण के समान समापत्ति भी नष्ट हो जाती है, निमित्त की बात क्या ?

भोजन और ऋतु

किसी को मीठा और किसी को खट्टा भोजन अनुकूल होता है । ऋतु भी किसी को जाड़ा, किसी को गर्म अनुकूल होती है । इसलिए जिस भोजन या ऋतु का सेवन करते हुए आराम होता है, अ-एकाग्र-चित्त एकाग्र होता है या एकाग्र-चित्त स्थिरतर होता है, वह भोजन और वह ऋतु अनुकूल होती है । दूसरा भोजन और दूसरा ऋतु विपरीत ।

---

१. देखो पृष्ठ २१ ।

ईर्य्यापथ

ईर्य्यापथों में किसी को टहलना अनुकूल होता है, किसी को लेटने, खड़े होने, बैठने में से कोई एक। इसलिए आवास की भाँति तीन दिन भलीभाँति परीक्षा करके जिस ईर्य्यापथ में अ-एकाग्र चित्त एकाग्र होता है या एकाग्र-चित्त स्थिरतर होता है, वह अनुकूल है, दूसरा विपरीत।

इस तरह इस सात प्रकार की विपरीत बात को त्यागकर अनुकूल का सेवन करना चाहिये। ऐसे प्रतिपन्न हुए निमित्त का अधिक सेवन करनेवालों में किसी को थोड़े ही समय में अर्पणा (उत्पन्न) होती है।

अर्पणा की कुशलता

जिसे ऐसे प्रतिपन्न होते हुए भी अर्पणा नहीं (उत्पन्न) होती है, उसे दस प्रकार की अर्पणा की कुशलताको पूर्ण करना चाहिये। (उसकी) यह विधि है—अर्पणा की कुशलता दस प्रकार से होती है—(१) वस्तु के स्वच्छ करने से, (२) इन्द्रियों को एक समान करनेसे, (३) निमित्त की कुशलता से, (४) जिस समय चित्त को पकड़ना चाहिये, उस समय चित्त को पकड़ता है, (५) जिस समय चित्त को दबाना चाहिये, उस समय चित्त को दबाता है, (६) जिस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करना चाहिये, उस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करता है। (७) जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये, उस समय चित्त की उपेक्षा करता है, (८) जिस व्यक्ति का चित्त एकाग्र नहीं है, उसके त्याग से, (९) एकाग्र-चित्त वाले व्यक्ति के सेवन से, (१०) समाधि में चित्त लगाये रहने से।

वस्तु को स्वच्छ करना

भीतरी और बाहरी वस्तुओं के परिशुद्ध करने को वस्तु[१] का स्वच्छ करना कहा जाता है। जब उस (भिक्षु) के बाल, नख, रोंआ बड़े होते हैं या शरीर पसीना और मैल से चिपटा होता है, तब भीतरी वस्तु अ-स्वच्छ = अपरिशुद्ध होती है। जब चीवर जीर्ण, मैला, दुर्गन्धिवाला होता है या शयन-आसन गन्दा होता है, तब बाहरी वस्तु अ-स्वच्छ = अपरिशुद्ध होती है। अ-स्वच्छ भीतरी और बाहरी वस्तु में चित्त और चैतसिकों के उत्पन्न होने पर ज्ञान भी अपरिशुद्ध दीपक, बत्ती, तेल के कारण उत्पन्न चिराग की लौ के प्रकाश के समान अपरिशुद्ध होता है और अपरिशुद्ध ज्ञान से संस्कारों को विचारते समय संस्कार भी स्पष्ट नहीं होते। कर्मस्थान में जुटने पर कर्मस्थान की भी वृद्धि नहीं होती है।

स्वच्छ भीतरी-बाहरी वस्तु में उत्पन्न हुए चित्त-चैतसिकों में ज्ञान भी परिशुद्ध दीपक, बत्ती, तेल के कारण उत्पन्न चिराग की लौ के प्रकाश के समान स्वच्छ होता है और स्वच्छ ज्ञान से संस्कारों का विचार करते समय संस्कार भी स्पष्ट होते हैं। कर्मस्थान में जुटने पर कर्मस्थान की वृद्धि होती है।

---

१. शरीर और उससे सम्बन्धित चीवर आदि का ही नाम 'वस्तु' है। वे जिस प्रकार चित्त को सुखदायक होती हैं, उन्हे उस प्रकार बनाने को ही वस्तु को स्वच्छ करना कहा जाता है।

इन्द्रियों को एक समान करना

श्रद्धा आदि इन्द्रियों को एक समान करने को इन्द्रियों का एक समान करना कहा जाता है। यदि उस (भिक्षु) की श्रद्धेन्द्रिय बलवान् होती है और दूसरी दुर्बल, तो वीर्येन्द्रिय पकड़ने का काम, स्मृतीन्द्रिय याद दिलाने का काम, समाधीन्द्रिय बाधा न डालने देने का काम, प्रज्ञेन्द्रिय (रूप आदि आलम्बनों के यथार्थ स्वरूप को) देखने का काम नहीं कर सकती हैं। इसलिये उसे (इन्द्रिय) के लक्षण को भली प्रकार विचार कर अथवा जिस प्रकार मन में करने से वह बलवान् हुई हो, उस प्रकार से मन में नहीं करके (उसे) कम करना चाहिये। वक्कलि स्थविर[1] की कथा यहाँ उदाहरण है।

यदि वीर्येन्द्रिय बलवान् होती है तब न तो श्रद्धेन्द्रिय ही निश्चय करने का काम कर सकती है और न दूसरे प्रकार के कामों को। इसलिये उसे प्रश्रब्धि आदि की भावना से कम करना चाहिये। यहाँ भी सोण स्थविर[2] की कथा दिखलानी चाहिये। इसी प्रकार शेष में भी एक के बलवान् होने पर दूसरों को अपने काम में असमर्थ होना समझना चाहिये।

विशेष रूप से यहाँ श्रद्धा और प्रज्ञा की तथा समाधि और वीर्य की समता की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि बलवान् श्रद्धा और कम प्रज्ञा वाला (व्यक्ति) बिना सोचे समझे ही विश्वास करता है, (वह) जिसमें प्रसन्न नहीं होना चाहिये, उसी में प्रसन्न होता है। बलवान् प्रज्ञा और कम श्रद्धा वाला कपटी हो जाता है, (वह) दवा से उत्पन्न रोग के समान असाध्य होता है। दोनों की समता से जिसमें प्रसन्न होना चाहिये, उसी में प्रसन्न होता है। बलवान् समाधि और कम-वीर्य वाले (व्यक्ति) को समाधि के आलस्य का पक्षपाती होने के कारण (उसे) आलस्य दबा देता है। बलवान् वीर्य और कम-समाधि वाले के वीर्य को औद्धत्य (=उद्धतपन) का पक्षपाती होने के कारण औद्धत्य दबा देता है। समाधि से युक्त वीर्य औद्धत्य में नहीं गिर पाता, इसलिये उन दोनों को बराबर करना चाहिये। दोनों की समता से ही अर्पणा होती है।

समाधि में लगनेवाले के लिए बलवान् भी श्रद्धा होनी चाहिये। इस प्रकार (वह) श्रद्धा करते हुए अर्पणा को पायेगा। किन्तु समाधि और प्रज्ञा में, समाधि में जुटनेवाले के लिए एकाग्रता बलवान् होनी चाहिये। इस प्रकार ही वह अर्पणा को पायेगा। विपश्यना करनेवाले के लिए प्रज्ञा

---

१. वक्कलि स्थविर बलवान् श्रद्धा से भगवान् के शरीर की शोभा पर ही प्रसन्न होकर श्रद्धाधिक्य के कारण ध्यान-भावना नहीं कर सके। एक समय जब वे रोग से पीड़ित थे, तब भगवान् ने उन्हें यह उपदेश दिया—"वक्कलि ! इस मेरे गन्दे शरीर को देखने से क्या लाभ ? जो धर्म को देखता है वही मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वही धर्म को देखता है।" उपदेश को सुनकर उन्होंने श्रद्धा आदि इन्द्रियों को बराबर करके अर्हत्व का साक्षात्कार कर लिया। देखिये, सं० नि० अट्ठकथा २१, २, ४, ५।

२. सोण स्थविर ने भगवान् के पास कर्मस्थान को ग्रहण करके "सुख से सुख नहीं पाया जा सकता" सोच शीतवन में रहते हुए अर्हत्व-प्राप्ति के लिए घोर परिश्रम किया, पैर में छाले पड़ गये, शरीर क्लान्त हो गया, किन्तु उन्होंने अपना उत्साह कम न किया ; तब भगवान् ने उनकी इस दशा को देखकर वहाँ उपस्थित हो वीणा की उपमा से समझा कर अधिक वीर्य न करने का उपदेश दिया। भगवान् के उपदेश को सुनकर उन्होंने अन्य इन्द्रियों के समान वीर्येन्द्रिय को भी करके अर्हत्व का साक्षात्कार कर लिया। देखिये, अं० नि० ६, ६, १।

बलवान् होनी चाहिये। इस प्रकार ही वह अर्पणा को पायेगा। विपश्यना करनेवाले के लिए प्रज्ञा बलवान् होनी चाहिये। इस प्रकार ही वह (अनित्य, दुःख, अनात्म) लक्षण को भली प्रकार जान पायेगा। दोनों की समता से भी अर्पणा होती ही है।

किन्तु स्मृति सर्वत्र बलवान् होनी चाहिये। स्मृति ही औद्धत्य पक्षवालों के चित्त को श्रद्धा, वीर्य, प्रज्ञा के अनुसार औद्धत्य में गिरने से और आलस्य के पक्ष से समाधि द्वारा आलस्य में गिरने से बचाती है। इसलिए वह व्यंजनों में नमक-तेल के समान, सारे राज्य के कामों की देख-भाल करनेवाले अमात्य के समान, सर्वत्र होनी चाहिये। इसीलिए कहा है—"स्मृति सब जगह होनी चाहिये—ऐसा भगवान् ने कहा है। किस कारण से ? चित्त स्मृति का प्रतिशरण है और स्मृति (उसकी) रक्षा करने में लगी रहनेवाली है। बिना स्मृति के चित्त को पकड़ा और दबाया नहीं जा सकता है।"

निमित्त की कुशलता

पृथ्वी-कसिण आदि के, नहीं किये हुए चित्त की एकाग्रता के निमित्त को करने की कुशलता और किये हुए की भावना करने की कुशलता तथा भावना से प्राप्त हुए की रक्षा करने की कुशलता को निमित्त की कुशलता कहते हैं। यहाँ उसी से तात्पर्य है।

कैसे, जिस समय चित्त को पकड़ना चाहिये, उस समय चित्त को पकड़ता है ? जब उसका चित्त अत्यन्त शिथिल-वीर्य आदि से संकुचित होता है, तब प्रश्रब्धि सम्बोध्याङ्ग आदि तीनों की भावना न कर धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग आदि की भावना करता है। भगवान् ने यह कहा है—"भिक्षुओ, जैसे आदमी थोड़ी-सी आग को जलाना चाहता हो, वह उस पर भींगे तृणों को डाले, पानी मिली हवा दे और ऊपर से धूल भी डाले, तो भिक्षुओ, क्या वह आदमी थोड़ी-सी (उस) आग को जला सकेगा ?"

"नहीं भन्ते !"

"ऐसे ही भिक्षुओ, जिस समय चित्त संकुचित होता है, उस समय प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा सम्बोध्याङ्ग[1] की भावना करने के लिए अ-काल है। सो किस कारण ? भिक्षुओ, चित्त संकुचित है, वह इन धर्मों से नहीं उठाया जा सकता। और भिक्षुओ, जिस समय चित्त संकुचित होता है, वह उस समय धर्म-विचय-सम्बोध्याङ्ग, वीर्य-सम्बोध्याङ्ग और प्रीति-सम्बोध्याङ्ग की भावना के लिए काल है। सो किस कारण ? भिक्षुओ, चित्त संकुचित है, वह इन धर्मों से भली प्रकार उठाया जा सकता है। भिक्षुओ ! जैसे आदमी थोड़ी-सी आग को जलाना चाहता हो, वह उसपर सूखे तृणों को डाले, सूखे गोबर को डाले, सूखे काष्ठ को डाले, मुँह से हवा दे और ऊपर से धूल न डाले, तो भिक्षुओ, क्या वह आदमी (उस) थोड़ी-सी आग को जला सकेगा ?"

"हाँ भन्ते !"[2]

---

१. सम्बोध्याङ्ग सात हैं—(१) स्मृति = सतत जागरूकता, (२) धर्म-विचय = सत्य जिज्ञासा, (३) वीर्य = धर्माभ्यास में उत्साह, (४) प्रीति = एकाग्रता जनित चित्त का आह्लाद, (५) प्रश्रब्धि = चित्त की परम शान्ति, (६) समाधि = अकम्प्य एकाग्रता और (७) उपेक्षा = चित्त में सुख या दुःख का लेश भी नहीं रहना। इन सात अंगोंको सिद्ध करके ही कोई व्यक्ति सम्बोधि (= परम ज्ञान) की प्राप्ति कर सकता है; अतः इन्हें सम्बोधि का अङ्ग होने के कारण सम्बोध्याङ्ग कहते हैं।

२. संयुत्त नि० ४४, ६, ३।

धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग आदि की भावना को अपने-अपने आहार (= प्रत्यय) के अनुसार जानना चाहिये। कहा है—"भिक्षुओ, भले-बुरे धर्म हैं, सदोष-निर्दोष धर्म हैं, हीन-प्रणीत धर्म हैं, कृष्ण-शुक्ल धर्म हैं, उनको समय-समय पर भली प्रकार मन में करने से नहीं उत्पन्न हुआ धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग उत्पन्न होता है या उत्पन्न हुआ धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग बढ़ता है, विपुल होता है, भावनाकी पूर्त्ति होती है—यही इसका आहार है।" वैसे ही—"भिक्षुओ, आरम्भ धातु, नैष्क्रम्य धातु और पराक्रम धातु हैं। उनको समय-समय पर भली प्रकार मन में करने से नहीं उत्पन्न हुआ वीर्य-सम्बोध्याङ्ग उत्पन्न होता है या उत्पन्न हुआ वीर्य-सम्बोध्याङ्ग बढ़ता है, विपुल होता है, भावना की पूर्त्ति होती है—यही इसका आहार है।" वैसे ही—"भिक्षुओ, प्रीति-सम्बोध्याङ्ग उत्पन्न होता है या उत्पन्न हुआ प्रीति-सम्बोध्याङ्ग बढ़ता है, विपुल होता है, भावना की पूर्त्ति होती है—यही इसका आहार है।"

कुशल आदि (धर्मों) में स्वभाव, सामान्य लक्षण, प्रतिवेध के अनुसार मन में करने को **भली प्रकार मन में करना** (= योनिशः मनस्कार) कहते हैं। आरम्भ धातु आदि में आरम्भ-धातु आदि की उत्पत्ति के अनुसार मन में करने को भली प्रकार मन में करना कहते हैं। प्रथम-वीर्य (= उद्योग) को **आरम्भ-धातु** कहते हैं। **नैष्क्रम्य-धातु** आलस्य से निकलने के कारण उससे बलवान् होती है। **पराक्रम-धातु** दूसरे-दूसरे स्थान को लाँघने में उससे भी बलवान् होती है। प्रीति का ही नाम **प्रीति-सम्बोध्याङ्ग स्थानीय धर्म** है। उसका भी उत्पादक मनस्कार (= मन में करना) ही भली प्रकार मन में करना है।

सात बातों से धर्म-विचय-सम्बोध्याङ्ग की उत्पत्ति होती है—(१) बार-बार प्रश्नों को पूछना, (२) वस्तु को स्वच्छ करना, (३) इन्द्रियों को एक समान करना, (४) मूर्ख व्यक्ति का साथ छोड़ना, (५) प्रज्ञावान् व्यक्ति का साथ करना, (६) गम्भीर ज्ञान से जानने योग्य (स्कन्ध, धातु, आयतन, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि) धर्मों को भली प्रकार विचारना, (७) ज्ञान में चित्त को झुकाये रहना।

ग्यारह बातों से वीर्य-सम्बोध्याङ्ग की उत्पत्ति होती है—(१) अपाय आदि के भय को भली प्रकार विचारना। (२) वीर्य के कारण लौकिक, लोकोत्तर के विशेष की प्राप्ति के गुणों को देखना। (३) बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध, महाश्रावकों के गये हुए मार्ग से मुझे जाना है और उससे भी आलसी व्यक्ति नहीं जा सकता—इस प्रकार जाने के मार्ग को देखना। (४) दायकों को महाफल होने के लिये भिक्षा का सत्कार करना। (५) मेरे शास्ता (= मार्गोपदेष्टा) वीर्यारम्भ की प्रशंसा करने वाले हैं और वह आज्ञा उल्लंघन करने योग्य नहीं है, हम लोगों के लिये बहुत लाभ-दायक है, तथा वे (शास्ता) प्रतिपत्ति से पूजा करनेपर पूजित होते हैं, अन्यथा नहीं—इस प्रकार शास्ता के महत्व का विचार करना। (६) मुझे सद्धर्म के महा-उत्तराधिकार को लेना चाहिये और वह आलसी से नहीं लिया जा सकता; ऐसे उत्तराधिकार के महत्व का विचार करना। (७) आलोक-संज्ञा को मन में करने, ईर्य्यापथ के परिवर्तन, और खुले मैदान के सेवन आदि से स्त्यान-मृद्ध (= आलस्य) को दूर करना। (८) आलसी व्यक्ति का त्याग। (९) योगाभ्यास में लगे रहनेवाले व्यक्ति का साथ करना। (१०) सम्यक् प्रधान[१] को भली प्रकार देखना। (११) वीर्य में चित्त को झुकाये रहना।

---

१. देखिये पृष्ठ ४।

ग्यारह बातों से प्रीति-सम्बोध्याङ्ग की उत्पत्ति होती है—(१) बुद्धानुस्मृति, (२) धर्मानुस्मृति, (३) संघानुस्मृति, (४) शीलानुस्मृति, (५) त्यागानुस्मृति, (६) देवतानुस्मृति, (७) उपशमानुस्मृति[1], (८) रूखे (=निर्दयी) व्यक्ति का त्याग, (९) स्निग्ध (=दयालु) व्यक्ति का साथ करना, (१०) (बुद्ध आदि पर) चित्त को प्रसन्न करनेवाले सुत्तों को भली प्रकार देखना, (११) प्रीति में चित्त को झुकाये रहना।

इस प्रकार इन आकारों से इन धर्मों को उत्पन्न करते हुए (भिक्षु) धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग आदि की भावना करता है। ऐसे, जिस समय चित्त को पकड़ना चाहिये, उस समय चित्त को पकड़ता है।

कैसे, जिस समय चित्त को दबाना चाहिये, उस समय चित्त को दबाता है? जब उसका चित्त अत्यन्त वीर्य करने आदि से चंचल होता है, तब धर्म-विचय सम्बोध्याङ्ग आदि तीनों की भावना न कर प्रश्रब्धि सम्बोध्यांग आदि की भावना करता है। भगवान् ने यह कहा है—"भिक्षुओ, जैसे (कोई) आदमी बहुत बड़ी आग के ढेर को बुझाना चाहता हो, वह उस पर सूखे हुए तृणों को डाले;...[2] और धूल न डाले, तो क्या भिक्षुओ, वह आदमी (उस) बहुत बड़े आग के ढेर को बुझा सकेगा?"

"नहीं भन्ते!"

"भिक्षुओ, ऐसे ही जिस समय चित्त चंचल होता है, उस समय धर्म-विचय सम्बोध्यांग, वीर्य-सम्बोध्यांग, और प्रीति सम्बोध्यांग की भावना के लिये अ-काल है। सो किस कारण? भिक्षुओ, चित्त चंचल है, वह इन धर्मों से नहीं शान्त होता है; और भिक्षुओ, जिस समय चित्त चंचल होता है, उस समय प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग, समाधि-सम्बोध्यांग और उपेक्षा सम्बोध्यांग की भावना के लिये काल है। सो किस कारण? भिक्षुओ, चित्त चंचल है, वह इन धर्मों से भली-भाँति शान्त किया जानेवाला होता है। जैसे भिक्षुओ, कोई आदमी बहुत बड़ी आग के ढेर को बुझाना चाहता हो वह उस पर भींगे हुए तृणों को डाले...और धूल को भी ऊपर से डाले, तो भिक्षुओ, वह आदमी उस बहुत बड़ी आग के ढेर को बुझा सकेगा?"

"हाँ भन्ते!"[3]

यहाँ भी अपने-अपने आहार के अनुसार प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग आदि की भावना को जानना चाहिये। भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि हैं, उनको समय-समय पर भली प्रकार मन में करने से नहीं उत्पन्न हुआ प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग उत्पन्न होता है या उत्पन्न हुआ प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग बढ़ता है, विपुल होता है, भावना की पूर्ति होती है—यही इसका आहार है।" वैसे ही—"भिक्षुओ, शमथ-निमित्त है, अव्यग्र-निमित्त है, उनको समय-समय पर भली प्रकार मन में करने से नहीं उत्पन्न हुआ समाधि-सम्बोध्यांग उत्पन्न होता है या उत्पन्न हुआ समाधि-सम्बोध्यांग बढ़ता है, विपुल होता है, भावना की पूर्ति होती है—यही इसका आहार है।" वैसे ही—"भिक्षुओ, उपेक्षा-सम्बोध्यांग-स्थानीय धर्म हैं, उनको समय-समयपर भली प्रकार मन में करने से नहीं उत्पन्न हुआ उपेक्षा-सम्बोध्यांग उत्पन्न होता है, या

१. अनुस्मृतियों को जानने के लिये देखिये, सातवाँ परिच्छेद।

२. ऊपर जैसा ही पाठ यहाँ भी समझना चाहिये।

३. संयुत्तनिकाय ४४, ६, ३।

उत्पन्न हुआ उपेक्षा-सम्बोध्यांग बढ़ता है, विपुल होता है, भावना की पूर्ति होती है—यही इसका आहार है।"[1]

जैसे प्रश्रब्धि आदि पहले उत्पन्न हुए रहते हैं, वैसे उनके उत्पन्न होने के आकार के अनुसार ठीक से मन में करना ही तीनों वाक्यों में **भली प्रकार मन में करना है**। **शमथ-निमित्त**, शमथ (= शान्ति) का ही नाम है और विक्षेप नहीं करने के अर्थ में उसीका **अव्यग्र-निमित्त** (= स्थिर समाधि)।

सात बातों से प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग की उत्पत्ति होती है—(१) उत्तम भोजनका सेवन, (२) ऋतुओं के सुख का सेवन, (३) ईर्य्यापथ के सुख का सेवन, (४) काय, वाक्, मन को एक समान प्रयोग करना, (५) (क्लेशों से) परितप्त काय-चित्त वाले व्यक्ति का त्याग, (६) शान्त-काय वाले व्यक्ति का सेवन, (७) प्रश्रब्धि (= शान्ति) में चित्त को झुकाये रहना।

ग्यारह बातों से समाधि-सम्बोध्यांग की उत्पत्ति होती है—(१) वस्तु की पवित्रता, (२) निमित्त की कुशलता, (३) इन्द्रियों को एक समान करना[2], (४) समय पर चित्त को दबाना, (५) समय पर चित्त को पकड़ना, (६) भावना के आस्वाद से रहित चित्त को श्रद्धा और संवेग से हर्षोत्फुल्ल करना, (७) ठीक रूप से प्रवर्तित भावना-चित्त के प्रति उपेक्षा करना, (८) अ-एकाग्र चित्तवाले व्यक्ति का त्याग, (९) एकाग्र-चित्तवाले व्यक्ति का साथ करना, (१०) ध्यान और विमोक्ष को भली प्रकार देखना, (११) समाधि में चित्त को झुकाये रहना।

पाँच बातों से उपेक्षा-सम्बोध्यांग की उत्पत्ति होती है—(१) (सभी) प्राणियों के प्रति तटस्थ होना (२) (भीतरी चक्षु आदि तथा बाहरी पात्र-चीवर आदि) संस्कारों में तटस्थ होना, (३) (सभी) प्राणियों और वस्तुओं के प्रति ममत्व रखने व्यक्तियोंका त्याग, (४) प्राणियों और वस्तुओं के प्रति तटस्थ रहनेवाले व्यक्तियों का साथ करना (५) उपेक्षा में चित्त को झुकाये रहना।

इस प्रकार इन आकारों से इन धर्मों को उत्पन्न करते हुए (भिक्षु) प्रश्रब्धि-सम्बोध्यांग आदि की भावना करता है। ऐसे, जिस समय चित्त को दबाना चाहिये, उस समय चित्त को दबाता है।

कैसे, जिस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करना चाहिये, उस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करता है? जब उसका चित्त प्रज्ञा के प्रयोग की दुर्बलता के कारण या उपशम के सुख की प्राप्ति के आस्वाद से रहित होता है, तब उसे आठ संवेग उत्पन्न करनेवाली बातों को भली प्रकार देखने से संविग्न करता है। आठ संवेग उत्पन्न करनेवाली बातें हैं—(१) जन्म, (२) बुढ़ापा, (३) रोग, (४) मृत्यु—ये चार, और (५) अपाय का दुःख, (६) भूतकाल में संसार के चक्कर में पड़ने से उत्पन्न दुःख, (७) भविष्यत् में संसार के चक्कर में पड़ने से उत्पन्न होनेवाला दुःख और (८) वर्तमान् में आहार की खोज से उत्पन्न हुआ दुःख।

और वह बुद्ध, धर्म तथा संघ के गुणानुस्मरण से उसे प्रसन्न करता है।

—ऐसे, जिस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करना चाहिये, उस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करता है।

कैसे, जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये, उस समय चित्त की उपेक्षा

---

१. संयुत्त नि० ४४, ६, ३।

२. 'समाधि-इन्द्रिय और वीर्य-इन्द्रिय को एक समान करना'—पुराण सिंहल सन्नय।

करता है ? जब ऐसे प्रतिपन्न होने पर उसका चित्त असंकुचित, अ-चंचल, भावना के आस्वाद से युक्त, आलम्बन में समान रूप से प्रवर्तित, शमथ-वीथि में प्रतिपन्न होता है, तब वह समान चाल से चलनेवाले घोड़ों में सारथी के समान उसे पकड़ने, दबाने, हर्षोत्फुल्ल करने में नहीं लगता है।

—ऐसे, जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये, उस समय चित्त की उपेक्षा करता है।

अ-एकाग्र-चित्तवाले व्यक्ति का त्याग, कहते हैं नैष्क्रम्य के रास्ते पर कभी नहीं चले हुए अनेक कामों में लगे रहनेवाले विक्षिप्त-हृदय के व्यक्तियों के दूर से ही परित्याग करने को। **एकाग्र-चित्तवाले व्यक्ति का सेवन करना**, कहते हैं नैष्क्रम्य के रास्ते पर चलनेवाले समाधि-प्राप्त व्यक्तियों के पास समय-समय पर जाने को। **समाधि में चित्त को लगाये रहना,**...... समाधि का गौरव करना, समाधि की ओर झुका होना, समाधि की ओर लटके रहना, समाधि में तल्लीन रहना—इसका अर्थ है।

इस प्रकार दस तरह की अर्पणा की कुशलता को पूर्ण करना चाहिये।

एवं हि सम्पादयतो अप्पनाकोसल्लं इमं।
पटिलद्धे निमित्तस्मिं अप्पना सम्पवत्तति॥

[ऐसे ही इस अर्पणा की कुशलता को पूर्ण करने वाले को प्राप्त हुए निमित्त में अर्पणा उत्पन्न होती है।]

एवम्पि पटिपन्नस्स सचे सा नप्पवत्तति।
तथापि न जहे योगं वायमेथेव पण्डितो॥

[यदि ऐसे भी प्रतिपन्न हुए (योगी) को वह नहीं उत्पन्न होती है, तब भी बुद्धिमान् (व्यक्ति) प्रयत्न ही करे, योग (= संलग्नता) को न त्यागे।]

हित्वा हि सम्मा वायामं विसेसं नाम मानवो।
अधिगच्छे परित्तम्पि ठानमेतं न विज्जति॥

[आदमी ठीक प्रयत्न को त्याग कर थोड़ी भी उन्नति कर ले—यह सम्भव नहीं।]

चित्तप्पवत्ति आकारं तस्मा सल्लक्खयं बुधो।
समतं विरियस्सेव योजयेथ पुनप्पुनं॥

[इसलिए बुद्धिमान् (व्यक्ति) चित्त-प्रवृत्ति के आकार को भली-भाँति विचार कर (समाधि के ही) समान वीर्य को भी लगाये।]

ईसकम्पि लयं यन्तं पग्गण्हेथेव मानसं।
अच्चारद्धं निसेधेत्वा सममेव पवत्तये॥

[थोड़े-से भी संकुचित होते हुए मन को पकड़े ही, अत्यधिक वीर्य को रोककर सम ही करे।]

रेणुम्हि उप्पलदले सुत्ते नावाय नालिया।
यथा मधुकरादीनं पवत्ति सम्पवण्णिता॥
लीनउद्धतभावेहि मोचयित्वान सब्बसो।
एवं निमित्ताभिमुखं 'मानसं पटिपादये॥

[रेणु, कमल-दल, सूत, नाव, फोंफी में जैसे मधुमक्खी आदि का कार्य वर्णित है, (वैसे ही) संकुचित और चंचल होने से, सब प्रकार से मन को छुड़ा कर निमित्त की ओर लगाये ।]

यह उसकी व्याख्या है—जैसे बहुत चतुर मधुमक्खी 'अमुक पेड़ में फूल फूला है' जानकर तीव्र वेग से उड़ते हुए उसे लाँघ घूमकर रेणु के झर जाने पर पाता है, दूसरा अ-चतुर मन्द वेग से उड़ते हुए झर जानेपर ही उसे पाता है, किन्तु चतुर समान चाल से उड़ते हुए सुख-पूर्वक फूलों के समूह को पाकर इच्छानुसार रेणु को लेकर मधु बनाकर मधु के रस का मजा लेता है।

जैसे चीर-फाड़ करने वाले (वैद्य) के पानी-भरी थाली में रखे हुए कमल के पत्ते पर हथियार चलाने को सीखनेवाले शिष्यों में एक बहुत चतुर वेग से हथियार चलाते हुए कमल के पत्तों को दो भागों में छेद डालता है या पानी में घुसा देता है। दूसरा अ-चतुर छेद होने और घुसने के डर से हथियार से छूने की भी हिम्मत नहीं करता, किन्तु चतुर सम-प्रयोग से हथियार चलाने को दिखला कर शिल्प (= विद्या) में परिपूर्णता प्राप्त कर उस प्रकार के स्थानों में काम करके लाभ प्राप्त करता है।

जैसे "जो चार व्याम[1] के बराबर मकड़े का सूत लायेगा, वह चार हजार पायेगा" राजा के कहने पर एक बहुत चतुर आदमी वेग से मकड़े का सूत खींचते हुए जगह-जगह पर तोड़ देता है, दूसरा अ-चतुर टूटने के डर से हाथ से छूने की भी हिम्मत नहीं करता ; किन्तु चतुर किनारे से लेकर सम-प्रयोग से छोटे डण्डे में लपेट, लाकर लाभ प्राप्त करता है।

जैसे बहुत चतुर मल्लाह बहुत तेज हवा में पाल को तानकर नाव को विदेश की ओर दौड़ाता है, दूसरा अ-चतुर मन्द हवा में पाल को उतार कर नाव को वहीं रखता है, किन्तु चतुर मन्द हवा में (पूरी) पाल को और बहुत तेज हवा में आधी पाल को तानकर भली-भाँति इच्छित स्थान को पहुँच जाता है।

जैसे "जो बिना जमीन पर गिराये फोंफी को भरेगा, वह इनाम पायेगा" आचार्य द्वारा शिष्यों को कहने पर एक बहुत चतुर इनाम का लोभी वेग से भरते हुए तेल को गिरा देता है। दूसरा अ-चतुर तेल के गिरने के डर से डालने की भी हिम्मत नहीं करता ; किन्तु चतुर सम-प्रयोग से भर कर इनाम प्राप्त करता है।

ऐसे ही एक भिक्षु निमित्त के उत्पन्न होने पर "शीघ्र ही अर्पणा को पाऊँगा" (सोच), बहुत दृढ़ता के साथ मेहनत करता है, उसका चित्त अत्यन्त उद्योग करने से चंचलता में पड़ जाता है, वह अर्पणा को नहीं पा सकता है। एक अत्यन्त उद्योग करने के दोष को देखकर—"अब मुझे अर्पणा से क्या मतलब ?" (सोचकर) उद्योग करना कम कर देता है, उसका चित्त उद्योग के संकुचित होने से आलस्य में पड़ जाता है, वह भी अर्पणा नहीं पा सकता है, किन्तु जो थोड़ा-सा भी संकुचित को संकोच और चंचल हुए को चंचलता से छुड़ाकर सम-प्रयोग से निमित्त की ओर मन को करता है, वह अर्पणा को पाता है। उसी प्रकार का होना चाहिये।

इसी बात के प्रति यह कहा गया है—

'रेणुम्हि उप्पलदले सुत्ते नावाय नालिया।
यथा मधुकरादीनं पवत्ति सम्पवण्णिता ॥

---

१. व्याम ६ फुट का होता है।

लीनउद्धतभावेहि मोचयित्वान सब्बसो।
एवं निमित्ताभिमुखं मानसं पटिपादये॥"[१]

ऐसे निमित्त की ओर मन को करते हुए उसे "अब अर्पणा की प्राप्ति होगी" (सोच) भवाङ्ग-चित्त[२] को काटकर 'पृथ्वी', 'पृथ्वी' (कहते हुए) लगे होने के अनुसार उपस्थित उसी पृथ्वी कसिण को आलम्बन करके मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है, उसके बाद उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन-चित्त दौड़ते हैं। उनके अन्त में एक रूपावचर और शेष कामावचर स्वाभाविक चित्तों से बलवानतर वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता से युक्त होते हैं, जो अर्पणा के परिकर्म से **परिकर्म**[३] भी—जैसे गाँव आदि का समीप-भाग गाँव का उपचार (= गोंयड़ा) कहा जाता है, ऐसे ही अर्पणा के निकट या समीप होने से **उपचार**[४] भी। इसके पूर्व परिकर्मों और ऊपर अर्पणा का अनुलोम होने से **अनुलोम** भी कहे जाते हैं। और जो सबसे अन्तिम होता है, वह छोटे-गोत्र का अभिभव न करने तथा महान् गोत्र में होने से **गोत्रभू** भी कहा जाता है।

जिसे ग्रहण किया जा चुका है उसे छोड़कर ग्रहण करने पर भी—पहला परिकर्म, दूसरा उपचार, तीसरा अनुलोम और चौथा गोत्रभू होता है अथवा पहला उपचार, दूसरा अनुलोम, तीसरा गोत्रभू और चौथा या पाँचवाँ अर्पणा चित्त। अथवा चौथा ही पाँचवाँ में चला जाता है। वह भी तीक्ष्ण-प्रज्ञा-मन्द-अभिज्ञा के अनुसार। उसके पश्चात् जवन गिर जाता है और भवाङ्ग चित्त की बारी होती है।

अभिधर्मधारी **गोदत्तस्थविर** ने—"पूर्व-पूर्व के कुशल धर्म पीछे-पीछे के कुशल धर्मों के आसेवन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं"[५]*—इस सूत्र को कहकर "आसेवन-प्रत्यय से पिछला-पिछला धर्म बलवान् होता है, इसलिए छठें में भी, सातवें में भी अर्पणा होती है" कहा। अट्ठकथाओं में—"स्थविर का यह अपना विचारमात्र है" कह कर उसका निषेध किया गया है।

"चौथे-पाँचवें में ही अर्पणा होती है, उसके पश्चात् भवांग के सन्निकट होने के कारण जवन गिर गया होता है" कहा गया है। इस प्रकार समालोचना करके कही हुई इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता। जैसे आदमी टूटे हुए तट की ओर दौड़ते हुए खड़ा होने को चाहता हुआ भी किनारे पैर करके खड़ा नहीं हो सकता है, प्रपात में ही गिरता है, ऐसे ही छठें या सातवें को भवांग के सन्निकट होने के कारण नहीं पा सकता है। इसलिए चौथे-पाँचवें में ही अर्पणा होती है—ऐसा जानना चाहिये। और वह एक चित्त-क्षण ही रहनेवाली होती है। सात स्थानों में समय का बाँट नहीं है पहली अर्पणा में, लौकिक अभिज्ञाओं में, चारों मार्गों में, मार्ग

---

१. देखिये अर्थ, पृष्ठ १२६ में।

२. देखिये पृष्ठ २३।

३. पृथ्वी-मण्डल आदि के निमित्त को ग्रहण करने वाले का वह आलम्बन परिकर्म-निमित्त कहा जाता है।

४. प्रतिभाग निमित्त (दे० पृ० ११७ की पादटिप्पणी) के पश्चात् जो विघ्नरहित कामावचर समाधिकी भावना उत्पन्न होती है, उसे उपचार-भावना कहते हैं।

५. तिकपट्ठान ५।

* विस्तार के लिए देखिए सत्रहवाँ परिच्छेद।

के अनन्तर फल में, रूप और अरूप भवों में, भवाङ्ग-ध्यान में, निरोध (-समापत्ति) के प्रत्ययवाले नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में और निरोध (-समापत्ति) से उठते हुए की फल-समापत्ति में। यहाँ मार्ग के अनन्तर फल तीन के बाद नहीं होता है। निरोध (-समापत्ति) का प्रत्यय नैवसंज्ञानासंज्ञायतन दोनों के बाद नहीं होता है। रूप और अरूप में भवाङ्ग का परिमाण नहीं है। शेष स्थानों में[1] एक ही चित्त होता है। इस प्रकार एक चित्त-क्षण वाली ही अर्पणा है। उसके बाद भवाङ्ग-पात होता है। तत्पश्चात् भवाङ्ग को काटकर ध्यान का प्रत्यवेक्षण करने के लिये आवर्जन[2], और उसके बाद ध्यान का प्रत्यवेक्षण।

प्रथम ध्यान

यहाँ तक—"**विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति**"[3] [कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है।] उसे ऐसे पाँच अंगों से रहित, पाँच अंगों से युक्त, त्रिविध कल्याणकर, दस लक्षणों वाला पृथ्वी कसिण का **प्रथम ध्यान** प्राप्त हुआ होता है।

विविच्चेव कामेहि, का अर्थ है—कामों से पृथक् होकर, रहित होकर, हटकर। जो यहाँ 'एव'(= विविच्च + एव) है, उसे नियमार्थ जानना चाहिये और चूँकि नियमार्थ है, इसलिये उसके प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरने के समय नहीं रहनेवाले भी कामों का, उस प्रथम ध्यान का विरोधी होने, और काम के परित्याग से ही उसकी प्राप्ति को प्रकट करता है।

कैसे? कामों से अलग होकर,—ऐसा नियम करने पर, यह जान पड़ता है कि अवश्य इस ध्यान के काम विपक्षी हैं, जिनके होने पर यह नहीं होता है। अन्धकार के होने पर चिराग के प्रकाश के समान, उनके परित्याग से ही उसकी प्राप्ति होती है, उरले तीर के परित्याग से परले तीर के समान। इसलिये नियम करता है।

प्रश्न हो सकता है—"क्यों यह पूर्व-पद में ही कहा गया है, पिछले में नहीं, क्या अकुशल धर्मों से न अलग होकर भी ध्यान प्राप्त होकर विहर सकता है?" इसे इस प्रकार नहीं समझना चाहिये। उसके प्रहाण से ही यह पूर्व-पद में कहा गया है। काम-धातु के समतिक्रमण और काम-राग के विपक्षी होनेसे यह ध्यान कामों का ही निस्तार है। जैसा कि कहा है—"यह कामों का ही निस्तार है, जो कि नैष्क्रम्य है।"[4] पिछले पद में भी, जैसा कि—"भिक्षुओ, यहाँ (= बौद्ध धर्म में) ही (प्रथम) श्रमण है, यहाँ ही द्वितीय श्रमण है।"[5] यहाँ 'एव' (= ही) लाकर कहा जाता है—ऐसा कहना चाहिये। इससे दूसरे भी नीवरणवाले अकुशल धर्मों से बिना अलग हुए ध्यान को प्राप्त कर विहरा नहीं जा सकता। इसलिये कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर—ऐसा

१. पहली अर्पणा, लौकिक अभिज्ञा, मार्ग का क्षण, निरोध से उठते हुए का फल-क्षण—इन चार स्थानों में।

२. देखिये पृष्ठ २३।

३. विभङ्ग पालि।

४. दीघ निकाय।

५. दीघ निकाय ३, ३।

दोनों पदों में भी यह (नियम) जानना चाहिये। यद्यपि दोनों पदों में भी '**विविच्च**' (=अलग होकर)—इस साधारण वचन से तदङ्ग-विवेक आदि[1] और चित्त-विवेक आदि[2] सभी विवेक आ जाते हैं, तथापि काय-विवेक, चित्त-विवेक, विक्खम्भन-विवेक—तीनों को ही यहाँ जानना चाहिये।

कामेहि, इस शब्द से और जो **निद्देस** में—"कितने हैं वस्तु-काम ? मन को प्रिय लगने वाले रूप"[3] आदि प्रकार से वस्तु-काम कहे गये हैं और जो वहीं तथा विभङ्ग में—"छन्द (=अभिलाषा) काम है, राग काम है, छन्द-राग काम है। संकल्प काम है, राग काम है, संकल्प-राग काम है—ये काम कहे जाते हैं।"[4] ऐसे क्लेश-काम कहे गये हैं। उन सब को आया हुआ ही जानना चाहिये। ऐसा होने पर "कामों से अलग होकर" (वाक्य का) वस्तु-कामों से भी अलग होकर —अर्थ होता है। उससे काम-विवेक कहा गया है।

विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि, का अर्थ है क्लेश-कामों अथवा सारे अकुशलों से अलग होकर। उससे चित्त-विवेक कहा गया है। पहले से वस्तु-कामों से; विवेक शब्द से ही काम-सुख का परित्याग और दूसरे से क्लेश-कामों से; विवेक शब्द से नैष्क्रम्य-सुख का परिग्रहण कहा गया है।

इस प्रकार वस्तु-काम, क्लेश-काम और विवेक शब्द से ही, इनके प्रथम से (तृष्णा आदि) संक्लेश-वस्तु का त्याग, दूसरे से संक्लेश का त्याग ; प्रथम से लालचपन के हेतु का परित्याग, दूसरे से मूर्खता का और प्रथम प्रयोग की पारिशुद्धि[5], दूसरे से आशय का पारिशुद्धिकरण कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये। यह नियम "कामों से" कहे गये कामों में केवल वस्तु-काम के पक्ष में है।

क्लेश-काम के पक्ष में तो छन्द और राग—इस प्रकार के अनेक भेदवाले कामच्छन्द (= कामेच्छा) का ही तात्पर्य काम है। वह अकुशल होते हुए भी—"कौन-सा कामच्छन्द काम है ?"[6] आदि प्रकार से विभङ्ग में ध्यान के विपक्षियों से अलग करके कहा गया है। अथवा क्लेश-काम होने के कारण पूर्व-पद में कहा गया है और अकुशल में मिले रहने के कारण दूसरे पद में। तथा इसके अनेक भेद के कारण "काम से" नहीं कह कर "कामों से" कहा गया है। दूसरे भी धर्मों के अकुशल होने पर—"कौन से अकुशल धर्म हैं ? कामच्छन्द" आदि प्रकार से विभङ्ग में आगे कहे जानेवाले ध्यान के अंगों के एकदम विरोधी ही दिखाई देने से नीवरण ही कहे गये हैं। नीवरण ध्यान के अंगों के विरोधी हैं। उन ध्यान के अंगों के ही विरोधी हैं। विध्वंसकारी, नाशक कहा गया है। वैसे ही—"समाधि कामच्छन्द की विरोधिनी है, प्रीति व्यापाद की, वितर्क स्त्यान-मृद्ध का विरोधी है, सुख औद्धत्य-कौकृत्य का और विचार विचिकित्सा का।" ऐसा **पेटक** में कहा गया है।

ऐसे, यहाँ "कामों से अलग होकर" इससे कामच्छन्द का विक्खम्भन[7]-विवेक कहा गया

१. तदङ्ग, विक्खम्भन, समुच्छेद, पटिप्पस्सद्धि, निस्सरण विवेक आदि।
२. चित्त, काय, उपधि विवेक आदि।
३. महा नि० १।
४. महा नि० २ और विभङ्ग १२।
५. काम-गुण की प्राप्ति के लिए जीवहिंसा आदि अशुद्ध प्रयोगों का त्याग।
६. विभङ्ग पालि।
७. देखिये पृष्ठ ७।

है। "अकुशल धर्मों से अलग होकर"—इससे पाँचों[1] नीवरणों का भी। ग्रहण किये हुए को छोड़-कर प्रथम से कामच्छन्द का, और दूसरे से शेष नीवरणों का। वैसे ही प्रथम से तीन-अकुशल-मूलों[2] में पाँच-कामगुण के भेदवाले विषय के लोभ का, दूसरे से आघात-वस्तु के भेद आदि विषय के द्वेष-मोह का। अथवा ओघ[3] (=बाढ़) आदि धर्मों में प्रथम से काम-योग, काम-आस्रव, काम उपादान अभिध्या (=विषम लोभ) काम-ग्रन्थ और काम-राग-संयोजन का। दूसरे से शेष ओघ, योग, आस्रव, उपादान, ग्रन्थ और संयोजन का। और भी—प्रथम से तृष्णा और उससे युक्त धर्मों का। दूसरे से अविद्या और उससे युक्त धर्मों का। और भी—प्रथम से लोभ से युक्त आठ चित्तों का, दूसरे से शेष चार अकुशल चित्तों का विक्खम्भन (=विष्कम्भन)-विवेक कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

यह "कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर" की व्याख्या है।

यहाँ तक, प्रथम ध्यान के प्रहाण हुए अंगों को दिखला कर, अब युक्त-अंगों को दिखलाने के लिए **सवितक्कं सविचारं** आदि कहा गया है। उनमें विशेष रूप से तर्क करना ही वितर्क है। ऊहन (=ऊहापोह = तर्क-वितर्क) कहा गया है। यह आलम्बन में चित्त को लगाने के स्वभाव वाला है। आहनन (=सामने प्रहार देना)-पर्याहनन (=बार-बार प्रहार देना) इसका काम है। वैसा ही—योगी उस (= वितर्क) से आलम्बन को वितर्क से आहत, वितर्क से पर्याहत करता है—ऐसा कहा जाता है। आलम्बन में चित्त को लाकर लगाना (इसका) प्रत्युप-स्थान (= जानने का आकार) है। विचरण (= घूमना) ही विचार है। बार-बार सञ्चरण करना कहा गया। यह आलम्बन को परिमर्दन करने के स्वभाव वाला है। उसमें एक साथ उत्पन्न हुए धर्मों को बार-बार लगाये रखना इसका काम है। चित्त के साथ बँधे रहना इसके जानने का आकार है।

इनके कहीं भी वियोग न होने पर भी स्थूल होने और अगुआ के अर्थ में घण्टा को मारने के समान चित्त का पहला झुकाव वितर्क है। सूक्ष्म होने और बार-बार मर्दन करने के स्वभाव से घण्टा के अनुराव (=प्रतिध्वनि) के समान चित्त का बँधा रहना विचार है। इनमें वितर्क प्रथम उत्पत्ति के समय चित्त को चलाने के कारण आकाश में उड़ना चाहते हुए पक्षी के पाँख को हिलाने-डुलाने के समान और सुगन्धी में लगे चित्तवाले भ्रमर का पद्म के ऊपर मँडराने के समान चंचल है।

दुकनिपात की अट्ठकथा में—"आकाश में जाते हुए बहुत बड़े पक्षी के दोनों पाँखों से वायु को पकड़कर, पाँखों को सिकोड़ कर जाने के समान आलम्बन में चित्त को लगाने के भाव से उत्पन्न हुआ वितर्क है, वायु को लेने के लिए पाँखों को हिलाते हुए जाने के समान बार-बार मर्दन करने के स्वभाव से उत्पन्न हुआ विचार है"—कहा गया है। वह बार-बार लगे रहने से (उपचार अथवा अर्पणा की) उत्पन्न अवस्था में ठीक उतरता है। इनका वह अन्तर प्रथम और द्वितीय ध्यानों में प्रगट होता है।

मैल पकड़े हुए काँसे के बर्तन को एक हाथ से दृढ़ता-पूर्वक पकड़ कर दूसरे हाथ से चूर्ण, तेल, वालण्डूपक (= भेड़ आदि के रोओं से बनायी हुई कूँची = ब्रस = Brush) से रगड़ते हुए व्यक्ति के दृढ़तापूर्वक पकड़नेवाले हाथ के समान वितर्क है, रगड़नेवाले हाथ के समान विचार है।

---

१. देखिये पृष्ठ १७७।
२. लोभ, द्वेष, मोह—यह तीन अकुशल-मूल कहे जाते हैं।
३. देखिये पृष्ठ ४।

वैसे ही कुम्हार के डण्डे की चोट से चाक को घुमाकर बर्तन बनानेवाले के (मिट्टी के पिण्ड) को दबानेवाले हाथ के समान वितर्क है और इधर-उधर घुमानेवाले हाथ के समान विचार। वैसे ही (परकाल = Divider से) गोला बनाते हुए व्यक्ति के बीच में गाड़कर खड़े काँटे के समान आरोपण करना वितर्क है और बाहर घूमनेवाले काँटे के समान अनुमर्दन करना विचार है।

इस प्रकार वृक्ष के पुष्प और फल से युक्त होने के समान यह (प्रथम) ध्यान इस वितर्क और इस विचार से युक्त होता है, इसलिये 'सवितक्कं सविचारं' कहा जाता है। किन्तु विभङ्ग में —"इस वितर्क और इस विचार से युक्त होता है" आदि प्रकार से व्यक्ति के अनुसार देशना की गई है, उसका भी अर्थ ऐसा ही जानना चाहिये।

विवेकजं, यहाँ विविक्ति ही विवेक है। नीवरणों से रहित होना इसका अर्थ है। अथवा विविक्त विवेक है। नीवरणों से रहित ध्यान से युक्त धर्म-राशि इसका अर्थ है। उस विवेक से या उस विवेक में उत्पन्न हुआ विवेकज है।

पीतिसुखं, तृप्ति करना प्रीति है। वह सन्तुष्ट करने के स्वभाव वाली है, काय और चित्त को बढ़ाना अथवा व्याप्त होना इसका काम है। गद्गद् होना इसके जानने का आकार है। यह पाँच प्रकार की होती है—(१) क्षुद्रिका प्रीति (२) क्षणिका प्रीति (३) अवक्रान्तिका प्रीति (४) उद्वेगा प्रीति और (५) स्फरणा प्रीति।

क्षुद्रिका प्रीति शरीर में लोमहर्षण मात्र ही कर सकती है। क्षणिका प्रीति क्षण-क्षण पर विद्युत्पात के समान होती है। अवक्रान्तिका प्रीति समुद्र-तट की तरंग के समान शरीर में फैल-फैलकर खत्म हो जाती है। उद्वेगा प्रीति बलवती होती है, शरीर को उठाकर आकाश में लँघाने के प्रमाण वाली।

वैसा ही, **पूर्णवल्लिक** के रहनेवाले **महातिष्य स्थविर** सन्ध्या को चैत्य के आँगन में जाकर चन्द्रमा के आलोक को देख **महाचैत्य**[1] की ओर हो—"अहा! इस समय चारों परिषद् (=भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) महाचैत्य की वन्दना कर रही है" (सोचकर) स्वाभाविक रूप से देखे हुए आलम्बन के अनुसार बुद्ध के आलम्बन से उद्वेग-प्रीति को उत्पन्न कर चूना डाल बराबर की गई (=सीमेंटड) भूमि पर मारे हुए गेंद के समान आकाश में उड़कर महाचैत्य के आँगन में ही खड़े हुए।

वैसा ही, **गिरिकण्डक** महाविहार के पास **वत्तकालक** गाँव में एक कुल-कन्या भी बलवान् बुद्ध के आलम्बन से उत्पन्न हुई उद्वेगा-प्रीति से आकाश में लाँघी। उसके माता-पिता सन्ध्या को धर्मोपदेश सुनने के लिये विहार जाते हुए—"पुत्री! तू गर्भिणी हो, असमय में चल नहीं सकती हो, हमलोग तुझे पुण्य की प्राप्ति का भाग देकर धर्म सुनेंगे।" (कहकर) गये। वह जाने को चाहती हुई भी उनकी बात न टाल सकने के कारण घर में रहकर घर के आँगन में खड़ी हो चन्द्रमा के आलोक से गिरिकण्डक के आकाश-चैत्य[2] के आँगन को देखती हुई चैत्य की प्रदीप पूजा और चारों परिषद् को माला-गन्ध आदि से चैत्य की पूजा करके प्रदक्षिणा करती हुई तथा भिक्षु-संघ के स्वाध्याय के शब्द को सुनी। तब उसको—"ये धन्य हैं, जो विहार में जाकर इस प्रकार के चैत्य के आँगन में सञ्चरण करने तथा मधुर धर्म-कथा को सुनने पाते हैं।" (सोच कर) मोती की राशि के समान चैत्य को देखते हुए ही उद्वेगा-प्रीति उत्पन्न हुई। वह आकाश में

१. लंका द्वीप में अनुराधपुर के महान् सुवर्णमाली चैत्य का पुरातन नाम।
२. पर्वत के ऊपर बने हुए चैत्य को आकाश-चैत्य कहते हैं।

लाँघ कर माता-पिता के बहुत पहले ही आकाश से चैत्य के आँगन में उतर चैत्य की वन्दना कर धर्म सुनती हुई खड़ी हो गई। तब माता-पिता आकर उसे पूछे—"पुत्री! तू किस मार्ग से आई है?" उसने "आकाश से आई हूँ, मार्ग से नहीं" कह कर—"पुत्री! आकाश से क्षीणाश्रव संचरण करते हैं, तू कैसे आई है?" कहने पर कहा—"मुझे चन्द्रमा के आलोक से चैत्य को खड़े होकर देखते समय बुद्ध के आलम्बन से बलवती-प्रीति उत्पन्न हुई, तब मैं न तो अपने खड़ी होने और न बैठी होने को ही जानी, ग्रहण किये हुए निमित्त से ही आकाश में लाँघ-कर चैत्य के आँगन में आ गई हूँ।" ऐसे उद्वेगा-प्रीति आकाश में लँघाने के प्रमाण की होती है।

स्फरणा-प्रीति के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण शरीर को फूँक कर भर दी गई थैली के समान और महा जल की बाढ़ से भर गये पर्वत के पेट के समान चारों ओर फैली हुई होती है।

यह पाँच प्रकार की प्रीति स्थिर और परिपक्व होती हुई दो प्रकार की प्रश्रब्धि को पूर्ण करती है—काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि को। प्रश्रब्धि स्थिर और परिपक्व होती हुई कायिक और चैतसिक दोनों ही प्रकार के सुख को पूर्ण करती है। सुख स्थिर और परिपक्व होता हुआ (१) क्षणिक-समाधि (२) उपचार समाधि और (३) अर्पणा समाधि-इन तीन प्रकार की समाधि को पूर्ण करता है। उनमें जो अर्पणा समाधि का मूल होकर बढ़ती हुई समाधि से मिली स्फरणा-प्रीति है—यह इस अर्थ में आई हुई प्रीति है।

दूसरा, सुख पहुँचाना ही सुख है। अथवा काय-चित्त के रोग को भली-भाँति खा जाता है, नाश कर देता है, वह सुख है। वह शीतल, मधुर स्वभाव वाला है। अपने से युक्त हुये धर्मों को बढ़ाना इसका काम है। अनुग्रह करना इसके जानने का आकार है। कहीं-कहीं पर उनके अन्तर नहीं होने पर भी प्रिय आलम्बन के मिलने का सन्तोष प्रीति है और प्राप्त हुए का अनुभव करना सुख है। जहाँ प्रीति है, वहाँ सुख है, जहाँ सुख है, वहाँ नियमतः प्रीति नहीं है। प्रीति संस्कार-स्कन्ध में गिनी जाती है और सुख वेदना-स्कन्ध में। कान्तार (=निर्जल मरुस्थल) को पार करके आये हुए व्यक्ति को वन में पानी देखने और सुनने के समान प्रीति है, वन की छाया में प्रवेश करने और पानी पीने के समान सुख है। उन-उन समयों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार यह प्रीति और यह सुख इस ध्यान का या इस ध्यान में है, इसलिये यह ध्यान प्रीति-सुख वाला कहा जाता है। अथवा प्रीति और सुख ही प्रीति-सुख है। धर्म-विनय आदि के समान। विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख इस ध्यान का या इस ध्यान में है—ऐसे भी विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख होता है। जैसे ध्यान है, ऐसे ही प्रीतिसुख भी विवेक से ही उत्पन्न हुए हैं। वह इस (प्रथम ध्यान) में है, इसलिये एक पद से ही 'विवेकज प्रीति-सुख' कहा गया भी ठीक जँचता है। विभङ्ग में—"यह सुख इस प्रीति के साथ" आदि प्रकार से कहा गया है, किन्तु उसका भी अर्थ ऐसे ही जाना चाहिये।

पठमं झानं, (=प्रथम ध्यान) यह पीछे स्पष्ट होगा। **उपसम्पज्ज**, का अर्थ है पास जाकर, प्राप्त कर—कहा गया है अथवा सम्पादन, निष्पादन करके। विभङ्ग में—"उपसम्पज्ज का अर्थ है प्रथम ध्यान का लाभ, प्रतिलाभ, प्राप्ति, सं-प्राप्ति, देखना, साक्षात्कार, पूर्ण होना।" कहा गया है। उसका भी अर्थ ऐसे ही जानना चाहिये।

विहरति, का अर्थ है उसके अनुरूप ईर्य्यापथ-विहार से इस कहे गये प्रकार के ध्यान से युक्त होकर शरीर की क्रिया, वृत्ति, पालन, यपन (=उन-उन ईर्य्यापथों से रहना), यापन (=गुजा-रना), सञ्चरण करने को पूर्ण करता है। विभङ्ग में कहा गया है—"विहरता है का अर्थ है क्रिया

(=ईर्य्या) करता है, प्रवर्तित होता है, पालन करता है, गुजारता है, निर्वाह करता है, विचरण करता है, विहरता है, इसलिये कहते हैं कि विहार करता है।

जो कहा गया है--**पाँच अंगों से रहित, पाँच अंगों से युक्त**, वहाँ कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा--इन पाँच नीवरणों के प्रहाण से पाँच अंगों से रहित होना जानना चाहिये, क्योंकि इनके बिना प्रहीण हुए ध्यान नहीं उत्पन्न होता। इसलिये उसके ये प्रहाणाङ्ग कहे गये हैं। यद्यपि ध्यान के समय अन्य भी अकुशल-धर्म प्रहीण होते हैं, तथापि ये ही विशेष रूप से ध्यान के विघ्नकारक हैं।

कामच्छन्द से नाना विषयों में प्रलुब्ध-चित्त एक आलम्बन में एकाग्र नहीं होता या कामच्छन्द से अभिभूत हुआ उस काम-धातु के प्रहाण के लिये मार्ग पर नहीं चलता। व्यापाद से आलम्बन में संघर्ष होते हुए निरन्तर नहीं प्रवर्तित होता है। स्त्यानमृद्ध से अभिभूत हुआ अकर्मण्य होता है। औद्धत्य-कौकृत्य के वश में होकर अ-शान्त होकर ही चक्कर करता है। विचिकित्सा से मारा गया ध्यान की प्राप्ति के योग्य मार्ग पर नहीं चल सकता है। इस प्रकार विशेष रूप से ध्यान को विघ्न करने के कारण ये ही प्रहाणाङ्ग कहे गये हैं।

चूँकि वितर्क आलम्बन में चित्त को लगाता है, विचार बाँधे रहता है, उनसे विक्षिप्त न होने के लिए किये गये प्रयोग की चित्त के प्रयोग-सम्पत्ति से उत्पन्न प्रीति तृप्ति करती है और सुख उसे बढ़ाता है। तब उसे शेष उसके साथ रहनेवाले धर्म को इनके साथ लगाने, बाँधे रहने, तृप्त करने और बढ़ाने के द्वारा अवलम्बित हुई एकाग्रता एक आलम्बन में बराबर भली-भाँति रखती है। इसलिये वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, चित्त की एकाग्रता—इन पाँच की उत्पत्ति के अनुसार पाँच अंगों से युक्त होना जानना चाहिये। इन पाँचों के उत्पन्न होने पर ध्यान हुआ होता है, उसी से उसके ये पाँच युक्त-अङ्ग कहे जाते हैं। इसलिये इनसे युक्त कोई दूसरा ध्यान है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। जैसे अङ्गमात्र से ही चतुरङ्गिणी-सेना[1], पञ्चाङ्गिक तूर्य[2], और अष्टाङ्गिक मार्ग[3] कहा जाता है—ऐसा जानना चाहिये।

यद्यपि ये पाँचों अंग उपचार के समय में भी होते हैं, किन्तु उपचार में स्वाभाविक चित्त से बलवानतर होते हैं और इस (प्रथम ध्यान) में उपचार से भी बहुत बलवान् तथा रूपावचर के लक्षणों को प्राप्त होते हैं। इसमें वितर्क विस्तृत रूप से आलम्बन में चित्त को लगाते हुए उत्पन्न होता है, विचार आलम्बन का अत्यन्त ही परिमर्दन करते हुए, प्रीति-सुख सारे शरीर में फैलते हुए। उसी से कहा है—"उस (भिक्षु) के सारे शरीर का (कोई भी) अंग विवेक से उत्पन्न

१. चतुरङ्गिणी सेना के चार अंग ये हैं—(१) हाथी (२) घोड़ा (३) रथ (४) पैदल सिपाही।

२. पञ्चाङ्गिक तूर्य्य के पाँच अंग ये हैं—(१) आतत (२) वितत (३) आतत-वितत (४) सुसिर (५) घन। जैसे कहा है—

"आततं नाम चम्मावनद्धेसु भेरियादिसु।
तलेकेकयुत्तं कुम्भथुणदद्दरिकादिकं॥
विततं चोभयतलं तुरियं मुरजादिकं।
आततविततं सब्बविनद्धं पणवादिकं॥
सुसिरं वंस सङ्खादि सम्मतालादिकं घनं।"

—अभिधानप्पदीपिका १४०–४३।

३. देखिये, सोलहवाँ परिच्छेद।

गया है, इसलिए अर्पणा के बीच में ही आने के कारण प्रतिपदा-विशुद्धि, और उसमें मध्यस्थ होकर उपेक्षा के कृत्यके अनुसार उपेक्षा को बढ़ाना है तथा धर्मों के उल्लंघन न करने आदि की पूर्ति से परिशुद्ध करनेवाले ज्ञान के कृत्य की पूर्ति के अनुसार सम्प्रहर्षण को जानना चाहिये।

कैसे ? जिस बार अर्पणा उत्पन्न होती है, उसमें जो नीवरण नामक क्लेशों का समूह उस ध्यान का विघ्नकारक होता है, उससे चित्त विशुद्ध होता है, विशुद्ध होने से आवरण रहित होकर बिचले शमथ-निमित्त में लग जाता है। बिचला शमथ-निमित्त समान रूप से प्रवर्तित अर्पणा समाधि ही कही जाती है। उसके बाद पहले का चित्त एक सन्तति (= चित्तधारा) के परिणाम के अनुसार वैसा ही होने को जाता हुआ बिचले शमथ-निमित्त में लग जाता है। ऐसे लग जाने से वहाँ दौड़कर जाता है। इस प्रकार पहले चित्त में विद्यमान आकार को पूर्ण करनेवाली प्रथम ध्यान की उत्पत्ति के ही क्षण आने के अनुसार प्रतिपदा विशुद्धि जाननी चाहिए।

उस ऐसे विशुद्ध हुए को पुनः विशुद्ध करने के अभाव से विशुद्ध करने में नहीं लगते हुए विशुद्ध चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ में लगकर, शमथ में प्रतिपन्न हुए को पुनः समाधान में नहीं लगते हुए शमथ में लगे हुए चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ में लगे हुए होने से ही उसके क्लेशों के संसर्ग को त्याग कर एकत्व से उपस्थित हुए चित्त को पुनः एकत्व के उपस्थान में नहीं लगाते हुए एकत्व के उपस्थान की उपेक्षा करता है। ऐसे उसमें मध्यस्थ की उपेक्षा में लगने के अनुसार उपेक्षा का बढ़ाव जानना चाहिये।

ऐसे उपेक्षा से बढ़े हुए में जो ये वहाँ उत्पन्न समाधि और प्रज्ञा जूये में नधे हुए के समान एक दूसरे का बिना उल्लंघन किये हुए प्रवर्तित धर्म हैं और जो श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ नाना क्लेशों से विमुक्त होने के कारण विमुक्ति के रस से एक रस वाली होकर प्रवर्तित हैं तथा जो उनमें रहनेवाले उनके एक रस-भाव के योग्य वीर्य को लाता है एवं जो उस क्षण उसमें होनेवाली प्रवृत्ति है—ये सभी आकार चूँकि ज्ञान से संक्लेश की परिशुद्धि में उन-उन दोष और गुणों को देखकर वैसे-वैसे सम्प्रहर्षण होने से, परिशुद्ध किये गये होने से, और पारिशुद्ध होने से पूर्ण हैं, इसलिए धर्मों का उल्लंघन न करने के योग्य होने से परिशुद्ध करनेवाले ज्ञान के कृत्य की पूर्ति के अनुसार सम्प्रहर्षण को जानना चाहिये—ऐसा कहा गया है।

चूँकि उपेक्षा से ज्ञान प्रगट होता है—जैसे कहा है "वैसे पकड़े हुए चित्त की भलीभाँति उपेक्षा करता है, उपेक्षा और प्रज्ञा से प्रज्ञेन्द्रिय बलवान् होती है, उपेक्षा से नाना प्रकार के क्लेशों से चित्त छुटकारा पाता है। विमोक्ष और प्रज्ञा से ज्ञानेन्द्रिय बलवान् होती है। विमुक्त होने से वे धर्म एकरस होते हैं और एकरस होने से भावना होती है।"[1] इसलिये ज्ञान के कामवाला हुआ सम्प्रहर्षण अन्त कहा गया है।

अब, **पृथ्वीकसिण का प्रथम ध्यान प्राप्त हुआ होता है**, इसमें 'प्रथम' गणना करने का पहला शब्द है। पहले उत्पन्न होने से भी प्रथम है। आलम्बन को देखकर चिन्तन करने या प्रतिकूल धर्मों को जला देने से ध्यान कहा जाता है। पृथ्वी-मण्डल ही सम्पूर्ण के अर्थ में पृथ्वी-कसिण कहा जाता है। उसके अवलम्ब से प्राप्त हुआ निमित्त भी और पृथ्वी-कसिण-निमित्त में प्राप्त हुआ ध्यान भी। इसी अर्थ में (उस) ध्यान को पृथ्वी-कसिण जानना चाहिये। उसी के प्रति कहा गया है—"पृथ्वी-कसिण का प्रथम ध्यान प्राप्त हुआ होता है।"

१. पटिसम्भिदामग्ग २।

ऐसे इसके प्राप्त होने पर उस योगी को वालवेधी (= बाण से बाल पर निशाना लगाने वाला) और रसोइयादार के समान आकार को भलीभाँति विचारना चाहिये। जैसे चतुर धनुष-धारी बाल पर निशाना लगाने का काम करते समय जिस बार बाल को निशाना लगाता है, उस बार चले हुए पदों का, धनुष के डण्डे का, प्रत्यंचा का और बाण का आकार ठीक-ठीक बिचारे कि मेरे ऐसे खड़े होने से, ऐसे धनुष के डण्डे, ऐसे प्रत्यंचा, और ऐसे बाण को पकड़कर बाल को निशाना लगाया गया। वह तब से लेकर वैसे ही आकारों को पूर्ण करते हुए अचूक बाल को निशाना लगाये, ऐसे योगी को भी—"मुझे इस भोजन को खाकर, इस प्रकार के व्यक्ति का साथ करने से, ऐसे शयनासन में, इस ईर्य्यापथ से, इस समय में, यह प्राप्त हुआ" इन भोजन की अनुकूलता आदि के आकारों को विचारना चाहिये। इस प्रकार वह उनके नष्ट हो जाने पर उन आकारों को पूर्ण करके पुनः उत्पन्न कर सकेगा या नहीं अभ्यस्त का अभ्यास करते हुए बार-बार (उसे) प्राप्त कर सकेगा।

और जैसे चतुर रसोइयादार मालिक को (भोजन) परोसते हुए, वह जो-जो रुचि से खाता है, उसे-उसे देख तब से लेकर वैसा ही (भोजन बना) देते हुए लाभ उठाता है। ऐसे ही यह भी प्राप्ति के ही क्षण भोजन आदिके आकारों को ग्रहण कर उन्हें ठीक करते हुए बार-बार अर्पणा को प्राप्त करता है। इसलिये इसे वालवेधी और रसोइयादार के समान आकारों को विचारना चाहिये। भगवान् ने यह कहा भी है—"भिक्षुओ, जैसे बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर रसोइयादार राजा या महामात्य के लिये नाना प्रकार के नाना रस वाले व्यञ्जनों को तैयार करनेवाला हो—खट्टे से भी, तीते से भी, कड़ुवे से भी, मीठे से भी, क्षार से भी, अ-क्षार से भी, नमकीन से भी, न नमकीन से भी। भिक्षुओ, वह बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर रसोइयादार अपने मालिक के भोजन के निमित्त को धारण करता है कि आज मेरे मालिक को यह व्यञ्जन रुचिकर है, इसके लिये हाथ बढ़ाता है, इसे बहुत लेता है, या इसकी प्रशंसा करता है। आज मेरे मालिक को खट्टा व्यञ्जन अच्छा लग रहा है, खट्टे के लिये हाथ बढ़ाता है, खट्टे को बहुत लेता है या खट्टे की प्रशंसा करता है।···या न नमकीन की प्रशंसा करता है। भिक्षुओ, वह बुद्धिमान्, दक्ष, चतुर रसोइयादार वस्त्र को पाता है, वेतन और इनाम को भी। सो किस कारण? भिक्षुओ, वह वैसा ही बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर रसोइयादार अपने मालिक के भोजन के निमित्त को धारण करता है। ऐसे ही भिक्षुओ, यहाँ कोई बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर भिक्षु काय में कायानुपश्यी[1] होकर विहरता है···वेदनाओं में··· चित्त में···धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहरता है उद्योगी, सम्प्रजन्य (=सावधानी) और स्मृतिमान् होकर लोक में अभिध्या (=विषम लोभ) तथा दौर्मनस्य को त्याग कर। उसके धर्मों में धर्मानुपश्यी होकर विहरते हुए चित्त एकाग्र होता है। उपक्लेश दूर हो जाते हैं। वह उस निमित्त को धारण करता है। भिक्षुओ, वह बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर, भिक्षु दृष्ट-धर्म (= इसी जन्म में) सुख को पानेवाला होता है और पानेवाला होता है स्मृति-सम्प्रजन्य को। सो किस कारण? वैसा ही भिक्षुओ, वह बुद्धिमान् , दक्ष, चतुर भिक्षु अपने चित्त के निमित्त को धारण करता है"[2]

निमित्त को ग्रहण करने से उसे उन आकारों को पूर्ण करते हुए अर्पणा मात्र ही सिद्ध होती है। चिरस्थायी (ध्यान) नहीं सिद्ध होता है, किन्तु चिरस्थायी ध्यान समाधि के विघ्न-कारक धर्मों का भली-प्रकार विशोधन करने से होता है। जो भिक्षु काम के दोषों का प्रत्यवेक्षण

१. देखिये आठवाँ परिच्छेद।

२. संयुत्त नि० ४५, १, ८।

(= भलीभाँति विचार कर देखना) करने आदि से कामच्छन्द (= कामुकता) को अच्छी तरह नहीं दबा, काय-प्रश्रब्धि से काय की पीड़ा को भली प्रकार नहीं शान्त कर, आरम्भ-धातु[1] को मन में करने आदि से स्त्यान-मृद्ध (= शरीर-मन की आलस्यता) को भली-भाँति नहीं दूर कर, शमथ-निमित्त को मन में करने आदि से औद्धत्य-कौकृत्य (= उद्वेग-पश्चात्ताप) को भली प्रकार नहीं नाश कर और दूसरे भी समाधि के विघ्नकारक धर्मों को भली-भाँति नहीं शोधकर ध्यान को प्राप्त होता है, वह नहीं साफ किये गये बिल में घुसे हुए भ्रमर और अविशुद्ध उद्यान में प्रवेश किये हुए राजा के समान शीघ्र ही निकलता है एवं जो समाधि के विघ्नकारक धर्मों को भलीभाँति शुद्ध करके ध्यान को प्राप्त होता है, वह भली प्रकार से साफ किये गये बिल में घुसे हुए भ्रमर और सुपरिशुद्ध उद्यान में प्रवेश किये हुए राजा के समान सारे भी दिन (ध्यान-) समापत्ति में ही होता है। उसी से पुराने लोगों ने कहा है—

कामेसु छन्दं पटिघं विनोदये,
उद्धच्चमिद्धं विचिकिच्छपञ्चमं।
विवेकपामुज्जकरेन चेतसा,
राजा व सुद्धन्तगतो तहिं रमे॥

[काम-भोगों में छन्द (= राग), प्रतिघ (= प्रतिहिंसा), औद्धत्य (= उद्धतपन), मृद्ध (= मानसिक आलस्य), और पाँचवें विचिकित्सा (= संशय) को दूर करे, (तब) विवेक से और प्रीति को उत्पन्न करने वाले चित्त से अत्यन्त परिशुद्ध उद्यान में गये हुए राजा के समान वहीं रमण करे।]

इसलिए चिरस्थायी होने की इच्छा से विघ्नकारक धर्मों का भली-भाँति शोधन करके ध्यान समापन्न होना चाहिये और समाधि-भावना की विपुलता के लिए प्राप्त हुए प्रतिभागनिमित्त[2] को बढ़ाना चाहिये। उसके बढ़ने की दो अवस्थाएँ हैं—उपचार या अर्पणा। उपचार को भी पाकर उसे बढ़ाना चाहिये और अर्पणा को भी पाकर। किसी एक में अवश्य बढ़ाना चाहिये। उसी से कहा है—"प्राप्त हुए प्रतिभाग-निमित्त को बढ़ाना चाहिये।"

यह बढ़ाने का ढंग है—उस योगी द्वारा उस निमित्त को बर्तन, पूवा, भात, लता, वस्त्र के बढ़ाने के अनुसार न बढ़ाकर, जैसे किसान जोतने योग्य स्थान को हल से (घेर) अलग कर उस घेरे के भीतर जोतता है अथवा जैसे भिक्षु सीमा बाँधते हुए पहले चिह्नों का विचार करके पीछे (उसे) बाँधते हैं, ऐसे ही उस प्राप्त हुए निमित्त को क्रमशः एक अंगुल, दो अंगुल, तीन अंगुल, चार अंगुल मात्र मन से अलग करके, अलग किये हुए को बढ़ाना चाहिये, किन्तु बिना अलग किये हुए नहीं बढ़ाना चाहिये। तत्पश्चात् एक बालिश्त, एक हाथ, ओसारा, परिवेण, विहार की सीमा, गाँव, कस्बा (=निगम), जवार (=जनपद), राज्य, और समुद्र की सीमाओं के परिच्छेद से बढ़ाते हुए चक्रवाल (=ब्रह्मांड) भर या उससे भी अधिक परिच्छेद करके बढ़ाना चाहिये।

जैसे हंस के बच्चे पाँखों के निकलने के समय से लेकर थोड़े-थोड़े प्रदेश में उड़ते हुए अभ्यास करके क्रमशः चन्द्र-सूर्य के पास जाते हैं, ऐसे ही भिक्षु कहे हुए के अनुसार निमित्त को परिच्छेद करके बढ़ाते हुए चक्रवाल भर या उससे भी अधिक बढ़ाता है। तब उसका वह

१. देखिये पृष्ठ १२३।
२. देखिये पृष्ठ ११७ की पादटिप्पणी।

निमित्त बढ़े-बढ़े हुए स्थान में पृथ्वी के ऊँचे-नीचे स्थान, नदी-विदुर्ग (=नदी की धार से कट कर बने हुए खड्ड), और विषम पहाड़ों में सैकड़ों बर्छी से छेदे गये बैल के चाम के समान होता है। उस निमित्त में पाये हुए प्रथम ध्यान वाले आरम्भिक योगी को अधिकतर ध्यान प्राप्त कर विहरना चाहिये, बहुत प्रत्यवेक्षण नहीं करना चाहिये। बहुत प्रत्यवेक्षण करने वाले (योगी) के ध्यान के अंग स्थूल और दुर्बल होकर जान पड़ते हैं। तब वे उसके ऐसे जान पड़ने से आगे उत्साह को बढ़ाने वाले नहीं होते हैं। वह ध्यान में अभ्यस्त न होने पर उत्साह करते हुए प्रथम ध्यान से परिहानि को प्राप्त होता है और द्वितीय ध्यान को नहीं पा सकता है। उसी से भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, जैसे मूर्ख गँवार चरागाह नहीं जानने वाली पहाड़ी गाय विषम पहाड़ में चरने के लिये दक्ष न हो, उसे ऐसा होवे—'क्यों न मैं नहीं गई दिशा को जाऊँ, पहले कभी नहीं खाये हुए तृणों को खाऊँ और पहले कभी नहीं पिये हुए पानी को पीऊँ।" वह अगले पैर को अच्छी तरह नहीं रख कर पिछले पैर को उठाये और वह नहीं गई दिशा को जाये, पहले कभी नहीं खाये हुए तृणों को खाये तथा पहले कभी नहीं पिये हुए पानी को पिये और जिस प्रदेश में खड़े हुए उसे ऐसा हो—'क्यों न मैं पहले कभी नहीं गई दिशा को जाऊँ…… पानी को पीऊँ और उस प्रदेश में कल्याणपूर्वक पुनः न लौटे। सो किस कारण? भिक्षुओ, क्योंकि वह मूर्ख गँवार, चरागाह को नहीं जानने वाली पहाड़ी गाय विषम पहाड़ में चरने के लिए दक्ष नहीं है। ऐसे ही भिक्षुओ, यहाँ कोई भिक्षु मूर्ख गँवार, गोचर को नहीं जानने वाला कामों से रहित……प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरने के लिए दक्ष नहीं होता है। वह उस निमित्त का सेवन नहीं करता है, भावना नहीं करता है, (उसे) नहीं बढ़ाता है, सुन्दर अधिष्ठान नहीं करता है। उसे ऐसा होता है—'क्यों न मैं वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने पर……द्वितीय ध्यान को प्राप्त होकर विहरूँ, वह वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने पर…… द्वितीय ध्यान को प्राप्त होकर नहीं विहर सकता है। उसे ऐसा होता है—'क्यों न मैं कामों से रहित……प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरूँ, वह कामों से रहित……प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर नहीं विहर सकता है। यह कहा जाता है भिक्षुओ, (वह) भिक्षु दोनों ओर से भ्रष्ट हो गया, दोनों ओर से वंचित हो गया, जैसे वह मूर्ख, गँवार चरागाह नहीं जानने वाली पहाड़ी गाय विषम पहाड़ में चरने के लिये दक्ष नहीं होती।"[1]

इसलिये उस (भिक्षु) को उसी प्रथम ध्यान में पाँच प्रकार से **वशी** का अभ्यास करना चाहिये। ये पाँच वशी हैं—(१) आवर्जन करने में वशी (२) (ध्यान को) प्राप्त होकर विहरने में वशी (३) अधिष्ठान करने में वशी (४) (ध्यान से) उठने में वशी (५) (ध्यान का) प्रत्यवेक्षण करने में वशी। "प्रथम ध्यान को जहाँ चाहता है, जब चाहता है, जब तक चाहता है, आवर्जन करता है। आवर्जन करने में देर नहीं होती है, वह **आवर्जन वशी** है। प्रथम ध्यान को जहाँ चाहता है……प्राप्त होकर विहरता है, प्राप्त होकर विहरने के में देर नहीं होती है, वह **ध्यान को प्राप्त होकर विहरने में वशी** है।[2]" इसी प्रकार शेष की भी व्याख्या करनी चाहिये।

यह इसके अर्थ का स्पष्टीकरण है—प्रथम-ध्यान से उठ कर पहले वितर्क का आवर्जन करते हुए भवाङ्ग को काट कर उत्पन्न हुए आवर्जन के बाद वितर्क के आलम्बन वाले ही चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, उसके बाद दो भवाङ्ग। तत्पश्चात् पुनः विचार के आलम्बन का आवर्जन और

१. अंगुत्तर नि० ९,४,४।

२. पटिसम्भिदामग्ग १।

कहे हुए के ही समान जवन—ऐसे पाँच ध्यान के अंगों में जब लगातार चित्त को भेज सकता है, तब उसे आवर्जन करने की वशी प्राप्त हो गई रहती है। यह सर्वश्रेष्ठ वशी भगवान् के यमक[1]-प्रातिहार्य में पाई जाती है अथवा दूसरों के ऐसे समय में। इससे शीघ्रतर दूसरी आवर्जन-वशी नहीं है।

आयुष्मान् महामौद्गल्यायन के नन्द और उपनन्द[2] (नामक) नाग-राजाओं के दमन में शीघ्र (ध्यान) को प्राप्त होकर विहरने के सामर्थ्य के समान (ध्यान को) प्राप्त होकर विहरने में वशी है। चुटकी बजानेमात्र या दस चुटकी बजाने मात्र के क्षण को रोक सकने में समर्थ होना ही अधिष्ठान-वशी है। वैसे ही (ध्यान से) शीघ्र उठने में समर्थ होना (ध्यान से) उठने में वशी है।

उन दोनों को दिखलानेके लिए बुद्धरक्षित-स्थविर की कथा कहनी चाहिये—वह आयुष्मान् उपसम्पदा से आठ वर्ष के होकर स्थविराम्रस्थल में महारोहणगुप्त स्थविर की बीमारी में सेवा करने के लिये आये हुए तीस हज़ार ऋद्धिमानों के बीच बैठे हुए, "स्थविर को यवागु देते हुए सेवा करनेवाले नागराजा को पकड़ूँगा" (सोचकर) आकाश से झपटते हुए गरुड़-राज को देखकर उसी समय पर्वत बना, नागराजा को बाँह से पकड़कर वहाँ घुस गये। गरुड़राज पर्वत पर ठोंकर मारकर चला गया। महास्थविर ने कहा—"आवुस, यदि बचाया न गया होता, तो हम सभी निन्दनीय होते।"

प्रत्यवेक्षण-वशी आवर्जन वशी में ही कही गई है, क्योंकि प्रत्यवेक्षण के जवन ही उसमें आवर्जन के अनन्तर होते हैं।

---

१. "क्या है तथागत का यमक-प्रातिहार्य ? यहाँ तथागत श्रावकों के साथ यमक-प्रातिहार्य करते हैं—ऊपर के शरीर से अग्नि-पुञ्ज निकलता है, निचले शरीर से पानी की धार निकलती है। नीचे वाले शरीर से अग्नि-पुञ्ज निकलता है, ऊपर के शरीर से जलधारा। आगे काया से अग्नि-पुञ्ज निकलता है, पीछे की काया से जलधारा। पीछे से अग्नि, आगे से जलधारा। दाहिनी आँख से अग्नि, बायीं आँख से जलधारा। बायीं आँख से अग्नि, दाहिनी से जलधारा। दाहिने कान के सोते से अग्नि, बायें कान के सोते से जल-धारा। बायें कान के सोते से अग्नि, दाहिने कान के सोते से जलधारा। दाहिनी नासिका के सोते से अग्नि, बायीं नासिका के सोते से जलधारा। बायी नासिका के सोते से अग्नि, दाहिनी नासिका के सोते से जलधारा। दाहिने कन्धे से अग्नि, बाँयें कन्धे से जलधारा। बायें कन्धे से अग्नि, दाहिने कन्धे से जलधारा। दाहिने हाथ से अग्नि, बायें हाथ से जलधारा। बायें हाथ से अग्नि, दाहिने हाथ से जलधारा। दाहिनी बगल से अग्नि, बायीं बगल से जलधारा। दायीं बगल से अग्नि, दायीं बगल से जलधारा। दाहिने पैर से अग्नि, बायें पैर से जलधारा। बायें पैर से अग्नि, दाहिने पैर से जलधारा। अंगुलियों से अग्नि, अंगुलियों के बीच से जलधारा। अंगुलियों के बीच से अग्नि, अंगुलियों से जलधारा। एक-एक रोम-छिद्र से अग्नि-पुञ्ज, एक-एक रोम-छिद्र से जलधारा। नीला, पीला, लाल, सफेद, मांजिष्ठ (=मजीठ के रंग का), प्रभास्वर (=चमकीला)—छः रंगों के (हो), भगवान् टहलते हैं, बुद्ध-निर्मित (=योग-बल से निर्मित बुद्धरूप) खड़ा होता है, बैठता है, सोता है। निर्मित सोता है, भगवान् टहलते हैं, खड़े होते हैं या बैठते हैं। यह तथागत का यमक-प्रातिहार्य है।"

—पटिसम्भिदामग्ग १,६०।

२. देखिये बारहवाँ परिच्छेद।

द्वितीय-ध्यान

इन पाँचों वशियों का पूर्णरूप से अभ्यास किये हुए (भिक्षु) को अभ्यस्त प्रथम-ध्यान से उठकर "यह समापत्ति विपक्षी नीवरणों की नज़दीकी है और वितर्क-विचारों के स्थूल होने से दुर्बल अङ्ग वाली है" (सोच कर) उसमें दोष देख द्वितीय ध्यान को शान्त के तौर पर मन में करके प्रथम-ध्यान की चाह को त्याग कर द्वितीय (-ध्यान) की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जब प्रथम-ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ रहनेवाले उस (भिक्षु) को ध्यान के अङ्गों का प्रत्यवेक्षण करते समय वितर्क-विचार स्थूल रूप से दिखाई देते हैं, तथा प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता शान्त के तौर पर जान पड़ती हैं, तब उसे स्थूल अंगों के प्रहाण और शान्त अङ्गों की प्राप्ति के लिये उसी निमित्त को "पृथ्वी, पृथ्वी" (कह कर) बार-बार मन में करते हुए—"अब द्वितीय ध्यान उत्पन्न होगा" ऐसा (जान कर) भवाङ्ग को काटकर उसी पृथ्वी-कसिण को आलम्बन करके **मनोद्वारावर्जन**[1] उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्तमें एक रूपावचर द्वितीय ध्यानवाला और शेष कहे गये प्रकार से ही कामावचर के होते हैं।

यहाँ तक—"**वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।**"[2] [वितर्क-विचारोंके शान्त हो जानेसे भीतरी प्रसाद, चित्तकी एकाग्रतासे युक्त, वितर्क और विचारसे रहित समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखवाले द्वितीय ध्यानको प्राप्त होकर विहरता है।] ऐसे उसे दो अंगोंसे रहित, तीन अंगोंसे युक्त, त्रिविध कल्याणकर, दस लक्षणोंवाला पृथ्वी-कसिण का **द्वितीय-ध्यान** प्राप्त हुआ होता है।

वितक्कविचारानं वूपसमा, का अर्थ है वितर्क और विचार—इन दोनोंके शान्त हो जानेसे, (इन्हें) अतिक्रमण कर जानेसे। द्वितीय ध्यान के क्षणमें (इनका) अनुत्पन्न होना कहा गया है। यद्यपि द्वितीय ध्यान में प्रथम-ध्यानके सभी धर्म नहीं हैं—क्योंकि प्रथम-ध्यानमें दूसरे ही स्पर्श आदि थे और यहाँ दूसरे—किन्तु स्थूल-स्थूल अङ्गोंके समतिक्रमणसे प्रथम-ध्यानसे दूसरे द्वितीय ध्यान आदिकी प्राप्ति होती है—इसे दिखलानेके लिये वितर्क-विचारोंके शान्त हो जानेसे—ऐसा कहा गया जानना चाहिये।

अज्झत्तं, इसका तात्पर्य अपना अभ्यन्तर है। किन्तु विभङ्ग में—"अज्झत्तं (अध्यात्म = अपना अभ्यन्तर), पच्चत्तं (= प्रत्यात्म = अपना अभ्यन्तर)" इतना ही कहा गया है, और चूँकि अपना अभ्यन्तर तात्पर्य है, इसलिए अपने में उत्पन्न, अपनी चित्त-धारा (=सन्तान) में पैदा हुआ—यही यहाँ अर्थ है।

सम्पसादनं, सम्प्रसादन श्रद्धा कही जाती है। सम्प्रसादन (=प्रसन्नता) के योग से ध्यान भी सम्प्रसादन होता है—नीले रंग के योग से नीले वस्त्र के समान। अथवा चूँकि वह ध्यान

---

१. आवर्जन (दे० पृष्ठ २३) के अनन्तर-प्रत्यय हुए भवाङ्ग-चित्तको मनोद्वार कहते हैं, क्योंकि वीथिचित्तोंके प्रवर्तित होनेका वही द्वार है। उसमें देखने, सुनने, स्पर्श करने आदिके अनुसार आये हुए आलम्बनोंका आवर्जन करता है, इसलिये उसे मनोद्वारावर्जन कहते हैं। इसे ही उपेक्षा-सहगत क्रियाहेतुक-मनोविज्ञान-धातु भी कहते हैं।

२. झान विभङ्ग।

सम्प्रसादन से युक्त और वितर्क-विचार के क्षोभ से शान्त होने से चित्त को प्रसन्न करता है, इसलिए भी (वह) सम्प्रसादन कहा गया है। इस अर्थ के विकल्प में **"सम्पसादनं चेतसो"** ऐसा पद का सम्बन्ध जानना चाहिये। किन्तु पहले अर्थ के विकल्प में **"चेतसो"**— इसे **'एकोदिभाव'** के साथ जोड़ना चाहिये।

यह अर्थ-योजना है—अकेला ही उदित होता है, इसलिए एकोदि है। वितर्क-विचारों से आरूढ़ नहीं होने से अगुआ और श्रेष्ठ होकर उदित होता है—यह अर्थ है। श्रेष्ठ भी संसार में अकेला ही कहा जाता है। अथवा वितर्क-विचार से रहित अकेला अ-सहाय होकर—ऐसा भी कहना चाहिये। या उस ध्यान की अवस्था में रहनेवाले (सभी) धर्मों को उदित करता है, इसलिए उदि है, उगता है—यह अर्थ है। श्रेष्ठ के अर्थ में वह अकेला और उदि है, इसलिये एकोदि कहा जाता है। यह समाधि का ही नाम है। इस एकोदि की भावना करता है, (इसे) बढ़ाता है, इसलिये द्वितीय ध्यान एकोदि-भाव है। चूँकि यह एकोदि चित्त का है न कि सत्त्व और जीव का, इसलिये इसे चित्त का एकोदिभाव कहा गया है।

यह श्रद्धा तो प्रथम-ध्यान में भी है न? और यह 'एकोदि' नामक समाधि है, तब क्यों इसे ही चित्त का सम्प्रसादन और चित्त का एकोदिभाव कहा गया है? (उत्तर) कहा जाता है—वह प्रथम-ध्यान वितर्क-विचार के क्षोभ से लहर और तरङ्ग से समाकुल हुए जल के समान शान्त नहीं होता है। इसलिए श्रद्धा के होने पर भी सम्प्रसादन नहीं कहा गया है। शान्त नहीं होने से ही यहाँ समाधि भी भली प्रकार प्रकट नहीं होती है। इसलिये एकोदिभाव भी नहीं कहा गया है। इस ध्यान में वितर्क-विचार के विघ्न के अभाव से अवकाश पाई हुई श्रद्धा बलवान् होती है। बलवान् श्रद्धा की सहायता पाकर ही समाधि भी प्रकट होती है, इसलिये यही ऐसा कहा है—जानना चाहिये।

किन्तु विभङ्ग में—"जो श्रद्धा, विश्वास, दृढ़-विश्वास और (चित्त का) अभिप्रसाद है, उसे सम्प्रसाद कहते हैं। जो चित्त की स्थिरता- - - - सम्यक् समाधि है, उसे एकोदि होना कहते हैं।" इतना ही कहा गया है। फिर भी इस प्रकार उस कहे गये के साथ यह व्याख्या विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत उससे मिलती है, और उसके समान है—ऐसा जानना चाहिये।

अवितक्कं अविचारं, भावना से दूर हो जाने से इस (ध्यान) में या इस (ध्यान) का वितर्क नहीं है, इसलिए अवितर्क है। इसी प्रकार विचार भी। विभङ्ग में भी कहा गया है—"यह वितर्क और यह विचार शान्त, शमित, उपशान्त, अस्त हो गये, भली-भाँति अस्त हो गये, अर्पित, विशेष रूप से अर्पित, शोषित, विशोषित, और निकालकर बाहर कर दिये गये होते हैं। इसलिए अवितर्क-अविचार कहा जाता है।" कहा है—"वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से" इससे भी यही अर्थ सिद्ध होता है न? तब क्यों पुनः अवितर्क-अविचार कहा गया है? (उत्तर) कहा जाता है—ऐसे यह अर्थ सिद्ध ही है, किन्तु यह उस अर्थ को प्रकट करनेवाला नहीं है। क्या हमने नहीं कहा है कि—"स्थूल-स्थूल अंगों के समतिक्रमण से प्रथम-ध्यान से दूसरे द्वितीय ध्यान आदि की प्राप्ति होती है—इसे दिखलाने के लिए वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से—ऐसा कहा गया है।"[1]

वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से यह सम्प्रसादन है, न कि क्लेशों के। वितर्क-विचारों

१. देखिये, पृष्ठ १४१।

के शान्त हो जाने से एकोदिभाव है, न कि उपचार-ध्यान के समान नीवरणों के प्रहाण से। और प्रथम ध्यान के समान अङ्गों के उत्पन्न होने से भी नहीं—ऐसे सम्प्रसादन तथा एकोदिभाव के हेतु को प्रगट करनेवाला यह शब्द है। वैसे वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से यह वितर्क और विचारों से रहित है न तृतीय और चतुर्थ ध्यानों के समान और चक्षुर्विज्ञान आदि के समान अभाव से—ऐसे यह वितर्क और विचारों से रहित होने के हेतु को प्रगट करने वाला है, न कि वितर्क और विचारों के अभाव मात्र को प्रगट करनेवाला है। किन्तु वितर्क और विचारों के अभावमात्र को प्रगट करनेवाला ही अ-वितर्क-अविचार—यह शब्द है। इसलिए पहले को कहकर भी कहना ही चाहिये।

समाधिजं, का अर्थ है प्रथम-ध्यानकी समाधि या सम्प्रयुक्त समाधिसे उत्पन्न। यद्यपि प्रथम (–ध्यान) भी सम्प्रयुक्त समाधिसे उत्पन्न है, किन्तु यही समाधि वितर्क और विचारोंके विघ्नसे रहित होनेसे अत्यन्त अचल और शान्त हो जानेके कारण समाधि कही जाने योग्य है। इसलिये इसका वर्णन करनेके लिए यही समाधिसे उत्पन्न कहा गया है। **पीतिसुखं,** (= प्रीति-सुख) इसे कहे हुए के अनुसार ही जानना चाहिये।[1] **दुतियं** (= द्वितीय), गणनाके अनुसार दूसरा। इस दूसरे (ध्यान) को प्राप्त होता है, इससे भी द्वितीय है।

दो अंगों से रहित, तीन अंगों से युक्त, जो कहा गया है, उसमें वितर्क-विचारोंके प्रहाणसे दो अङ्गोंका रहित होना जानना चाहिये। जैसे प्रथम-ध्यानके उपचारके क्षणमें नीवरण प्रहीण होते हैं, वैसे इस (द्वितीय ध्यान) के वितर्क-विचार नहीं प्रहीण होते। किन्तु अर्पणाके क्षणमें ही यह उनके बिना उत्पन्न होता है, इसलिये वे इस (ध्यान) के प्रहाण किये जानेवाले अङ्ग कहे जाते हैं। प्रीति, सुख और चित्तकी एकाग्रता—इन तीनोंकी उत्पत्तिसे तीन अंगोंसे युक्त होना जानना चाहिये। इसलिये जो विभङ्ग में—"सम्प्रसादन, प्रीति, सुख, चित्तकी एकाग्रता ही ध्यान है" कहा गया है, वह परिष्कार (= समूह) के साथ ध्यानको दिखलानेके लिये पर्यायसे कहा गया है। सम्प्रसादनको छोड़कर बिना पर्यायसे चिन्तनके लक्षणको प्राप्त हुए अंगोंसे तीन अंगोंवाला ही यह (ध्यान) होता है। जैसा कि कहा है—"उस समय कौनसे तीन अङ्गोंवाला ध्यान होता है? प्रीति, सुख, चित्तकी एकाग्रता।" शेष प्रथम ध्यानमें कहे हुए के ही अनुसार।

तृतीय-ध्यान

ऐसे उस (द्वितीय-ध्यान) के प्राप्त हो जानेपर कहे हुए के ही अनुसार पाँच प्रकारसे वशीका[2] अभ्यास करके अभ्यस्त द्वितीय-ध्यानसे उठकर—"यह समापत्ति विपक्षी वितर्क-विचारकी नजदीकी है,—"जो वहाँ प्रीतिसे युक्त चित्तका हर्षोत्फुल्ल होना है, इसीसे यह स्थूल कहा जाता है।" ऐसे कही गई प्रीतिके स्थूल होने और अङ्गोंके दुर्बल होनेके कारण, उसमें दोष देखकर तृतीय ध्यानको शान्तके तौरपर मनमें करके द्वितीय-ध्यानकी चाहको त्याग तृतीयकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जब द्वितीय-ध्यानसे उठकर स्मृति और सम्प्रजन्यके साथ रहनेवाले उस (भिक्षु) को ध्यान-के अंगोंका प्रत्यवेक्षण करते समय प्रीति स्थूल और सुख तथा एकाग्रता शान्तके तौरपर जान पड़ती

---

१. देखिये, पृष्ठ १४१।

२. देखिये पृष्ठ १३९।

हैं, तब उसे स्थूल अङ्गोंके प्रहाण और शान्त अंगोंकी प्राप्तिके लिये उसी निमित्तको "पृथ्वी, पृथ्वी" (कहकर) बार-बार मनमें करते हुए—"अब तृतीय ध्यान उत्पन्न होगा" (जान) भवाङ्गको काटकर उसी पृथ्वी-कसिणको आलम्बन करके मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बनमें चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्तमें एक रूपावचर तृतीय-ध्यानवाला और शेष कहे हुए प्रकारसे ही कामावचरके होते हैं।

यहाँ तक—"**पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति, सतो च सम्पजानो सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति, उपेक्खको सतिमा सुख-विहारी**'ति ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।"[१]

[प्रीति और विरागसे उपेक्षक हो, स्मृति और सम्प्रजन्यसे युक्त हो, कायासे सुखको अनु-भव करता हुआ विहरता है। जिसको आर्य-जन उपेक्षक स्मृतिमान्, सुखविहारी कहते हैं; ऐसे तृतीय-ध्यानको प्राप्त होकर विहरता है।] ऐसे उसे एक अङ्गसे रहित, दो अङ्गोंसे युक्त, त्रिविध कल्याणकर, दस लक्षणोंवाला पृथ्वी-कसिणका **तृतीय-ध्यान** प्राप्त हुआ होता है।

पीतिया च विरागा, उक्त प्रकारकी प्रीतिसे जिगुप्सा करना या (उसका) समतिक्रमण विराग कहा जाता है। दोनोंके बीचमें 'च' (=और) शब्द जोड़े रखनेका काम करता है। वह उपशम को जोड़ता है या वितर्क और विचारके उपशमको। जब वह उपशमको ही जोड़ता है, तब प्रीति, विराग और उपशम से—ऐसे व्याख्या जाननी चाहिये। इस व्याख्या में विराग जिगुप्सा करने के अर्थ में होता है, इसलिए प्रीति से जिगुप्सा करने और उपशम से—अर्थ जानना चाहिए। किन्तु अब वितर्क और विचारों के उपशम को जोड़ता है, तब प्रीति, विराग और वितर्क-विचारों के उपशम से—ऐसी व्याख्या जाननी चाहिये और इस व्याख्या में विराग समतिक्रमण के अर्थ में होता है, इसलिये प्रीति के समतिक्रमण और वितर्क-विचारों के उपशम (=शान्त) हो जाने से—यह अर्थ जानना चाहिये।

ये वितर्क और विचार द्वितीय ध्यान में ही बिल्कुल शान्त हो गये होते हैं, किन्तु इस ध्यान के मार्ग को बतलाने और गुण-कथन के लिये यह कहा गया है। "वितर्क और विचारों के शान्त हो जाने से" कहने पर यह जान पड़ता है कि वितर्क-विचारों का उपशम अवश्य इस ध्यान का मार्ग है और जैसे **तृतीय आर्य-मार्ग**[२] में नहीं प्रहीण हुए भी **सत्काय-दृष्टि**[३] आदि के—"पाँच **ओरम्भागीय**[४] संयोजनों के प्रहाण से" ऐसे प्रहाण को कहने से उसका गुण-कथन और उसकी प्राप्ति के लिये उत्सुक व्यक्तियों को उत्साह उत्पन्न करनेवाला होता है, ऐसे ही यहाँ नहीं शान्त हुए वितर्क-विचारों का भी शान्त होना कहने से गुण-कथन होता है। उससे "प्रीति के समति-क्रमण और वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से" कहा गया है।

उपेक्खको च विहरति, उपपत्ति से देखने को **उपेक्षा** कहते हैं। सम-भाव से देखता है,

---

१. झान विभङ्ग।

२. तृतीय-आर्य मार्ग अनागामी-मार्ग को कहते हैं।

३. इस शरीरमें एक शाश्वत 'आत्मा' के होने की धारणा को सत्काय-दृष्टि कहते हैं।

४. पाँच ओरम्भागीय संयोजन हैं—(१) सत्काय-दृष्टि (२) विचिकित्सा (३) शील-व्रत परामर्श (४) कामच्छन्द (५) व्यापाद। इनमें से पहले के तीन संयोजन सोतापत्ति मार्ग से ही प्रहीण हो जाते हैं, फिर भी अनागामी मार्ग के गुण-कथन के लिये पुनः उन्हें कहा जाता है।

पक्षपात रहित होकर देखता है—(इसका) यह अर्थ है। उस (उपेक्षा) के विशद, विपुल, बलवान् होने से तृतीय-ध्यान से युक्त (व्यक्ति) उपेक्षक कहा जाता है। दस प्रकार की उपेक्षा होती है—(१) छः अंगों वाली उपेक्षा (२) ब्रह्मविहार की उपेक्षा (३) बोध्याङ्ग की उपेक्षा (४) वीर्य्य की उपेक्षा (५) संस्कार की उपेक्षा (६) वेदना की उपेक्षा (७) विपश्यना की उपेक्षा (८) मध्यस्थ होने की उपेक्षा (९) ध्यान की उपेक्षा और (१०) पारिशुद्धि की उपेक्षा।

उनमें से जो—"क्षीणास्रव भिक्षु चक्षु से रूप को देखकर प्रसन्न मन ही होता है, उदास नहीं होता है, और स्मृति तथा सम्प्रजन्य के साथ उपेक्षक होकर विहरता है।"[१] ऐसे आई हुई क्षीणास्रव की, छः द्वारों में प्रिय-अप्रिय आलम्बनों के मिलने पर परिशुद्ध प्रकृति-भाव को त्यागने के आकार वाली उपेक्षा है—यह छः अंगों वाली उपेक्षा है।

जो—"उपेक्षा-युक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण करके विहरता है[२]।" ऐसे आई हुई प्राणियों के प्रति मध्यस्थ-भाव से रहनेवाली उपेक्षा है— यह ब्रह्म-विहार की उपेक्षा है।

जो—"विवेक से युक्त उपेक्षा-सम्बोध्याङ्ग की भावना करता है[३]" ऐसे आई हुई अपने साथ उत्पन्न धर्मों के प्रति मध्यस्थ भाव से रहनेवाली उपेक्षा है—यह बोध्याङ्ग की उपेक्षा है।

जो—"समय-समय पर उपेक्षा-निमित्त को मन में करता है[४]" ऐसे आई हुई न अत्यधिक और न शिथिल वीर्य (=प्रयत्न) वाली उपेक्षा है—यह वीर्य्य की उपेक्षा है।

जो—"कितनी संस्कार की उपेक्षा समाधि से उत्पन्न होती हैं? कितनी संस्कार की उपेक्षा विपश्यना से उत्पन्न होती हैं? आठ संस्कार की उपेक्षा समाधि से उत्पन्न होती हैं, दस संस्कार की उपेक्षा विपश्यना से उत्पन्न होती हैं[५]।" ऐसे आई हुई नीवरण आदि से भली-भाँति जानकर निश्चय करके ग्रहण करने में मध्यस्थ हुई उपेक्षा है—यह संस्कार की उपेक्षा है।

जो—"जिस समय उपेक्षा से युक्त कामावचर का कुशल-चित्त उत्पन्न होता है[६]" ऐसे आई हुई अ-दुःख अ-सुख कही जानेवाली उपेक्षा है—यह वेदना की उपेक्षा है।

जो—"जो है, जो हो गया, उसे त्यागता है, उपेक्षा को प्राप्त होता है" ऐसे आई हुई विचारने में मध्यस्थ हुई उपेक्षा है—यह विपश्यना की उपेक्षा है।

जो—छन्द आदि येवापनक* में आई हुई अपने साथ उत्पन्न धर्म्मों को लानेवाली उपेक्षा है—यह उसमें मध्यस्थ होनेकी उपेक्षा है।

---

१. अंगुत्तर निकाय।

२. दीघ नि० १, २।

३. मज्झिम निकाय १, ३।

४. अंगुत्तर नि०।

५. पटिसम्भिदामग्ग १।

६. धम्मसंगणी।

* "ये वा पन तस्मिं समये अञ्ञेपि अत्थि पटिच्च समुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा, इमे धम्मा कुसला" इस प्रकार से धम्मसङ्गणी में "ये वा पन" वाक्य से नव धर्म संगृहीत हैं। जैसा कि अट्ठसालिनी में कहा गया है—"पालि में आये हुए पचास से अधिक धर्मों को दिखला कर 'येवापनक' से और भी नव धर्मों को धर्मराज (भगवान्) ने बतलाया है। उन-उन सूत्रों में छन्द, अधिमोक्ख, मनसिकार, तत्रमज्झत्तता, करुणा, मुदिता, काय-दुच्चरित-विरति, वची-दुच्चरित-विरति, मिच्छा-

जो—"उपेक्षक होकर विहरता है" ऐसे आई हुई उस अग्र-सुख (= ध्यान-सुख) में भी पक्षपात न उत्पन्न करनेवाली उपेक्षा है—वह ध्यान की उपेक्षा है।

जो—"उपेक्षा और स्मृति शुद्ध चतुर्थ ध्यान को" ऐसे आई हुई सभी विरुद्ध धर्मों के उपशम में भी नहीं लगनेवाली उपेक्षा है—यह पारिशुद्धि की उपेक्षा है।

इनमें (१) छः अंगोंवाली उपेक्षा (२) ब्रह्मविहार की उपेक्षा (३) बोध्याङ्ग की उपेक्षा (४) मध्यस्थ होने की उपेक्षा (५) ध्यान की उपेक्षा और (६) पारिशुद्धि की उपेक्षा-अर्थ से एक मध्यस्थ होने की उपेक्षा ही होती है। उन-उन अवस्थाओं के भेद से, एक ही सत्त्व के होते हुए भी कुमार, युवा, स्थविर (= वृद्ध), सेनापति, राजा आदिके भेदके समान इसका यह भेद है। इसलिये उनमें जहाँ छः अंगोंवाली उपेक्षा होती है, वहाँ बोध्याङ्ग की उपेक्षा आदि नहीं होती हैं या जहाँ बोध्याङ्ग की उपेक्षा होती है, वहाँ छः अंगोंवाली उपेक्षा आदि नहीं होती हैं—ऐसा जानना चाहिये। जैसे इनके अर्थ में एकता है, ऐसे ही संस्कार की उपेक्षा और विपश्यना की उपेक्षा के भी; क्योंकि वह प्रज्ञा ही है, (जो) कार्य के अनुसार दो भागों में बँट गई है।

जैसे सन्ध्या के समय घर में घुसे हुए साँप को अजपद-दण्ड[1] को लेकर खोजते हुए, उसे भूसीवाले घर में सोया हुआ देखकर—"यह साँप है अथवा नहीं?" विचार करके देखते हुए (उसके) तीन सोवर्तिक[2] को देखकर सन्देह रहित हुए पुरुष को "यह साँप है अथवा नहीं?" विचारने में मध्यस्थता होती है, ऐसे ही विपश्यना में लगे हुए व्यक्ति को विपश्यना-ज्ञान से तीन लक्षणों (= अनित्य, दुःख, अनात्म) को देखने पर संस्कारों के अनित्य होने आदि का विचार करने में मध्यस्थता उत्पन्न होती है—यह विपश्यना की उपेक्षा है।

जैसे उस पुरुष को अजपद-दण्ड से मजबूती से साँप को पकड़ कर—"कैसे मैं इस साँप को बिना सताये और अपने को इससे न डँसाते हुए छोड़ूँ" (ऐसे) छोड़ने का आकार ढूँढ़ते हुए पकड़ने में मध्यस्थता होती है, ऐसे ही जो तीन लक्षणों के देखने से जलते हुए के समान तीनों लोकों को देखते हुए संस्कारों को ग्रहण करने में मध्यस्थता होती है—यह संस्कार की उपेक्षा है।

इस प्रकार विपश्यना की उपेक्षा को सिद्ध होने पर संस्कार की उपेक्षा भी सिद्ध ही होती है। इससे यह विचारने और ग्रहण करने में मध्यस्थ होने के कार्य से दो भागों में बँट गई है। किन्तु वीर्य की उपेक्षा और वेदना की उपेक्षा परस्पर तथा अवशेष (सबसे) अर्थ में भिन्न ही हैं।

इन उपेक्षाओं में यहाँ ध्यान की उपेक्षा से ही तात्पर्य है। वह मध्यस्थ रहने के लक्षणवाली है। मन में न करना उसका काम है। (प्रहीण हुए धर्मों में) सबको अनुभव करने में न लगना इसके जानने का आकार है। प्रीति और विराग इसका पदस्थान (= प्रत्यय) है। यहाँ प्रश्न होता है—अर्थ से यह मध्यस्थ होने की ही उपेक्षा है और वह प्रथम, द्वितीय ध्यानों में भी है, इसलिये वहाँ भी उपेक्षक होकर विहरता है—ऐसे वह कही जानी चाहिये न? क्यों नहीं कही गई है? काम में अ-स्पष्ट होने के कारण। क्योंकि वितर्क आदि से अभिभूत होने से वहाँ उसका काम

जीव-विरति—ये नव धर्म दीखते हैं, इस प्रकार इन धर्मों में आई हुई जो तत्रमज्झत्तता (= मध्यस्थ होना) है, वही छन्द आदि 'येवापनक' हुई मध्यस्थोपेक्षा है।

१. साँप को पकड़ने के लिये बनाया गया एक प्रकार का डण्डा, जिसका निचला सिरा बकरी के खुर के समान बना होता है।

२. साँप के गर्दन पर की रेखा को सोवर्तिक कहते हैं।

अस्पष्ट है। किन्तु यहाँ वितर्क, विचार, प्रीति से अभिभूत नहीं होने के कारण सिर उठाये हुए के समान होकर स्पष्ट कामवाली हो गई है, इसलिये कही गई है।

'उपेक्षक होकर विहरता है' इसकी व्याख्या सब प्रकार से समाप्त हो गई।

अब, **सतो च सम्पजानो**, यहाँ, स्मरण करता है, इसलिये स्मृतिमान् है। भली-भाँति जानता है, इसलिये सम्प्रजन्य वाला है। व्यक्ति से स्मृति और सम्प्रजन्य कहा गया है। उनमें स्मरण करने के लक्षणवाली स्मृति है, नहीं भूलना इसका काम है। बचाये रखना इसके जानने का आकार है। संमोहन नहीं करने के लक्षण वाला सम्प्रजन्य है। निश्चय करना इसका काम है। मीमांसा करना इसके जानने का आकार है।

यद्यपि यह स्मृति और सम्प्रजन्य पहले के ध्यानों में भी हैं, क्योंकि स्मृति न रहनेवाले, सम्प्रजन्य-रहित व्यक्ति को उपचार मात्र भी नहीं प्राप्त होता है, अर्पणा की तो बात ही क्या? किन्तु उन ध्यानों के स्थूल होने से भूमि पर पुरुष की गति के समान चित्त की गति सुख-युक्त होती है। वहाँ, स्मृति और सम्प्रजन्य का काम अस्पष्ट है। किन्तु स्थूल अंगों के प्रहाण के कारण इस ध्यान के सूक्ष्म होने से छूरे की धार पर पुरुष की गति के समान स्मृति और सम्प्रजन्य के काम में लगी हुई चित्त की गति को जानना चाहिये, इसलिये यहीं कही गई है।

अधिक क्या? जैसे दूध पीनेवाला बछड़ा गाय से दूर करके नहीं रोकने पर फिर गाय के पास आता है, ऐसे ही यह तृतीय-ध्यान का सुख प्रीति से दूर किया हुआ, स्मृति और सम्प्रजन्य से नहीं बचाये जाने पर पुनः प्रीति के पास जायेगा और प्रीति से युक्त होगा ही। या प्राणी सुख में भी राग करते हैं और यह उसके बाद सुख के अभाव से अत्यन्त मधुर सुख है। किन्तु स्मृति और सम्प्रजन्य के अनुभाव से इस सुख में राग नहीं होता है, अन्यथा नहीं। इस भी विशेष अर्थ को दिखलाने के लिये यह यहीं कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

अब, **सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति**, यद्यपि तृतीय-ध्यान से युक्त (व्यक्ति) को सुख के अनुभव करने का विचार नहीं होता है, ऐसा होने पर भी, चूँकि उसके **नाम-काय**[1] से युक्त सुख है अथवा जो नाम-काय में युक्त सुख है, इसकी उत्पत्ति से चूँकि अत्यन्त उत्तम रूप से रूप-काय (= रूप-स्कन्ध) परिपूर्ण होता है, जिसके परिपूर्ण होने से ध्यान से उठने पर भी सुख का अनुभव करता है, इसलिये इसी बात को दिखलाते हुए—"और काया से सुख का अनुभव करता है" कहा है।

अब, **यं तं अरिया आचिक्खन्ति उपेक्खको सतिमा सुखविहारी**, जिस ध्यान के हेतु, जिस ध्यान के कारण, उस तृतीय-ध्यान से युक्त व्यक्ति को बुद्ध आदि आर्य-लोग "बतलाते हैं, कहते हैं, प्रज्ञप्त करते हैं, प्रतिष्ठापित करते हैं, खोल देते हैं, विभाजित करते हैं, प्रगट कर देते हैं, प्रकाशित करते हैं"[2] प्रशंसा करते हैं—यह इसका तात्पर्य है। क्या? "उपेक्षक स्मृतिमान् सुखविहारी" उस तृतीय ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है—ऐसी यहाँ व्याख्या जाननी चाहिये।

क्यों वे उसकी ऐसी प्रशंसा करते हैं? प्रशंसा के योग्य होने से। चूँकि अत्यन्त मधुर सुख में, सुख की सीमा को प्राप्त तृतीय-ध्यान में भी उपेक्षक है, (वह) वहाँ सुख की अभिलाषा से खिंचा नहीं जाता है, और जैसे प्रीति नहीं उत्पन्न होती है, ऐसे बनी हुई स्मृति के होने से स्मृति-

१. वेदना, संज्ञा और संस्कार—इन तीन स्कन्धों को नाम-काय कहते हैं।

२. विभंग पालि।

मान् है, और चूँकि आर्य-जनों के प्रिय तथा आर्य-जनों से सेवित ही अ-संक्लिष्ट सुख को नाम-काय से अनुभव करता है, इसलिये प्रशंसा के योग्य होता है। इस प्रकार प्रशंसा के योग्य होने से उसे आर्य-जन ऐसे प्रशंसा के कारण बने गुणों को प्रकाशित करते हुए—"उपेक्षक स्मृतिमान् सुख-विहारी" ऐसी प्रशंसा करते हैं—जानना चाहिये। ततियं, गणना के अनुसार तीसरा। इस तीसरे (-ध्यान) को प्राप्त होता है, इससे भी तृतीय है।

जो कहा गया है—"एक अंग से रहित, दो अंगों से युक्त" इसमें प्रीति के प्रहाण से एक अंग का प्रहाण जानना चाहिये। वह द्वितीय-ध्यान के वितर्क-विचारों के समान अर्पणा के क्षण ही प्रहीण होती है। उसी से इस (ध्यान) का वह प्रहाणाङ्ग कही जाती है। सुख और चित्त की एकाग्रता—इन दोनों की उत्पत्ति के अनुसार दो अंगों से युक्त होना जानना चाहिये। इसलिये विभङ्ग में—"उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रजन्य, सुख और चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं" कहा गया है। वह परिष्कार (= समूह) के साथ ध्यान को दिखलाने के लिये पर्याय से कहा गया है। किन्तु उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य को छोड़कर निःपर्याय से चिन्तन करने के लक्षण को प्राप्त हुए अंगों के अनुसार दो अंगों वाला ही यह (ध्यान) होता है। जैसे कहा है—"उस समय कौन से दो अंगों वाला ध्यान होता है ? सुख और चित्त की एकाग्रता।" शेष प्रथम ध्यान में कहे गये के ही अनुसार।

चतुर्थ-ध्यान

ऐसे उस (तृतीय-ध्यान) के भी प्राप्त हो जाने पर कहे गये के ही अनुसार पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करके अभ्यस्त तृतीय-ध्यान से उठकर—"यह समापत्ति विपक्षी प्रीति की नज़दीकी है,—'जो वहाँ सुख'—ऐसा मन में करना है, इसी से यह स्थूल कही जाती है"—ऐसे कहे गये सुख के स्थूल होने और अंगों के दुर्बल होने के कारण, उसमें दोष देखकर चतुर्थ ध्यान को शान्त के तौर पर मन में करके तृतीय-ध्यान की चाह को छोड़ चतुर्थ की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जब तृतीय ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ रहने वाले उस (भिक्षु) को ध्यान के अंगों का प्रत्यवेक्षण करते समय चैतसिक सौमनस्य कहा जाने वाला सुख स्थूल और उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्त के तौर पर जान पड़ती हैं तब उसे स्थूल अंगों के प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिये उसी निमित्त को "पृथ्वी-पृथ्वी" (कह कर) बार-बार मन में करते हुए—"अब चतुर्थ ध्यान उत्पन्न होगा" (जान) भवाङ्ग को काटकर उसी पृथ्वी-कसिण को आलम्बन करके मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्त में एक रूपावचर चतुर्थ-ध्यान वाला और शेष कहे गये प्रकार से ही कामावचर के होते हैं। किन्तु यह अन्तर है—चूँकि सुख-वेदना अ-दुःख-अ-सुख (= उपेक्षा) वेदना की **आसेवन प्रत्यय**[1] से प्रत्यय नहीं होती है और चतुर्थ-ध्यान में अ-दुःख-अ-सुख वेदना से उत्पन्न होना चाहिये, इसलिये वे उपेक्षा-वेदना से युक्त होती हैं और उसे उपेक्षा से युक्त होने से ही यहाँ प्रीति घट जाती है।

यहाँ तक—"**सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज**

१. देखिये सत्रहवाँ परिच्छेद।

विहरति"[1] [सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से, दुःख-सुख से रहित, उपेक्षा से (उत्पन्न) स्मृति की पारिशुद्धि चतुर्थ ध्यानको प्राप्त होकर विहरता है।] ऐसे उसे एक अंग से रहित, दो अंगों से युक्त, त्रिविध कल्याणकर, दस लक्षणों वाला पृथ्वी-कसिण का चतुर्थ-ध्यान प्राप्त हुआ होता है।

सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना, का अर्थ है—कायिक सुख और कायिक दुःख के प्रहाण से। **पुब्बेव**, और वह भी पहले ही, चतुर्थ-ध्यान के क्षण में नहीं। **सोमनस्स-दोमनस्सानं अत्थङ्गमा**, चैतसिक सुख और चैतसिक दुःख—इन दोनों के भी पहले ही अस्त हो जाने से, प्रहाण हो जाने से—ही कहा गया है।

कब उनका प्रहाण होता है ? चारों ध्यानों के उपचार के क्षण में। क्योंकि सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण ही प्रहीण होता है, और दुःख, दौर्मनस्य, सुख प्रथम, द्वितीय, तृतीय के उपचार के क्षण में। इस प्रकार इनके प्रहाण के क्रम से नहीं कहे गये होने वालों का भी इन्द्रिय-विभङ्ग में इन्द्रियों के कथन के क्रम से ही यहाँ भी कहे गये सुख, सौमनस्य, दौर्मनस्य का प्रहाण जानना चाहिये।

यदि ये उन-उन ध्यानों के क्षण में ही प्रहीण होते हैं, तो क्यों—"कहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय बिल्कुल (= अपरिशेष) शान्त हो जाती है ? यहाँ भिक्षुओ, भिक्षु कामों से रहित होकर ......प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है, यहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय बिल्कुल शान्त हो जाती है।......कहाँ उत्पन्न हुई दौर्मनस्येन्द्रिय...सुखेन्द्रिय...सौमनस्येन्द्रिय बिल्कुल शान्त हो जाती है ? यहाँ भिक्षुओ, भिक्षु सुख और दुःख के प्रहाण से......चतुर्थ ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है, यहाँ उत्पन्न हुई सौमनस्येन्द्रिय बिल्कुल शान्त हो जाती है।"[2] ऐसे अत्यधिक शान्त होने से ध्यानों में ही शान्त होना कहा गया है। प्रथम ध्यान आदि में ये शान्त ही नहीं होते, प्रत्युत अत्यधिक शान्त होते हैं। किन्तु शान्त होना ही उपचार के क्षण में भी होता है, अत्यधिक शान्त होना नहीं।

वैसे नाना आवर्जनों में प्रथम-ध्यान के उपचार में शान्त हुई भी दुःखेन्द्रियकी डँस, मच्छड़ आदि के स्पर्श या विषम आसन के तपन से उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु अर्पणा से कभी नहीं होती। या उपचार में शान्त हुई भी यह विपक्षी धर्मों के विनाश न होने से भली प्रकार से शान्त नहीं होती है। किन्तु अर्पणा के बीच प्रीति के स्फरण से सारा काय सुख से भरा होता है और विपक्षी धर्मों के विनाश से सुख से भरे हुए काय वाले की दुःखेन्द्रिय भली-भाँति शान्त होती है।

और नाना आवर्जन में ही द्वितीय ध्यान के उपचार में प्रहीण दौर्मनस्येन्द्रिय की, चूँकि वितर्क और विचार के कारण से भी, काय की थकावट और चित्त को कष्ट होने पर उत्पत्ति होती है और वह वितर्क-विचारों के अभाव में नहीं उत्पन्न होती है, किन्तु जहाँ उत्पन्न होती है, वहाँ वितर्क-विचार होते हैं और वितर्क-विचार द्वितीय-ध्यान के उपचार में अप्रहीण ही होते हैं—इसलिये वहाँ इसकी उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु प्रत्ययों के प्रहीण हो जाने से द्वितीय-ध्यान में नहीं।

वैसे तृतीय-ध्यान के उपचार में प्रहीण सुखेन्द्रिय की भी प्रीति से उत्पन्न हुए उत्तम रूप से परिपूर्ण काय की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु तृतीय-ध्यान में नहीं। क्योंकि तृतीय-ध्यान में

१. झान विभङ्ग।
२. संयुत्त नि० ५, ४५।

सुख का प्रत्यय हुई प्रीति सब प्रकार से शान्त होती है। वैसे ही चतुर्थ-ध्यान के उपचार में प्रहीण सौमनस्येन्द्रिय का भी सामीप्य और अर्पणा-प्राप्त उपेक्षा के अभाव से भली प्रकार अतिक्रमण न होने से उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु चतुर्थ-ध्यान में नहीं। और इसीलिये "यहाँ उत्पन्न हुई दुःखेन्द्रिय बिल्कुल शान्त हो जाती है" ऐसा (कहकर) उन-उन स्थलों में बिल्कुल (= अपरिशेष) शब्द ग्रहण किया गया है।

कहा है—तब ऐसे, उस-उस ध्यान के उपचार में प्रहीण हुई भी ये वेदनायें यहाँ क्यों लाई गई हैं ? आसानी से जानने के लिये। क्योंकि जो यह 'अ-दुःख-अ-सुख' है—यहाँ अ-दुःख-अ-सुख-वेदना कही गई है। वह सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, उसे आसानी से नहीं जान सकते। इसलिये जिस प्रकार जैसे-तैसे पास जाकर नहीं पकड़े जा सकनेवाले दुष्ट बैल को आसानी से पकड़ने के लिये ग्वाला एक बाड़े (=व्रज=ढाठर) में सभी गायों को इकट्ठा करता है, तब एक-एक को निकालते हुए तरतीब से आने पर—"यह है वह, उसे पकड़ो" कहकर उसे भी पकड़वाता है, ऐसे ही भगवान् ने आसानी से जानने के लिये इन सब को लाया; क्योंकि ऐसे लाये हुए इन्हें दिखलाकर, जो न तो सुख है और न दुःख है, न सौमनस्य है, न दौर्मनस्य है 'यह अ-दुःख-अ-सुख-वेदना है'—बतलाया जा सकता है।

और भी, अ-दुःख-अ-सुख की चेतोविमुक्ति (=चित्त की विमुक्ति) के प्रत्यय को दिखलाने के लिये भी ये कही गई हैं—ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि दुःख के प्रहाण आदि उसके प्रत्यय हैं। जैसे कहा है—"आवुस, अ-दुःख-अ-सुख-चेतोविमुक्ति की समापत्ति के चार प्रत्यय हैं—यहाँ आवुस, भिक्षु सुख और दुःख के प्रहाण से······चतुर्थ ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है। आवुस, अ-दुःख-अ-सुख-चेतोविमुक्ति की समापत्ति के ये चार प्रत्यय हैं[1]।"

अथवा जैसे अन्यत्र[2] प्रहीण हुए भी सत्काय-दृष्टि आदि तृतीय-मार्ग के गुण-कथन करने के लिये वहाँ प्रहीण कहे गये हैं, ऐसे ही इस ध्यान के भी गुण-कथन के लिये वे यहाँ कही गई हैं—ऐसा जानना चाहिये। अथवा प्रत्ययों के नाश से यहाँ राग-द्वेष के बहुत दूर होने को दिखलाने के लिये भी कही गई हैं—ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि इनमें सुख सौमनस्य का प्रत्यय है और सौमनस्य राग का। दुःख दौर्मनस्य का प्रत्यय है और दौर्मनस्य द्वेष का तथा सुख आदि के नाश से इसके प्रत्यय सहित राग-द्वेष नष्ट हो गये, इसलिये अत्यन्त दूर होते हैं।

अदुक्खमसुखं, दुःख के अभाव से अ-दुःख और सुख के अभाव से अ-सुख होता है। इससे यहाँ दुःख और सुख की विपक्षी तीसरी वेदना को (भगवान्) दिखलाते हैं, न दुःख के अभाव मात्र को। तीसरी वेदना अ-दुःख-अ-सुख (=अदुक्खमसुख) है, (जो) उपेक्षा भी कही जाती है। वह इष्ट और अनिष्ट के प्रति विरोध अनुभव करने के स्वभाववाली है। मध्यस्थ होना इसका काम है। अ-प्रगट[3] होना इसके जानने का आकार है। सुख का निरोध (= शान्त होना) प्रत्यय है—ऐसा जानना चाहिये।

उपेक्खासतिपारिसुद्धिं, का अर्थ है उपेक्षा से उत्पन्न हुई स्मृति की पारिशुद्धि। इस ध्यान में स्मृति परिशुद्ध होती है और जो उस स्मृति की पारिशुद्धि है, वह उपेक्षा से की गई है, दूसरे

१. मज्झिम नि०।

२. शेष मार्गों से प्रहीण—टीका।

३. पथरीली भूमि पर मृग के पद-चिह्न के समान—टीका।

से नहीं। इसलिये उपेक्षा (द्वारा उत्पन्न)स्मृति की पारिशुद्धि—(ऐसा) कहा जाता है। विभङ्ग में भी कहा गया है—"यह स्मृति इस उपेक्षा से पवित्र, परिशुद्ध, निर्मल होती है, उससे उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि कहा जाता है।" और जिस उपेक्षा से यहाँ स्मृति की पारिशुद्धि होती है, उसे अर्थ से 'मध्यस्थता' ही जानना चाहिये। और यहाँ उससे केवल स्मृति ही परिशुद्ध नहीं है, प्रत्युत सभी उससे युक्त धर्म। किन्तु देशना (=धर्मोपदेश) स्मृति को प्रमुख करके कही गई है।

यद्यपि यह उपेक्षा नीचे के भी तीनों ध्यानों में वर्तमान है, किन्तु जैसे दिन में सूर्य की प्रभा से फीकी पड़ी सौम्य-भाव से अथवा अपने उपकारक उपयुक्त रात्रि के अलाभ से दिन में होती हुई भी चन्द्र-रेखा अपरिशुद्ध और अ-निर्मल होती है, ऐसे ही यह भी मध्यस्थ होने की उपेक्षा रूपी चन्द्र-रेखा वितर्क आदि विपक्षी धर्मों के तेज से अभिभूत और उपयुक्त उपेक्षा-वेदना रूपी रात्रि को नहीं पाने से रहती हुई भी प्रथम-ध्यान आदि में अपरिशुद्ध होती है और उसके अपरिशुद्ध होने से दिन में अपरिशुद्ध चन्द्र-रेखा की प्रभा के समान एक साथ उत्पन्न स्मृति आदि अपरिशुद्ध ही होती हैं। इसलिये उनमें से एक भी 'उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि' नहीं कही गयी है।

यहाँ वितर्क आदि विपक्षी धर्मों के तेज से अभिभूत नहीं होने और उपयुक्त उपेक्षा-वेदना रूपी रात्रि को पाने से यह मध्यस्थ होने की उपेक्षा रूपी चन्द्र-रेखा अत्यन्त परिशुद्ध है। उसके परिशुद्ध होने से चन्द्र-रेखा की प्रभा के समान एक साथ उत्पन्न हुए भी स्मृति आदि धर्म परिशुद्ध और निर्मल होते हैं; इसलिये यही उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि कही गयी है—ऐसा जानना चाहिये।

चतुत्थं (= चतुर्थ), गणना के अनुसार चौथा। इस चौथे ध्यान को प्राप्त होता है, इसलिये भी चतुर्थ है। जो कहा गया है—'एक अंग से रहित दो अंगों से युक्त'—इसमें सौमनस्य के प्रहाण से एक अंग से रहित होना जानना चाहिये। वह सौमनस्य भी एक-वीथी में पहले के जवनों में ही प्रहीण होता है, इसलिये इसका वह प्रहाणाङ्ग कहा जाता है। उपेक्षा-वेदना और चित्त की एकाग्रता इन दोनों की उत्पत्ति से दो अंगों से युक्त होना जानना चाहिये। शेष प्रथम-ध्यान में कहे गये के ही अनुसार—यह अभी चतुष्क्-ध्यान[1] में नियम है।

पञ्चक-ध्यान

पञ्चक-ध्यान को उत्पन्न करने वाले को अभ्यस्त प्रथम-ध्यान से उठकर—'यह समापत्ति विपक्षी-नीवरणों की नजदीकी और वितर्क की स्थूलता से दुर्बल अङ्ग वाली है—ऐसे उसमें दोष देख कर द्वितीय ध्यान को शान्त के तौर पर मन में करके, प्रथम-ध्यान की चाह को छोड़ द्वितीय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। जब प्रथम-ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ रहने वाले उस (भिक्षु) को ध्यान के अंगों का प्रत्यवेक्षण करते समय वितर्क मात्र ही स्थूल रूप से जान पड़ता है और विचार आदि शान्त। तब उसे स्थूल अंग के प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए उसी निमित्त को पृथ्वी-पृथ्वी (कहकर) बार-बार मन में करते हुए, कहे गये के अनुसार द्वितीय ध्यान उत्पन्न होता है। उसका वितर्क मात्र ही प्रहाणाङ्ग है। विचार आदि चार युक्त रहने वाले अङ्ग हैं। शेष कहे गये के ही अनुसार।

---

१. अभिधर्म में ध्यान दो प्रकार से वर्णित है—(१) चतुष्क् और (२) पंचक। चतुष्क् में केवल चार ही ध्यान होते हैं, किन्तु पंचक में पाँच। चतुष्क्-ध्यान का द्वितीय-ध्यान ही पंचक-ध्यान का द्वितीय और तृतीय हो जाता है—दोनों में केवल इतना ही अन्तर है।

ऐसा उस (द्वितीय-ध्यान) प्राप्त हो जाने पर कहे गये के ही अनुसार पाँच प्रकारसे वशी का अभ्यास करके अभ्यस्त द्वितीय-ध्यान से उठकर—यह समापत्ति विपक्षी वितर्क की नजदीकी और विचार की स्थूलता से दुर्बल अंग वाली है—ऐसे दोष देखकर तृतीय-ध्यान को शान्त के तौर पर मन में करके द्वितीय-ध्यान की चाह को छोड़ तृतीय की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जब द्वितीय ध्यान से उठकर स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ रहने वाले उस (भिक्षु) को ध्यान के अंगों का प्रत्यवेक्षण करते समय विचार मात्र स्थूल रूप से जान पड़ता है और प्रीति आदि शान्त। तब उसे स्थूल अंग के प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए उसी निमित्त को "पृथ्वी-पृथ्वी" (कहकर) बार-बार मन में करते हुए कहे गये के अनुसार तृतीय-ध्यान उत्पन्न होता है। उसका विचार मात्र ही प्रहाणाङ्ग है। चतुष्क्-नय के द्वितीय-ध्यान में प्रीति आदि के समान तीन युक्त रहने वाले अङ्ग हैं। शेष कहे गये के अनुसार ही।

इस प्रकार जो चतुष्क्-नय में द्वितीय है, वह दो भागों में बँटकर पञ्चक-नय में द्वितीय और तृतीय हो जाता है और जो वहाँ तृतीय-चतुर्थ हैं, वे चतुर्थ-पञ्चम हो जाते हैं, प्रथम, प्रथम ही रहता है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धि मार्ग में समाधि-भावना के भाग में
पृथ्वीकसिण-निर्देश नामक चौथा परिच्छेद समाप्त।

पाँचवाँ परिच्छेद

शेषकसिण-निर्देश

आप्-कसिण

अब, पृथ्वी-कसिण के पश्चात् आप् (=जल)-कसिण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहा जाता है। जैसे पृथ्वी-कसिण (की भावना की जाती है) वैसे ही आप्-कसिण की भी भावना करना चाहने वाले (भिक्षु) को सुख-पूर्वक बैठकर आप् (=जल) में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। "बनाये हुए या नहीं बनाये हुए"[1]—सबका विस्तार करना चाहिये और जैसे यहाँ, वैसे ही सर्वत्र। इसके पश्चात् इतना भी न कहकर विशेषमात्र ही कहेंगे।

यहाँ भी पूर्व (जन्मों) में आप्-कसिण की भावना किये हुए पुण्यवान् (भिक्षु) को नहीं बनाये गये जल में भी—पोखरी, तालाब, लवणीय[2] या समुद्र में निमित्त उत्पन्न होता है। चूल-सीव स्थविर के समान। उस आयुष्मान् को—लाभ-सत्कार छोड़ "एकान्त-वास करूँगा" (सोच) महातीर्थ[3] में नाव में बैठकर जम्बूद्वीप (= भारतवर्ष) जाते समय बीच में महासमुद्र को देखते हुए, उसके समान कसिण-निमित्त उत्पन्न हुआ।

पूर्व (जन्मों) में आप्-कसिण की भावना नहीं किये हुए को कसिण के चार दोषों को दूर करते हुए नीले, पीले, श्वेत रंग वाले में से किसी भी एक रंग के जल को न लेकर, जो भूमि पर नहीं पहुँचा आकाश में ही शुद्ध वस्त्र से ग्रहण किया जल अथवा दूसरा भी उसी प्रकार का स्वच्छ, निर्मल (जल) हो, उसे पात्र या नदिया (= कुण्डिक) को बराबर भरकर विहार के एकान्त स्थान में (जाकर) कहे गये के समान घिरे हुए स्थान में रखकर सुखपूर्वक बैठे हुए रङ्ग का प्रत्य-वेक्षण नहीं करना चाहिये और न लक्षण को ही मनमें करना चाहिए। उसके आश्रित रंग की ही अधिकता के अनुसार प्रज्ञप्ति-धर्म में चित्त को रखकर, अम्बु, जल, वारि, सलिल (= आप्) के नामों में से प्रकट नामके अनुसार ही "आप्, आप्"की भावना करनी चाहिए।

उसके इस प्रकार भावना करते क्रमशः कहे गये के अनुसार दो निमित्त उत्पन्न होते हैं। किन्तु यहाँ उग्गह-निमित्त[4] चंचल-सा जान पड़ता है। यदि फेन, बुलबुलों से मिला हुआ जल होता है तो वैसा ही जान पड़ता है और कसिण का दोष प्रगट होता है; किन्तु प्रति-भाग-निमित्त चंचलता रहित आकाश में रखे मणिमय ताड़ के पंखे के समान और मणिमय दर्पण-मण्डल के समान होकर जान पड़ता है। वह (भिक्षु) उसके जान पड़ने ही के साथ उपचार-ध्यान और कहे गये के अनुसार ही चतुष्क-पञ्चक ध्यानों को पाता है।

---

१. देखिये, पृष्ठ ११५।

२. समुद्र के लवण-मिश्रित जल से भरा हुआ जलाशय।

३. पश्चिमोत्तर लंका का एक प्राचीन बन्दरगाह; वर्तमान् मन्तोट।

४. देखिये, पृष्ठ ११७।

तेज-कसिण

तेज-कसिण की भावना करना चाहने वाले (भिक्षु) को तेज (= तेजस्=अग्नि) में निमित्त ग्रहण करना चाहिए। (पूर्व जन्मों में) भावना किये हुए पुण्यवान् को बिना बनाये हुए (कसिण-मण्डल) में निमित्त को ग्रहण करते समय चिराग़ की लौ में, चूल्हे में, पात्र को पकाने के स्थान में या जंगल में लगी हुई आग में—जहाँ कहीं भी आग की लपट को देखते हुए निमित्त उत्पन्न होता है। चित्रगुप्त स्थविर के समान। उस आयुष्मान् को धर्म-श्रवण के दिन उपोसथ-गृह में प्रवेश करने पर चिराग की लौ को देखते हुए ही निमित्त उत्पन्न हुआ।

किन्तु, अन्य को (कसिण-मण्डल) बनाना चाहिए। उसके बनाने का यह विधान है—गीली अच्छी लकड़ियोंको फाड़कर सुखा, टुकड़ा-टुकड़ा करके योग्य वृक्ष के नीचे या मण्डप में जाकर बर्त्तन को पकाने के समान राशि करके आग लगाकर चटाई, चमड़े या कपड़े में एक बालिश्त चार अंगुल के बराबर का छेद करना चाहिए। उसे सामने रखकर कहे गये के अनुसार ही बैठ, नीचे की ओर तृण, काष्ठ या ऊपर की ओर धुँआ, लपट को मन में न लाकर बीच में घनी लपट का निमित्त ग्रहण करना चाहिए।

नीला है या पीला है—आदि प्रकार से रंग का प्रत्यवेक्षण नहीं करना चाहिये। ऊष्णत्व के अनुसार लक्षण को भी मन में नहीं लाना चाहिये। सवर्ण को ही निश्चय करके अधिकता के अनुसार प्रज्ञप्ति धर्म में चित्त को रखकर-पावक, कृष्णवर्त्मा (= कण्हवत्तनि), जातवेद, हुताशन—आदि अग्नि के नामों में से प्रगट नाम के अनुसार ही "तेज-तेज" (कह कर) भावना करनी चाहिये।

उसके इस प्रकार भावना करते क्रमशः कहे गये के अनुसार दो निमित्त उत्पन्न होते हैं। उग्गह-निमित्त लपट के टूट-टूटकर गिरने के समान होकर जान पड़ता है। (कसिण-मण्डल) नहीं बनाये हुए में (निमित्त) ग्रहण करने वाले को कसिण का दोष दीख पड़ता है। जली हुई लकड़ी का बिचला भाग (= अलात-खण्ड), कोयला, राख या धुआ जान पड़ता है। प्रतिभाग निमित्त निश्चल आकाश में रखे लाल कम्बल के टुकड़े के समान, सुवर्णमय ताड़ के पंखे के समान और सोने के खम्भे के समान जान पड़ता है। वह उसके जान पड़ने के ही साथ उपचार-ध्यान और कहे गये के अनुसार ही चतुष्क्-पञ्चक ध्यानों को पाता है।

वायु-कसिण

वायु-कसिण की भावना करने वाले (भिक्षु) को वायु में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। वह भी देखने या स्पर्श करने के द्वारा। अट्ठकथा में यह कहा गया है—"वायु-कसिण का अभ्यास करते हुए वायु में निमित्त ग्रहण करता है। हिलते-डोलते हुए ऊख के सिरे को उपलक्ष्य करके देखता है। हिलते-डोलते हुए बाँस के सिरे को, पेड़ के सिरे को या केश के सिरे को उपलक्ष्य करके देखता है अथवा शरीर पर स्पर्श किये हुए को उपलक्ष्य करके देखता है।"

इसलिये एक बराबर सिरों वाले घने पत्तों से युक्त खड़े ऊख, बाँस, पेड़ को या चार अंगुल के घने केश वाले व्यक्ति के सिर को वायु से प्रहार पाते हुए देखकर—"यह वायु इस जगह प्रहार कर रही है" (ऐसे) स्मृति रख कर, या जो वायु खिड़की से या भीत के छेद से प्रवेश कर

उसके शरीर को प्रहार करती है, वहाँ स्मृति रख कर—वात, मारुत, अनिल आदि वायु के नामों में से प्रगट नाम के अनुसार ही "वात-वात" (कह कर) भावना करनी चाहिये।

यहाँ उग्गह-निमित्त चूल्हे से उतारने के समय खीर की गोलाकार भाप के समान जान पड़ता है। प्रतिभाग-निमित्त स्थिर और निश्चल होता है। शेष कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

नील-कसिण

उसके पश्चात्—नील-कसिण का अभ्यास करते हुए नीले (रंग) में निमित्त ग्रहण करता है—फूल, वस्त्र या (नीले रंग की) धातु में।" (इस) वाक्य से पूर्व जन्म में प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को उस प्रकार के फूल के पौधे, पूजा करने के स्थान में फैले हुए फूल या नीले वस्त्र, मणि में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न होता है।

दूसरे को नीला कमल, गिरि कर्णिक[1] आदि फूलों को लेकर जिस प्रकार (उसका) केसर या डंठल नहीं दीख पड़े, उस प्रकार फूल की डलरी (चङ्गोटक) या पिटारे के पिधान को पत्तोंसे बराबर भर कर फैलाना चाहिये। नीले रंग के वस्त्र से गठरी बाँधकर भरना चाहिये। या उसके मुख के घेरे पर ढोलक के छाये हुए तल के समान बाँधना चाहिये। काँसे के समान नीली, पलाश के समान नीली या अंजन के समान नीली किसी धातु से पृथ्वी-कसिण में कहे गये के अनुसार ही उठाकर ले जाने योग्य अथवा भीत पर ही कसिण-मण्डल को बनाकर दूसरे रंग से अलग कर देना चाहिये, उसके पश्चात् पृथ्वी-कसिण में कहे गये के अनुसार "नीला-नीला" (कह कर) मन में करना चाहिये।

यहाँ उग्गह-निमित्त में कसिण का दोष दिखाई देता है। केसर, डंठल, पत्ते के बीच के छेद आदि जान पड़ते हैं। प्रतिभाग-निमित्त कसिण-मण्डल से छूटकर आकाशमें मणिमय ताड़ के पंखे के समान जान पड़ता है। शेष कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

पीत-कसिण

पीत-कसिण में भी यही नियम है। यह कहा गया है—"पीत-कसिण का अभ्यास करते हुए पीले में निमित्त ग्रहण करता है—फूल, वस्त्र या (पीले रंग की) धातु में।" इसलिये यहाँ भी पूर्व जन्म में प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को उस प्रकार के फूल के पौधे, (पूजा करने के स्थान में) फैले हुए फूल, पीले वस्त्र या धातुओं में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न होता है—**चित्रगुप्त स्थविर** के समान। उस आयुष्मान् के **चित्तल-पर्वत** में पतङ्ग[2] के फूलों से पूजा किये हुए आसन को देखते हुए, देखने के साथ ही आसन के बराबर निमित्त उत्पन्न हुआ।

दूसरे को कर्णिकार के फूल आदि से, पीले वस्त्र से या धातु से नील-कसिण में कहे गये के अनुसार ही कसिण (-मण्डल) बनाकर "पीला, पीला" (कह कर) मनमें करना चाहिये।

लोहित-कसिण

लोहित-कसिण में भी यही नियम है। यह कहा गया है—"लोहित-कसिण का अभ्यास

१. नीले रंग का पुष्प विशेष।
२. पीले रंग का पुष्प विशेष।

करते हुए लाल रंग वाले में निमित्त ग्रहण करता है—फूल, वस्त्र या (लाल) रंग की धातु में।" इसलिये यहाँ भी पूर्व जन्म में प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को उस प्रकार के बन्धुजीवक (=अड़हुल) आदि के पौधों, (पूजा करने के स्थान में) फैले हुए फूलों, लाल रंग के वस्त्र, मणि या धातुओं में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न होता है।

दूसरे को जयसुमन, बन्धुजीवक (=अड़हुल), लाल कोरण्डक आदि फूलों, लाल रंग के वस्त्र, या धातुओं में से नील कसिण में कहे गये के अनुसार ही कसिण (-मण्डल) को बनाकर "लोहित, लोहित" (कह कर) मन में करना चाहिये। शेष वैसा ही।

अवदात-कसिण

अवदात-कसिण में भी "अवदात (= श्वेत) कसिण का अभ्यास करते हुए श्वेत में निमित्त ग्रहण करता है—फूल, वस्त्र या (श्वेत) रंग की धातु में।" इस वाक्य से पूर्व जन्म में प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को उस प्रकार के फूल के पौधे, जूही, चमेली आदि के फैले हुए फूल, कुमुद और पद्म की ढेर, श्वेत-वस्त्र या धातुओं में से किसी एक को देखकर ही निमित्त उत्पन्न होता है। शीशा, चाँदी और चन्द्र-मण्डल में भी उत्पन्न होता ही है।

दूसरे को कहे गये प्रकार से श्वेत-पुष्पों से, श्वेत वस्त्र से या (श्वेत-) धातु से नील-कसिण में कहे गये के अनुसार ही कसिण (-मण्डल) को बनाकर "अवदात, अवदात" (कहकर) मन में करना चाहिये। शेष वैसा ही।

आलोक-कसिण

आलोक-कसिण में "आलोक-कसिण का अभ्यास करते हुए आलोक (=प्रकाश) में निमित्त ग्रहण करता है—भीत के छेद में या झरोखे में (इस) वाक्य से पूर्व जन्म में प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को भीत के छेद आदि किसी एक से सूर्य्य का प्रकाश या चन्द्र का प्रकाश प्रवेश कर भीत या भूमि पर गोलाकार होता है अथवा घने पत्तोंवाले पेड़ की शाखाओं के बीच से या घनी शाखाओं से बने मण्डप के बीच से निकल कर भूमि पर ही गोलाकार बनता है, उसे देखकर ही निमित्त उत्पन्न होता है।

दूसरे को भी उसी कहे गये प्रकार के प्रकाश-मण्डल को "अवभास, अवभास" या "आलोक, आलोक" (कह कर) भावना करनी चाहिये। वैसा नहीं कर सकने वाले (भिक्षु) को घड़े में चिराग जलाकर उसके मुँह को बन्द करके घड़े में छेद कर भीत की ओर करके रखना चाहिये, उस छेद से चिराग का प्रकाश निकल कर भीत पर गोलाकार बनता है, तब उसे "आलोक, आलोक" (कह कर) भावना करनी चाहिये। यह अब चिरस्थायी होता है।

यहाँ उग्गह-निमित्त भीत या भूमि पर बनी हुई गोलाई के समान ही होता है। प्रतिभाग-निमित्त घने, स्वच्छ प्रकाश-पुञ्ज के समान। शेष वैसा ही।

परिच्छिन्नाकाश-कसिण

परिच्छिन्नाकाश-कसिण में भी "आकाश-कसिण का अभ्यास करते हुए आकाश में निमित्त ग्रहण करता है—भीत के छेद में, ताड़ के छेद में या झरोखे में।" (इस) वाक्य से पूर्व जन्म में

प्रार्थना किये हुए पुण्यवान् को भीत के छेद आदि में से किसी एक को देख कर ही निमित्त उत्पन्न होता है।

दूसरे को भली प्रकार से छाये हुए मण्डप में या चमड़े, चटाई आदि में से किसी एक में एक बालिश्त चार अंगुल का छेद करके या उसी भीत के छेद आदि को "आकाश, आकाश" (कह कर) भावना करनी चाहिये।

यहाँ उग्गह-निमित्त भीत में बने हुए छेद के समान ही होता है। वह बढ़ाने पर भी नहीं बढ़ता है। प्रतिभाग-निमित्त आकाश-मण्डल ही होकर जान पड़ता है और बढ़ाने पर भी बढ़ता है। शेष पृथ्वी-कसिण में कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

प्रकीर्णक-कथा

इति कसिनानि दसबलो दस यानि अवोच सब्बधम्मदसो।
रूपावचरम्हि चतुक्कपञ्चकज्झानहेतूनि॥
एवं तानि च तेसञ्च भावानानयमिमं विदित्वान।
तेस्वेव अयं भिय्यो पकिण्णककथापि विञ्ञेय्या॥

[इस प्रकार सर्व-धर्मदर्शी, दशबल[1] (भगवान् बुद्ध) ने रूपावचर में चतुष्क् और पञ्चक ध्यानों के हेतु जिन दस-कसिणों को कहा, उनको और उनकी भावना के इस ढंग को ऐसे जानकर, उन्हीं में यह और भी प्रकीर्णक-कथा जाननी चाहिये।]

इनमें पृथ्वी-कसिण से "एक भी होकर बहुत होता है"[2] आदि का होना, आकाश या जल में पृथ्वी बनाकर पैदल चलना, खड़ा होना, बैठना आदि करना और परित्र अप्रमाण के रूप में अभिभायतन[3] की प्राप्ति आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

आप्-कसिण से पृथ्वी में डूबना, उतिराना, पानी की वर्षा करना, नदी, समुद्र आदि को बनाना, पृथ्वी, पर्वत, प्रासाद आदि को हिलाना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

तेज-कसिण से धुँआना, प्रज्वलित होना, अंगार की वर्षा करना, आग से आग को बुझा देना, जिसे ही वह चाहे उसे जलाने की सामर्थ्य, दिव्य-चक्षु से रूप को देखने के लिये प्रकाश करना, परिनिर्वाण के समय अग्नि से शरीर को जलाना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

वायु-कसिण से वायु की चाल से जाना, आँधी उत्पन्न करना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

नील-कसिण से नीले रंग के रूप को बनाना, अन्धकार करना, सुवर्ण और दुर्वर्ण के अनुसार अभिभायतन तथा शुभ-विमोक्ष[4] की प्राप्ति आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

पीत-कसिण से पीले रंग के रूप को बनाना, 'सुवर्ण है'—ऐसा निस्सन्देह करना, कहे गये के अनुसार ही अभिभायतन और शुभ-विमोक्ष की प्राप्ति आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

---

१. देखिये पृष्ठ २।

२. दीघ नि० १, २।

३. देखिये दीघ नि० २, ३।

४. देखिये दीघ नि० २, ३।

लोहित-कसिण से लाल रंग के रूप को बनाना, कहे गये के अनुसार ही अभिभायतन और शुभ-विमोक्ष की प्राप्ति आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

अवदात-कसिण से श्वेत रंग के रूप को बनाना, स्त्यान-मृद्ध को दूर करना, अन्धकार को नाश करना और दिव्य चक्षु से रूप को देखने के लिये प्रकाश करना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

आलोक-कसिण से प्रभा सहित रूप को बनाना, स्त्यान-मृद्ध को दूर करना, अन्धकार को नाश करना, दिव्य चक्षु से रूप को देखने के लिये प्रकाश करना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

आकाश-कसिण से ढँके हुओं को उघाड़ देना, पृथ्वी, पर्वत आदि में भी आकाश बनाकर ईर्य्यापथ करना, भीत के इस पार से उस पार बिना स्पर्श किये हुए जाना आदि ऐसे कार्य सिद्ध होते हैं।

सभी (कसिणों से) "ऊपर, नीचे, तिरछे, अकेला अप्रमाण को" इस प्रकार कहे गये भेद को प्राप्त करते हैं। यह कहा गया है—"एक (भिक्षु) पृथ्वी-कसिण को ऊपर, नीचे, तिरछे, अकेला अप्रमाण जानता है।"[1]

इसमें, ऊपर कहते हैं ऊपर आकाश-तल की ओर को। **नीचे** कहते हैं नीचे भूमि-तल की ओर को। **तिरछे** कहते हैं खेत के घेरे के समान चारों ओर से अलग हुए को। कोई ऊपर को ही कसिण को बढ़ाता है, कोई नीचे, कोई चारों ओर। अथवा दिव्य चक्षु से रूप को देखने की इच्छा वाले के प्रकाश (को बढ़ाने के) समान उन-उन कारणों से ऐसे फैलाता है। उसी से कहा गया है—"ऊपर, नीचे, तिरछे।" **अकेला**, यह (शब्द) दूसरे के अभाव से एक को प्रगट करने के लिए कहा गया है। जैसे जल में पैठे हुए को सारी दिशाओं में जल होता है, अन्य कुछ नहीं, ऐसे ही पृथ्वी-कसिण की भावना करनेवाले को पृथ्वी-कसिण ही होता है, उसे अन्य कसिण-भेद नहीं होते हैं। ऐसे ही सब में जानना चाहिये। **अप्रमाण**, यह उसके अ-सीमित स्फरण (=व्याप्त करना) के अनुसार कहा गया है, क्योंकि उसे चित्त से स्फरण करते हुए सम्पूर्ण को ही स्फरण करता है। यह इसका आरम्भ और यह मध्य है—ऐसे प्रमाण नहीं ग्रहण करता है।

"और जो सत्त्व कर्म के आवरण से युक्त हैं, क्लेश के आवरण से युक्त हैं या विपाक के आवरण से युक्त हैं, श्रद्धा, छन्द से रहित और दुष्प्रज्ञ हैं, वे कुशल धर्मों में सम्मत्त और नियाम को प्राप्त करने के लिये अ-समर्थ हैं।"[2] इस प्रकार कहे गये (व्यक्तियों) में से एक को भी किसी कसिण में भावना नहीं पूर्ण होती है।

आनन्तरिय[3] कर्मों से युक्त (व्यक्तियों) को **कर्म के आवरण से युक्त** कहते हैं। **क्लेश के आवरण से युक्त**, नियत-मिथ्या-दृष्टि[4], उभतो-व्यञ्जक (=स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गों से युक्त) और

१. मज्झिम नि० और अंगुत्तर नि०।

२. विभङ्ग पालि।

३. आनन्तरिय कर्म पाँच हैं—(१) माता का वध (२) पिता का वध (३) अर्हन्त का वध (४) तथागत के शरीर से रुधिर गिराना (५) संघ में फूट डालना।

४. अहेतुकवाद, अक्रियवाद और नास्तिकवाद—जो यह तीन बुरी धारणायें हैं, उन्हें नियत-मिथ्या-दृष्टि कहते हैं।

पण्डक (=नपुंसक, हिजड़ा) (कहे जाते हैं)। अहेतुक[1] और द्वि-हेतुक[2] प्रतिसन्धि वाले **विपाक के आवरण से युक्त** होते हैं। बुद्ध आदि में विश्वास नहीं करने वाले को **श्रद्धा रहित** कहते हैं। अ-प्रतिकूल प्रतिपदा (=मार्ग) में छन्द न करना छन्द-रहित होना है। लौकिक और लोकोत्तर सम्यक्-दृष्टि से रहित दुष्प्रज्ञ होता है। **कुशल धर्मों में सम्मत और नियाम को प्राप्त करने के लिये असमर्थ हैं**, का अर्थ है—कुशल धर्मों में नियाम और सम्मत्त नामक आर्य-मार्ग को प्राप्त करने के लिए अ-समर्थ हैं और केवल कसिण में ही नहीं, दूसरे कर्मस्थानों में भी इनको एक की भी भावना सिद्ध नहीं होती है; इसलिये विपाक के आवरण को दूर से ही त्याग कर सद्धर्म के श्रवण और सत्पुरुष के आश्रय आदि से श्रद्धा, छन्द और प्रज्ञा को बढ़ा कर कर्मस्थान के अनुयोग में लगना चाहिये।

सज्जनोंके प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि-भावना के भाग में शेषकसिण-निर्देश नामक पाँचवाँ परिच्छेद समाप्त।

---

१. पशु-योनि में उत्पन्न तथा मनुष्यों में जन्म के गूँगे आदि जो कुशल-विपाक-अहेतुक-प्रतिसन्धि से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अहेतुक प्रतिसन्धि वाला कहते हैं।

२. ज्ञान-रहित प्रतिसन्धि से उत्पन्न मनुष्य द्वि-हेतुक प्रतिसन्धि वाले कहे जाते हैं। हेतु और प्रतिसन्धि की जानकारी के लिये देखिये पृष्ठ ५।

छठाँ परिच्छेद

अशुभ-कर्मस्थान-निर्देश

कसिण के अनन्तर कहे गये[1]—(१) ऊर्ध्वमातक (२) विनीलक (३) विपुब्बक (४) विच्छिद्रक (५) विक्खायितक (६) विक्षिप्तक (७) हतविक्षिप्तक (८) लोहितक (९) पुलुवक (१०) अस्थिक—(इन) दस अचेतन (=अ-विञ्ञानक=विज्ञान-रहित) अशुभों में, वायु से भरी हुई भाथी (=भस्त्रा) के समान मरने के पश्चात् क्रमशः उत्पन्न हुई सूजन (=शोथ=फुलाव) से फूले हुए होने के कारण ऊर्ध्वमात कहते हैं। ऊर्ध्वमात ही ऊर्ध्वमातक है। अथवा प्रतिकूल (=घृणित) होने से कुत्सित (=निन्दित) ऊर्ध्वमातक है। उस प्रकार के (फूले हुए) मृत-शरीर का यह नाम है।

(श्वेत-लाल रंगों से) मिला हुआ वर्ण विनील कहा जाता है। विनील (=विशेष रूप से मिश्रित नील) ही विनीलक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विनील—विनीलक है। अधिक मांस वाले स्थानों में लाल रंग, पीब एकत्र हुए स्थानों में श्वेत रंग और अधिकांश नीले रंग के नीले स्थान में नीले-वस्त्र को ओढ़े हुए होने के समान मृत-शरीर का यह नाम है।

फूटे हुए स्थानों पर बहती हुई पीब (का नाम) विपुब्ब है। विपुब्ब ही विपुब्बक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विपुब्ब—विपुब्बक है। उस प्रकार के (पीब बहते हुए) मृत-शरीर का यह नाम है।

कटने से दो भागों में अलग हो गया हुआ विच्छिद्र कहा जाता है। विच्छिद्र ही विच्छिद्रक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सिक विच्छिद्र—विच्छिद्रक है। बीच में छिद्र हुए मृत-शरीर का यह नाम है।

यहाँ और वहाँ नाना प्रकार से कुत्ते-सियार (=गीदड़) आदि से खाया गया, विक्खायित (कहा जाता) है। विक्खायित ही विक्खायितक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विक्खायित—विक्खायितक है। उस प्रकार के (खाये गये) मृत-शरीर का यह नाम है।

विविध प्रकार से (कुत्ते-सियारों द्वारा) फेंका हुआ विक्षिप्त (कहा जाता) है। विक्षिप्त ही विक्षिप्तक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित विक्षिप्त—विक्षिप्तक है। दूसरे स्थान पर हाथ है, दूसरे स्थान पर पैर, दूसरे स्थान पर सिर—ऐसे उन-उन स्थानों पर फेंके गये मृत-शरीर का यह नाम है।

(हथियार आदि से) मारा और पहले के समान ही इधर-उधर फेंका गया हतविक्षिप्तक है। कौवे के पैर के आकार से अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर हथियार से मार कर, कहे गये के समान इधर-उधर फेंके हुए मृत-शरीर का यह नाम है।

लोहू (=रक्त) को छींटता, फैलाता है और इधर-उधर बहाता है, इसलिये लोहितक कहा जाता है। बहे हुए लोहू से सने मृत-शरीर का यह नाम है।

---

१. देखिये पृष्ठ १०२

पुलुवा कीड़े कहे जाते हैं। पुलुवों को (यह) फैलाता है, इसलिये पुलुवक कहा जाता है। कीड़ों से भरे हुए मृत-शरीर का यह नाम है।

अस्थि (=हड्डी) ही अस्थिक है। अथवा प्रतिकूल होने से कुत्सित अस्थि—अस्थिक है। हड्डियों के समूह का भी, एक छोटी-सी हड्डी का भी—यह नाम है।

इन ऊर्ध्वमातक आदि के सहारे उत्पन्न हुए निमित्तों के भी, निमित्तों में प्राप्त ध्यानों के भी—ये ही नाम हैं।

ऊर्ध्वमातक अशुभ-निमित्त

फूले हुए शरीर में ऊर्ध्वमातक-निमित्त को उत्पन्न करके ऊर्ध्वमातक नामक ध्यान की भावना करने की इच्छा वाले योगी को पृथ्वी-कसिण में कहे गये के अनुसार ही उक्त प्रकार के आचार्य के पास जाकर कर्मस्थान को सीखना चाहिये। उसे (भी) इसके लिये कर्मस्थान को कहते हुए—(१) अशुभ-निमित्त के लिए जाने का ढंग (२) चारों ओर निमित्तों को भली-भाँति देखना (३) ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना (४) गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करना—ऐसे अर्पणा के विधान तक सब कहना चाहिये। उस (योगी) को भी भली प्रकार सीखकर पहले उक्त प्रकार के शयनासन में जाकर ऊर्ध्वमातक-निमित्त को खोजते हुए विहरना चाहिये।

और ऐसे विहरते हुए "अमुक गाँव में, जंगल में, मार्ग में, पर्वत के नीचे, पेड़ के नीचे, या श्मशान में ऊर्ध्वमातक शरीर फेंका गया है" (ऐसे) कहते हुए लोगों की बात सुनकर भी उसी क्षण बिना घाट के (भरी हुई नदी आदि में) कूदते हुए के समान नहीं जाना चाहिये। क्यों ? यह अशुभ हिंसक जन्तुओं से भी घिरा होता है, अ-मनुष्यों से भी घिरा होता है, वहाँ इसके जीवन का अन्तराय (=विघ्न) हो सकता है। या जाने का मार्ग (जहाँ) गाँव से, नहाने के घाट से, अथवा खेत के किनारे-किनारे होता है, वहाँ विषभाग रूप दिखाई देता है। या वही शरीर विषभाग होता है, क्योंकि पुरुष के लिये स्त्री का शरीर या स्त्री के लिये पुरुष का शरीर विषभाग है। वह तत्काल का मरा हुआ शुभ के तौर पर भी जान पड़ता है। उससे इस (योगी) के ब्रह्मचर्य (=भिक्षु-जीवन) का भी अन्तराय हो सकता है। यदि "यह मेरे जैसे (योगी) के लिये कठिन नहीं है" (ऐसे) अपने लिये विचारता है, तो इस प्रकार विचारने वाले योगी को जाना चाहिये और जाते हुए संघ के स्थविर या दूसरे प्रसिद्ध भिक्षु से कहकर जाना चाहिये।

क्यों ? यदि श्मशान में अ-मनुष्य, सिंह, बाघ आदि के रूप, शब्द आदि के अनिष्ट आलम्बन से अभिभूत होकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दुखते हैं, खाया हुआ पेट में नहीं रुकता या दूसरा कोई रोग हो जाता है, तब वह विहार में उसके पात्र-चीवर सम्हालेगा। तरुण-भिक्षु या श्रामणेरों को भेजकर उस भिक्षु की सेवा करायेगा।

और भी, 'श्मशान निराशङ्क स्थान है' (ऐसा) मानते हुए चोरी किये हुए भी चोर चारों ओर से आकर एकत्र होते हैं। वे मनुष्यों द्वारा पीछा किये जाते हुए भिक्षु के पास सामान को फेंककर भाग जाते हैं। मनुष्य "माल के पास चोर को देखते हैं" (कह) भिक्षु को पकड़कर पीड़ित करते हैं। तब वह "इसे मत पीड़ित करो, यह मुझे कहकर इस काम से गया था" (कह) उन मनुष्यों को समझा कर उसे बचायेगा—यह कहकर जाने में गुण है।

इसलिये उक्त प्रकार के भिक्षु को कहकर अशुभ-निमित्त को देखने के लिये उत्कट अभि-

लाषा से, जैसे राजा अभिषेक होने के स्थान को, यजमान (=यज्ञ-कर्त्ता) यज्ञ-शाला को, या निर्धन ख़जाना गाड़कर रखे हुए स्थान को प्रीति-सौमनस्य के साथ जाता है, ऐसे ही प्रीति-सौमनस्य उत्पन्न करके अट्ठकथाओं में कहे गये विधान से जाना चाहिये।

यह कहा गया है—"ऊर्ध्वमातक अशुभ-निमित्त को ग्रहण करनेवाला अकेला, बिना किसी दूसरे के साथ, उपस्थित स्मृति से, बिना भूले हुए, इन्द्रियों को भीतर किये हुए, बाहर नहीं गये हुए चित्त से, गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करते हुए जाता है। जिस प्रदेश में ऊर्ध्व-मातक-अशुभ-निमित्त फेंका हुआ रहता है, उस प्रदेश में पत्थर, दीमक के घर (=वल्मीक), पेड़, गाछ या लता को निमित्त के साथ देखता है। (उन्हें) आलम्बन करता है। निमित्त के साथ देख-कर, आलम्बन करके ऊर्ध्वमातक-अशुभ-निमित्त को स्वभाव के अनुसार भलीभाँति देखता है, वर्ण से भी, लिङ्ग से भी, बनावट से भी, दिशा से भी, अवकाश (=स्थान) से भी, परिच्छेद से भी, जोड़ से, छेद से, नीची जगह से, ऊँची जगह से, चारों ओर से। वह उस निमित्त को भली प्रकार ग्रहण करता है, भली-भाँति देखता है...भली प्रकार से व्यवस्थित करता है।

वह उस निमित्त को भली प्रकार से ग्रहण करके......अकेला, बिना किसी दूसरे के साथ, उपस्थित स्मृति से बिना भूले हुए चित्त से, गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करते हुए जाता है। वह चंक्रमण करते हुए भी उस (अशुभ) को मन में करते हुए ही चंक्रमण करता है। बैठे हुए भी उसे ही मन में करते हुए बैठता है।

चारों ओर निमित्तों को देखने का क्या प्रयोजन है? क्या आनृशंस्य (=गुण) है? चारों ओर निमित्तों को देखना अ-संमोह के लिये है, (उग्गह निमित्त के उत्पन्न होनेपर) अ-संमोह उत्पन्न होना इसका गुण है। ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? क्या आनृशंस्य हैं? ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना (अशुभ-आलम्बन में चित्त को) बाँधनेके लिये है, (उसमें) चित्त को बाँधना इसका गुण है। गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण किस लिये है? (उसका) क्या गुण है? गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण (कर्मस्थान की) वीथि को भली भाँति प्रतिपादन करने के लिये है, (कर्मस्थान की) वीथि का भली-भाँति प्रतिपादन करना इसका गुण है।

वह आनृशंस्य देखने वाला, रत्नसंज्ञी (रत्न के समान समझने वाला) होकर (उसका) गौरव और (उसे) प्यार करते हुए, उस आलम्बन में चित्त को बाँधता है 'अवश्य मैं इस प्रतिपदा (मार्ग) से जरा-मरण से छुटकारा पा जाऊँगा।' वह कामों से रहित......प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरता है। उसको रूपावचर का प्रथम ध्यान, दिव्य-विहार और भावनामय पुण्य-क्रिया वस्तु[1] प्राप्त होती है।"

इसलिये जो चित्त में संवेग उत्पन्न करने के लिये मृत-शरीर को देखने जाता है, वह घण्टी बजाकर (भिक्षु) गण को एकत्र करके भी जाये; किन्तु कर्मस्थान को प्रधान करके जाने वाले को अकेला, बिना दूसरे के साथ, मूल-कर्मस्थान[2] को न त्याग, उसे मन में करते हुए ही, श्मशान में कुत्ता आदि के विघ्न को दूर करने के लिए डण्डा या लाठी को लेकर (मूलकर्मस्थान को) भली

१. पुण्य-क्रिया-वस्तु तीन हैं—(१) दानमय पुण्य-क्रिया-वस्तु (२) शीलमय पुण्य-क्रिया-वस्तु (३) भावनामय-पुण्य-क्रिया-वस्तु—दीघ नि० ३,१०।

२. मूल-कर्मस्थान कहते हैं—स्वभाव से ही समय-समय पर किये जाते हुए बुद्धानुस्मृति आदि सब स्थान वाले (=सब्बत्थक) कर्मस्थानों को।

भाँति स्मरण किये रखने से स्मृति को न भुलाकर और मन के साथ छः इन्द्रियों को भीतर (मूल-कर्मस्थान में) ही गया हुआ करते, बाहर नहीं गये हुए मन से होकर जाना चाहिये।

विहार से निकलते हुए ही "अमुक दिशा में, अमुक द्वार से निकलता हूँ" (ऐसे) द्वार को ठीक-ठीक देखना चाहिये। उसके पश्चात् जिस मार्ग से जाता है, उस मार्ग का विचार करना चाहिये। "यह मार्ग पूर्व-दिशा की ओर जाता है, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण दिशा की ओर अथवा विदिशा (=उपदिशा) की ओर, इस स्थान पर बायें से जाता है, इस स्थान पर दाहिने से। इस स्थान पर दीमक, पेड़, गाछ, लता है।" ऐसे जाने के मार्ग को ठीक-ठीक विचारते हुए निमित्त के स्थान पर जाना चाहिये, किन्तु उल्टी हवा नहीं; क्योंकि (सम्भवतः) उल्टी-हवा जाने वाले (भिक्षु)के, मुर्दे की दुर्गन्धि नाक में घुसकर मस्तिष्क को चंचल कर दे, भोजन को वमन करा दे, या 'ऐसे गन्दगी के स्थान पर आया हूँ' ऐसा पछतावा भी उत्पन्न करे। इसलिये उल्टी हवा को छोड़ कर सीधी-हवा (=अनुवात) जाना चाहिये। यदि सीधी-हवा वाले मार्ग से नहीं जाया जा सकता, बीच में पहाड़, प्रपात, पत्थर, घेरा, काँटों वाला स्थान, जल या कीचड़ हो, तो चीवर के कोने से नाक को बन्द करके जाना चाहिये। यह इसके जाने का ढंग है।

इस प्रकार से जाने वाले को पहले अशुभ-निमित्त का अवलोकन नहीं करना चाहिये, दिशा का विचार करना चाहिये; क्योंकि एक दिशा में खड़े हुए (भिक्षु) को आलम्बन स्पष्ट होकर नहीं जान पड़ता है और चित्त भी (भावना-) कर्म के योग्य नहीं होता है, इसलिये उसे छोड़कर जहाँ खड़ा होने पर आलम्बन स्पष्ट होकर जान पड़ता है और चित्त भी (भावना-) कर्म के योग्य होता है, वहाँ खड़ा होना चाहिये। उल्टी और सीधी हवा को त्याग देना चाहिये; क्योंकि उल्टी हवा में खड़े हुए (भिक्षु) का चित्त मुर्दे की दुर्गन्धि से ऊब कर इधर-उधर दौड़ता है और सीधी-हवा में खड़े हुए (भिक्षु) का—यदि उस मुर्दे पर रहने वाले अ-मनुष्य होते हैं, तो वे क्रुद्ध होकर अनर्थ करते हैं, इसलिये थोड़ा-सा हटकर बहुत सीधी हवा में नहीं खड़ा होना चाहिये।

ऐसे खड़ा होने वाले को भी न बहुत दूर, न बहुत समीप, न पैर के पास और न सिर के पास खड़ा होना चाहिये; क्योंकि बहुत दूर खड़ा होने वाले को आलम्बन स्पष्ट नहीं होता है, अत्यन्त पास में भय उत्पन्न होता है, पैर के पास या सिर के पास खड़ा होने वाले को सम्पूर्ण अशुभ (-निमित्त) बराबर नहीं दिखाई देता है, इसलिये न बहुत दूर और न बहुत समीप से अवलोकन करने के लिये योग्य स्थान पर शरीर के बिचले भाग में खड़ा होना चाहिये। इस प्रकार खड़ा होने वाले को—"उस प्रदेश में पत्थर......या लता को निमित्त के साथ देखता है" ऐसे कहे गये चारों ओर निमित्तों को भली भाँति देखना चाहिये। (उन्हें) भलीभाँति देखने का यह विधान है—यदि उस निमित्त के चारों ओर देखने में पत्थर होता है, तो वह 'यह पत्थर ऊँचा या नीचा है, छोटा या बड़ा है, ताँबे के रंग का है या काला है, अथवा श्वेत है। लम्बा है, या गोल है'—ऐसे भली प्रकार देखना चाहिये। उसके पश्चात् 'इस स्थान पर यह पत्थर है यह अशुभ-निमित्त है ; यह अशुभ-निमित्त और यह पत्थर है'—(ऐसे) विचारना चाहिये। यदि दीमक होता है, तो वह भी 'ऊँचा है या नीचा, छोटा है या बड़ा, ताँबे के रंग का है या काला अथवा श्वेत, लम्बा है या गोल'—ऐसे विचारना चाहिये। तत्पश्चात् 'इस स्थान पर दीमक है और अशुभ निमित्त है'—ऐसे विचारना चाहिये। यदि पेड़ होता है, तो वह भी पीपल है या बरगद है, कच्छक (=पाकड़) है या कपित्थ (= कैथा का पेड़) है, ऊँचा है या नीचा है, छोटा है या बड़ा

है, काला है या श्वेत है—विचारना चाहिये। तत्पश्चात् इस स्थान पर यह पेड़ है, और यह अशुभ निमित्त है—ऐसा विचारना चाहिये। यदि गाछ[1] होता है, तो वह भी खजूर है या कमन्द (= करवन का पेड़) है, कनवीर है या कुरण्डक (= जयन्ती) है, ऊँचा है या नीचा है, छोटा है या बड़ा है—ऐसे विचारना चाहिये। तत्पश्चात् इस स्थान पर यह गाछ है और यह अशुभ-निमित्त है—ऐसा विचारना चाहिये। यदि लता होती है, तो वह भी लौकी है, कोंहड़ा है, श्यामा है या कालवल्ली है अथवा पूतिलता (= गुरुचि) है—ऐसे विचारना चाहिये। तत्पश्चात् इस स्थान पर यह लता है और यह अशुभ-निमित्त है, यह अशुभ निमित्त है और यह लता है—ऐसा विचारना चाहिये।

जो कहा गया है—"**उसे निमित्त और आलम्बन के साथ देखता है।**" वह इसी में आया हुआ है; क्योंकि बार-बार ठीक से देखते हुए निमित्त के साथ देखता है और यह पत्थर है, यह अशुभ-निमित्त है, तथा यह अशुभ-निमित्त है, यह पत्थर है—ऐसे दो दो को मिला-मिला कर भली भाँति देखते हुए उसे आलम्बन के साथ वह देखता है। ऐसे निमित्त और आलम्बन के साथ देखकर पुनः "स्वभाव के अनुसार भलीभाँति देखता है" कहा गया होने से, जो इसका स्वाभाविक भाव है, दूसरों से असाधारण होना है और अपना ऊर्ध्वमातक-भाव है—उसे मन में करना चाहिये। 'फूला हुआ ऊर्ध्वमातक है' ऐसे उसके स्वभाव और कार्य से विचार करना चाहिये-यह अर्थ है। इस प्रकार भली भाँति देख विचार कर "वर्ण से भी, लिङ्ग से भी, बनावट से भी, दिशा से भी, अवकाश (=स्थान) से भी, परिच्छेद से भी"—(इस) प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना चाहिये।

कैसे ? उस योगी को—यह शरीर काले रंग के आदमी का है, श्वेत का है या गोरे का है ? ऐसे **वर्ण** (=रंग) से विचारना चाहिये।

लिङ्ग से, स्त्री-लिङ्ग या पुल्लिङ्ग का न विचार कर, प्रथम अवस्था, मध्यम अवस्था या पिछली अवस्था वाले का यह शरीर है—ऐसे विचारना चाहिये।

बनावट से, ऊर्ध्वमातक की बनावट के अनुसार, यह इसके सिर की बनावट है, यह पेट की बनावट है, यह नाभी की बनावट है, यह कमर की बनावट है, यह ऊरु की बनावट है, यह जाँघ[2] की बनावट है, यह पैर की बनावट है—ऐसे विचारना चाहिये।

दिशा से, इस शरीर में दो दिशायें हैं—(१) नाभी से नीचे निचली-दिशा और (२) ऊपर ऊपरी-दिशा–ऐसे विचार करना चाहिये अथवा मैं इस दिशा में खड़ा हूँ, अशुभ-निमित्त इस दिशा में हैं—ऐसे विचारना चाहिये।

अवकाश से, इस स्थान पर हाथ है, इस पर पैर, इस पर सिर, इस पर बिचला शरीर–ऐसे विचारना चाहिये। अथवा मैं इस स्थान पर खड़ा हूँ और अशुभ-निमित्त इस पर है—ऐसे विचारना चाहिये।

परिच्छेद से, यह शरीर नीचे पैर के तलवे से लेकर ऊपर मस्तक के बाल तक तिरछे चमड़े से बँटा हुआ है और इस प्रकार के बँटे हुए स्थानमें बत्तीस प्रकार की गन्दगियों से भरा हुआ ही विचारना चाहिये। अथवा यह इसके हाथ का भाग है, यह पैर का भाग है, यह बिचले

---

१. छोटे-छोटे पेड़ों को गाछ कहते हैं—टीका।

२. पालि साहित्य में "जंघ" शब्द घुटने से नीचे और घुट्टी से ऊपर वाले भाग के लिए प्रयुक्त है।

शरीर का भाग है—ऐसे विचारना चाहिये। या जितना स्थान (ऊर्ध्वमातक के अनुसार) ग्रहण करना है, उतना ही यह इस प्रकार का ऊर्ध्वमातक है—ऐसा परिच्छेद करना चाहिये।

पुरुष के लिए स्त्री का शरीर या स्त्री के लिये पुरुष का शरीर नहीं होना चाहिये। विषभाग शरीर में (अशुभ) आलम्बन नहीं जान पड़ता है। "मरकर फूले शरीर वाली भी स्त्री पुरुष के चित्त को पकड़ कर रहती है" ऐसा मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है। इसलिये सभाग शरीर में ही ऐसे छः प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना चाहिये।

पूर्व के बुद्धों के पास कर्मस्थान का पालन किया हुआ, धुतांग का परिहरण किया हुआ, (चार) महाभूतों का परिमर्दन किया हुआ, (स्वलक्षण से प्रज्ञा द्वारा) संस्कारों का परिग्रह किया हुआ, नामरूप का (प्रत्यय के परिग्रह से) विचार किया हुआ, (शून्यता की अनुपश्यना के बल से सत्त्व के ख्याल को दूर किया हुआ, श्रमण धर्म को किया हुआ, कुशल-वासना और कुशल-भावना को पूर्ण किया हुआ, (कुशल के) बीज से युक्त, बढ़े ज्ञान और अल्प-क्लेश वाला जो कुलपुत्र (=भिक्षु) है, उसके देखे-देखे स्थान में ही प्रतिभाग-निमित्त जान पड़ता है। यदि ऐसा नहीं जान पड़ता है, तो ऐसे छः प्रकार से निमित्त को ग्रहण करने वाले को जान पड़ता है।

जिसको ऐसे भी नहीं जान पड़ता है, उसको सन्धि (=जोड़) से, विवर (=छेद) से, नीचे से, ऊँचे से, चारों ओर से,—ऐसे पुनः पाँच प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना चाहिये।

सन्धि से, = एक सौ अस्सी सन्धियों से। ऊर्ध्वमातक शरीर में कैसे एक सौ अस्सी सन्धियों का विचार करेगा? इसलिए इस (योगी) को तीन दाहिने हाथ की सन्धि (= कन्धा, केहुनी, पहुँचा), तीन बायें हाथ की सन्धि, तीन दाहिने पैर की सन्धि (कमर, घुटना, गुल्फ), तीन पैर की सन्धि, एक गर्दन की सन्धि, एक कमर की सन्धि—इस प्रकार चौदह महा-सन्धियों के अनुसार विचारना चाहिये।

विवर से, विवर कहते हैं—हाथ के अन्तर[1] को, पैर के अन्तर[2] को, पेट के अन्तर[3] को, कान के अन्तर[4] को—इस प्रकार विवर से विचारना चाहिये। आँखों के भी मुँदे होने या उघड़े होने और मुख के बन्द या खुले होने को विचारना चाहिये।

नीचे से, जो शरीर में नीचा स्थान है—आँख का गड्ढा, मुख के बीच का भाग या गले का गड्ढा—उसको विचारना चाहिये।

ऊँचे से, जो शरीर में उठा हुआ है—घुटना, छाती या ललाट—उसको विचारना चाहिये। अथवा मैं ऊँचे खड़ा हूँ, शरीर नीचे है—ऐसे विचारना चाहिये।

चारों ओर से, सम्पूर्ण शरीर को चारों ओर से विचारना चाहिये। सारे शरीर में ज्ञान फैलाकर, जो स्थान स्पष्ट होकर जान पड़ता है, वहाँ "ऊर्ध्वमातक, ऊर्ध्वमातक" (सोचकर) चित्त को स्थिर करना चाहिये। यदि ऐसे भी नहीं जान पड़ता है, तो पेट से लेकर ऊपर का शरीर अधिक फूला हुआ होता है, वहाँ "ऊर्ध्वमातक, ऊर्ध्वमातक" (सोचकर) चित्त को स्थिर करना चाहिये।

अब, वह उस निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करता है, आदि में यह विनिश्चय-कथा

१. दाहिने हाथ और पार्श्व का अन्तर, ऐसे ही बायें हाथ और पार्श्व का भी।

२. दोनों पैरों के बीच का अन्तर।

३. पेट के बीच वाली नाभी।

४. कान का छेद।

है—उस योगी को उस शरीर में यथोक्त निमित्त को ग्रहण करने के अनुसार निमित्त को ग्रहण करना चाहिये। स्मृति को भली प्रकार उपस्थित करके आवर्जन करना चाहिये। ऐसे बार-बार करते हुए भलीभाँति सोचना-विचारना चाहिये। शरीर से न बहुत दूर और न बहुत समीप प्रदेश में खड़ा होकर या बैठकर, आँख को उघाड़ देखकर निमित्त को ग्रहण करना चाहिये। "ऊर्ध्वमातक प्रतिकूल, ऊर्ध्वमातक प्रतिकूल" (सोचकर) सौ बार, हजार बार आँख को उघाड़ कर देखना चाहिये और आँख को मूँदकर (उसे) आवर्जन करना चाहिये।

ऐसे बार-बार करनेवाले को उग्गह-निमित्त अच्छी तरह ग्रहण हो जाता है। कब अच्छी तरह ग्रहण होता है? जब आँख को खोलकर अवलोकन करता है और आँख को मूँदकर आवर्जन करता है, और वह एक समान होकर जान पड़ता है, तब अच्छी तरह ग्रहण हो गया होता है।

वह उस निमित्त को ऐसे अच्छी तरह से ग्रहण करके, भली-भाँति धारण करके, भली प्रकार से विचार करके, यदि वहीं भावना के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकता है, तब इसे आने के समय कहे गये के अनुसार ही अकेले, बिना किसी दूसरे के साथ, उसी कर्मस्थान को मन में करते हुए स्मृति को सामने बनाये हुए इन्द्रियों को भीतर करके, बाहर नहीं गये हुए मन से अपने शयनासन को ही जाना चाहिये।

श्मशान से निकलते हुए ही आने के मार्ग का ख्याल करना चाहिये—'जिस मार्ग से निकलता हूँ, यह मार्ग पूर्व दिशा की ओर जाता है, या पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, या विदिशा की ओर। अथवा इस स्थान पर बायें से, यहाँ दाहिने से तथा इस स्थान पर पत्थर है, यहाँ दीमक है, यहाँ पेड़ है, यहाँ गाछ है, यहाँ लता है।'

ऐसे आने के मार्ग को भलीभाँति देखकर आ टहलते हुए भी उस ओर ही टहलना चाहिये। अशुभ-निमित्त की दिशा की ओर वाले भूमि-प्रदेश में टहलना चाहिये—यह (इसका) अर्थ है। बैठते हुए आसन को भी उस ओर ही बिछाना चाहिये।

यदि उस दिशा में गड्ढा, प्रपात, पेड़, घेरा, या कीचड़ होता है, उस दिशा की ओर वाले भूमि-प्रदेश में टहला नहीं जा सकता, स्थान नहीं होने के कारण आसन भी नहीं बिछाया जा सकता, तब उस दिशा को नहीं देखते हुए भी खाली स्थान के अनुसार टहलना और बैठना चाहिये, किन्तु चित्त को उस दिशा की ओर ही करना चाहिये।

अब, **चारों ओर निमित्तों का देखना किसलिये है?** आदि प्रश्नों का **'सम्मोह नहीं होने के लिये'** आदि उत्तर का यह तात्पर्य है। जिसको असमय में ऊर्ध्वमातक-निमित्त के स्थान पर जाकर चारों ओर निमित्तों को भली-भाँति देखकर, (अशुभ-) निमित्त को ग्रहण करने के लिये आँख को उघाड़ कर अवलोकन करते ही, वह मृत शरीर उठकर खड़े हुए के समान, ऊपर आते हुए के समान, और पीछा करते हुए के समान होकर जान पड़ता है, वह उस वीभत्स (= विरूप), भयानक आलम्बन को देखकर विक्षिप्त-चित्त हुए पागल के समान हो जाता है। भय, जड़ता, लोमहर्षण होने लगते हैं। पालि में कहे गये अड़तीस आलम्बनों में से ऐसा भयानक आलम्बन दूसरा कोई नहीं है। इस कर्मस्थान में (योगी) ध्यान-विभ्रान्त (=ध्यान से च्युत) हो जाता है। क्यों? कर्मस्थान के अत्यन्त भयानक होने से। इसलिये उस योगी को निश्चल होकर स्मृति को अच्छी तरह सामने करके "मृत शरीर उठकर कभी पीछा नहीं करता,[1] यदि इसके पास स्थित

१. यदि मंत्र आदि का प्रयोग न किया गया हो, देवता आदि से अधिगृहीत न हो और ऊर्ध्वमातक आदि न हुआ हो—टीका।

वह पत्थर या लता आये, तो शरीर भी आये, जैसे वह पत्थर या लता नहीं आती है, ऐसे ही शरीर भी नहीं आता है, वह तेरे जान पड़ने का आकार है, (यह भावना की) कल्पना से उत्पन्न और सम्भूत है, आज तेरा कर्मस्थान उपस्थित है, भिक्षु मत डरो।" इस प्रकार भय को मिटाकर, प्रीति उत्पन्न करके उस निमित्त में चित्त को लगाना चाहिये। ऐसे विशेषता को प्राप्त होता है। इसी के प्रति कहा गया है—"चारों ओर निमित्तों का देखना सम्मोह नहीं होने के लिये है।"

ग्यारह प्रकार से निमित्त के ग्रहण करने को पूर्ण करते हुए कर्मस्थान में बँधता है। उसको आँखों को उघाड़कर अवलोकन करने के प्रत्यय से उग्गह-निमित्त उत्पन्न होता है। उसमें मन को लगाते हुए प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है। उसमें मनको लगाते हुए अर्पणा को पाता है और अर्पणा में स्थित होकर विपश्यना को बढ़ाते हुए अर्हत्व का साक्षात्कार करता है। इसलिये कहा गया है—"ग्यारह प्रकार से निमित्त का ग्रहण करना चित्त को बाँधने के लिये है।"

गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करना वीथि के भली भाँति प्रतिपादन के लिये है, यहाँ जो गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण कहा गया है, वह कर्मस्थान की वीथि के भलीभाँति प्रतिपादन के लिये है—यह (इसका) अर्थ है।

यदि कर्मस्थान को ग्रहण करके आते हुए इस भिक्षु को कोई-कोई मार्ग में—'भन्ते, आज कतमी (= कौनसी तिथि) है?' या दिन पूछते हैं, अथवा प्रश्न पूछते हैं या मिलने पर बातचीत करते हैं, तो "मैं कर्मस्थान करने वाला हूँ" (सोच) चुपचाप होकर नहीं जाना चाहिये। दिन बतलाना चाहिये। प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। यदि नहीं जानता है तो "नहीं जानता हूँ" कहना चाहिये। धार्मिक बातचीत करनी चाहिये। उसके ऐसा करते हुए धारण किया हुआ तरुण-निमित्त नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट होते हुए भी दिन पूछने पर कहना ही चाहिये। प्रश्नको नहीं जानते हुए "नहीं जानता हूँ" कहना चाहिये। आगन्तुक भिक्षु को देखकर आगन्तुक के योग्य बातचीत करना चाहिये ही। अवशेष भी चैत्य के आँगन का व्रत[1], बोधि के आँगन का व्रत, उपोसथागार का व्रत, भोजन-शाला, जन्ताघर (=अग्निशाला), आचार्य, उपाध्याय, आगन्तुक, जाने वाले (=गमिक) का व्रत आदि सम्पूर्ण स्कन्धक[2] में आये हुए व्रतोंको पूर्ण करना चाहिये ही।

उन्हें पूर्ण करते हुए भी उसका वह तरुण-निमित्त नष्ट हो जाता है, फिर जाकर निमित्त ग्रहण करूँगा, सोचकर जाना चाहने वाले को भी अ-मनुष्यों या हिंसक जन्तुओं से घिरे होने से श्मशान भी नहीं जाने योग्य होता है, या निमित्त अन्तर्धान हो जाता है, क्योंकि उध्र्वमातक एक ही या दो दिन रहकर विनीलक आदि हो जाता है। सब कर्मस्थानों में से इसके समान दुर्लभ कर्मस्थान (कोई) नहीं है।

इसलिये ऐसे निमित्त के नाश हो जाने पर उस भिक्षु को रात्रि या दिनके स्थान पर बैठकर 'मैं इस द्वार से विहार से निकल कर अमुक दिशा की ओर मार्ग पर चलकर, अमुक स्थानपर बायें हुआ, अमुक स्थान पर दाहिने, उसके अमुक स्थान पर पत्थर था, अमुक स्थान पर दीमक, पेड़, गाछ, लताओं में से कोई एक। मैं उस मार्ग से जाकर अमुक स्थान पर अशुभ को देखा। वहाँ

१. चैत्य के आँगन को परिशुद्ध करना आदि चैत्य के आँगन का व्रत है।

२. वत्तखन्धक, विनयपिटक।

दिशा की ओर खड़ा होकर ऐसे-ऐसे चारों ओर निमित्तों का विचार करके, ऐसे अशुभ-निमित्त को धारण करके अमुक दिशा से श्मशान से निकलकर इस प्रकार के मार्ग से यह-यह करते हुए आकर यहाँ बैठा। इस प्रकार पालथी मारकर जहाँ बैठने का स्थान है वहाँ तक गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उसके ऐसे प्रत्यवेक्षण करते, वह निमित्त प्रगट हो जाता है। आगे रखे हुए के समान जान पड़ता है। कर्मस्थान पहले के आकार से ही (चित्त-) वीथि में आता है। उससे कहा गया है—"गये और आये हुए मार्ग का प्रत्यवेक्षण करना वीथि को भली-भाँति प्रतिपादन के लिये है।"

अब, "आनृशंस्य देखने वाला, रत्नसंज्ञी होकर (उसका) गौरव और (उसे) प्यार करते हुए, उस आलम्बन में चित्त को बाँधता है।"[1] यहाँ, ऊर्ध्वमातक के प्रतिकूल (=घृणित) (निमित्त) में मन को लगा कर ध्यान को उत्पन्न कर, ध्यान के पदस्थान (=प्रत्यय) विपश्यना को बढ़ाते हुए "अवश्य इस प्रतिपदा द्वारा जरा-मरण से छुटकारा पा जाऊँगा" ऐसा आनृशंस्य देखने वाला होना चाहिये।

जैसे निर्धन पुरुष बहुमूल्य मणिरत्न को पाकर "अहा, मैंने दुर्लभ को पा लिया" (सोच) उसे रत्न होने का विचार करके गौरव करते हुए, विपुल प्रेम से प्रेम करते हुए उसकी रक्षा करे, ऐसे ही "निर्धन के बहुमूल्य मणिरत्न के समान मैंने इस दुर्लभ कर्मस्थान को पा लिया—(सोच) चार-धातुओं के कर्मस्थान वाला (योगी) अपने चारों महाभूतों का परिग्रह करता है। आनापान के कर्मस्थान वाला अपने नाक की हवा (=साँस) को परिग्रहण करता है। कसिण के कर्मस्थान सुलभ हैं, किन्तु यह एक ही या दो दिन रहता है, उसके पश्चात् विनीलक आदि हो जाता है, (अतः) इससे दुर्लभतर (दूसरा कोई) नहीं है।" (ऐसे) उसमें रत्नसंज्ञी होकर (उसका) गौरव और (उसे) प्यार करते हुए उस निमित्त की रक्षा करनी चाहिये। रात्रि या दिन के स्थान पर "ऊर्ध्वमातक प्रतिकूल, ऊर्ध्वमातक प्रतिकूल" (ऐसे) उसमें बार-बार चित्त को बाँधना चाहिये, बार-बार उस निमित्त को आवर्जन करना चाहिये, उसे मन में बैठाना चाहिये और उसके प्रति तर्क-वितर्क करना चाहिये।

उस ऐसा करने वाले (योगी) को प्रतिभाग-निमित्त उत्पन्न होता है। यह दोनों निमित्तों का भेद है। उग्गह-निमित्त विरूप, वीभत्स, भयानक रूप का होकर जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभागनिमित्त इच्छा भर खाकर सोये हुए मोटे अङ्ग वाले पुरुष के समान।

उसके प्रतिभाग निमित्त की प्राप्ति के समकाल में ही बाह्य-कामों को मन में न करने से विष्कम्भन[2] के रूप से कामच्छन्द प्रहीण (=दूर) हो जाता है। लोहू के प्रहाण से पीब के प्रहीण हो जाने के समान अनुनय (=रुकावट) के प्रहाण से व्यापाद भी प्रहीण हो जाता है। वैसे आरब्ध-वीर्य (=परिश्रमी) होने से स्त्यान-मृद्ध; पश्चात्ताप नहीं उत्पन्न करने वाले शान्त धर्म के अनुयोग से औद्धत्य-कौकृत्य; प्राप्त हुए विशेष (=गुण) के प्रत्यक्ष होने से प्रतिपत्ति का उपदेश करने वाले शास्ता में प्रतिपत्ति और प्रतिपत्ति के फल में विचिकित्सा—इस प्रकार पाँचों नीवरण प्रहीण हो जाते हैं और उसी निमित्त में चित्त को लगाने के स्वभाव वाला वितर्क निमित्त को अनुमर्दन करने के काम को पूर्ण करता हुआ विचार, विशेष (=गुण) की प्राप्ति के प्रत्यय से प्रीति,

१. देखिये पृष्ठ १६२।

२. देखिये पृष्ठ ७।

मन वाले को प्रश्रब्धि के उत्पन्न होने के कारण प्रश्रब्धि, वह निमित्त सुख है, और सुखी को चित्त-समाधि उत्पन्न होने के कारण सुख के प्रत्यय से एकाग्रता—इस प्रकार ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं।

ऐसे इसको प्रथम ध्यान का प्रतिबिम्ब हुआ उपचार-ध्यान भी उस क्षण ही उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् प्रथम-ध्यान की अर्पणा और वशी की प्राप्ति तक पृथ्वी-कसिण में कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

विनीलक अशुभ-निमित्त

इसके पश्चात् विनीलक आदि में भी जो वह—ऊर्ध्वमातक अशुभ-निमित्त का अभ्यास करने के लिये अकेला, बिना किसी दूसरे के साथ उपस्थित स्मृति से[1] आदि ढंग से जाने से लेकर (सब) लक्षण कहा गया है। वह सब "विनीलक अशुभ-निमित्तको सीखने के लिये, विपुब्बक अशुभ-निमित्त को सीखने के लिये" ऐसे उस-उस के अनुसार 'ऊर्ध्वमातक' शब्द मात्र को परिवर्तन करके कहे गये के अनुसार ही विनिश्चय के साथ तात्पर्य को जानना चाहिये।[2]

किन्तु यह विशेष (=भेद) है। 'विनीलक में' विनीलक प्रतिकूल, विनीलक प्रतिकूल मन में करना चाहिये। यहाँ उग्गह-निमित्त चितकबरे-चितकबरे रङ्ग का होकर जान पड़ता है, किन्तु प्रति-भाग-निमित्त जिस रंग की अधिकता होती है, उस रंग के अनुसार जान पड़ता है।

विपुब्बक अशुभ-निमित्त

विपुब्बक में 'विपुब्बक प्रतिकूल, विपुब्बक प्रतिकूल' मन में करना चाहिये। यहाँ उग्गह-निमित्त पघरते हुए के समान जान पड़ता है। प्रतिभाग-निमित्त निश्चल और स्थिर होकर जान पड़ता है।

विच्छिद्रक अशुभ-निमित्त

विच्छिद्रक युद्ध के मैदान में, चोरों के रहने वाले जंगल में या जहाँ राजा चोरों को मर-वाते हैं[3] अथवा जंगल में सिंह बाघ द्वारा काटे गये पुरुषों के स्थान में मिलता है। इसलिये वैसे स्थान में जाकर, यदि नाना दिशाओं में गिरा हुआ भी एक आवर्जन से दिखाई देता है, तो बहुत अच्छा है, और यदि नहीं दिखाई देता है, तो स्वयं हाथ से नहीं छूना चाहिये। छूते हुए मित्रता हो जाती है[4] इसलिये विहार में रहने वाले आदमी, श्रामणेर या दूसरे किसी से एक स्थान में करवा लेना चाहिये। (किसी को) नहीं पाने से टेंघने की लाठी (= कत्तरयट्ठि) या डण्डे से एक एक अंगुल अन्तर डाल कर एक पास रखना चाहिये। ऐसे एक पास रखकर "विच्छिद्रक प्रतिकूल विच्छिद्रक प्रतिकूल" मन में करना चाहिये। वहाँ उग्गह निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है।

१. देखिये पृष्ठ १६२।

२. इसका भावार्थ यह है—जैसा ऊर्ध्वमातक-निमित्त में कहा गया है, वैसा ही अन्य अशुभ-निमित्तों में भी समझना चाहिये, केवल जहाँ जहाँ पर ऊर्ध्वमातक शब्द आया है, वहाँ वहाँ उन उन अशुभ-निमित्तों का नाम रखकर अर्थ जानना चाहिये।

३. हाथ-पैर कटवाते हैं—सिंहल सन्नय।

४. इसका भावार्थ यह है कि छूते हुए घृणा का भाव जाता रहता है।

विक्खायितक अशुभ-निमित्त

विक्खायितक में "विक्खायितक प्रतिकूल, विक्खायितक प्रतिकूल" मन में करना चाहिये। यहाँ उग्गह-निमित्त उस उस स्थान पर खाये गये के समान ही जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग-निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है।

विक्षिप्तक अशुभ-निमित्त

विक्षिप्तक भी विच्छिद्रिक में कहे गये के अनुसार ही अंगुल-अंगुल का अन्तर करवा कर या (स्वयं) करके "विक्षिप्तक प्रतिकूल, विक्षिप्तक प्रतिकूल" मन में करना चाहिए। यहाँ उग्गह-निमित्त अन्तरों के प्रगट होते हुए जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग-निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है।

हतविक्षिप्तक अशुभ-निमित्त

हतविक्षिप्तक भी विच्छिद्रक में कहे गये प्रकार के स्थानों में ही पाया जाता है। इसलिये वहाँ जाकर कहे गये प्रकार से ही अंगुल-अंगुल का अन्तर करवा कर या (स्वयं) करके "हतविक्षिप्तक प्रतिकूल, हतविक्षिप्तक प्रतिकूल" मन में करना चाहिए। यहाँ उग्गह-निमित्त दिखाई पड़ते हुए प्रहार के मुख के समान होता है, प्रतिभाग-निमित्त परिपूर्ण ही होकर जान पड़ता है।

लोहितक अशुभ-निमित्त

लोहितक, लड़ाई के मैदान आदि में प्रहार पाये हुए या हाथ पैर आदि के कटे हुए होने पर या फूटी हुई फोड़े-फुन्सियों के मुख से पघरने (=बहने) के समय पाया जाता है। इसलिये उसे देखकर "लोहितक प्रतिकूल, लोहितक प्रतिकूल" मन में करना चाहिए। यहाँ उग्गह-निमित्त वायु से फहराती हुई लाल पताका के समान चलते चचंल आकार में जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग निमित्त स्थिर होकर जान पड़ता है।

पुलुवक अशुभ-निमित्त

पुलुवक दो-तीन दिन के बीत जाने पर मुर्दे के नव व्रण-मुखों[1] से कृमि-राशि के पघरने के समय होता है। और भी, वह कुत्ता, सियार (=गीदड़), मनुष्य, गौ, भैंस, हाथी, घोड़ा, अजगर आदि की उनके शरीर के बराबर का ही होकर धान के भात की राशि के समान रहता है। उनमें जहाँ कहीं "पुलुवक प्रतिकूल" मन में करना चाहिये। चूल पिण्डपातिक तिष्य स्थविर को **कालदीघवापी**[2] के भीतर हाथी के मृत-शरीर में निमित्त जान पड़ा। यहाँ उग्गह-निमित्त चलते हुए के समान जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग-निमित्त धान के भात के पिण्ड के समान स्थिर हुआ जान पड़ता है।

---

१. शरीर के नव प्रमुख छिद्रों से।

२. कलु दिक् वेंव्, लंका।

अस्थिक अशुभ-निमित्त

अस्थिक, "वह श्मशान में फेंके माँस, लोहू-नसों से बँधे हड्डी-कंकाल-वाले शरीर को देखे"[1] आदि ढंग से, नाना प्रकार से कहा गया है। इसलिये जहाँ वह फेंका हुआ हो, वहाँ पहले के अनुसार ही जाकर चारों ओर पत्थर आदि के अनुसार निमित्त और आलम्बन को देख कर "यह अस्थिक है" ऐसे स्वभाव के अनुसार भलीभाँति विचार कर वर्ण (=रंग) आदि के अनुसार ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करना चाहिये। किन्तु वह वर्ण से "श्वेत है" ऐसे अवलोकन करने वाले को नहीं जान पड़ता है,[2] अवदात-कसिण के साथ मिश्रित हो जाता है। इसलिये "अस्थिक है" ऐसे प्रतिकूल के अनुसार ही अवलोकन करना चाहिये।

यहाँ हाथ आदि का नाम लिङ्ग है। इसलिए हाथ, पैर, सिर, छाती, बाँह, कमर, उरु (=जाँघ), जंघा (=नरहर=घुटने और घुट्टी के बीच का भाग) के अनुसार **लिङ्ग से** विचारना चाहिये। दीर्घ, ह्रस्व, चौकोर, छोटा, बड़ा के अनुसार **बनावट से** विचारना चाहिये। **दिशा** और **अवकाश** कहे गये के अनुसार ही।[3] उन उन हड्डियों की कोटि के अनुसार **परिच्छेद से** विचार करके, जो यहाँ प्रकट होकर जान पड़ता है, उसे ही ग्रहण करके अर्पणा को प्राप्त करना चाहिए। उन उन हड्डियों के नीचे-ऊँचे स्थान के अनुसार **नीचे और ऊँचे से** विचारना चाहिये। प्रदेश के अनुसार भी—"मैं नीचे खड़ा हूँ, हड्डी ऊँचे है, और मैं ऊँचे खड़ा हूँ, हड्डी नीचे है" इस प्रकार से भी विचारना चाहिये। दो हड्डियों के जोड़ के अनुसार **सन्धि से** विचारना चाहिये। हड्डियों के अन्तर के अनुसार **विवर से** विचारना चाहिये। सर्वत्र ही ज्ञान का सञ्चार करके, इस स्थान में "यह है" ऐसे **चारों ओर से** विचारना चाहिये। इस प्रकार से भी निमित्त के उपस्थित होने पर ललाट की हड्डी में चित्त को स्थिर करना चाहिये। जैसे यहाँ, ऐसे ही इस ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करने को, इससे पहले (कहे गये) पुलुवक आदि में भी मेल बैठने के अनुसार विचारना चाहिये।

यह कर्मस्थान सारे हड्डी-कंकाल की एक हड्डी में भी सिद्ध होता है। इसलिए उनमें जहाँ कहीं भी ग्यारह प्रकार से निमित्त को ग्रहण करके "अस्थिक प्रतिकूल, अस्थिक प्रतिकूल" मन में करना चाहिये। यहाँ उग्गह-निमित्त और प्रतिभाग-निमित्त एक समान ही होते हैं—ऐसा जो कहा गया है[4]? वह एक हड्डी में (ही) मेल खाता है, किन्तु हड्डी-कंकाल के उग्गह-निमित्त के जान पड़ने में छेद का होना और प्रतिभाग निमित्त में परिपूर्ण होना मेल खाता है। और एक हड्डी में भी उग्गह-निमित्त को वीभत्स तथा भयानक होना चाहिये, प्रतिभाग-निमित्त प्रीति-सौमनस्य को उत्पन्न करने वाले उपचार को लाता है।

इस स्थान में जो अट्ठकथाओं में कहा गया है, वह द्वार देखकर (= मार्ग दिखलाकर) ही कहा गया है। क्योंकि वैसे ही वहाँ—"चार ब्रह्मविहारों और दस-अशुभों में प्रतिभाग-निमित्त नहीं है। ब्रह्मविहारों में सीमा का सम्भेद ही निमित्त है[5] और दस अशुभों में शुभ के विचार को त्याग

१. दीघ निकाय २, ९।

२. इसका भावार्थ है कि वह स्वभाव अर्थात् प्रतिकूल के रूप से नहीं जान पड़ता है।

३. देखिये पृष्ठ १६४।

४. अट्ठकथा में कहा गया है—टीका।

५. देखिये, नवाँ परिच्छेद।

करके प्रतिकूल-भाव को ही देखने पर निमित्त होता है।" कहकर भी, फिर उसके पश्चात् ही—"यहाँ निमित्त दो प्रकार का होता है—उग्गह-निमित्त और प्रतिभाग-निमित्त । उग्गह-निमित्त विरूप, वीभत्स, भयानक होकर जान पड़ता है।" आदि कहा गया है। इसलिये जो विचार करके हमने कहा, यही यहाँ युक्त है। महातिष्य-स्थविर को दाँत की हड्डी मात्र के अवलोकन से स्त्री के सारे शरीर को हड्डी का समूह के रूप से जान पड़ना आदि यहाँ उदाहरण है।[1]

प्रकीर्णक-कथा

इति असुभानि सुभगुणो दस दससतलोचनेन थुतकित्ति।
यानि अवोच दसबलो एकेकज्झानहेतूनि ॥
एवं तानि च तेसञ्च भावनानयमिमं विदित्वान ।
तेस्वेव अयं भिय्यो पकिण्णककथापि विञ्ञेय्या ॥

[इस प्रकार परिशुद्ध गुण वाले, सहस्र-नेत्र (इन्द्र) से प्रशंसित कीर्ति वाले[2] दशबल[3] (=बुद्ध) ने एक-एक ध्यान के हेतु जिन अशुभों को कहा, उन्हें और उनकी भावना करने के ढंग को ऐसे जानकर उन्हीं में और भी यह प्रकीर्णक-कथा जाननी चाहिये ।]

इनमें से जिस किसी में भी ध्यान को प्राप्त किया हुआ राग को भली प्रकार से दबा देने के कारण विरागी के समान लोभ रहित होकर विचरने वाला होता है। ऐसा होने पर भी जो यह अशुभ के भेद कहे गये हैं, उन्हें शरीर के स्वभाव और राग-चरित के अनुसार जानना चाहिये।

मृत-शरीर प्रतिकूल होता हुआ ऊर्ध्वमातक-स्वभाव को प्राप्त हो या विनीलक आदि में से किसी एक को; अतः जिस जिस प्रकार का हो सकता है, उस उस प्रकार में "ऊर्ध्वमातक प्रतिकूल, विनीलक प्रतिकूल" ऐसे निमित्त को ग्रहण करना चाहिये ही। शरीर के स्वभाव की प्राप्ति के अनुसार दस प्रकार के अशुभ के भेद कहे गये हैं—ऐसा जानना चाहिये।

विशेष रूप से यहाँ ऊर्ध्वमातक, शरीर की बनावट की विपत्ति को प्रकाशित करने से बनावट के प्रति राग करने वालों को हितकर (=सप्पाय) है। विनीलक, छवि की सुन्दरता की विपत्ति को प्रकाशित करने से शरीर के वर्ण (= रंग) में राग करने वालों को हितकर है। विपुब्बक काय के वर्ण से बँधी हुई दुर्गन्धि को प्रकाशित करने से माला-गन्ध आदि से उत्पन्न शरीर की सुगन्ध में राग करने वालों को हितकर है। विच्छिद्दक भीतर छेद होने की बात को प्रकाशित करने से शरीर के घन-भाव में राग करने वालों को हितकर है। विक्खायितक मांस की उपचय-सम्पत्ति के विनाश को प्रकाशित करने से स्तन आदि शरीर के प्रदेशों में मांस उपचय में राग करने वालों को हितकर है। विक्षिप्तक अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विक्षेप को प्रकाशित करने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग की लीला में राग करने वालों को हितकर है। हतविक्षिप्तक शरीर के संघात (= सुसम्बद्ध होना) के भेद से विकार को प्रकाशित करने से शरीर के सुसम्बद्ध होने की सम्पत्ति में राग करने वालों को हितकर है। लोहितक लोहू से सने हुए प्रतिकूल-भाव को प्रकाशित करने से अलङ्कार से उत्पन्न

१. देखिये पृष्ठ २२।
२. "यो धीरो सब्बधि दन्तो" आदि प्रकार से प्रशंसित ।
३. देखिये पृष्ठ २।

राजा, भंगी, चण्डाल आदि में से कोई भी—एक समान प्रतिकूल शरीर के होने से भेद रहित होता है। ऐसे अशुचि, दुर्गन्ध, घृणित, और प्रतिकूल होने के कारण राजा या चण्डाल के शरीर में कोई भेद नहीं है।

दातौन करने, मुख धोने आदि से दाँत के मल आदि को भली प्रकार से मलकर, नाना वस्त्रों से लज्जाङ्गों को ढँक कर, विविध रंग की सुगन्धियों के लेपन से लिप कर, पुष्प-आभरण आदि से सजकर "मैं" "मेरा" ग्रहण करने योग्य करते हैं। इसलिए इस आगन्तुक अलंकार से ढँके होने से उसके यथार्थ अशुभ-लक्षण को नहीं जानते हुए पुरुष स्त्रियों में और स्त्रियाँ पुरुष में रति करते हैं, किन्तु यहाँ परमार्थ से राग करने योग्य अणुमात्र भी स्थान नहीं है।

वैसे ही केश, लोम, नख, दाँत, थूक, पोंटा, पाखाना, पेशाब, आदि में से बाहर गिरे हुए एक भाग को भी सत्व हाथ से छूना भी नहीं चाहते हैं, प्रत्युत (वे उनसे) पीड़ित होने के समान जान पड़ते हैं, लज्जित होते हैं, जिगुप्सा करते हैं। जो यहाँ अवशिष्ट होता है, वह ऐसे प्रतिकूल होते हुए भी अविद्या के अन्धकार से ढँके, आत्म-स्नेह में अनुरक्त हो इष्ट, कान्त, नित्य, सुख, आत्मा मानते हैं। वे ऐसे मानते हुए जंगल में किंशुक[1] (=पलाश) के पेड़ को देखकर पेड़ से न गिरे हुए फूल को "यह मांस की पेशी है, यह मांस की पेशी है" (सोच कर) परेशान होते हुए जरश्रृगाल के समान हो जाते हैं। इसलिये—

यथाहि पुप्फितं दिस्वा सिगालो किंसुकं वने।
मंसरुक्खो मया लद्धो इति गन्त्वान वेगसा॥
पतितं पतितं पुप्फं डसित्वा अतिलोलुपो।
नयिदं मंसं अदुं मंसं यं रुक्खस्मिन्ति गण्हति॥

[जैसे गीदड़ वन में फूले हुए किंशुक (के पेड़) को देखकर, 'मैंने मांस का पेड़ पा लिया'—ऐसा जान, वेग से जाकर गिरे-गिरे हुए फूल को लालच-भरे मुँह से पकड़ कर "यह मांस नहीं है, जो पेड़ पर है वही मांस है"—ऐसा मानता है।]

कोट्ठासं पतितं येव असुभन्ति तथा वुधो।
अगहेत्वान गण्हेय्य सरीरट्ठम्पि नं तथा॥

["(शरीर से) गिरा हुआ भाग ही अशुभ है" बुद्धिमान् वैसा न मान कर शरीरस्थ को भी उसी प्रकार का (अशुभ) माने।]

इमं हि सुभतो कायं गहेत्वा तत्थ मुच्छिता।
बाला करोन्ता पापानि दुक्खा न परिमुच्चरे॥

[मूर्ख (व्यक्ति) इस काय को शुभ के तौर पर मान कर, उसमें मूर्छित हो, पाप को करते हुए दुःख से छुटकारा नहीं पाते हैं।]

तस्मा पस्सेय्य मेधावी जीविनो वा मतस्स वा।
सभावं पूतिकायस्स सुभभावेन वज्जितं॥

---

१. किंशुक कहते हैं पारिभद्रक को। कोई-कोई पलाश को भी कहते हैं, दूसरे सेमर को बतलाते हैं।"—टीका।

[इसलिये प्रज्ञावान् (व्यक्ति) जीवित या मृत पूतिकाय के शुभ-भाव से रहित स्वभाव को देखे ।

यह कहा गया है—

"दुग्गन्धो असुचि कायो कुणपो उक्करूपमो ।
निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो ॥

[काय दुर्गन्ध है, अपवित्र है, मुर्दा है, पाखाना घरके समान है; काय चक्षु वाले लोगों (=प्रज्ञावानों) से निन्दित है, किन्तु मूर्ख उसका अभिनन्दन करते हैं ।]

अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो ।
समन्ततो पग्घरति असुचि पूति गन्धियो ॥

[गीले चमड़े से ढँका हुआ, नव द्वारों से युक्त महाव्रण वाला (यह काय) चारों ओर से सड़ी-दुर्गन्धि वाली गन्दगी को बहा रहा है ।]

सचे इमस्स कायस्स अन्तो बाहिरतो सिया ।
दण्डं नून गहेत्वान काके सोणे च वारये ॥

[यदि इस शरीर का भीतरी भाग बाहर हो तो अवश्य डण्डा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पड़े ।]

इसलिये प्रज्ञावान् भिक्षु को जीवित शरीर हो या मृत-शरीर, जहाँ-जहाँ अशुभ का आकार जान पड़े, वहाँ-वहाँ ही निमित्त को ग्रहण करके कर्मस्थान को अर्पणा तक पहुँचाना चाहिये ।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि भावना के भाग में
अशुभ कर्मस्थान निर्देश नामक छठाँ परिच्छेद समाप्त ।

सातवाँ परिच्छेद

छः अनुस्मृति-निर्देश

अशुभ के पश्चात् निर्दिष्ट दस अनुस्मृतियों में, बार-बार उत्पन्न होने से स्मृति ही अनुस्मृति है। या प्रवर्तित होने के स्थान में ही प्रवर्तित होने से श्रद्धा से प्रव्रजित हुए कुलपुत्र के अनुरूप स्मृति होने से भी अनुस्मृति है।

बुद्ध के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **बुद्धानुस्मृति** है। बुद्ध-गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। धर्म के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **धर्मानुस्मृति** है। सु-आख्यात होना आदि धर्म-गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। संघ के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **संघानुस्मृति** है। सुप्रतिपन्न होना आदि संघ-गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। शील के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **शीलानुस्मृति** है। अ-खण्ड होना आदि शील-गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। त्याग के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **त्यागानुस्मृति** है। मुक्त-त्यागी होना आदि त्याग-गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। देवता के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **देवतानुस्मृति** है। देवता को साक्षी के स्थान में रख कर अपने श्रद्धा आदि गुण के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। मरण (=मृत्यु) के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **मरणानुस्मृति** है। जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद (=नाश) के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। केश आदि भेद वाले रूप-काय में गई हुई या काय में गई हुई 'कायगता' है। कायगता और स्मृति = कायगतास्मृति—कही जाने के स्थान पर ह्रस्व नहीं कर के **कायगतास्मृति** कही गई है। केश आदि काय के भागों के निमित्त के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। आनापान (=साँस लेना और छोड़ना) के प्रति उत्पन्न हुई स्मृति **आनापानस्मृति** है। आश्वास-प्रश्वास के निमित्त के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है। उपशम (=निर्वाण) के प्रति उत्पन्न हुई अनुस्मृति **उपशमानुस्मृति** है। सब दुःखों के उपशम (=शान्ति) के आलम्बन की स्मृति का यह नाम है।

बुद्धानुस्मृति

इन दस अनुस्मृतियों में प्रथम बुद्धानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले, यथार्थ रूप से जानकार, श्रद्धावान् योगी को अनुकूल शयनासन में, एकान्त में, एकाग्र-चित्त हो—

"इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।"

[वह भगवान् ऐसे अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरण-सम्पन्न, सुगत, लोक-विद्, अनुपम पुरुषदम्य सारथी, देवमनुष्यों के शास्ता हैं।]

—इस प्रकार बुद्ध भगवान् के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये।

यह अनुस्मरण करने का ढंग है—"सो भगवा इति पि अरहं, इति पि सम्मासम्बुद्धो ......पे[1]......इति पि भगवाति।" [वह भगवान् ऐसे अर्हत् हैं, ऐसे सम्यक सम्बुद्ध हैं......

१. देखिये पृष्ठ ४८ की पादटिप्पणी।

ऐसे भगवान् हैं ।] इस प्रकार अनुस्मरण करता है । इस और इस कारण से—ऐसा कहा गया जानना चाहिये ।

क्लेशों से दूर होने, वैरियों और (संसार-चक्र के) अराओं को विनाश कर डालने, प्रत्यय[1] (पाने) आदि के योग्य होने, पाप करने में रहस्य के न होने—इन कारणों से वह भगवान् अर्हत् हैं, ऐसे (योगी) अनुस्मरण करता है ।

वह सब क्लेशों से बहुत दूर खड़े हैं, मार्ग[2] से वासना (दोष) सहित क्लेशों के विध्वंस हो जाने से, दूर होने से अर्हत् हैं ।

सो ततो आरका नाम यस्स येनासमङ्गिता ।
असमङ्गी च दोसेहि नाथो तेनारहं मतो ॥

[जो जिससे युक्त नहीं है, वह उससे दूर है, और (चूँकि) नाथ (=बुद्ध) दोषों से युक्त नहीं हैं, इसलिये अर्हत् माने जाते हैं ।]

और वे क्लेश-वैरी इस मार्ग से मार डाले गये, इसलिये वैरियों के मारे जाने से भी अर्हत् हैं ।

यस्मा रागादिसङ्खाता सब्बेपि अरयो हता ।
पञ्ञा सत्थेन नाथेन तस्मापि अरहं मतो ॥

[चूँकि राग आदि कहे जाने वाले सभी वैरी प्रज्ञा-रूपी हथियार से नाथ (= बुद्ध) द्वारा मार डाले गये, इसलिये भी वे अर्हत् माने जाते हैं ।]

अविद्या और भव-तृष्णा-मय नाँहा (=नाभी), पुण्य आदि अभिसंस्कार का आरागज (=आर), जरामरण की पुट्ठी (=नेमि), आश्रव-समुदय रूपी धुरा (=अक्ष) से छेद कर त्रिभव रूपी रथ में सब प्रकार से जुड़ा अनादि काल से चलता हुआ, जो यह संसार-चक्र है, उसके इनके द्वारा बोधि (-वृक्ष) के नीचे वीर्य्य के पैरों से शील की पृथ्वी पर खड़ा होकर, श्रद्धा के हाथ से कर्म को क्षय करने वाले ज्ञान की कुल्हाड़ी को लेकर सारे अरि मार डाले गये, इसलिये अरियों (=वैरियों) को मार डालने से अर्हत् हैं ।

अथवा संसार-चक्र अनादि संसार का चक्कर कहा जाता है और उसका मूल होने के कारण अविद्या नाँहा (=नाभी) है, अन्त में होने से जरामरण पुट्ठी है, तथा शेष दस धर्म[3] अविद्या के मूल होने एवं जरा-मरण के अन्त होने से आरागज हैं ।

दुःख आदि में अज्ञान (ही) अविद्या है । रूप-भव में अविद्या रूपभव में संस्कारों का प्रत्यय होती है । अरूपभव में अविद्या अरूपभव में संस्कारों का प्रत्यय होती है ।

कामभव में संस्कार कामभव में प्रतिसन्धि-विज्ञान[4] के प्रत्यय होते हैं । इसी प्रकार अन्य में भी । काम-भव में प्रतिसन्धि-विज्ञान काम-भव में नामरूप का प्रत्यय होता है । वैसे ही रूपभव में । अरूपभव में नाम का ही प्रत्यय होता है । कामभव में नामरूप कामभव में छः आयतन

१. चीवर आदि चार प्रत्यय ।

२. आर्य मार्ग से ।

३. संस्कार से लेकर जाति (= जन्म) तक के दस धर्म ।

४. देखिये पृष्ठ ५ ।

(=षडायतन) का प्रत्यय होता है। रूपभव में नामरूप रूपभव में तीन आयतनों[1] का प्रत्यय होता है। अरूपभव में नाम अरूपभव में एक-आयतन[2] का प्रत्यय होता है। कामभव में छः आयतन कामभव में छः प्रकार के स्पर्श का प्रत्यय होता है। रूपभव में तीन आयतन रूपभव में तीन स्पर्शों के प्रत्यय होते हैं। अरूपभव में एक मनायतन अरूपभव में एक स्पर्श का प्रत्यय होता है। कामभव में छः स्पर्श कामभव में छः वेदनाओं के प्रत्यय होते हैं। रूपभव में तीन स्पर्श वहीं तीनों के। अरूपभव में एक वहीं एक वेदना का प्रत्यय होता है। कामभव में छः वेदनायें कामभव में छः तृष्णा-कायों का प्रत्यय होती हैं। रूपभव में तीन वहीं तीनों का। अरूपभव में एक वेदना अरूपभव में एक तृष्णा-काय का प्रत्यय होती हैं। वहाँ-वहाँ वह-वह तृष्णा उस-उस उपादान का और उपादान आदि भव आदि का।

कैसे ? यहाँ कोई "कामों का परिभोग करूँगा" (सोचकर) काम के उपादान के प्रत्यय से काय द्वारा दुश्चरित करता है, वचन से दुश्चरित करता है, मन से दुश्चरित करता है, (वह) दुश्चरित की पूर्ति करके अपाय में उत्पन्न होता है, वहाँ उसके उत्पन्न होने का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है, कर्म से उत्पन्न हुआ स्कन्ध उत्पत्ति-भव है, स्कन्धों की उत्पत्ति जाति (= जन्म) है, परिपक्व होना बुढ़ापा है और विनाश (= भेद) मरण है।

दूसरा "स्वर्ग की सम्पत्ति का अनुभव करूँगा" (सोचकर) वैसे ही अच्छे कर्मों को करता है। अच्छे कर्मों की पूर्ति से स्वर्ग में उत्पन्न होता है। वहाँ उसके उत्पन्न होने का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव हैं,—ऐसे वही ढंग है।

दूसरा "ब्रह्मलोक की सम्पत्ति का अनुभव करूँगा" (सोचकर) काम के उपादान (= ग्रहण करना) के लिये ही मैत्री-भावना करता है, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करता है। भावना की पूर्ति से (वह) ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ उसके उत्पन्न होने का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है—यहाँ (भी) वही ढंग है।

दूसरा "अरूपभव की सम्पत्ति का अनुभव करूँगा" (सोचकर) वैसे ही आकाशानन्त्यायतन आदि समापत्तियों की भावना करता है, भावना की पूर्ति से वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ उसके उत्पन्न होने का हेतु हुआ कर्म कर्म-भव है, कर्म से उत्पन्न हुए स्कन्ध उत्पत्ति-भव है, स्कन्धों का उत्पन्न होना जाति (=जन्म) है, परिपक्व होना बुढ़ापा है। नाश मरण है। इसी प्रकार शेष उपादान से उत्पन्न होने वाली योजनाओं में भी।

इस प्रकार यह "अविद्या हेतु है, संस्कार हेतु से उत्पन्न है, ये दोनों भी हेतु से उत्पन्न हुए हैं, इस भाँति प्रत्ययों को अलग-अलग करके ग्रहण करने में प्रज्ञा धर्म-स्थिति-ज्ञान[3] है। व्यतीत हुए भी कालों का, भविष्यत् के भी कालों का अविद्या हेतु है, संस्कार हेतु से उत्पन्न हैं, ये दोनों भी हेतु से उत्पन्न हुए हैं—इस भाँति प्रत्ययों को अलग-अलग करके ग्रहण करने में प्रज्ञा धर्म-स्थिति-ज्ञान है"[4] इसी ढंग से सब पदों का विस्तार करना चाहिये।

अविद्या-संस्कार एक संक्षेप (=विभाग) है, विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना एक, तृष्णा-उपादान-भव एक और जाति (= जन्म)-बुढ़ापा-मरण एक। यहाँ पहले का संक्षेप

१. चक्षु, श्रोत्र और मन—इन तीन आयतनों का।
२. मनायतन का।
३. प्रतीत्यसमुत्पाद का अवबोध।
४. पटिसम्भिदामग्ग १।

(= विभाग) भूतकालिक है, दो बिचले वर्तमान् कालिक और जाति (= जन्म), बुढ़ापा, मरण भविष्यकालिक। अविद्या और संस्कार के ग्रहण से यहाँ तृष्णा-उपादान-भव ग्रहण ही हुये हैं—इस प्रकार से पाँच धर्म भूत में कर्म-वर्त्त (=कर्म का चक्कर) हैं। विज्ञान आदि पाँच इस समय विपाक-वर्त्त हैं। तृष्णा-उपादान-भव के ग्रहण से अविद्या और संस्कार गृहीत हैं—इस प्रकार ये पाँच धर्म वर्तमान् कर्म-वर्त्त हैं। जन्म, बुढ़ापा, मरण (=मृत्यु) के कथन द्वारा विज्ञान आदि के निर्दिष्ट होने से—ये पाँच धर्म भविष्यत् में विपाक-वर्त्त हैं। वे आकार से बीस प्रकार के होते हैं। यहाँ संस्कार और विज्ञान के बीच में एक जोड़ (= सन्धि) है, वेदना और तृष्णा के बीच में एक तथा भव और जन्म के बीच में एक।

इस प्रकार भगवान् इस चार संक्षेप, तीन काल, बीस आकार, तीन जोड़ (= संधि) वाले प्रतीत्यसमुत्पाद को सब प्रकार से जानते हैं, देखते हैं, समझते हैं, बूझते हैं। "वह ज्ञात होने के अर्थ से ज्ञान है, विशेष रूप से जानने के अर्थ से प्रज्ञा है, इसलिये कहा जाता है—प्रत्ययों को अलग-अलग करके ग्रहण करने में प्रज्ञा धर्म-स्थिति-ज्ञान है।"[1] इस धर्म-स्थिति-ज्ञान से भगवान् उनको यथार्थ रूप से जानकर उनमें निर्वेद करते हुये, राग रहित होते हुए, उनसे विमुक्त होते हुए, उक्त प्रकार के इस-संसार-चक्र के आरों को हन डाले, विहनन कर डाले, विध्वंस कर दिये। ऐसे भी आरों को हनने से अर्हत् हैं।

अरा संसारचक्कस्स हता आणासिना यतो।
लोकनाथेन तेनेस अरहन्ति पवुच्चति॥

[चूँकि संसार-चक्र के आरे (=आरागज) लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) द्वारा ज्ञान की तलवार से काट डाले गये, इसलिये यह अर्हत् कहे जाते हैं।]

अग्र (=श्रेष्ठ) दाक्षिणेय्य होने से चीवर आदि प्रत्ययों और विशेष पूजा के योग्य (=अर्ह) हैं, तथा उन्हीं तथागत के उत्पन्न होने पर जो कोई महेशाख्य (=महाप्रतापी) देव-मनुष्य होते हैं, वे दूसरे की पूजा नहीं करते हैं, वैसा ही सहम्पति ब्रह्मा ने सिनेरु (पर्वत) के बराबर रत्न की मालाओं से तथागत की पूजा की। यथा-शक्ति देव, मनुष्य, बिम्बिसार, कोशल राजा आदि। परिनिर्वृत्त हो गये हुए भी भगवान् को उद्देश्य कर छानबे करोड़ धन को व्यय करके महाराज अशोक ने जम्बूद्वीप में चौरासी हजार विहारों को बनवाया। दूसरों की विशेष (रूप से की गई) पूजा की बात ही क्या? इस प्रकार प्रत्यय आदि के योग्य (=अर्ह) होने से भी अर्हत् हैं।

पूजाविसेसं सह पच्चयेहि
यस्मा अयं अरहति लोकनाथो।
अत्थानुरूपं अरहन्ति लोके
तस्मा जिनो अरहति नाममेतं॥

[यह लोकनाथ चूँकि (चीवर आदि) प्रत्ययों के साथ पूजा विशेष के योग्य हैं, इसलिये जिन (=बुद्ध) लोक में अर्थ के अनुरूप 'अर्हत्'—इस नाम के योग्य हैं।]

जैसे लोक में जो कोई पण्डिताभिमानी मूर्ख निन्दा के डर से छिपे हुए पाप करते हैं, ऐसे यह कभी नहीं करते हैं, अतः पाप करने में छिपाव (= रहस्य) के न होने से भी अर्हत् हैं।

१. पटिसम्भिदामग्ग १।

यस्मा नत्थि रहो नाम पापकम्मेसु तादिनो।
रहाभावेन तेनेस अरहं इति विस्सुतो॥

[(प्रिय-अप्रिय आलम्बनों में) एक जैसे रहने वाले (भगवान् बुद्ध) का पाप कर्मों में चूँकि छिपाव नहीं है, इसलिये यह 'अर्हत्' प्रसिद्ध हैं।]

ऐसे सब प्रकार से भी—

आरकत्ता हतत्ता च किलेसारीन सो मुनि।
हतसंसार चक्कारो पच्चयादीन चारहो।
न रहो करोति पापानि अरहं तेन पवुच्चति॥

[(सारे क्लेशों से) दूर होने, क्लेश रूपी वैरियों को नाश कर डालने, संसार-चक्र के आरों को नष्ट कर डालने, और प्रत्यय आदि के योग्य होने से तथा वह मुनि छिपे हुए पाप नहीं करते हैं, इसलिये अर्हत् कहे जाते हैं।]

सम्यक् रूपसे और स्वयं सब धर्मों को जानने से **सम्यक् सम्बुद्ध** हैं। वैसा ही यह सब धर्मों को सम्यक् रूप से और स्वयं विशेष ज्ञान से जानने योग्य धर्मों (=चतुरार्य सत्य) को विशेष ज्ञान से (दुःख आर्य सत्य नामक) परिज्ञेय धर्मोंको परिज्ञेय के रूप से, प्रहाण करने योग्य (समुदय वाले) धर्मों को प्रहाण के रूप से, साक्षात्कार करने योग्य (निर्वाण) धर्मों को साक्षात्कार करने के रूप से और भावना करने योग्य (मार्ग) धर्मों को भावना के रूप से जाने। इसलिए कहा है—

अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं,
भावेतब्बञ्च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे,
तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण[१]॥

[जो विशेष ज्ञान से जानने योग्य (=अभिज्ञेय) था, वह जान लिया गया, भावना करने योग्य की भावना कर ली गई, और प्रहाण करने योग्य प्रहीण (=दूर) हो गया, इसलिये ब्राह्मण! मैं 'बुद्ध' हूँ।]

और भी, चक्षु दुःख-सत्य है। उसका मूल कारण होकर उत्पन्न करने वाली पूर्व की तृष्णा समुदय-सत्य है। दोनों का न होना निरोध-सत्य है। निरोध को जानने की प्रतिपदा मार्ग-सत्य है। ऐसे एक-एक शब्द को लेकर भी सब धर्मों को सम्यक् रूप से और स्वयं जाने। इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन में भी।

इसी ढंग से रूप आदि छः आयतन, चक्षु-विज्ञान आदि छः विज्ञान काय, चक्षु-स्पर्श आदि छः स्पर्श, चक्षु स्पर्श से उत्पन्न आदि छः वेदना, रूप-संज्ञा आदि छः संज्ञा, रूप-संचेतना आदि छः चेतना, रूप-तृष्णा आदि छः तृष्णा-काय, रूप-वितर्क आदि छः वितर्क, रूप-विचार आदि छः विचार, रूप-स्कन्ध आदि पाँच स्कन्ध, दस कसिण, दस अनुस्मृति, ऊर्ध्वमातक संज्ञा आदि के अनुसार दस संज्ञा, केश आदि बत्तिस आकार, बारह आयतन, अठारह धातु, काम-भव आदि नव भव, प्रथम आदि चार ध्यान, मैत्री भावना आदि चार अप्रमाण्य (=ब्रह्मविहार), चार अरूप समापत्ति, प्रतिलोम से बुढ़ापा, मृत्यु आदि और अनुलोम से अविद्या आदि प्रतीत्यसमुत्पाद के अंगों को जोड़ना चाहिये।

१. सुत्तनिपात ३, ७, ११।

उनमें से यह एक शब्द की योजना है—"बुढ़ापा, मृत्यु दुःख-सत्य है। जन्म समुदय-सत्य है। दोनों से भी छुटकारा पाना निरोध-सत्य है। निरोध को जानने की प्रतिपदा मार्ग-सत्य है।[1] ऐसे एक-एक शब्द को लेकर सब धर्मों को सम्यक् रूप से और स्वयं जाने, भली भाँति समझे, प्रतिवेध किये। इसलिए कहा गया है—सम्यक् रूप से और स्वयं सब धर्मों को जानने से **सम्यक् सम्बुद्ध** हैं।

विद्याओं और चरण से युक्त होने से विद्याचरण-सम्पन्न हैं। उनमें से **विद्या**, तीन भी विद्यायें हैं, आठ भी विद्यायें हैं। तीन विद्यायें 'भयभेरव सूत्र'[2] में कहे गये के अनुसार ही जाननी चाहिये। आठ 'अम्बट्ठ'[3] सूत्र में। वहाँ (अम्बट्ठ सूत्र में) विपश्यना-ज्ञान और मनोमय-ऋद्धि के साथ छः अभिज्ञाओं को लेकर आठ विद्यायें कही गई हैं।

शील-संवर, इन्द्रियों में गुप्त-द्वार वाला होना, मात्रा के साथ भोजन करना, जागरणशील होना, सात सद्धर्म,[4] चार रूपावचर के ध्यान—इन पन्द्रह धर्मों को **चरण** जानना चाहिये। चूँकि आर्य श्रावक इनसे विचरण करता है, अमृत (=निर्वाण) की ओर जाता है, इसलिये ये ही पन्द्रह धर्म चरण कहे गये हैं। जैसे कहा है—"महानाम ! यहाँ आर्य-श्रावक शीलवान् होता है"[5] सब **मज्झिम पण्णासक** में कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये। भगवान् इन विद्याओं और इस चरण से युक्त हैं, इसलिये **विद्याचरणसम्पन्न** कहे जाते हैं।

उनमें विद्या-सम्पदा भगवान् की सर्वज्ञता को पूर्ण किये रहती है और चरण-सम्पदा महा-कारुणिकता को। वह सर्वज्ञ होने से सब सत्वों की भलाई-बुराई को जानकर, महाकारुणिक होने से बुराई को हटा कर भलाई में लगाते हैं, जैसा कि (उन) विद्याचरण-सम्पन्न को करना चाहिये। इसीलिये उनके शिष्य सुप्रतिपन्न (= सुमार्गगामी) होते हैं, विद्याचरण से रहित होने वाले गुरुओं के आत्मतापी[6] आदि शिष्यों के समान दुष्प्रतिपन्न (= कुमार्गगामी) नहीं होते हैं।

शोभन गमन करने से, सुन्दर स्थान को गये हुए होने से, सम्यक् रूप से गये हुये होने से और सम्यक् रूप से बोलने से **सुगत** हैं। गमन भी जाने को कहते हैं और वह भगवान् का शोभन, परिशुद्ध, तथा निर्दोष है। वह क्या है ? आर्यमार्ग। यह उस गमन से क्षेम (= निर्वाण) की ओर निर्विघ्न हो कर गये, इसीलिये शोभन गमन करने से सुगत हैं। यह अमृत = निर्वाण (जैसे) सुन्दर स्थान को गये हुए हैं, इसलिये सुन्दर स्थान को गये हुए होने से भी सुगत हैं।

और उस-उस मार्ग से क्लेशों को प्रहाण करके भली-भाँति बिना लौटते हुए गये। कहा गया है—"स्रोतापत्तिमार्ग से जो क्लेश प्रहीण हैं, उन क्लेशों को फिर नहीं लाते हैं, (उन्हें) नहीं चाहते हैं, उनके पीछे नहीं जाते हैं, इसलिए सुगत हैं।......अर्हत् मार्ग से जो क्लेश प्रहीण हैं, उन क्लेशों को फिर नहीं लाते हैं, नहीं चाहते हैं, उनके पीछे नहीं जाते हैं, इसलिये सुगत

---

१. पटिसम्भिदामग्ग २।

२. मज्झिम नि० १,१,४,।

३. दीघ नि० १, ३।

४. सात सद्धर्म हैं—श्रद्धा, ह्री, अपत्रप, बहुश्रुत होना, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा।

५. मज्झिम नि० २, २, ४।

६. आत्मतापी कहते हैं अचेलक आदि को। देखिये, मज्झिम निकाय २, १, १० और अंगुत्तर निकाय ४, ५, ८।

हैं।" अथवा सम्यक् रूप से **दीपङ्कर** भगवान् के पादमूल से लेकर **बोधि-मण्ड** तक तीस पारमिताओं[1] को पूर्ण करने से सम्यक् प्रतिपत्ति द्वारा सारे लोक का हित-सुख ही करते हुए शाश्वत, उच्छेद,[2] काम-सुख, अपने को तपाना—इन अन्तों को नहीं जाते हुये गये, इस प्रकार सम्यक् रूप से जाने से भी **सुगत** हैं।

और, सम्यक् (वचन) बोलते हैं, उचित स्थान पर उचित ही वचन बोलते हैं, इस प्रकार सम्यक् वचन बोलने से भी **सुगत** हैं। इसके लिये यह सूत्र प्रमाण है—"तथागत जिस वचन को झूठ, तथ्य-रहित, अनर्थ-युक्त जानते हैं और वह होता है दूसरों के लिये अ-प्रिय = अमनाप, तो तथागत उस वचन को नहीं कहते हैं। जिस भी वचन को तथागत सत्य, तथ्य, अनर्थ-युक्त जानते हैं और वह होता है दूसरों के लिये अप्रिय = अमनाप, तो उस वचन को भी तथागत नहीं कहते हैं, और जिस वचन को तथागत सत्य, तथ्य, अर्थ-युक्त जानते हैं और वह होता है दूसरों के लिये अप्रिय = अमनाप, वहाँ तथागत उस वचन को बोलने के लिये समय को जानने वाले होते हैं। जिस वचन को तथागत झूठ, अ-तथ्य, अनर्थ-युक्त जानते हैं और वह होता है दूसरों के लिये प्रिय= मनाप, तो तथागत उस वचन को नहीं कहते हैं। जिस भी वचन को तथागत सत्य, तथ्य, अनर्थ-युक्त जानते हैं और वह होता है दूसरों के लिये प्रिय = मनाप, तो उस वचन को भी तथागत नहीं कहते हैं। और जिस वचन को तथागत सत्य, तथ्य, अर्थ-युक्त जानते हैं और वह दूसरों के लिये प्रिय=मनाप होता है, तो वहाँ तथागत, उस वचन को बोलने के लिये समय जानने वाले होते हैं[3]।" ऐसे सम्यक वचन बोलने से भी **सुगत** जानना चाहिये।

सब प्रकार से, लोक से विदित (=जानकार) होने के कारण **लोकविद्** हैं। वह भगवान् (१) स्वभाव से, (२) समुदय (=उत्पत्ति) से, (३) निरोध से, (४) निरोध के उपाय से—सब प्रकार से लोक को जाने, समझे, प्रतिवेध किये। जैसे कहा है—"आवुस, जहाँ (प्राणी) न जन्म लेता है, न जीता है, न मरता है, न च्युत होता है, न उत्पन्न होता है, उस लोक के अन्त (=निर्वाण) को पैदल चलने से जानने योग्य, देखने योग्य, पाने योग्य नहीं कहता हूँ और आवुस, लोक के अन्त को बिना पाये ही दुःख का अन्त करना नहीं कहता हूँ, किन्तु आवुस, मैं इसी व्याम (=चार हाथ) मात्र के संज्ञा-विज्ञान सहित वाले शरीर में लोक को भी प्रज्ञप्त करता हूँ, लोक के समुदय (=उत्पत्ति), लोक के निरोध और लोक के निरोध की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा (=मार्ग) को भी।

गमनेन न पत्तब्बो लोकस्सन्तो कुदाचनं।
न च अप्पत्वा लोकन्तं दुक्खा अत्थि पमोचनं॥

[पैदल चलकर कभी भी लोक का अन्त (= निर्वाण) पाने योग्य नहीं है, और लोक के अन्त को बिना पाये हुए दुःख से छुटकारा नहीं है ।]

---

१. दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा—ये पारमितायें हैं (दे० पृष्ठ १५ की पादटिप्पणी)। इनका वर्णन बुद्धवंश और जातकट्ठकथा के निदान में किया गया है। अङ्ग-परित्याग पारमिता, बाह्यवस्तुओं का परित्याग उपपारमिता और जीवन का परित्याग परमार्थ पारमिता है—इस प्रकार दस पारमिता, दस उपपारमिता और दस परमार्थ पारमिता—सब तीस पारमितायें हैं।—जातकट्ठकथा निदान।

२. देखिये हिन्दी दीघ निकाय पृष्ठ ५।

३. मज्झिम नि० २, १, ८।

तस्मा हवे लोकविदू सुमेधो लोकन्तगू वुसितब्रह्मचरियो।
लोकस्स अन्तं समिताविं ञत्वा नासिंसती लोकमिमं परञ्च॥[१]

[इसलिये लोकविद्, सुन्दर प्रज्ञावाला, लोक के अन्त को पाया हुआ, ब्रह्मचर्य को पूर्ण किया, (सभी क्लेशों की) शान्ति को प्राप्त, लोक के अन्त को जानकर इस लोक और परलोक की इच्छा नहीं करता है।]

और भी—तीन लोक हैं (१) संस्कार लोक (२) सत्व-लोक (३) अवकाश-लोक। उनमें "सारे सत्व आहार से स्थित हैं—यह एक लोक है"[२] आये हुए स्थान पर संस्कार-लोक जानना चाहिये। "लोक शाश्वत है या अ-शाश्वत है"[३] आये हुए स्थान पर सत्व-लोक।

यावता चन्दिमसुरिया परिहरन्ति दिसा भन्ति विरोचमाना।
ताव सहस्सधा लोको एत्थ ते वत्तती वसो[४]॥

[जहाँ तक चन्द्रमा और सूर्य घूमते हैं, दिशायें विरोचती हुई प्रकाशित होती हैं, वहाँ तक हजार प्रकार का लोक (जो है), यहाँ (ही) तेरा वश है।]

—आये हुए स्थान पर अवकाश-लोक। उसे भी भगवान् सब प्रकार से जाने।

वैसे ही उन्हें—"एक लोक—सारे सत्व आहार से स्थित हैं। दो लोक नाम और रूप हैं। तीन लोक तीन वेदनायें हैं। चार लोक चार आहार हैं[५]। पाँच लोक पाँच उपादान स्कन्ध हैं[६]। छः लोक छः भीतरी आयतन हैं[७]। सात लोक सात विज्ञान की स्थितियाँ हैं[८]। आठ लोक आठ लोक धर्म हैं[९]। नव लोक नव सत्वों के आवास (=जीवलोक) हैं[१०]। दस लोक दस-आयतन हैं[११]। बारह लोक बारह आयतन हैं[१२]। अठारह लोक अठारह धातुयें हैं[१३]। यह संस्कार लोक भी सब प्रकार से विदित है

१. संयुत्त नि० १,२,३,६ और अंगुत्तर नि० ४,५,५।
२. पटि० १।
३. दीघ नि० १,९।
४. मज्झिम नि० १,५,९।
५. देखिए, हिन्दी दीघनिकाय पृष्ठ २८८, अथवा दीघ० ३,१०।
६. दे० हिन्दी दीघ० पृष्ठ २९०।
७. देखिये, हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ २९३।
८. हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ ३०७।
९. हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ ३०९।
१०. हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ २९९।
११. हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ ३१३।
१२. छः भीतरी और छः बाहरी आयतन, देखिये, हिन्दी दीघ नि. पृष्ठ २९३।
१३. पटिसम्भिदा० १।

चूँकि यह सभी सत्वों के आशय[1], अनुशय[2], चरित[3], अधिमुक्ति[4] को जानते हैं। (चित्त-) मल (=क्लेश)-रहित, अधिक मल वाले, तीक्ष्ण इन्द्रिय (=प्रज्ञा) वाले, मृदु-इन्द्रिय वाले, अच्छे और बुरे आकार वाले, किसी बात को जल्दी और देरी से समझने वाले, भव्य[5] और अ-भव्य सत्वों को जानते हैं। इसलिए उन्हें सत्व-लोक भी सर्व प्रकार से विदित है।

और जैसा कि सत्व-लोक है, ऐसा ही अवकाश लोक भी है। वैसा ही यह—एक चक्रवाल (=ब्रह्मांड) लम्बाई और चौड़ाई में बारह लाख, तीन हजार, चार सौ पचास (१२,०३,४५०) योजन है। परिक्षेप (=घेरे) में—

सब्बं सतसहस्सानि छत्तिंस परिमण्डलं।
दस चेव सहस्सानि अड्ढुड्ढानि सतानि च॥

[सब परिमण्डल (=घेरा) छत्तिस लाख, दस हजार, तीन सौ पचास (३६,१०, ३५०) योजन है।]

वहाँ,

दुवे सतसहस्सानि चत्तारि नहुतानि च।
एत्तकं बहलत्तेन सङ्खातायं वसुन्धरा॥

[मोटाई में यह पृथ्वी दो लाख, चालीस हजार, (२, ४०,०००) योजन—इतना कही गई है।]

उसको धारण करने वाला—

चत्तारि सतसहस्सानि अट्ठेव नहुतानि च।
एत्तकं बहलत्तेन जलं वाते पतिट्ठितं॥

[चार लाख, अस्सी हजार (४, ८०,०००) योजन—इतना मोटाई में जल वायु पर प्रतिष्ठित है।]

उसको भी धारण करने वाली—

नवसत सहस्सानि मालुतो नभमुग्गतो।
सट्ठिञ्चेव सहस्सानि एसा लोकस्स सण्ठिति।

[नव लाख, साठ हजार (९, ६०,०००) योजन वायु आकाश में उठी हुई है—यह लोक की स्थिति है।]

---

१. जैसे मृग चरने के लिये जाकर, पुनः आ वहीं घने वन में सोता है, वह उसका आशय कहा जाता है, ऐसे ही चित्त अन्यथा भी प्रवर्तित होकर जहाँ सोता है, उसे आशय कहते हैं। वह शाश्वत, उच्छेद आदि चार प्रकार का होता है—टीका।

२. हिन्दी दीघनि.-पृष्ठ ३०७।

३. राग-चरित आदि में से जिस किसी चरितवाले को।

४. अधिमुक्ति अध्याशय (=भाव) को कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है (१) हीनाधिमुक्ति (२) प्रणीताधिमुक्ति।

५. कर्म, क्लेश, और विपाक के आवरण से रहित को भव्य कहते हैं।

ऐसी स्थिति वाला यहाँ योजनों में—

चतुरासीति सहस्सानि अज्झोगाळ्हो महण्णवे।
अच्चुग्गतो तावदेव सिनेरु पब्बतुत्तमो॥

[चौरासी हजार, महासमुद्र में प्रवेश किया और उतना ही ऊपर उठा हुआ उत्तम सिनेरु पर्वत है।]

ततो उपड्ढुपड्ढेन पमाणेन यथाक्कमं।
अज्झोगाळ्हुग्गता दिब्बा नानारतनचित्तता॥
युगन्धरो ईसधरो करवीको सुदस्सनो।
नेमिन्धरो विनतको अस्सकण्णो गिरिब्रहा॥
एते सत्त महासेला सिनेरुस्स समन्ततो।
महाराजानमावासा देवयक्खनिसेविता॥

[उसके पश्चात् क्रमानुसार आधे-आधे के प्रमाण से (समुद्र में) नीचे प्रवेश किये और ऊपर उठे हुए दिव्य नाना रत्नों से चित्रित **युगन्धर, ईषाधर, करवीक, सुदर्शन, नेमिन्धर, विनतक** और **अश्वकर्ण** गिरि—ये सात महापर्वत सिनेरु के चारों ओर देव, यक्ष से सेवित महाराजाओं के आवास हैं।]*

---

*सिनेरु पर्वत ८४००० योजन जल में है और ८४००० योजन जल से ऊपर उठा हुआ, कुल १६८,००० योजन है। उसका क्षेत्रफल दो लाख, बावन हजार योजन है।

(१) युगन्धर पर्वत सिनेरु के चारों ओर घेरे हुए ४२००० योजन नीचे जल में है और ४२००० योजन ऊपर उठा हुआ, कुल ८४००० योजन है।

(२) इसी प्रकार क्रमशः ईषाधर २१००० योजन नीचे, २१००० योजन ऊपर, कुल ४२००० योजन है।

(३) करवीक १०५०० नीचे, १०५०० ऊपर, कुल २१००० योजन है।

(४) सुदर्शन ५२५० ,, ५२५० ,, १०५०० ,, ।

(५) नेमिन्धर २६२५ ,, २६२५ ,, ५२५० ,, ।

(६) विनतक १३१२ योजन २ गव्यूत नीचे, १३१२ योजन २ गव्यूत ऊपर, कुल २६२५ योजन है।

(७) अश्वकर्ण ६५६ योजन १ गव्यूत नीचे, ६५६ योजन १ गव्यूत ऊपर, कुल १३१२ योजन २ गव्यूत है।

इनके बीच-बीचमें सीदन्त नामक सागर है। इन सातों पर्वतों को "सप्तकुल" पर्वत कहते हैं। इनका विस्तार अभिधर्मकोश में इस प्रकार है—

"समन्ततस्तु त्रिगुणं तथामेरुर्युगन्धरः।
ईषाधरः खदिरकः सुदर्शन-गिरिस्तथा॥
अश्वकर्णो विनतको निमिधर-गिरिस्तथा।
द्वीपाः बहिश्चक्रवालः सप्त हैमाः स आयसः॥
—इन्द्रिय निर्देश ३, ४८-४९।

योजनानं सतानुच्चो हिमवा पञ्च पब्बतो ।
योजनानं सहस्सानि तीणि आयत वित्थतो ॥
चतुरासीति सहस्सेहि कूटेहि पटिमण्डितो ।

हिमालय पर्वत पाँच सौ (५००) योजन ऊँचा है । तीन हजार (३०००) योजन लम्बा और चौड़ा है । चौरासी हजार (८४,०००) कूटों (=शृंगों=चोटियों) से प्रतिमण्डित (=युक्त) है ।)

तिपञ्चयोजनक्खन्ध-परिक्खेपा नगव्हया ॥
पञ्ञासयोजनक्खन्ध-साखायामा समन्ततो ।
सतयोजनवित्थिण्णा तावदेव च उग्गता ॥
जम्बु यस्सानुभावेन जम्बुदीपो पकासितो ।

['नाग' नाम से पुकारे जाने वाले जामुन के पेड़ के स्कन्धों की गोलाई पन्द्रह योजन है, स्कन्ध पचास योजन के हैं, चारों ओर पचास योजन (उसकी) शाखायें लम्बी हैं। (वह) सौ योजन फैला हुआ और उतना ही ऊपर गया हुआ है, जिसके अनुभाव से (इस द्वीप को) 'जम्बूद्वीप' कहा जाता है ।]

जो यह जामुन के पेड़ का प्रमाण (= नाप) है, इतना ही असुरों के चित्रपाटली (वृक्ष) का, गरुड़ों के शिम्बली (=सेमर) के वृक्ष का, अपरगोयान में कदम्ब का, उत्तरकुरु में कल्प-वृक्ष का, पूर्वविदेह में शिरीष का, तावतिंस (= त्रायस्त्रिंश) में पारिच्छत्रक का है । इसलिये पुराने लोगों ने कहा है—

पाटलि सिम्बलि जम्बु देवानं पारिच्छत्तको ।
कदम्बो कप्परुक्खो च सिरीसेन भवति सत्तमं ॥

[पाटली, शिम्बली, जामुन, और देवताओं का पारिच्छत्रक, कदम्ब, कल्पवृक्ष और सातवाँ शिरीष होता है ।]

द्वे असीति सहस्सानि अज्झोगाळ्होमहण्णवे ।
अच्चुग्गतो तावदेव चक्कवाल सिलुच्चयो ॥
परिक्खिपित्वा तं सब्बं लोकधातुमयं ठितो ।

[बयासी हजार योजन महासागर में नीचे गया और उतना ही ऊपर उठा हुआ, उस लोकधातु को घेर कर चक्रवाल पर्वत स्थित है ।]

—किन्तु यह ग्राह्य नहीं है, क्योंकि अभिधर्मकोश पालि त्रिपिटक के सर्वथा विपरीत और पीछे का लिखा हुआ एक महायानी ग्रन्थ है, जिसके सिद्धान्तों का खण्डन 'कथावत्थुप्पकरण'में प्रायः किया गया है। उसी के अनुसार इन पर्वतों का विस्तार इस प्रकार है—

मेरु	८०,००० योजन	सुदर्शन	५,०००	योजन
युगन्धर	४०,००० ,,	अश्वकर्ण	२,५००	,,
ईषाधर	२०,००० ,,	विनतक	१,२५०	,,
खदिरक	१०,००० ,,	निमिंधर	१,६२५	,,
	चक्रवाल	३१२½ योजन		

उसमें, चन्द्रमण्डल उनचास योजन और सूर्य्य-मण्डल पचास योजन है[1]। तावतिंस (=त्रायस्त्रिंश)-भवन दस हजार योजन है, वैसे ही असुर-भवन, अवीचि महानरक और जम्बूद्वीप। अपरगोयान सात हजार योजन है, वैसा ही पूर्व विदेह। उत्तरकुरु आठ हजार योजन है। उनमें एक-एक महाद्वीप पाँच-पाँच सौ छोटे द्वीपों से घिरा हुआ है। वह सभी एक चक्रवाल, एक लोक-धातु हैं। उनके बीच[2] में **लोकान्तरिक नरक** हैं। ऐसे अनन्त चक्रवालों को, अनेक लोकधातुओं को भगवान् ने अनन्त बुद्ध-ज्ञान से जाना, समझा, प्रतिवेध किया।

ऐसे उन्हें अवकाश-लोक भी सर्वथा विदित है। ऐसे सब प्रकार से विदित होने से **लोकविद्** हैं।

अपने गुणों से विशिष्टतर किसी के भी न होने से, इनसे उत्तर (=बढ़कर) कोई नहीं है, इसलिये **अनुत्तर** हैं। वैसा ही यह शील गुण से भी सारे लोक को नीचा कर देते हैं, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान दर्शन से भी। शीलगुण से भी समता-रहित, समानता रहित (=बुद्धों) के समान, अप्रतिम 'अ-सदृश' बराबरी रहित हैं......विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-गुण से भी। जैसा कि कहा है—"मैं देव, मार सहित देव-मनुष्य प्रज्ञा-लोक में अपने से बढ़कर शील-सम्पन्न किसी को नहीं देखता हूँ[3]।" इस प्रकार विस्तार है। ऐसे ही **अग्गप्पसाद सुत्त**[4] आदि और "मेरा (कोई) आचार्य नहीं है"[5] आदि गाथाओं का विस्तार करना चाहिये।

दमन करने योग्य (=दम्य) पुरुषों को हाँकते (=चलाते) हैं, इसलिये **पुरुषदम्य सारथी** हैं। दमन करते हैं = सिखाते हैं—ऐसा कहा गया था। उनमें, **पुरुषदम्य कहते हैं**, अदान्त (=अ-शिक्षित), दमन करने के योग्य, पशु-नरों को भी, मनुष्य-पुरुषों को भी, अमनुष्य-पुरुषों को भी। वैसा ही भगवान् ने **अपलाल**[6] नागराजा, **चूळोदर, महोदर**[7], **अग्निशिख, धूम्रशिख**[8], **आरवल** नागराजा, **धनपालक**[9] हाथी, आदि ऐसे पशु-नरों का भी दमन किया,

---

१. चन्द्रमण्डल नीचे और सूर्य्यमण्डल ऊपर है। समीप होने के कारण चन्द्रमण्डल अपनी छाया से अविकल जान पड़ता है। वे एक योजन के अन्तर पर युगन्धर की ऊँचाई के बराबर आकाश में विचरण करते हैं। सिनेरु पर्वत के नीचे असुर-भवन है और अवीचि नरक जम्बूद्वीप के नीचे। जम्बूद्वीप शकट (=बैलगाड़ी) की बनावट जैसा है, अपरगोयान दर्पण की बनावट जैसा, पूर्व विदेह अर्द्ध चन्द्रमण्डल की बनावट के समान तथा उत्तरकुरु पीठ (=चौकी) की बनावट-सदृश है। प्रत्येक द्वीप में रहनेवालों का परिवार और मुखाकृत भी भिन्न-भिन्न है ऐसा कहते हैं—टीका।

२. तीन पात्रों को सटाकर एकपास रखने पर जैसे तीनों के बीच अन्तर होता है। वैसे ही तीन-तीन चक्रवालों के बीच अन्तर है, उसे लोकान्तरिक नरक कहते हैं।

३. संयुत्त-निकाय ६, १, २।

४. अंगुत्तर निकाय ४, ४, ४।

५. मज्झिम निकाय १, ३, ६।

६. यह नागराजा परिनिर्वाण के समय भगवान् द्वारा दमित हुआ था—देखिये, दिव्यावदान ३४८, ३८५।

७. चूळोदर और महोदर के दमन की कथा के लिये देखिये महावंश का प्रथम परिच्छेद।

८. इनका दमन भगवान् के लंका-गमन काल में हुआ था, ये सिंहल द्वीपवासी थे।

९. नाळागिरि हाथी का यह नाम है, दमन-कथा के लिये देखिय, हिन्दी विनयपिटक पृष्ठ ४८६।

(उन्हें) निर्विष (=दोष रहित) किया, (त्रि-) शरण और शीलों में प्रतिष्ठित किया। मनुष्य-पुरुषों का भी—निर्ग्रन्थ-पुत्र (=जैनी) सत्यक (=सच्चक)[१], अम्बष्ठ माणव, पौष्करसादि,[२] सोणदण्ड[३], कूटदन्त[४] आदि और अमनुष्य पुरुषों का भी—आलवक[५], शूचिलोम, खरलोम यक्ष[६], शक्र-देवराज[७] आदि का दमन किया। (उन्हें) विचित्र नियम के उपाय से विनीत किया। "केशी! मैं दमन करने योग्य पुरुषों का मृदुता से भी दमन करता हूँ, कठोरता से भी दमन करता हूँ, मृदुता और कठोरता से भी दमन करता हूँ।"[८] यहाँ इस सूत्र का विस्तार करना चाहिये।

और भी, भगवान् विशुद्ध शील वाले, प्रथम-ध्यान आदि को प्राप्त स्रोतापन्न आदि के लिये आगे के मार्ग की प्रतिपदा को बतलाते हुए दमन किये गये लोगों का भी दमन करते ही हैं। अथवा, 'अनुत्तर पुरुषदम्य सारथी'—यह एक ही वाक्य (=अर्थ-पद) है। चूँकि भगवान् वैसे दमन करने योग्य पुरुषों को हाँकते हैं, जैसे कि एक आसन पर बैठे ही आठ दिशाओं[९] (=आठ समापत्तियों) को बे-रोक-टोक दौड़ते हैं, इसलिये अनुत्तर-पुरुष दम्य सारथी कहे जाते हैं। "भिक्षुओ, हाथी का दमन करने वाले (= फीलवान) से दमन किया हुआ हाथी हाँकने पर एक दिशा में ही दौड़ता है।"[१०] यहाँ इस सूत्र का विस्तार करना चाहिये।

इस लोक, परलोक तथा निर्वाण (= परमार्थ) के लिये यथायोग्य अनुशासन करते हैं, इसलिए शास्ता हैं। और भी, "शास्ता = भगवान् सार्थ को अनुशासन करनेवाले सार्थवाह के समान हैं, जैसे कि सार्थवाह सार्थों (= काफिलों) को जंगली प्रदेश (= कान्तार) को पार कराता है, चोरोंवाले जंगल को पार कराता है, हिंसक जन्तुओं वाले जंगल को पार कराता है, दुर्भिक्ष वाले जंगल को पार कराता है, निर्जल जंगल को पार कराता है। इस पार से उस पार को ले जाता है, निस्तार करता है, उद्धार करता है, क्षेम-भूमि को पहुँचाता है, ऐसे ही भगवान् सार्थ को अनुशासन करनेवाले सार्थवाह के समान प्राणियों को कान्तार से पार करते हैं, जन्म-कान्तार से पार करते हैं[११]।" आदि निद्देस के अनुसार भी यहाँ अर्थ जनाना चाहिये।

---

१. मज्झिम नि० १, ४, ५ (चूलसच्चक सुत्त)।
२. दीघ नि० १, ३ (अम्बट्ठ सुत्त)।
३. दीघ नि० १, ४ (सोणदण्ड सुत्त)।
४. दीघ नि० १, ५ (कूटदन्त सुत्त)।
५. सुत्तनिपात १, १० (आलवक सुत्त)।
६. सुत्तनिपात २, ५ (सूचिलोम सुत्त)।
७. दीघ नि० २, ७ (सक्कपञ्ह सुत्त)।
८. अंगुत्तर नि० ४, २, १।
९. मज्झिम निकाय के सलायतन विभङ्ग सुत्त में आठ-दिशायें आठ-विमोक्ष कहे गये हैं, और वे ही विमोक्ष अर्थतः आठ समापत्ति होते हैं, अतः टीका में—"आठ दिशा आठ समापत्तियों को कहते हैं", कहा गया है। पपञ्चसूदनी नामक उक्त सूत्र की अट्ठकथा में भी "आठ समापत्तियों को प्राप्त होता है—यही अर्थ है" कहा गया है, किन्तु कौशाम्बीजी ने टीका के पाठ को अयुक्त बतलाकर, स्वयं विचार नहीं किया है।
१०. मज्झिम निकाय ३, ४, ७ (सलायतन विभङ्ग सुत्त)।
११. महानिद्देस ५४५-५४६।

देव मनुष्यों के, देवताओं और मनुष्यों के। उत्कृष्ट (=उत्तम) और भव्य (=पुण्यवान्) व्यक्तियों के परिच्छेद के अनुसार यह कहा गया है। भगवान् पशु-योनि में उत्पन्न होने वालों को भी अनुशासन प्रदान करने से शास्ता ही है। क्योंकि वे भी भगवान् के धर्म को सुनने से उपनिश्रय-सम्पत्ति[1] को पाकर, उसी उपनिश्रय सम्पत्ति से दूसरे या तीसरे जन्म में मार्ग-फलके लाभी होते हैं।

मण्डूक देव-पुत्र आदि यहाँ दृष्टान्त हैं। जब भगवान् **गर्गरा**[2] (=गग्गरा) पुष्करणी के किनारे **चम्पा** नगर के रहने वाले लोगों को धर्मोपदेश दे रहे थे, तब एक मण्डूक (= मेंढक) ने भगवान् के स्वर में निमित्त ग्रहण किया[3]। एक ग्वाले ने डण्डे के सहारे झुककर खड़ा होते हुए उसके शिर पर (डण्डे को) जमाकर खड़ा हुआ। वह उसी समय मर कर **तावतिंस** (=त्रायस्त्रिंश) भवन में बारह-योजन के कनक-विमान में उत्पन्न हुआ और सोकर उठने के समान वहाँ अप्सराओं के समूह से घिरा हुआ अपने को देखकर "अरे, मैं भी यहाँ उत्पन्न हुआ! कौन-सा मैंने कर्म किया?" विचारते हुए, भगवान् के स्वर में निमित्त-ग्रहण करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखा। उसने उसी समय विमान के साथ आकर भगवान् के पैरों की वन्दना की। भगवान् ने जानते हुए ही पूछा—

को मे वन्दति पादानि, इद्धिया यससा जलं।
अभिक्कन्तेन वण्णेन, सब्बा ओभासयं दिसा॥

[ऋद्धि और यश से प्रभासित अत्यन्त सुन्दर वर्ण से सारी दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ कौन मेरे पैरों की वन्दना कर रहा है?]

मण्डूकोहं पुरे आसिं उदके वारि गोचरो।
तव धम्मं सुणन्तस्स अवधी वच्छपालको[4]॥

[मैं पहले जल में जलचारी मेंढक था, आपके धर्म को सुनते हुए मुझे (एक) ग्वाले ने मार डाला।]

भगवान् ने उसे धर्म का उपदेश दिया। चौरासी हजार प्राणियों को धर्म का ज्ञान हुआ। देवपुत्र भी स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हो मुस्करा कर चला गया।

जो कुछ जानने योग्य है (उन) सबको जानने से विमोक्षान्तिक-ज्ञान[5] के अनुसार **बुद्ध** हैं। अथवा चूँकि चार-सत्यों को अपने भी जाने और दूसरे सत्वों को भी जतलाये, इसलिये ऐसे कारणों से भी **बुद्ध** हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए "(उनसे) सत्य जाने गये, इसलिए बुद्ध

---

१. उपनिश्रय सम्पत्ति कहते हैं, त्रिहेतुक प्रतिसन्धि आदि मार्ग-फल की प्राप्ति के प्रधान कारण को।

२. राजा की गर्गरा नामक रानी द्वारा खोदवाने के कारण उस पुष्करणी का नाम 'गर्गरा' पड़ा था।

३. "यह धर्म का उपदेश कर रहे हैं"—ऐसा सोचकर धर्मश्रवण के विचार से निमित्त को [ग्र]हण किया।

४. विमानवत्थु ५, १।

५. सर्वज्ञ-ज्ञान के साथ सम्पूर्ण ज्ञान का यह नाम है।

हैं, सत्वों को जतलाने से बुद्ध हैं[1]।" ऐसे आये हुए **निद्देस** या **पटिसम्भिदा** के सारे नय (= ढंग) का विस्तार करना चाहिये।

भगवान्, यह (सारे शील आदि) गुणों से विशिष्ट, सब प्राणियों में उत्तम, गौरवणीय के गौरव के लिए कहा जाने वाला उनका नाम है। इसीलिए पुराने लोगों ने कहा है—

भगवाति वचनं सेट्ठं भगवाति वचनमुत्तमं।
गरुगारवयुत्तो सो भगवा तेन वुच्चति॥

['भगवान्' श्रेष्ठ शब्द है, 'भगवान्' उत्तम शब्द है। वह गौरवणीय के योग्य गौरव से युक्त हैं, इसलिये भगवान् कहे जाते हैं।]

या, नाम चार प्रकार का होता है–(१) आवस्थिक (२) लिङ्गिक (३) नैमित्तिक (४) अधीत्य-समुत्पन्न। अधीत्य समुत्पन्न लौकिक व्यवहार से इच्छानुसार रखा हुआ नाम कहा जाता है। बछड़ा, दम्य (=सिखाया जाने वाला बैल=निकसाने योग्य बैल), बैल आदि ऐसे (नाम) **आवस्थिक हैं**। दण्डी (=दण्डा धारण करने वाला), छत्री (=छाता धारण करने वाला), शिखी (= शिखा-युक्त), करी (= हाथी) आदि ऐसे (नाम) **लिङ्गिक** हैं। त्रैविद्य, षड्भिज्ञ आदि ऐसे (नाम) **नैमित्तिक** हैं। श्रीवर्द्धन आदि ऐसे शब्द के अर्थ का विचार न करके रखा गया (नाम) **अधीत्य समुत्पन्न** हैं।

यह 'भगवान्' नाम नैमित्तिक है। यह न **महामाया** से, न **शुद्धोदन** महाराज से, न अस्सी हजार-(८०,०००) ज्ञाति वालों से रखा गया है और न तो **शक्र** (= इन्द्र), **सन्तुषित** आदि विशेष देवताओं से। धर्मसेनापति (=सारिपुत्र) ने कहा भी है—"भगवान्, यह नाम न तो माता द्वारा रखा गया है·········यह सर्वज्ञ ज्ञान के साथ सम्पूर्ण ज्ञान वाले भगवान् बुद्ध का बोधि (–वृक्ष) के नीचे सर्वज्ञ ज्ञान की प्राप्ति के साथ प्रत्यक्ष सिद्ध प्रज्ञप्ति है, जो कि भगवान् हैं[2]।"

जो नाम गुण को निमित्त करके रखा गया है, उन गुणों को प्रकाशित करने के लिये इस गाथा को कहते हैं—

भागी भजी भागि विभत्तवा इति,
अकासि भग्गन्ति गरूति भाग्यवा।
बहूहि ञायेहि सुभावितत्तनो,
भवन्तगो सो भगवा' ति वुच्चति॥

[ऐश्वर्यवान् (=भगी), (एकान्त शयनासन आदि के) सेवी (= भजी), (अर्थ-रस, धर्म-रस, विमुक्ति-रस को पाने वाले) भागी, (लौकिक और लोकोत्तर धर्मों को) विभक्त करने वाले, (राग आदि को) भग्न (= नाश) कर दिये हुए भाग्यवान्, (काय-भावना आदि) अनेक भावना के क्रम से भली-भाँति भावना किये, भव के अन्त (= निर्वाण) तक पहुँचे, वह गुरु 'भगवान्' कहे जाते हैं।]

निद्देस[3] में कहे गये के अनुसार ही यहाँ उन-उन पदों का अर्थ जानना चाहिये।

---

१. महानिद्देस ४५७। और पटिसम्भिदामग्ग १।

२. महानिद्देस १४३।

३. देखिये, महानिद्देस १४२।

यह दूसरा (भी) ढंग है—

भाग्यवा भग्गवा युत्तो भगेहि च विभत्तवा ।
भत्तवा वन्तगमनो भवेसु भगवा ततो ॥

[वह भाग्यवान्, (राग आदि क्लेशों के) भग्नकारक (=नाशक), भग (= ऐश्वर्य आदि)-धर्मों से युक्त, विभक्त करने वाले, सेवी, भवों से वमन करते हुए गमन करने वाले हैं, इसलिये 'भगवान्' हैं ।]

"वण्णागमो वण्णविपरियियो" (= वर्ण का आगम, वर्ण का उलटना) आदि निरुक्ति के लक्षण को लेकर अथवा व्याकरण से पृषोदर † आदि के प्रक्षेप-लक्षण को लेकर, चूँकि लौकिक, लोकोत्तर सुख को उत्पन्न करने वाले दान, शील आदि के पार गया हुआ इनका भाग्य है, इसलिये भाग्यवान् कहने के स्थान पर भगवान् कहा जाता है—ऐसा जानना चाहिये ।

चूँकि लोभ, द्वेष, मोह, विपरीत-मनस्कार (=उल्टे प्रकार से मन में करना), अ-ह्री (=निलर्ज्ज), अपत्रपा (=संकोच रहित), क्रोध, उपनाह (=बँधा हुआ वैर), म्रक्ष (=अमरख), निष्ठुरता, ईर्ष्या (=डाह), मात्सर्य (=कंजूसी), माया (=ठगबनीजी), शठता‡, जड़ता, प्रतिहिंसा (=सारम्भ), मानातिमान (=अधिक घमण्ड), मद के मारे प्रमाद, तृष्णा, अविद्या, तीन प्रकार के अकुशल-मूल,[1] दुश्चरित[2], संक्लेश[3], मल[4], विषम[5], संज्ञा[6], वितर्क, प्रपञ्च[7], चार प्रकार के (शुभ

‡ पूर्ण गाथा इस प्रकार है—

'वण्णागमो वण्ण विपरियियो च
द्वे चापरे वण्णविकार नासा ।
धातुस्स अत्थातिसयेन योगो
तदुच्चते पञ्च विधन्निरुतिं ॥'
—मोग्गल्लान पञ्चिका सूत्र ४७ ।

—यही सारस्वत (२, ४) और काशिका (३, १०९) में इस प्रकार है—

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौचापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

भावार्थ—वर्ण का आगम और वर्ण-विपर्यय अर्थात् पूर्व उच्चारित वर्ण के स्थान में एक वर्ण का उच्चारण और दूसरे वर्ण के स्थान में पूर्व वर्ण का उच्चारण, वर्णों का विकार और वर्णों का नाश, तथा धातु का अतिशय अर्थात् धातु के अर्थ की अधिकता से जो रूप होता है, वह योग है, इसीलिये 'निरुक्ति' पाँच प्रकार की कही गई है ।

† 'वर्ण नाश, पृषोदरे' [सारस्वत २, ५] अथवा 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' [काशिका ६, ३, १०९] से 'पृषत्+उदरः'में तकार का लोप करने से 'पृषोदरः' सिद्ध होता है । देखिये, मोग्गल्लान पञ्चिका सूत्र ४७ ।

१. लोभ, द्वेष, मोह-ये तीन अकुशलमूल हैं ।

२. कायदुश्चरित, वचीदुश्चरित और मनोदुश्चरित—ये तीन दुश्चरित हैं ।

३. तृष्णा आदि संक्लेश ।

४. राग-मल, द्वेष-मल, मोह-मल ।

५. वही, राग आदि विषम भी हैं ।

६. काम-संज्ञा, व्यापाद संज्ञा और विहिंसा संज्ञा ।

७. तृष्णा, दृष्टि और मान-ये तीन प्रपञ्च हैं ।

संज्ञा आदि) विपर्यास[८], आश्रव[९], ग्रन्थ[१०], ओघ[११], योग, अगति[१२], तृष्णा-उपदान, पाँच चेतो-खिल[१३], विनिबन्ध[१४], नीवरण, (रूपाभिनन्दन आदि पाँच प्रकार के) अभिनन्दन, छः विवाद के मूल,[१५] तृष्णा-काय,[१६] सात अनुशय,[१७] आठ मिथ्यात्व,[१८] नव तृष्णा मूलक,[१९] दस अकुशल कर्म-पथ,[२०] बासठ मिथ्या-दृष्टियाँ,[२१] एक सौ आठ तृष्णा-विचरित के भेद,[२२] सभी प्राणियों के दर्द (=दरथ), पीड़ा, लाख क्लेश, अथवा, संक्षेप में (१) क्लेश (२) स्कन्ध (३) अभिसंस्कार[२३] (४) देवपुत्र[२४] (५) मृत्यु—इन पाँच मारों को नष्ट कर दिये, इसलिये इन विघ्नों को नष्ट करने से 'भग्नवान्' कहने के स्थान पर 'भगवान्' कहा जाता है। यहाँ कहा गया है—

भग्गरागो भग्गदोसो भग्गमोहो अनासवो।
भग्गास्स पापका धम्मा भगवा तेन वुच्चति ॥

[(वे) राग, द्वेष, मोह को भग्न कर दिये हैं, आश्रव रहित हैं तथा उनके सभी पाप-धर्म भग्न हो गये हैं, इसलिये भगवान् कहे जाते हैं।]

---

८. अनित्य में नित्य, दुःख में सुख, अनात्मा में आत्मा और अशुभ में शुभ की संज्ञा यह चार प्रकार का विपर्यास है।

९. कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्टाश्रव और अविद्याश्रव।

१०. अभिध्या (=लोभ) काय-ग्रन्थ, व्यापाद काय-ग्रन्थ, शीलव्रत परामर्श काय-ग्रन्थ। और यही सत्य है और सब झूठ ऐसा अभिनिवेश-कायग्रन्थ।

११. ओघ और योग आश्रव के समान ही हैं।

१२. छन्द, द्वेष, मोह और भय यह चार अगति हैं।

१३. "शास्ता मे सन्देह करता है, धर्म में सन्देह करता है, संघ में सन्देह करता है, शिक्षा में सन्देह करता है, सब्रह्मचारियों पर क्रोध करता है" ये पाँच चेतो-खिल (=चित्त के काँटे) हैं। देखिय हिन्दी दीघ नि० पृष्ठ २९२।

१४. देखिये हिन्दी दीघ नि० पृष्ठ २९२।

१५. हिन्दी दीघ नि० पृष्ठ २९४।

१६. हिन्दी दीघ नि० पृष्ठ २९३।

१७. हिन्दी दीघ नि० पृष्ठ २९६।

१८. वही पृष्ठ २९६।

१९. वही पृष्ठ ३११।

२०. वही पृष्ठ ३००।

२१. दीघ निकाय पृष्ठ ५ से १३ तक।

२२. रूप तृष्णा आदि के संयोगसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव तृष्ण भीतरी (=आध्यात्मिक), बाहरी (=बाह्य) तथा अतीत, अनागत, वर्तमान् कुल ६ + ६ + ६ = १८ + १८ = ३६ + ३६ + ३६ = १०८ तृष्णाये हुईं। विस्तारपूर्वक जानने के लिये देखिये, विभङ्गप्पकरण ६ और सम्मोह-विनोदनी में "वेदना पच्चया तण्हा" की व्याख्या।

२३. अभिसंस्कार तीन हैं—(१) पुण्याभिसंस्कार (२) अपुण्याभिसंस्कार (३) आनेंजाभिसंस्कार।

२४. वशवर्ती देवलोक में रहनेवाला देवपुत्र-मार।

भाग्यवान् होने से उनकी अनेक-सौ पुण्यों (से उत्पन्न महापुरुष के) लक्षण को धारण करने वाले रूप-काय (=शरीर) की सम्पत्ति बतलाई गयी है। द्वेष के भग्न होने से धर्म-काय (=ज्ञान) की सम्पत्ति; वैसे ही लोक के बहुत से परीक्षकों[1] का होना, गृहस्थ और प्रव्रजितों का पास आना, पास गये हुए उन (व्यक्तियों) के कायिक और मानसिक दुःख को दूर करने में समर्थ होना, आमिष-दान[2] और धर्म-दान से उपकार करना, तथा लौकिक और लोकोत्तर सुखों में लगाने की समार्थ्य बतलाई गई है।

चूँकि लोक में ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, काम, प्रयत्न—छः धर्मों में 'भग[3]' शब्द होता है, और इन्हें अपने चित्त में परम ऐश्वर्य है, या अणिमा (= शरीर को अणु-मात्र बना देना), लघिमा (= लघु-भाव) आदि[4] लोक से सम्मानित[5] सब प्रकार के (ऐश्वर्य) से परिपूर्ण हैं। वैसे ही लोकोत्तर धर्मवाले हैं, तीन लोकों में व्याप्त होने वाले यथार्थ गुणको प्राप्त किये हुए हैं, अत्यन्त परिशुद्ध (= निर्मल) यश वाले हैं, रूप-काय का दर्शन करने में लगे हुए जनों को प्रसन्नता उत्पन्न करने में समर्थ सब प्रकार से परिपूर्ण सारे अङ्गप्रत्यङ्ग की श्री (= शोभा) वाले हैं, जिस-जिस की इन्होंने अपने या दूसरे के कल्याण के लिए इच्छा और प्रार्थना (= अभिलाषा) की उस-उसके वैसे ही परिपूर्ण होने से इच्छित की पूर्ति नामक काम वाले हैं, और सारे लोक में श्रेष्ठ होने का हेतु होने वाले सम्यक् व्यायाम नामक प्रयत्न से युक्त हैं, इसलिये इन भगों (= ऐश्वर्यों) से युक्त होने से भी—इन्हें 'भग' (धर्म) हैं, इस बात से '**भगवान्**' कहे जाते हैं।

और चूँकि कुशल आदि भेदों से सब धर्मों को या स्कन्ध, आयतन, धातु, सत्य, इन्द्रिय, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि से कुशल धर्मों को, अथवा पीड़ित करने, संस्कृत होने, संतप्त करने और विनाश होने के अर्थ से दुःख आर्य-सत्य को, आयूहन (=राशि-करण), निदान (= कारण), संयोग (=उत्पत्ति), विघ्न के अर्थ से समुदय को, निःसरण (=विकास), विवेक (= अलग होना), अ-संस्कृत, अमृत के अर्थ से निरोध को, संसार-दुःख से निकलने के हेतु निर्वाण के दर्शन में आधिपत्य होने के अर्थ से मार्ग को विभक्त करने वाले हैं, विभाजन करने वाले हैं, खोलने वाले हैं, उपदेश करने वाले हैं,—कहा गया है। इसलिये 'विभक्तवान्' कहने के स्थान पर **भगवान्** कहे जाते हैं।

---

१. भगवान् के प्रहीण-द्वेष बल होने के कारण बहुत से श्रमण-ब्राह्मण परीक्षार्थ आते थे और अपने द्वेष आदि के प्रहाण का यत्न करते थे। कौशाम्बीजी ने यहाँ पर 'परिक्खकानं' के स्थान पर 'सरिक्खकानं' पाठ को युक्त कहा है, किन्तु भगवान् के समान तो कोई था ही नहीं, फिर "सदृश" शब्द कहाँ युक्त होगा ?

२. भगवान् के रूप-काय को प्रसाद-चक्षु और धर्म-काय को प्रज्ञा-चक्षु से देखकर दोनों प्रकार के दुःख शान्त हो जाते हैं, इस प्रकार वे आमिष-दान और धर्म-दान दोनों से उपकारक होते हैं।

३. "भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु" [अमर कोष] के अनुसार 'भग' शब्द अनेक धर्मों में होता है। अभिधानप्पदीपिका [३, ३, ८४४] में भी "योनि काम सिरिस्सेर धम्मुय्याम यसे भगं" कहा गया है, किन्तु यहाँ छः ही संगृहीत हैं।

४. 'आदि' शब्द से महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशितृत्व, वशित्व, यत्रकामावसायित्व (= जहाँ चाहे वहाँ रह सकना)—ये भी छः संगृहीत हैं।

५. लोक में सम्मानित आठ ऐश्वर्य हैं:—

"अणिमा महिमा लघिमा पत्ति पाकम्ममेव च।
ईसितञ्च वसितञ्च यत्थकामावसायितं॥"

और चूँकि यह (= कसिण आदि आलम्बनों के रूपावचर ध्यान वाले) दिव्य, (मैत्री आदि ध्यान वाले) ब्रह्म और (फल-समापत्ति वाले) आर्य-विहारों को, काय, चित और उपधि-विवेक (=निर्वाण) को, शून्यता, अप्रणिहित, और अनिमित्त[1] विमोक्ष को तथा अन्य लौकिक धर्मों को भजे, सेवन किये, बढ़ाये, इसलिये 'भक्तवान्' कहने के स्थान पर **भगवान्** कहे जाते हैं।

चूँकि तीनों भवों में तृष्णा रूपी गमन (= चक्कर काटना) को इन्होंने वन्त कर दिया (= उगल दिया)। इसलिये भवों में 'वन्तगमन' (= उगल कर गमन करने वाले) कहने में—भव शब्द से भकार को, गमन शब्द से गकार को और वन्त शब्द से वकार को दीर्घ करके ले **भगवान्** कहे जाते हैं। जैसे कि लोक में "मेहन (= लिङ्ग) के ख (= खाली स्थान) की माला" (= मेहनस्स खलस्स माला) कहने के स्थान पर 'मेखला' कहा जाता है।

ऐसे इन-इन कारणों से वह भगवान् अर्हत् हैं......इन-इन कारणों से भगवान् हैं—इस प्रकार बुद्ध के गुणों को स्मरण करने वाले उस (योगी) का "उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त, उस समय उसका चित्त तथागत के प्रति सीधा ही होता है।"[2]

इस प्रकार राग आदि की उत्पत्ति के अभाव से दबे हुए नीवरण और कर्मस्थान को सामने रखने से सीधा हुए चित्त वाले के, वितर्क-विचार बुद्ध-गुण की ओर झुके हुए ही प्रवर्तित होते हैं। बुद्ध के गुणों का बार-बार वितर्क करते, बार-बार विचार करते, प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति-मन वाले की प्रीति के कारण उत्पन्न होने वाली प्रश्रब्धि से कायिक और मानसिक पीड़ायें शान्त हो जाती हैं। शान्त पीड़ा वाले को कायिक भी, चैतसिक भी सुख उत्पन्न होता है। सुखी का चित्त बुद्ध के गुणों का आलम्बन होकर समाधिस्थ होता है। इस प्रकार क्रमशः एक क्षण में ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु बुद्ध-गुण की गम्भीरता से या नाना प्रकार के गुणों को बार-बार स्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है। वह बुद्ध के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ (ध्यान) बुद्धानुस्मृति ही कहा जाता है।

इस बुद्धानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। (वह) श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य की विपुलता (= आधिक्य) को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होता है। भय-भैरव को सहने वाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। उसे शास्ता के साथ रहने का विचार होता है। बुद्ध-गुणानुस्मृति के साथ रहने वाले का शरीर भी चैत्य-घर के समान पूजनीय होता है। बुद्ध-भूमि में चित्त झुकता है[3]। (शिक्षा-पदों के) उल्लंघन के योग्य बात आने पर उसे शास्ता के देखने के समान लज्जा और संकोच हो जाता है। (मार्ग-फल को) नहीं प्राप्त करते हुए सुगतिपरायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय बुद्धानुस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महानुभाव वाली बुद्धानुस्मृति में सदा पण्डित (व्यक्ति) अप्रमाद करें।]

---

१. देखिये, इक्कीसवाँ परिच्छेद।

२. अंगुत्तर नि० ६,१,९।

३. इसका भावार्थ है—बुद्ध-गुण की महानता का प्रत्यवेक्षण करने में चित्त लगता है।

धर्मानुस्मृति

धर्मानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को भी एकान्त स्थान में जाकर (अन्य आलम्बनों से) चित को खींचकर—

"स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही' ति।"

[भगवान् का धर्म स्वाख्यात है, तत्काल फलदायक है, समयानन्तर में नहीं, यहीं दिखाई देने वाला, (निर्वाण तक) पहुँचाने वाला और विज्ञों से अपने आपही जानने योग्य है।]

—ऐसे **पर्याप्ति-धर्म**[१] और नव प्रकार के लोकोत्तर धर्म[२] के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए।

स्वाक्खातो, इस पद में पर्याप्ति-धर्म भी संगृहीत हो जाता है किन्तु दूसरों में लोकोत्तर धर्म ही। पर्याप्ति-धर्म आरम्भ, मध्य और अन्त में कल्याणकारक होने तथा अर्थ, व्यञ्जन सहित सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है। भगवान् जिस एक गाथा का भी उपदेश करते हैं, वह धर्म के सब ओर से सुन्दर होने से पहले पाद (=चरण) से आरम्भ में कल्याणकारक दूसरे और तीसरे पाद से मध्य में कल्याणकारक तथा अन्तिम पाद से अन्त में कल्याणकारक होती है। एक अनुसन्धि वाला सूत्र निदान[३] से आदि में कल्याणकारक, निगमन[४] से अन्त में कल्याणकारक और शेष से मध्य में कल्याणकारक होता है। नाना अनुसन्धि वाला सूत्र पहली अनुसन्धि से आरम्भ में कल्याणकारक, अन्तिम से अन्त में कल्याणकारक और शेषों से मध्य में कल्याणकारक होता है। और भी—निदान, उत्पत्ति[५] सहित होने से आरम्भ में कल्याणकारक, विनेय (=विनीत करने के योग्य) जनों के अनुरूप अर्थ के विपरीत न होने तथा हेतु और उदाहरण[६] से युक्त होने से मध्य में कल्याणकारक एवं सुनने वालों को श्रद्धा उत्पन्न करने से अन्त में कल्याणकारक होता है।

सम्पूर्ण भी शासन-धर्म अपने उपकारक शील से आरम्भ में कल्याणकारक है, शमथ-विपश्यना और मार्ग फल से मध्य में कल्याणकारक है तथा निर्वाण से अन्त में कल्याणकारक है। या शील, समाधि से आरम्भ में कल्याणकारक है, विपश्यना-मार्ग से मध्य से कल्याणकारक है और फल-निर्वाण से अन्त में कल्याणकारक है। अथवा बुद्ध के सम्यक् सम्बुद्ध होने से आरम्भ में

---

१. पर्याप्ति-धर्म कहते हैं दुःख-रहित परमशान्ति की प्राप्ति के लिये बतलाये गये मार्ग को, अथवा यों कहिये कि सारा बुद्ध-वचन ही पर्याप्ति-धर्म है।

२. चार आर्य-मार्ग, चार आर्य-फल और निर्वाण—ये नव प्रकार के लोकोत्तर धर्म हैं।

३. "एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार करते थे।" ऐसे निदान से।

४. "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओं ने भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया।" "यह जो कहा—'छः तृष्णा-कार्यों को जानना चाहिये'—सो इसीलिये कहा।" आदि इस प्रकार के निगमन से।

५. जिस व्यक्ति या कारण से सूत्र का उपदेश हुआ हो, वह उसका उत्पत्ति-कारण है।

६. "सो किस हेतु से ?" "जैसे भिक्षुओ, पुरुष बे-स्थान के मार्ग पर जाते हुए एक ऐसे महान् जल-अर्णव को पाये" इस प्रकार हेतु और उदाहरण से युक्त।

कल्याणकारक है, धर्म की सुधर्मता से मध्य में कल्याणकारक है और संघ के सुप्रतिपन्न होने से अन्त में कल्याणकारक है। या उसे सुनकर उसके लिये प्रतिपन्न हुये (व्यक्ति) को परम ज्ञान (=बुद्धत्व) की प्राप्ति होने से आरम्भ में कल्याणकारक है, प्रत्येक-बोधि से मध्य में कल्याणकारक है और श्रावक-बोधि से अन्त में कल्याणकारक ।

यह सुना जाता हुआ नीवरणों को दबाने से, श्रवण से भी कल्याण को ही लाता है, इसलिये आरम्भ में कल्याणकारक है, प्रतिपन्न होते हुए शमथ-विपश्यना के सुख को लाने से, प्रतिपत्ति[१] से भी कल्याण को ही लाता है, इसलिए मध्य में कल्याणकारक है और वैसे प्रतिपन्न हुए को, प्रतिपत्ति फल के समाप्त होने पर तादि-भाव[२] को लाने से, प्रतिपत्ति के फल से भी कल्याण को लाता है, इसलिये अन्त में कल्याणकारक है। ऐसे आरम्भ, मध्य और अन्त में कल्याणकारक होने से **स्वाख्यात्** है।

भगवान् धर्म का उपदेश देते हुए, जो शासन-ब्रह्मचर्य[३] और मार्ग-ब्रह्मचर्य[४] का प्रकाशन करते हैं, नाना ढंग से बतलाते हैं, वह यथानुरूप अर्थ सम्पत्ति से अर्थ सहित और व्यञ्जन की सम्पत्ति से व्यञ्जन सहित होता है । संक्षेप से कहने, प्रकाशित करने, विस्तारपूर्वक कहने, बाँटने, खोल देने प्रज्ञप्ति, अर्थ-पद से युक्त होने से अर्थ सहित और अक्षर, पद, व्यञ्जन, आकार, निरुक्ति, निर्देश की सम्पत्ति से व्यञ्जन सहित होता है । अर्थ और प्रतिवेध की गम्भीरता से अर्थ सहित तथा धर्म और देशना (= धर्मोपदेश) की गम्भीरता से व्यञ्जन सहित होता है । अर्थ और प्रतिभान प्रतिसम्भिदा के विषय से अर्थ सहित तथा धर्म और निरुक्ति प्रतिसम्भिदा के विषय से व्यञ्जन सहित होता है । पण्डितों द्वारा जानने योग्य होने से परीक्षक[५] लोगों को प्रसन्न करने वाला अर्थ सहित और श्रद्धा करने के योग्य होने से लौकिक-जनों को प्रसन्न करने वाला, व्यञ्जन सहित होता है । गम्भीर अभिप्राय वाला होने से अर्थ सहित और सरल शब्दों के होने से व्यञ्जन सहित होता है । लाकर मिलाने के अभाव के कारण सम्पूर्ण होने से परिशुद्ध होता है । और भी,—प्रतिपत्ति से ज्ञान की प्राप्ति के प्रगट होने से अर्थ सहित और पर्याप्ति-धर्म से आगम के प्रगट होने से व्यञ्जन सहित होता है । शील आदि पाँच धर्म-स्कन्धों[६] से युक्त होने से सर्वांश में परिपूर्ण और क्लेश रहित होने से (संसार के दुःखों से) छुटकारा पाने के लिये प्रवर्तित और लोकआमिष की चाह रहित होने से परिशुद्ध होता है । ऐसे अर्थ और व्यञ्जन सहित सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से **स्वाख्यात्** है।

अथवा, अर्थ के उलट-फेर न होने से भली प्रकार सुन्दर ढंग से कहा गया है, इसलिए **स्वाख्यात्** है। जैसा कि अन्य तीर्थकों (=दूसरे मतावलम्बियों) के धर्म का अर्थ विघ्नकारक कहे गये धर्मों के विघ्नकारक न होने तथा निर्वाण तक पहुँचाने के योग्य कहे गये धर्मों के निर्वाण

---

१. प्रिय-अप्रिय आलम्बनों में अनुलिप्त न होने को तादि-भाव कहते हैं ।

२. धर्मानुधर्म को देखते हुए उसपर अनुगमन करने को प्रतिपत्ति कहते हैं ।

३. शील, समाधि, प्रज्ञा से युक्त बुद्धवचन ।

४. अर्हत्-मार्ग ।

५. कुशल-धर्मों के खोजने वालों को—टीका ।

६. शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति और विमुक्ति ज्ञान दर्शन—ये पाँच शील आदि धर्मस्कन्ध कहे जाते हैं ।

तक न पहुँचाने से बदलता जाता है, उससे वे दुर्ख्यात (=भली प्रकार न कहे गये) धर्म ही होते हैं, "किन्तु ये धर्म विघ्नकारक हैं, ये धर्म निर्वाण तक पहुँचाने वाले हैं" ऐसे कहे गये धर्मों के वैसा ही होने से भगवान् के धर्म का वैसा उलट-फेर नहीं होता है। इस प्रकार पर्याप्ति धर्म **स्वाख्यात्** हैं।

लोकोत्तर-धर्म निर्वाण के, अनुरूप प्रतिपत्ति और प्रतिपदा के अनुरूप निर्वाण के कहे जाने के कारण **स्वाख्यात्** है। जैसे कहा गया है—"उन भगवान् ने श्रावकों को निर्वाण-गामिनी-प्रतिपदा (=मार्ग) ठीक-ठीक बतलाई है। निर्वाण और उसका मार्ग बिल्कुल अनुकूल है। जैसे **गंगा** की धारा **यमुना** में गिरती है और (गिरकर) एक हो जाती है, उसी तरह श्रावकों को उन भगवान् की बतलाई निर्वाण-गामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मेल खाती है[1]।

आर्य-मार्ग दो अन्तों[2] को छोड़कर मध्यम-प्रतिपदा है और मध्यम प्रतिपदा कहे जाने से **स्वाख्यात्** है। श्रामण्य-फल क्लेशों से बिल्कुल शान्त होते ही हैं, इसलिये भली प्रकार क्लेशों के शान्त होने से **स्वाख्यात्** हैं। निर्वाण शाश्वत, अमृत, त्राण, लेण (=रक्षक) आदि स्वभाव वाला है, अतः शाश्वत आदि स्वभाव के अनुसार कहे जाने से **स्वाख्यात्** है। ऐसे लोकोत्तर-धर्म भी स्वाख्यात् है।

सन्दिट्ठिको (=सांदृष्टिक) यहाँ, आर्य-मार्ग अपने सन्तान (=चित्त प्रवृत्ति) में राग आदि को दूर करते हुए आर्य-पुद्गल द्वारा स्वयं देखने योग्य है, इसलिये सांदृष्टिक है। जैसे कहा गया है—"ब्राह्मण! राग से अभिभूत और ढँका हुआ चित्त वाला रागी (व्यक्ति) अपनी पीड़ा के लिये भी सोचता है, चैतसिक भी दुःख-दौर्मनस्य का भी अनुभव करता है। राग के प्रहीण हो जाने से अपनी ही पीड़ा के लिए सोचता है, न दूसरे की पीड़ा के लिए सोचता है और न तो दोनों की पीड़ा के लिए सोचता है तथा न चैतसिक दुःख दौर्मनस्य का अनुभव करता है। ब्राह्मण! ऐसे भी सांदृष्टिक धर्म होता है[3]।

नव प्रकार का भी लोकोत्तर धर्म जिस-जिस (व्यक्ति) को प्राप्त होता है, उस उस (व्यक्ति) को दूसरे पर विश्वास करने को छोड़ कर प्रत्यवेक्षणज्ञान से स्वयं देखने योग्य है, इसलिये सांदृष्टिक है।

अथवा, प्रशस्त-दृष्टि संदृष्टि कही जाती है, और संदृष्टि से उसे जीतता है, इसलिये सांदृष्टिक है। वैसा ही यहाँ आर्य-मार्ग से भली प्रकार युक्त, आर्य-फल (की प्राप्ति) का कारण हुई, निर्वाण के आलम्बन वाली संदृष्टि से क्लेशों को जीतता है। इसलिये, जैसे कि रथ से जीतने वाला रथिक कहा जाता है, ऐसे ही नव प्रकार के लोकोत्तर धर्म को संदृष्टि से जीतने से सांदृष्टिक है।

अथवा, दृष्ट, दर्शन कहा जाता है और दृष्ट ही संदृष्ट है। इसका अर्थ है दर्शन तथा संदृष्ट के योग्य होने से सांदृष्टिक है। लोकोत्तर धर्म ही भावना के ज्ञान और साक्षात्कार के ज्ञान के अनुसार दिखाई देते हुए ही संसार-चक्र के भय को रोकता है। इसलिये, जैसे वस्त्र के योग्य होने से वस्त्रिक (=वत्थिक) कहा जाता है, ऐसे ही संदृष्ट के योग्य होने से सांदृष्टिक है।

---

१. दीघ नि० २,६।

२. शाश्वत-उच्छेद-दृष्टि, काम-सुख में लगे रहना-अपने को तपाना आदि ऐसे अन्तों को।

३. अंगुत्त नि० ३,१,३।

अपने फल को देने के लिये इसे काल नहीं है, इसलिये अकाल है, और अकाल ही अकालिक है। पाँच-सात दिन आदि बिता कर फल नहीं देता है, किन्तु अपने प्रवर्तित होने के समयानन्तर ही फलदायक कहा गया है।

अथवा, अपने फल को देने में प्रकृष्ट (=दीर्घ) काल लगाता है, इसलिये कालिक है। वह है कौन? लौकिक कुशल धर्म। किन्तु यह समयान्तर में फल देने से कालिक नहीं है, अतः **अकालिक** है। यह मार्ग के ही प्रति कहा गया है।

"आओ, इस धर्म को देखो" ऐसे "आओ, देखो" विधि के योग्य होने से **एहिपस्सिक** है। क्यों यह उस विधि के योग्य है? विद्यमान् और परिशुद्ध होने से। क्योंकि खाली मुट्ठी में, "हिरण्य या सोना है" कह कर भी "आओ, इसे देखो" नहीं कहा जा सकता। क्यों? अ-विद्यमान् होने से। और विद्यमान् भी गूथ या मूत्र को उसके सौंदर्य को प्रकाशित करने से, चित्त को हर्षोत्फुल्ल करने के लिये "आओ, इसे देखो" नहीं कहा जा सकता, वह तो तृणों या पत्तों से ढँकने लायक ही होता है। क्यों? अपरिशुद्ध होने से। किन्तु यह नव प्रकार का भी लोकोत्तर धर्म स्वभाव से विद्यमान्, बादल हटे आकाश में पूर्ण चन्द्र-मण्डल और पीले रंग के कम्बल पर फेंके हुये जाति-मणि के समान परिशुद्ध है, इसलिये विद्यमान् और परिशुद्ध होने के कारण "आओ, देखो" विधि के योग्य होने से **एहिपस्सिक** है।

चित्त में लाने के योग्य होने से **ओपनेय्यिक** है। यह यहाँ विनिश्चय है—चित्त में लाना (=उपनयन) उपनयन है। जलते हुए वस्त्र या शिर की उपेक्षा करके भी भावना से अपने चित्त में लाने योग्य होने से ओपनयिक है और ओपनयिक ही ओपनेय्यिक है। यह संस्कृत-लोकोत्तर धर्म (=मार्ग फल) में जुड़ता है, किन्तु असंस्कृत (=निर्वाण) अपने चित्त को लाने योग्य होने से ओपनेय्यिक है। साक्षात्कार करने के अनुसार उससे जुड़ने के योग्य है—यह अर्थ है।

अथवा, लेकर निर्वाण को जाता है, इसलिये आर्य-मार्ग उपनेय्य है। साक्षात्कार करने के योग्य ले जाने से इसका फल निर्वाण-धर्म उपनेय्य है और उपनेय्य ही **ओपनेय्यिक** है।

पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि, (=विज्ञों से अपने आप ही जानने योग्य है), सभी उद्घटितज्ञ[1] आदि विज्ञों द्वारा अपने-अपने में जानने योग्य है कि 'मैंने मार्ग की भावना की' 'फल प्राप्त हो गया' 'निरोध (=निर्वाण) का साक्षात्कार हो गया'। उपाध्याय के मार्गों की भावना करने से शिष्य के क्लेश नहीं दूर होते हैं। वह उसकी फल-समापत्ति से सुख-पूर्वक नहीं विहरता है और न तो उसके द्वारा साक्षात्कार किये गये निर्वाण का साक्षात्कार करता है। इसलिये इसे दूसरे के शिर पर (रखे) आभरण के समान नहीं समझना चाहिये, किन्तु यह अपने चित्त में ही देखने योग्य है, विज्ञों से अनुभव करने योग्य है—ऐसा कहा गया है। किन्तु मूर्खों का यह विषय नहीं है।

और भी यह धर्म स्वाख्यात है। क्यों? सांदृष्टिक होने से। सांदृष्टिक है अकालिक होने से। अकालिक है "आओ, देखो" के होने से और जो "आओ, देखो" (=एहिपस्सिक) होता है, वह ओपनेय्यिक होता है।

उसके ऐसे स्वाख्यात् होने आदि गुणों का अनुस्मरण करनेवाले उस (योगी) का—"उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका

१. पुद्गल चार प्रकार के होते हैं (१) उद्घटितज्ञ (२) विपञ्चितज्ञ (३) नेय्य (४) पदपरम। उन्हें जानने के लिये देखिये पुग्गल पञ्ञत्ति और अंगुत्तर नि० ४, ४, ३।

चित्त धर्म के प्रति सीधा ही होता है[1]।" पूर्व के अनुसार ही दबे हुए नीवरण वाले को एक क्षण में ही ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं। किन्तु धर्म के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों को बार-बार स्मरण करने से लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है। वह धर्म के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ (ध्यान) धर्मानुस्मृति ही कहा जाता है।

इस धर्मानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु "ऐसे निर्वाण तक पहुँचाने वाले धर्म के उपदेशक शास्ता को इस बात से युक्त पूर्वकाल में नहीं देखता हूँ, और न तो इस समय ही अतिरिक्त उस भगवान् के[2]" इस प्रकार धर्म के गुणों को देखने से ही शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। (वह) श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद बहुल होता है। भय-भैरव को सहनेवाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। धर्म के साथ रहने का विचार होता है। धर्म-गुणानुस्मृति के साथ रहने वाले का शरीर भी चैत्य-घरके समान पूजनीय होता है। अनुत्तर धर्म की प्राप्ति के लिए चित्त झुकता है। (शिक्षापदों के) उल्लंघन के योग्य बात आने पर उसे धर्म की सुधर्मता को स्मरण करते हुए लज्जा और संकोच हो आता है। (मार्ग-फल को) नहीं प्राप्त करते हुए सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय धम्मानुस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महानुभाव वाली धर्मानुस्मृति में पण्डित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

सङ्घानुस्मृति

संघानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को भी एकान्त स्थान में जाकर (अन्य आलम्बनों से) चित्त को खींच कर—

"सुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदं चत्तारि पुरिस-युगानि अट्ठपुरिसपुग्गला, एस भगवतो सावकसंघो, आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिनेय्यो, अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा'ति।"

[भगवान् का श्रावक (= शिष्य) संघ सु-मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक संघ सीधे मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक-संघ न्याय मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक-संघ उचित मार्ग पर चल रहा है, जो कि यह चार-युगल और आठ-पुरुष=पुद्गल हैं, यही भगवान् का श्रावक-संघ है, वह आह्वान करने के योग्य है, पाहुन बनाने के योग्य है, दान देने के योग्य है, हाथ जोड़ने के योग्य है और लोक के लिये पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र है।]

—ऐसे आर्य-संघ के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये। **सुपटिपन्नो**, भली प्रकार से प्रतिपन्न। उचित, नहीं रुकने वाले, सीधे लेकर (निर्वाण की ओर) जाने वाले, अ-विरुद्ध और धर्मानुधर्म के मार्ग पर चल रहा है—ऐसा कहा गया है। भगवान् के उपदेश और अनुशासन की सत्कार-पूर्वक सुनने से श्रावक कहे जाते हैं, श्रावकों का संघ ही **सावक-संघो** है। (आर्य) शील और (आर्य) दृष्टि के समान होने से एकत्र हुआ श्रावक-समूह—अर्थ है। चूँकि वह प्रतिपदा ऋजु, अ-वंक, अ-कुटिल, अ-जृम्भ, आर्य और न्याय भी कही जाती है, तथा अनुरूप होने से

१. अंगुत्तर नि० ६,१, ९।
२. दीघ नि० २, ६।

सामीचि भी कही जाती है, इसलिये उस पर चलने वाला आर्य-संघ **उजुपटिपन्नो, ञायपटिपन्नो, सामीचिपटिपन्नो** भी कहा गया है।

यहाँ, जो मार्ग-प्राप्त हैं, वे सम्यक् प्रतिपत्ति से युक्त होने से सुमार्ग पर चल रहे हैं। जो फल-प्राप्त हैं, वे सम्यक् प्रतिपदा से प्राप्त करने योग्य की प्राप्ति से अतीत की प्रतिपदा के अनुसार सुमार्ग पर चल रहे हैं—ऐसा जानना चाहिये।

और भी, सुन्दर ढंग से कहे गये धर्म और विनय में किये गये अनुशासन के अनुसार प्रतिपन्न होने से भी, अ-विरुद्ध प्रतिपदा पर चलने से भी **सुपटिपन्नो** (= सुप्रतिपन्न) है। दो अन्तों को त्याग कर मध्यम-प्रतिपदा (= मार्ग) पर चलने और काय, वाक्, मन के वंक, कुटिल, जृम्भ के दोष का प्रहाण करने के लिए प्रतिपन्न होने से **उजुपटिपन्नो** (=ऋजु प्रतिपन्न) है। न्याय निर्वाण कहा जाता है, उसके लिये प्रतिपन्न होने से **ञायपटिपन्नो** (= न्याय प्रतिपन्न) है। जैसे प्रतिपन्न हुए सामीचि-कर्म (= आदर-सत्कार और सेवा-टहल करना) के योग्य होते हैं। वैसे प्रतिपन्न होने से **सामीचिपटिपन्नो** (सामीचि प्रतिपन्न) हैं।

यदिदं, जो ये। **चत्तारि पुरिसयुगानि,** जोड़े के अनुसार प्रथम मार्गस्थ और फलस्थ यह एक जोड़ा है—ऐसे चार पुरुष-युग्म (= जोड़े) होते हैं। **अट्ठपुरिसपुग्गला,** पुरुष-पुद्गल के अनुसार एक प्रथम मार्गस्थ और एक फलस्थ—इस प्रकार आठ ही पुरुष-पुद्गल होते हैं। और यहाँ, पुरुष या पुद्गल—इन शब्दों के एक ही अर्थ हैं। यह विनेय (= विनीत करने योग्य) लोगों के अनुसार कहा गया है।

एस भगवतो सावकसंघो, जो ये जोड़े के अनुसार चार पुरुष-युग्म और अलग-अलग करके आठ पुरुष-पुद्गल हैं—यह भगवान् का श्रावक संघ है।

आहुनेय्यो आदि शब्दों में,—लाकर देने योग्य होने से 'आह्वान' कहा जाता है। दूर से भी लाकर शीलवानों को देने योग्य—अर्थ है। चार प्रत्ययों का यह नाम है। उसे महाफलवान् करने से उस आह्वान (=चार-प्रत्यय) को ग्रहण करने के योग्य होने से आह्वानीय है।

अथवा, दूर से भी आकर सारी सम्पत्ति को भी यहाँ देना योग्य है, इसलिये आह्वानीय है। या शक्र (=इन्द्र) आदि के भी आह्वान के योग्य है, इसलिये आह्वानीय है।

जो यह ब्राह्मणों का आह्वानीय अग्नि है, जहाँ देने से महा-फल होता है, ऐसी उनकी लब्धि (= मत) है। यदि दान के महाफलवान् होने से आह्वानीय है, तो संघ ही आह्वानीय है, क्योंकि संघ में दान किया हुआ महाफलवान् होता है। जैसे कहा है—

यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
एकञ्च भावितत्तानं महुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यञ्चे वस्ससतं हुतं ॥[1]

[यदि प्राणी सौ वर्ष तक वन में अग्नि परिचरण (= आग की सेवा = अग्निहोत्र) करे और यदि परिशुद्ध मन वाले एक (पुरुष) को एक मुहूर्त ही पूजे; तो सौ वर्ष के हवन से यह पूजा ही श्रेष्ठ है।]

दूसरे निकायों[2] के 'आह्वानीय' और यहाँ के 'आह्वानेय्य' शब्द का अर्थ एक ही है। इनमें व्यञ्जन मात्र का ही कुछ अन्तर है इस प्रकार **आहुनेय्यो** है।

१. धम्मपद ८,८।
२. सर्वास्तिवाद-निकाय में—टीका।

पाहुनेय्यो, पाहुन कहा जाता है दिशा-विदिशा से आये हुए प्रिय-मनाप ज्ञाति-मित्र के लिये सत्कार पूर्वक तैयार किया गया आगन्तुक दान। उसे भी छोड़, वे वैसे पाहुन संघ को ही देने योग्य हैं, क्योंकि पाहुन को ग्रहण करने के योग्य संघ के समान (दूसरा कोई) पाहुना नहीं है। वैसा ही यह संघ एक बुद्धान्तर के बीत जाने पर विपक्षी धर्मों से अमिश्रित और प्रिय-मनाप भाव को करने वाले धर्मों से युक्त दिखाई देता है। ऐसे पाहुन को देना उचित है और (वही) पाहुन को ग्रहण करने के योग्य भी है, इसलिये पाहुनेय्य है। किन्तु जिनके (ग्रन्थों में) **पाहवनीय** पालि पाठ है, उनके (लिये) चूँकि संघ सत्कार करने के योग्य है, इसलिये सबसे पहले लाकर यहाँ देना योग्य होने से **पाहवनीय** है। या सब प्रकार से आह्वान के योग्य है, इस-लिये पाहवनीय (= पाह्वनीय) है। वह यहाँ उसी अर्थ से **पाहुनेय्यो** कहा जाता है।

परलोक में विश्वास करके देने योग्य दान दक्षिणा कहा जाता है। (वह) उस दक्षिणा के योग्य है या दक्षिणा का हितकारक है, चूँकि उसे महाफलवान् करने से परिशुद्ध करता है, इसलिये **दक्खिणेय्यो** (= दाक्षिणेय=दक्षिणा पाने के योग्य) है। दोनों हाथों को सिर पर रख कर सारे लोक से अञ्जलि-कर्म (= प्रणाम) किये जाने के योग्य होने से **अञ्जलिकरणीयो** (= अञ्जलि करने योग्य) है।

अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्स, सारे लोक के लिए अ-सदृश पुण्य (रूपी बीज) के उगने का स्थान है। जैसे कि राजा या अमात्य (=मंत्री) के धान या जौ के उगने का स्थान "राजा के धान का खेत, राजा के जौ का खेत" कहा जाता है, ऐसे ही संघ सम्पूर्ण लोक के पुण्य (रूपी बीज) के उगने का स्थान है, क्योंकि संघ के सहारे लोक के नाना प्रकार के हित-सुख उत्पन्न करनेवाले पुण्य (रूपी बीज) उगते हैं, इसलिये संघ लोक का अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र है।

उसके ऐसे सुप्रतिपन्न होने आदि गुणों का अनुस्मरण करनेवाले उस (योगी) का—"उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका चित्त संघ के प्रति सीधा ही होता है[1]।" पूर्व के अनुसार ही दबे हुए नीवरण वाले को एक क्षण में ही ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं, किन्तु संघ के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों को बार-बार स्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है। वह संघ के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ (ध्यान) संघानुस्मृति ही कहा जाता है।

इस संघानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु संघ का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। (वह) श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होता है। भय-भैरव को सहने वाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। संघ के साथ रहने का विचार होता है। संघगुणानुस्मृति के साथ रहने वाले का शरीर एकत्र हुए संघ के उपोशथ-गृह के समान पूजनीय होता है। संघ के गुण की प्राप्ति के लिए चित्त झुकता है। उल्लंघनीय वस्तुओं के आ पड़ने पर उसे संघ को सम्मुख देखने-देखने के समान लज्जा और संकोच हो आता है। (मार्ग-फल को) नहीं प्राप्त करते हुए सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय संघानुस्सतिया सदा॥

[इसलिए ऐसी महा-अनुभाव वाली संघानुस्मृति में पंडित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

१. अंगुत्तर नि० ६,१, ९।

शीलानुस्मृति

शीलानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को एकान्त स्थान में जाकर (अन्य-आलम्बनों से) चित्त को खींचकर—"अहा ! मेरे शील—

'अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञूपसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानीति[1] ।'

[अखण्डित, निर्दोष, निर्मल, निष्कल्मष, भुजिस्व (=स्वाधीन), विज्ञों से प्रशंसित, (तृष्णा से) अन्-अभिभूत, समाधि दिलाने वाले हैं ।]

—ऐसे अखण्डित होने आदि के गुणों के अनुसार अपने शीलों का अनुस्मरण करना चाहिये । उनमें भी गृहस्थ को गृहस्थ-शील का और प्रव्रजित को प्रव्रजित शील का ।

गृहस्थ-शील हों या प्रव्रजित-शील, जिनके (शील) आरम्भ में या अन्त में एक भी टूटे नहीं हैं, वे धारी (= किनारी)-कटे वस्त्र की भाँति खण्डित नहीं होने से **अखण्डानि** हैं । जिनके (शील) बीच में एक भी टूटे नहीं हैं, वे बीच में छेद हुए वस्त्र की भाँति छिद्र युक्त नहीं होने से **अच्छिद्दानि** हैं । जिनके (शील) क्रमशः दो या तीन नहीं टूटे हैं, वे उस गाय के समान चितकबरे नहीं होने से **असबलानि** हैं, जिसकी पीठ या पेट पर बड़े और गोल-गोल काले, लाल आदि विभिन्न रंगों के छाप हों । जो बीच-बीच में अन्तर डालकर नहीं टूटे हैं, वे नाना प्रकार के विन्दुओं वाली रंगविरंगी गाय के समान कल्मष (=रंगविरंगा) नहीं होने से **अकम्मासानि** हैं ।

अथवा, साधारण रूप से सभी सात प्रकार के मैथुन-संसर्ग[2] और क्रोध, उपनाह (=बँधा-हुआ वैर) आदि पापधर्मों से उपहत न होने से अखण्डित, निर्दोष, निर्मल, निष्कल्मष हैं ।

वे ही तृष्णा की दासता से छुड़ाकर स्वतन्त्र करने से **भुजिस्सानि** (=स्वाधीन=स्वैरी) हैं । बुद्ध आदि विज्ञों से प्रशंसित होने से **विञ्ञूपसत्थानि** (=विज्ञों से प्रशंसित) हैं । तृष्णा-दृष्टि या किसी से भी अभिभूत न होने से "यह तेरे शील में दोष है" ऐसा नहीं कह सकने से **अपरामट्ठानि** (=निर्दोष) हैं । उपचार समाधि या अर्पणा समाधि अथवा मार्ग-समाधि और फल-समाधि को भी दिलाने वाले होने से **समाधिसंवत्तनिकानि** हैं ।

ऐसे अखंडित होने आदि गुणों के अनुसार अपने शीलों का अनुस्मरण करने वाले उस (योगी) का—"उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका चित्त शील के प्रति सीधा ही होता है ।"[3] पूर्व के अनुसार ही दबे हुए नीवरण वाले को एक क्षण में ही ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं, किन्तु शील के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों को बार-बार स्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है । वह शील के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ (ध्यान) शीलानुस्मृति ही कहा जाता है ।

इस शीलानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु शिक्षा (-पद) का गौरव करता है, शील-सम्पन्न

---

१. अंगुत्तर निकाय ६,१, ९ और दीघ नि० २,३ ।

२. देखिये पृष्ठ ५३ ।

३. अंगुत्तर नि० ६,१,९ ।

होने का विचार करता है, प्रिय वचन से कुशल-क्षेम पूछने में अ-प्रमत्त होता है, आत्म-निन्दा[1] आदि के भय से रहित होता है। अल्प मात्र दोष में भी भय देखता है। (वह) श्रद्धा आदि की विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद बहुल होता है। (मार्ग-फल को) नहीं प्राप्त करते हुए सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय सीलानुस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महा-अनुभाव वाली शीलानुस्मृति में पण्डित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

त्यागानुस्मृति

त्यागानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को स्वभाव से ही दान में लगा हुआ, नित्य दान देने वाला होना चाहिये।

अथवा, भावना आरम्भ करने वाले को—"अब से लेकर दक्षिणा को ग्रहण करने के योग्य व्यक्ति के होने पर अन्ततोगत्वा एक आलोप मात्र भी बिना दान दिये नहीं खाऊँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करके उस दिन विशिष्ट गुण वाले दक्षिणा को ग्रहण करने के योग्य व्यक्तियों (=प्रतिग्राहकों) को यथा-शक्ति, यथा-बल अपनी उपभोग की वस्तुओं में से दान देकर, वहाँ निमित्त को ग्रहण करके एकान्त में जा, चित्त को (अन्य आलम्बनों से) खींच कर—

"लाभा वत मे सुलद्धं वत मे, योहं मच्छेरमलपरियुट्ठिताय पजाय विगतमल-मच्छेरेन चेतसा विहरामि, मुत्तचागो पयतपाणि वोस्सग्गरतो याचयोगो दानसंविभागरतो' ति।"

[मुझे लाभ है, मुझे सुन्दर मिला, जो कि मैं कंजूसी के मल से लिप्त प्रजा (=लोग) में मात्सर्य-मल से रहित चित्त वाला हो मुक्त-त्यागी, खुले हाथ दान देने वाला, दान देने में लगा, याचना करने के योग्य हुआ, दान और संविभाग में लीन विहर रहा हूँ।]

—ऐसे कंजूसी के मल से रहित होने आदि गुणों के अनुसार अपने त्याग (=दान) का अनुस्मरण करना चाहिये।

लाभा वत मे, मेरे लिये लाभ है। जो कि ये "आयु को देकर दिव्य या मानुषी आयु का भागी होता है"[2] "देते हुए प्रिय होता है, उसका बहुत से साथ करते हैं"[3] और "सत्पुरुषों के धर्म पर चलते, देते हुए प्रिय होता है"[4] आदि प्रकार से भगवान् द्वारा दायक के लाभ प्रशंसित हैं, वे मुझे अवश्य मिलेंगे—यह अभिप्राय है।

सुलद्धं वत मे, जो मैंने इस शासन या मनुष्य जन्म को पाया है, वह मुझे सुन्दर मिला है। क्यों ? जो कि मैं कंजूसी के मल से लिप्त प्रजा में मात्सर्य-मल से रहित चित्त वाला हो...... दान और संविभाग में लीन विहर रहा हूँ।

---

१. देखिये पृष्ठ ५८ की पादटिप्पणी।
२. अंगुत्तर निकाय ५,४,७।
३. अंगुत्तर नि० ५,४,५।
४. अंगुत्तर नि० ५. ४. ५।

मच्छेरमलपरियुट्ठिताय, कंजूसी के मल से लिप्त। **पजाय,** अपने कर्म के अनुसार उत्पन्न होने से सत्त्व प्रजा कहे जाते हैं। इसलिये, अपनी सम्पत्ति को दूसरे के लिये साधारण होने को नहीं सहने के लक्षण से चित्त के प्रभास्वर-भाव को दूषित करने वाले पाप-धर्मों में से एक कंजूसी के मल से लिप्त प्राणियों में—यह अर्थ है।

विगतमलमच्छेरेन, अन्य भी राग, द्वेष आदि मलों और मात्सर्य से रहित होने से मात्सर्य-मल से रहित। **चेतसा विहरामि,** यथोक्त प्रकार के चित्त वाला होकर विहरता हूँ—अर्थ है। किन्तु सूत्र[1] में **महानाम शाक्य** के स्रोतापन्न होने से निश्रय-विहार[2] को पूछने पर निश्रय-विहार के अनुसार उपदेश किये जाने से **अगारं अज्झावसामि** (=घर में वास करता हूँ) कहा गया है। वहाँ (राग आदि क्लेशों को) हटा कर वास करता हूँ—अर्थ है।

मुत्तचागो, किसी चीज के पाने की इच्छा न करके दान देने वाला। **पयतपाणि,** परिशुद्ध हाथ वाला। सत्कार पूर्वक, अपने हाथ से दान देने की वस्तु को देने के लिये सदा धोये हुए ही हाथ वाला—कहा गया है। **वोस्सग्गरतो,** अवसर्जन करना ही वोस्सग्ग है। परित्याग (=दान) इसका अर्थ है। उस वोस्सग्ग (=अवसर्ग) में सतत लगे रहने के अनुसार रत हुआ—वोस्सग्गरतो (=दान देने में लगा रहने वाला) होता है। **याचयोगो,** जिस जिस (वस्तु) को दूसरे माँगते हैं, उस-उस (वस्तु) को देने से याचना करने के योग्य हुआ—अर्थ है। 'याजयोगो' भी पाठ है, जिसका अर्थ है—'यजन' नामक 'याज' (=याग) से युक्त। **दानसंविभागरतो,** दान और संविभाग में लगा रहने वाला। "मैं दान को भी दे रहा हूँ और अपने परिभोग करने के योग्य वस्तुओं को भी बाँटता हूँ और इन्हीं दोनों में लगा हुआ हूँ।" इस प्रकार अनुस्मरण करता है—अर्थ है।

उसके ऐसे मल-मात्सर्य से रहित होने आदि गुणों के अनुसार अपने त्याग का अनुस्मरण करने वाले उस (योगी) का—"उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका चित्त त्याग के प्रति सीधा ही होता है।"[3] पूर्व के अनुसार ही दबे हुए नीवरण वाले को एक क्षण में ही ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं, किन्तु त्याग के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के त्याग के गुणों का अनुस्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार-प्राप्त ही ध्यान होता है। वह त्याग के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ (ध्यान) त्यागानुस्मृति ही कहा जाता है।

इस त्यागानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु प्रायः दान देने में ही लगा रहता है, (वह) लोभ रहित विचार वाला, मैत्री के अनुलोम चलने वाला, निर्भीक और प्रीति-प्रमोद बहुल होता है। (मार्ग-फल को) नहीं प्राप्त करते हुए सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय चागानुस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महा-अनुभाव वाली त्यागानुस्मृति में पण्डित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

---

१. महानाम सूत्र, अंगुत्तर नि० ६,१,१०।

२. आश्रय करके विहरने योग्य विहार, अर्थात् दैनिक कर्मस्थान—टीका।

३. अंगुत्तर नि० ६,१,९।

देवतानुस्मृति

देवतानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को आर्य-मार्ग से प्राप्त श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। उसके बाद एकान्त में जाकर, चित्त को (अन्य आलम्बनों से) खींच कर—"**चातुर्महाराजिक**[1] (देव लोक) के देवता हैं, **तावतिंस** (=त्रायस्त्रिंश) के देवता हैं, **याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित वशवर्ती** और **ब्रह्मकायिक**[2] देवता हैं तथा उनसे ऊपर के (भी) देवता हैं, जिस प्रकार की श्रद्धा से युक्त वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हैं, मुझे भी उस प्रकार की श्रद्धा है, जिस प्रकार के शील······श्रुत···त्याग······प्रज्ञा से युक्त वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हैं, मुझे भी उस प्रकार की प्रज्ञा है।"[3] ऐसे देवताओं को साक्षी करके अपने श्रद्धा आदि गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये।

किन्तु सूत्र में—"महानाम, जिस समय आर्य श्रावक अपने और उन देवताओं की श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा का अनुस्मरण करता है, उस समय उसका चित्त राग से लिप्त नहीं होता।"[4] कहा गया है। यद्यपि कहा गया है, तथापि उन्हें साक्षी बनाना चाहिये। देवताओं तथा अपने श्रद्धा आदि गुणों की समानता को प्रगट करने के लिये कहा गया जानना चाहिये। अट्ठकथा में—"देवताओं को साक्षी बनाकर अपने गुणों का अनुस्मरण करता है" ऐसे दृढ़ करके कहा गया है।

इसलिये पहले देवताओं के गुणों का अनुस्मरण करके भी पीछे अपने विद्यमान् श्रद्धा आदि गुणों का अनुस्मरण करते उसका—"चित्त उस समय राग से लिप्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका चित्त देवताओं के प्रति सीधा ही हुआ होता है।" पूर्व के अनुसार ही दबे हुए नीवरणवाले को एक क्षण में ही ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं, किन्तु श्रद्धा आदि गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों का अनुस्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार-प्राप्त ही ध्यान होता है। वह देवताओं के गुणों को स्मरण करने से (उत्पन्न हुआ ध्यान) देवतानुस्मृति ही कहा जाता है।

इस देवतानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु देवताओं का प्रिय-मनाप होता है। प्रायः श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद बहुल होकर विहरता है। (मार्ग-फल) को नहीं प्राप्त करते हुए सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय देवतानुस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महा-अनुभाववाली देवतानुस्मृति में पण्डित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

---

१. धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष और वैश्रवण (=कुबेर)-ये चारों दिशाओं के चार राजा हैं, इन्हें अपने परिवार के साथ चातुर्महाराजिक कहते हैं। विस्तार के लिये, देखिये दीघनि० ३,९।

२. अंगुत्तर नि० ६,१,१०।

३. रूपावचर के ब्रह्मा आदि देवता।

४. अंगुत्तर नि० ६,१,१०।

प्रकीर्णक-कथा

जो इसकी विस्तार-देशना[1] में—"तथागत के प्रति उस समय उसका चित्त सीधा ही होता है" आदि कह कर "महानाम ! सीधे हुए चित्त वाला आर्य-श्रावक अर्थ-वेद (=हेतु-फल से उत्पन्न हुई संन्तुष्टि) को प्राप्त होता है, धर्म-वेद (=हेतु से उत्पन्न हुई संतुष्टि) को प्राप्त होता है। धर्म (=हेतु और हेतु-फल के गुणों से) संयुक्त प्रमोद को प्राप्त होता है। प्रमुदित (व्यक्ति) को प्रीति उत्पन्न होती है।" कहा गया है। वहाँ, "वह भगवान् ऐसे हैं"[2] आदि के अर्थ के कारण उत्पन्न हुई संतुष्टि के प्रति "अर्थ-वेद को प्राप्त करता है" कहा गया है। धर्म (= पालि) के कारण उत्पन्न हुई संतुष्टि के प्रति "धर्म-वेद को प्राप्त करता है" और दोनों के अनुसार "धर्म से संयुक्त प्रमोद को प्राप्त करता है" कहा गया जानना चाहिये।

और जो कि देवतानुस्मृति में "देवताओं के प्रति" कहा गया है, वह पहले देवताओं के प्रति उत्पन्न हुए चित्त के अनुसार या देवताओं के गुणों के समान देवता बनाने वाले गुणों के प्रति उत्पन्न हुए चित्त के अनुसार कहा गया जानना चाहिये।

ये छः अनुस्मृतियाँ आर्य-श्रावकों को ही प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन्हें बुद्ध, धर्म, संघ के गुण प्रगट होते हैं और वे अखण्डित आदि गुण-वाले शीलों से मल-मात्सर्य रहित त्याग से महा-अनुभाव वाले देवताओं के गुणों के समान श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होते हैं। **महानाम सूत्र** में स्रोतापन्न के निश्रय-विहार को पूछने पर भगवान् ने स्रोतापन्न के निश्रय-विहार को दिखलाने के लिये ही इन्हें विस्तारपूर्वक कहा।

गेध सूत्र[3] में भी—"भिक्षुओ, यहाँ आर्य श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है—'वह भगवान् ऐसे······उस समय उसका चित्त सीधा ही हुआ होता है, गेध से निकला, मुक्त और उठा हुआ। भिक्षुओ, गेध यह पाँच काम-गुणों (=भोग-विलासों) का नाम है। भिक्षुओ, इसे भी आलम्बन करके कोई-कोई सत्त्व विशुद्ध हो जाते हैं।" ऐसे आर्य-श्रावक के अनुस्मृति के अनुसार चित्त को परिशुद्ध करके आगे परमार्थ-विशुद्धि (=निर्वाण) की प्राप्ति के लिये कही गयी हैं।

आयुष्मान् महाकात्यायन द्वारा उपदिष्ट **सम्बाधोकास सुत्त**[4] में भी "आवुस, आश्चर्य है, आवुस, अद्‌भुत है, जो कि उन भगवान् जाननहार, देखनहार, अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध ने (पाँच कामगुणों के) सम्बाध में अवकाश (=छः अनुस्मृति कर्मस्थान) के ज्ञान को प्राप्त किया प्राणियों की विशुद्धि······निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिये, जो कि छः अनुस्मृति-स्थान हैं। कौन से छः ? यहाँ आवुस, आर्य श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है······ऐसे कोई-कोई सत्त्व विशुद्धि धर्म वाले हो जाते हैं।" इस प्रकार आर्य श्रावक के ही परमार्थ-विशुद्धि की धर्मता के अवकाश की प्राप्ति के अनुसार कही गई हैं।

उपोशथ सूत्र[5] में भी—"विशाखे ! कैसे आर्य उपोशथ होता है ? विशाखे ! उपक्लिष्ट (=दूषित) चित्त को उपक्रम से परिशुद्ध करना होता है। और कैसे विशाखे ! उपक्लिष्ट चित्त को

---

१. महानाम सुत्त में, अंगुत्तर नि० ६,१,१०।
२. देखिये पृष्ठ १७६।
३. अंगुत्तर नि० ६,३,५।
४. अंगुत्तर नि० ६,३,६।
५. अंगुत्तर नि० ३,२,१०।

उपक्रम से परिशुद्ध किया जाता है ? यहाँ विशाखे ! आर्य श्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है।' ऐसे आर्य श्रावक के ही उपोशथ रहते, चित्त को विशुद्ध करने वाले कर्मस्थान के अनुसार उपोशथ के महाफलवान् होने को दिखलाने के लिये कही गई हैं।

एकादश निपात[1] में भी—"महानाम, श्रद्धावान् चित्त को प्रसन्न करने वाला (=आराधक) होता है, अश्रद्धावान् नहीं। आरब्ध-वीर्य (=उद्योगी)......उपस्थित स्मृति वाला...एकाग्रचित्त...प्रज्ञावान् चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है, दुष्प्रज्ञ नहीं। महानाम, तू इन पाँच धर्मों में प्रतिष्ठित होकर आगे छः धर्मों की भावना करना। यहाँ तू महानाम, तथागत का अनुस्मरण करना—"वह भगवान् ऐसे" इस प्रकार आर्यश्रावक के लिये ही—"भन्ते, हम लोगों को नाना विहारों से विहरते हुए किस विहार से विहरना चाहिये ?"[2] ऐसा पूछने पर, विहार को दिखलाने के लिये कही गई हैं।

ऐसा होने पर भी परिशुद्ध शील आदि गुणों से युक्त पृथग्जन को भी मन में करना चाहिये। अनुश्रव से भी बुद्ध आदि के गुणों का अनुस्मरण करते हुए चित्त प्रसन्न होता ही है, जिसके अनुभाव से नीवरणों को दबा करके अधिक प्रमुदित होकर विपश्यना को आरम्भ करके **फटकन्धकार** वासी **पुष्यदेव स्थविर** के समान अर्हत्व का ही साक्षात्कार करे। वह आयुष्मान् मारा द्वारा निर्मित बुद्ध के रूप को देख कर "यह राग, द्वेष, मोह से युक्त होने पर ऐसा शोभा दे रहा है, तो भगवान् कैसे नहीं शोभा देते होंगे, जब कि वे सब प्रकार से राग, द्वेष, मोह से रहित थे" इस प्रकार बुद्धालम्बन की प्रीति को प्राप्त करके विपश्यना को बढ़ा कर अर्हत्व पा लिये।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि-भावना के भाग में
छः अनुस्मृति-निर्देश नामक सातवाँ परिच्छेद समाप्त।

१. अंगुत्तर नि० ११,२,२।
२. अंगुत्तर नि० ११,२,३।

आठवाँ परिच्छेद

अनुस्मृति-कर्मस्थान-निर्देश

मरण-स्मृति

अब इसके अनन्तर **मरण-स्मृति** का भावना-निर्देश आया। एक भव में रहने वाली जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद **मरण** कहा जाता है। किन्तु जो यह अर्हन्तों का संसार-चक्र के दुःख का नाश कहा जाने वाला समुच्छेद-मरण है, संस्कारों के क्षण-भंगुर होने वाला क्षणिक-मरण है और "वृक्ष मर गया, लोहा मर गया" आदि में संवृत-मरण (= सम्मुति = व्यवहारिक मरण) है, वह नहीं अधिप्रेत है।

और जो भी यह अधिप्रेत है, वह काल-मरण, अकाल मरण—दो प्रकार का होता है। इसमें काल मरण पुण्य के क्षय हो जाने से, आयु के क्षय हो जाने से या दोनों के क्षय हो जाने से होता है। अकाल-मरण कर्मोपच्छेदक कर्म से।

जो आयु-सन्तान (=आयु-प्रवाह) को उत्पन्न करने वाली (आहार आदि) सम्पत्ति के विद्यमान् होने पर भी, केवल प्रतिसन्धि को उत्पन्न करने वाले कर्म-विधान के परिपक्व होने से मरण होता है—यह पुण्य के क्षय से मरण है। जो गति, काल, आहार आदि सम्पत्ति के अभाव से आजकल के पुरुषों के समान सौ वर्ष मात्र की आयु के क्षय होने से मरण होता है, यह आयु के क्षय होने से मरण है। और जो **दूषीमार,**[1] **कलाबुराज**[2] आदि के समान उस क्षण ही (जीवित रहने के) स्थान से च्युत करने में समर्थ (= दृष्ट-धर्म-वेदनीय) कर्म से विच्छेद हुए जीवन-प्रवाह वालों का या पूर्व कर्म के अनुसार हथियार मारने (= आत्म-घात करने) आदि उपक्रमों से चित्त-प्रवाह के उपच्छेद होते हुए (व्यक्तियों) का मरण होता है, यह अकाल-मरण है। वह सभी उक्त प्रकार से जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद में ही आ जाता है। अतः जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद कहे जाने वाले मरण का स्मरण **मरण-स्मृति** है।

उसकी भावना करने की इच्छा वाले (योगी) को एकान्त में जाकर, चित्त को (अन्य आलम्बनों से) खींच कर—"मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा" अथवा "मरण, मरण" (कह कर) ठीक से मन में करना चाहिये। बे-ठीक से (मन में) करने वाले को प्रियजन की मृत्यु का स्मरण करने में जन्म दी हुई माँ को प्रिय-पुत्र की मृत्यु के अनुस्मरण के समान शोक उत्पन्न होता है। अप्रिय-जन की मृत्यु के अनुस्मरण में वैरियों को वैरी की मृत्यु के अनुस्मरण के समान प्रमोद उत्पन्न होता है। मध्यस्थ-जन की मृत्यु के अनुस्मरण में मृतक जलाने वाले (डोम) के मृतक को देखने के समान संवेग नहीं उत्पन्न होता है और अपनी मृत्यु के स्मरण में तलवार उठाये जल्लाद (= बधक) को देख कर डरपोक स्वभाव वाले (व्यक्ति) के समान भय उत्पन्न होता है।

---

१. देखिये, मज्झिम नि० १,५,१० ।

२. देखिये, जातकट्ठकथा ३१३ ।

वह सभी स्मृति, संवेग और ज्ञान से विरहित होने वाले को होता है, इसलिये वहाँ-वहाँ मारे गये और मरे हुए प्राणियों को देखकर, पहले देखी हुई सम्पत्ति वाले मरे हुए प्राणियों के मरण का आवर्जन करके स्मृति, संवेग और ज्ञान को लगा कर "मरण होगा" आदि प्रकार से मन में करना चाहिये। ऐसे मन में करने वाला ही (योगी) ठीक से (मन में) करता है। उचित ढंग से मन में करता है—यह अर्थ है। ऐसे मन में करते हुए ही किसी के नीवरण दब जाते हैं, मरणालम्बन की स्मृति उत्पन्न होती है, और कर्मस्थान उपचार को प्राप्त हुआ ही होता है। किन्तु जिसे इतने से नहीं होता है, उसे (१) वधक के उपस्थित होने से (२) सम्पत्ति की विपत्ति से (३) उपसंहरण से (४) शरीर के बहुजन के लिये साधारण होने से (५) आयु के दुर्बल होने से (६) अनिमित्त से (७) काल के परिच्छेद से और (८) क्षण की स्वल्पता से—इन आठ प्रकारों से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

उनमें, **वधक के उपस्थित होने से**, जल्लाद के समान उपस्थित होने से। जैसे कि "इसके शिर को काटूँगा" (सोच) तलवार को लेकर गर्दन पर चलाता हुआ ही जल्लाद उपस्थित होता है, ऐसे मरण भी उपस्थित ही है" इस प्रकार अनुस्मरण करना चाहिये। क्यों ? उत्पत्ति के साथ आने और जीवन-हरण करने से।

जैसे कि **अहिच्छत्रक** (=भूमिफोर) का मुकुल शिर से धूल को लेकर ही ऊपर आता है, ऐसे प्राणी जरा-मरण को लेकर ही उत्पन्न होते हैं। वैसा ही उनका **प्रतिसन्धि-चित्त**[1] उत्पाद के अनन्तर ही जरा (=बुढ़ापा) को पाकर पर्वत की चोटी से गिरी हुई शिला के समान सम्प्रयुक्त स्कन्धों[2] के साथ छिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसा क्षणिक मरण उत्पत्ति के साथ आया हुआ है। किन्तु उत्पन्न हुए के अवश्य मरण से, यहाँ अधिप्रेत मरण भी उत्पत्ति के साथ आया हुआ है। इसलिये यह प्राणी उत्पन्न होने के समय से लेकर, जैसे उदय हुआ **सूर्य** अस्त की ओर ही जाता है, गये-गये हुए स्थान से थोड़ा-सा भी नहीं लौटता है, या जैसे तेज धार वाली, (धार में पड़ी हुई सब चीजों को) बहाकर ले जाने वाली **पहाड़ी नदी** बहती ही है, प्रवर्तित ही होती है, थोड़ा-सा भी नहीं रुकती, ऐसे थोड़ा-सा भी नहीं रुकता हुआ मरण की ओर ही जाता है। इसलिये कहा है—

यमेकरत्तिं पठमं गब्भे वसति मानवो।
अब्भुट्ठितो'व सो याति, स गच्छं न निवत्तति[3] ॥

[जिस एक रात में[4] पहले प्राणी गर्भ में वास करता है, वह उठे हुए बादल के समान जाता है, जाते हुए रुकता नहीं।]

और ऐसे जाते हुए उसे, गर्मी से संतप्त छोटी नदी के सूख जाने के समान, प्रातः जल के रस से बँधे हुए वृक्ष के फलों के गिरने के समान, मुद्गर से पीटे हुए मिट्टी के बर्तनों के फूटने के

---

१. देखिये, पृष्ठ ५ की पादटिप्पणी।

२. वेदना, संज्ञा, संस्कार—इन स्कन्धों के साथ।

३. जातक

४. अधिकांश प्राणी रात में ही प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं, इसलिये यहाँ रात कहा गया है—टीका।

समान और सूरज की किरण पड़ने से ओस की बूँदों के नाश हो जाने के समान मरण ही समीप होता है। इसलिये कहा है—

अच्चन्ति अहोरत्ता, जीवितं उपरुज्झति।
आयु खीयति मच्चानं, कुन्नदीनं व ओदकं[१] ॥

[रात-दिन बीत रहे हैं, जीवन निरुद्ध हो रहा है, छोटी नदियों के जल के समान प्राणियों की आयु खत्म हो रही है।]

फलानमिव पक्कानं पातो पपततो भयं।
एवं जातान मच्चानं निच्चं मरणतो भयं ॥

[जैसे पके हुए फलों को प्रातः ही गिरने का भय रहता है, ऐसे ही उत्पन्न हुए प्राणियों को नित्य मरण से भय लगा रहता है।]

यथापि कुम्भकारस्स कतं मत्तिकभाजनं।
खुद्दकञ्च महन्तञ्च यं पक्कं यञ्च आमकं।
सब्बं भेदनपरियन्तं एवं मच्चान जीवितं[२] ॥

[जैसे कुम्हार का बनाया हुआ मिट्टी का बर्तन—जो छोटा होता है, बड़ा होता है, पक्का होता है और कच्चा होता है—(वह) सब फूट कर नाश होने वाला होता है, ऐसे (ही) प्राणियों का जीवन भी।]

उस्सावो व तिणग्गम्हि सुरियस्सुग्गमनं पति।
एवमायु मनुस्सानं मा मं अम्म निवारय ॥[३]

[सूरज के निकलने पर तृणों के शिरों पर (पड़े हुए) ओस की बूँद के समान मनुष्यों की आयु है, माँ! मुझे मत रोको।]

ऐसे तलवार उठाये हुए जल्लाद के समान उत्पत्ति के साथ आया हुआ यह मरण गर्दन पर तलवार चलाते हुए उस जल्लाद के समान जीवन को हरता ही है, बिना हरे हुए नहीं रुकता। इसलिये उत्पत्ति के साथ आने और जीवन को हरने से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

सम्पत्ति की विपत्ति से, यहाँ, सम्पत्ति तभी तक शोभा देती है, जब तक कि उसे विपत्ति नहीं पछाड़ती है और ऐसी सम्पत्ति नहीं है, जो विपत्ति को हटा कर रहे। वैसे ही—

सकलं मेदिनिं भुत्वा दत्वा कोटिसतं सुखी।
अड्ढामलकमत्तस्स अन्ते इस्सरतं गतो ॥
तेनेव देहबन्धेन पुञ्ञम्हि खयमागते।
मरणाभिमुखो सोपि असोको सोकमागतो।

---

१. संयुत्त नि० १,४,१,१०।

२. सुत्त नि० ३,८,३-४ और दीघ नि० २,३।

३. जातक।

ऐसे जीवन-सम्पत्ति का मरण-विपत्ति से अन्त होने का विचार करने से, सम्पत्ति की विपत्ति से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

उपसंहरण से, दूसरे के साथ अपने मरण को भी देखने से। सात प्रकार से उपसंहरण करते हुए मरण का अनुस्मरण करना चाहिये—(१) यश के महत्व से (२) पुण्य के महत्व से (३) स्थाम के महत्व से (४) ऋद्धि के महत्व से (५) प्रज्ञा के महत्व से (६) प्रत्येक बुद्ध से (७) सम्यक् सम्बुद्ध से।

कैसे ? यह मरण महायश, महापरिवार, धन-सवारी से सम्पन्न, **महासम्मत**[1], **मन्धातु**[2], **महासुदर्शन**[3], **दृढ़नेमि**[4], **निमि**[5] प्रभृति के भी ऊपर निडर होकर ही पड़ा, तो क्या मेरे ऊपर नहीं पड़ेगा ?

महायसा राजवरा, महासम्मत आदयो।
तेपि मच्चुवसं पत्ता, मादिसेसु कथा व का ?

[महायश वाले महासम्मत आदि (जो) श्रेष्ठ राजा थे, वे भी मृत्यु के वश में पड़े, तो मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

—ऐसे **यश** के महत्व से अनुस्मरण करना चाहिये।

कैसे **पुण्य** के महत्व से ?

जोतियो जटिलो उग्गो मेण्डको अथ पुण्णको।
एते चञ्ञे च ये लोके महापुञ्ञाति विस्सुता।
सब्बे मरणमापन्ना मादिसेसु कथा'व का ?

[**जोतिय, जटिल, उग्र, मेण्डक, पूर्णक**[6] ये और अन्य भी जो लोक में महापुण्यवान् प्रसिद्ध थे, (वे) सभी मरण को प्राप्त हुए। मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

—ऐसे पुण्य के महत्व से अनुस्मरण करना चाहिये।

कैसे **स्थाम** (= बल) के महत्व से ?

वासुदेवो बलदेवो भीमसेनो युधिट्ठिलो।
चाणुरो यो महामल्लो अन्तकस्स वसं गता॥

[**वासुदेव, बलदेव, भीमसेन, युधिष्ठिर** और जो बहुत बड़ा पहलवान **चाणुर** था[7]—(वे सभी) मृत्यु के वश गये।]

---

१. देखिये, जातक ४२१।

२. जातक २५८।

३. दीघनि० २,४।

४. दीघ नि० ३,३।

५. जातक ५४०।

६. उग्र का वर्णन अंगुत्तर नि०की अट्ठकथा मनोरथपूरणी के एतदग्ग वग्ग में आया हुआ है, शेष चार का वर्णन बारहवें परिच्छेद में आयेगा।

७. वासुदेव, बलदेव और चाणुर की कथा घतजातक (३५५) में तथा भीमसेन और युधिष्ठिर की कथा कुणाल जातक (५३५) में आई हुई हैं ?

एवं थामबलूपेता इति लोकम्हि विस्सुता ।
एतेपि मरणं याता, मादिसेसु कथा'व का ?

[ऐसे स्थाम, बल वाले जो कि लोक में प्रसिद्ध थे—ये भी मरण को प्राप्त हुए, तो मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

—ऐसे स्थाम के महत्व से अनुस्मरण करना चाहिये ।

कैसे ऋद्धि के महत्व से ?

पादंगुट्ठकमत्तेन वेजयन्तमकम्पयि ।
यो नामिद्धिमतं सेट्ठो दुतियो अग्गसावको ॥
सोपि मच्चुमुखं घोरं मिगो सीहमुखं विय ।
पविट्ठो सह इद्धीहि, मादिसेसु कथा व का ?

[(जो) पैर के अंगूठे मात्र से वैजयन्त (–प्रासाद) को कम्पित किये,[1] जो ऋद्धिमानों में श्रेष्ठ, द्वितीय अग्रश्रावक (= महामौद्गल्यायन स्थविर) थे, वह भी ऋद्धि के साथ (ही) मृग के सिंह के मुख में जाने के समान मृत्यु के भयानक मुख में समा गये, तो मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

—ऐसे ऋद्धि के महत्व से अनुस्मरण करना चाहिये ।

कैसे प्रज्ञा के महत्व से ?

लोकनाथं ठपेत्वान ये चञ्ञे अत्थि पाणिनो ।
पञ्ञाय सारिपुत्तस्स कलं नाग्घन्ति सोळसिं ॥
एवं नाम महापञ्ञो पठमो अग्गसावको ।
मरणस्स वसं पत्तो मादिसेसु कथा व का ?

[लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) को छोड़कर अन्य दूसरे जो प्राणी हैं, (वे) प्रज्ञा में सारिपुत्र की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं, ऐसे महाप्रज्ञावान् प्रथम अग्रश्रावक (भी) मरण के वश को प्राप्त हुए, तो मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

ऐसे प्रज्ञा के महत्व से अनुस्मरण करना चाहिये ।

कैसे प्रत्येक-बुद्ध से ? जो भी वे अपने ज्ञान, वीर्य, बल से सब क्लेश-शत्रुओं का मर्दन करके प्रत्येक-बोधि (= ज्ञान) को पाकर गैंडे की सींग की भाँति अकेले रहने वाले स्वयम्भू (= स्वयं ज्ञान प्राप्त) हैं, वे भी मरण से नहीं छुटकारा पाये, तो मैं कहाँ से छुटकारा पाऊँगा ?

तं तं निमित्तमागम्म वीमंसन्ता महेसयो ।
सयम्भू ञाणतेजेन ये पत्ता आसवक्खयं ॥
एक चरियनिवासेन खग्गसिङ्गसमूपमा ।
तेपि नातिगता मच्चुं मादिसेसु कथा'व का ?

[उन-उन कारणों को पाकर मीमांसा करते हुए स्वयम्भू-ज्ञान के तेज से आश्रव-क्षय (= निर्वाण) प्राप्त, अकेले विचरण करने और निवास (मात्र) से गैंडे की सींग की भाँति (रहने वाले) वे प्रत्येक-बुद्ध भी मृत्यु को नहीं टाल सके, तो मेरे जैसे (व्यक्तियों) की बात ही क्या है ?]

—ऐसे प्रत्येक-बुद्ध से अनुस्मरण करना चाहिये ।

---

१. इस कथा के लिये देखिये, मज्झिम नि० १,४,७ ।

कैसे **सम्यक्-सम्बुद्ध** से ? जो भी वे भगवान् **अस्सी अनुव्यञ्जनों**[1] से युक्त और **बत्तीस महापुरुष लक्षणों**[2] से विचित्र शरीर वाले, सब प्रकार से परिशुद्ध शील-स्कन्ध आदि गुण-रत्नों से समृद्ध, धर्म-शरीर से युक्त, यश, पुण्य, स्थाम (=बल), ऋद्धि और प्रज्ञा की महानता के पार गये हुए, अ-सम, (दीपङ्कर आदि) असम (=बराबरी नहीं रखने वाले बुद्धों) के समान, असदृश-व्यक्ति अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध थे, वे भी जल-वृष्टि से महाअग्नि-स्कन्ध के (बुझ जाने के) समान मरण (रूपी) वृष्टि से एकदम शान्त हो गये।

एवं महानुभावस्स यं नामेतं महेसिनो ।
न भयेन न लज्जाय मरणं वसमागतं ॥
निल्लज्जं वीतसारज्जं सब्बसत्ताभिमद्दनं ।
तयिदं मादिसं सत्तं कथं नाभिभविस्सति ?

[ऐसे महाअनुभाव वाले महर्षि को (भी) यह निर्लज्ज, निडर, सब प्राणियों का अभिमर्दन करने वाला मरण, भय या लज्जा से भी अपने वश में करने से नहीं छोड़ा, तो यह मेरे जैसे प्राणी को कैसे नहीं पछाड़ेगा ?]

—ऐसे सम्यक् सम्बुद्ध से अनुस्मरण करना चाहिये।

उसके ऐसे महायश आदि से युक्त दूसरों के साथ मरण के सामान्य होने को अपने पर भी लाकर, उन विशेष प्राणियों के समान मेरा भी मरण होगा—अनुस्मरण करते हुए कर्मस्थान उपचार (ध्यान) को प्राप्त होता है। ऐसे उपसंहरण से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

शरीर के बहुजन के लिये साधारण होने से, यह शरीर बहुजन के लिये साधारण है। प्रथम, अस्सी कृमि-कुलों के लिये साधारण है। छवि (=झिल्ली) में रहने वाले कीड़े छवि को खाते हैं, चमड़े में रहने वाले चमड़े को खाते हैं, मांस में रहने वाले मांस को खाते हैं, स्नायु (=नस) में रहने वाले स्नायु को खाते हैं, हड्डी में रहने वाले हड्डी को खाते हैं, मज्जा में रहने वाले मज्जा को खाते हैं, वहीं उत्पन्न होते हैं, जीते हैं, मरते हैं, पाखाना-पेशाब करते हैं। शरीर उनके लिये प्रसूति-गृह, ग्लान-शाला (=रोगियों के रहने का घर, श्मशान), पाखाना-घर और पेशाब करने की द्रोणी है। यह उन कीड़ों के प्रकोप से मरण को प्राप्त होता ही है और जैसे अस्सी कृमि-कुलों के लिये, ऐसे ही अनेक सौ भीतरी रोगों के लिये और साँप-बिच्छू आदि बाहरी मरण के प्रत्ययों के लिये साधारण है।

जैसे कि चौरस्ते पर रखे हुए लक्ष्य पर सब दिशाओं से आये हुए वाण, बर्छी, भाला, पत्थर आदि पड़ते हैं, ऐसे ही शरीर पर भी सब उपद्रव पड़ते हैं। यह उन उपद्रवों के पड़ने से मरण को प्राप्त होता ही है। इसलिये भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, यहाँ भिक्षु दिन के व्यतीत हो जाने पर रात्रि के विषय में इस प्रकार सोचता है, मेरे मरण के बहुत से प्रत्यय (=कारण) हैं, (यदि) मुझे साँप, बिच्छू या शतपदी (=गोंजर) डँस ले, और मेरी उससे मृत्यु हो जाय, तो वह मेरे लिये विघ्न हो, अथवा फिसल कर गिर पड़ूँ, खाया हुआ भात न पचे, मेरा पित्त कुपित हो, श्लेष्मा (= कफ) कुपित हो या मेरे **शस्त्रक वात**[3] कुपित हों, और मेरी उससे मृत्यु हो जाय,

१. ताम्र नख, तुङ्ग अंगुली आदि अनुव्यञ्जनों से युक्त।

२. देखिये, दीघ नि० ३,७ और मज्झिम नि० २,५,१।

३. मृत्यु के समय में शस्त्र से अङ्ग-प्रत्यङ्गों को काटने के समान शरीर के सन्धि और बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने वाली वायु को 'शस्त्रक वात' कहते हैं।

तो वह मेरे लिये विघ्न होगा[1]।" ऐसे शरीर के बहुजन के लिये साधारण होने से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

आयु के दुर्बल होने से, यह आयु अ-बल, दुर्बल है। वैसा ही प्राणियों का जीवन आश्वास-प्रश्वास (=साँस लेने और छोड़ने), ईर्यापथ, जाड़ा-गर्मी, महाभूत (=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) और आहार पर अवलम्बित है। यह (आयु) आश्वास-प्रश्वास की समानता को प्राप्त करते हुए ही प्रवर्तित होती है, नाक से ली गई वायु के बाहर आने पर (फिर) भीतर नहीं जाने से या भीतर गई हुई वायु के नहीं निकलने पर मर जायेगी। चारों ईर्यापथों की भी समानता को प्राप्त करते हुए ही प्रवर्तित होती है, किसी-किसी के आधिक्य से आयु-संस्कार टूट जाते हैं। जाड़ा-गर्मी की भी समानता को प्राप्त करते हुए ही प्रवर्तित होती है, अत्यन्त जाड़ा या गर्मी से परेशान हुए (व्यक्ति) का शरीर विनाश को प्राप्त होता है। महाभूतों की भी समानता को प्राप्त करते हुए ही प्रवर्तित होती है। पृथ्वी-धातु या जल-धातु किसी एक के कुपित होने से बलवान् भी पुरुष प्रस्तब्ध (= जड़) शरीर वाला या अतिसार आदि से गन्दे-मैले शरीर वाला, महा-दाह (=जलन) से जलते शरीर वाला या छिन्न-भिन्न हुए शरीर के जोड़ों, बन्धनों वाला होकर मर जाता है। ग्रास-करके खाने वाले आहार (=कवलिंकाराहार) को भी ठीक समय पर पाते हुए (व्यक्ति) का ही जीवन प्रवर्तित होता है, भोजन को नहीं पाने वाले (व्यक्ति) का नष्ट हो जाता है। ऐसे आयु के दुर्बल होने से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

अनिमित्त से, (काल आदि के) निश्चित नहीं होने से। परिच्छेद नहीं होने से—अर्थ है। क्योंकि प्राणियों के—

जीवितं व्याधि कालो च देहनिक्खेपनं गति।
पञ्चेते जीवलोकस्मिं अनिमित्ता न ञायरे॥

[जीवन, व्याधि (=रोग), काल, शरीर का त्याग और गति—ये पाँच जीव-लोक में अ-निमित्त हैं, नहीं जान पड़ते हैं।]

उनमें **जीवन** इतना ही जीना है, इसके बाद नहीं, ऐसा निश्चित न होने से अ-निमित्त है। **कलल**[2] के समय में भी प्राणी मरते हैं, अर्बुद, पेशी, घन, मास, दो मास, तीन, चार, पाँच दस मास के समय में भी। पेट से निकलने के समय में भी। उसके बाद सौ वर्ष के भीतर और बाहर भी मरते ही हैं।

व्याधि भी "इसी रोग से प्राणी मरते हैं, दूसरे से नहीं" ऐसा निश्चित न होने से अ-निमित्त है। चक्षु-रोग से भी प्राणी मरते हैं, कर्ण-रोग आदि में किसी से भी।

काल भी "इसी समय मरना है, दूसरे समय नहीं" ऐसा निश्चित न होने से अनिमित्त है। पूर्वाह्ण काल में भी प्राणी मरते हैं, मध्याह्न आदि में से किसी में भी।

शरीर का त्याग भी "मरते हुए (लोगों) को शरीर से यहीं पड़ना है, दूसरी जगह नहीं" ऐसा निश्चित न होने से अनिमित्त है। गाँव के अन्दर उत्पन्न हुए (प्राणियों) का शरीर गाँव के बाहर भी पड़ जाता है, गाँव के बाहर उत्पन्न हुए (प्राणियों) का भी गाँव के अन्दर। वैसे ही स्थल पर उत्पन्न हुए लोगों का जल में या जल में उत्पन्न हुए (प्राणियों) का स्थल पर। ऐसे अनेक प्रकार से विस्तार करना चाहिये।

१. अंगुत्तर नि० ४,३,२।

२. गर्भाधान के दिन से लेकर एक सप्ताह तक कलल रूप होता है।

गति भी "यहाँ से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न होना है" ऐसा निश्चित न होने से अनिमित्त है। देवलोक से च्युत हुए मनुष्यों में भी उत्पन्न होते हैं, मनुष्य लोक से च्युत हुए देवलोक आदि में भी जहाँ कहीं उत्पन्न होते हैं। ऐसे कोल्हू (=यन्त्र) में नधे हुए बैल के समान (व्यक्ति) पाँच गतियों,[1] वाले लोक में चारों ओर घूमता है। ऐसे अनिमित्त से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

काल के परिच्छेद से, मनुष्यों के जीवन का इस समय बहुत थोड़ा काल है, जो बहुत दिनों तक जीता है, वह सौ वर्ष से कम या अधिक। इसलिये भगवान् ने कहा है—'भिक्षुओ, मनुष्यों की आयु बहुत थोड़ी है, परलोक जाना है, भले कर्म करने हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करना है, उत्पन्न हुए का अ-मरण (= नहीं मरना) नहीं है। भिक्षुओ, जो बहुत दिनों तक जीता है, वह सौ वर्ष से कम या अधिक।

अप्पमायु मनुस्सानं हीळेय्य नं सुपोरिसो।
चरेय्यादित्तसीसोव नत्थि मच्चुस्सनागमो॥[2]

[मनुष्यों की आयु थोड़ी है, सत्पुरुष उसकी इज्जत न करे, प्रज्वलित शिर के समान विचरण करे, (क्योंकि) मृत्यु का अनागमन नहीं है।]

दूसरा भी कहा है—"भिक्षुओ, अतीत काल में अरक नामक शास्ता (= धर्मोपदेशक) हुआ था"[3] सात उपमाओं से अलंकृत सम्पूर्ण सूत्र का विस्तार करना चाहिये।

दूसरा भी कहा है—"भिक्षुओ, जो कि यह भिक्षु ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं रात-दिन जीता और भगवान् का शासन (= उपदेश) मन में करता, तो मैं बहुत कर लेता।' भिक्षुओ, जो कि यह भिक्षु ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं एक दिन जीता और भगवान् का उपदेश मन में करता, तो मैं बहुत कर लेता।' भिक्षुओ, जो कि यह भिक्षु ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं उतने समय तक जीता, जितने समय तक कि एक पिण्डपात (= भोजन) खाता हूँ और भगवान् का उपदेश मन में करता, तो मैं बहुत कर लेता।' और भिक्षुओ, जो कि यह भिक्षु, ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं उस समय तक जीता, जिस समय तक कि चार-पाँच ग्रास अच्छी तरह चबा-चबाकर घोंटता हूँ और भगवान् का उपदेश भी मन में करता, तो मैं बहुत कर लेता।' भिक्षुओ, ये भिक्षु प्रमाद के साथ विहरने वाले कहे जाते हैं, जो कि आश्रवों के क्षय के लिये मरण-स्मृति की मन्द भावना करते हैं।

और भिक्षुओ, जो यह भिक्षु ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं तब तक जीता, जब तक कि एक ग्रास को चबा कर घोंटता हूँ और भगवान् का उपदेश मन में करता, तो मैं बहुत कर लेता।' और जो भी भिक्षुओ, यह भिक्षु ऐसे मरण-स्मृति की भावना करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं जब तक जीता, तब तक कि साँस लेकर छोड़ता हूँ या साँस छोड़ कर लेता हूँ और भगवान् का उपदेश मन में करता, तो मैं बहुत कर

१. निरय (= नरक), तिर्यक् (= पशु)-योनि, प्रेत्य-विषय, मनुष्य और देव—यह पाँच गतियाँ हैं।

२. संयुत्त नि० १,४,१,९।

३. देखिये अंगुत्तर निकाय ७,७,१०।

लेता।' भिक्षुओ, ये भिक्षु अप्रमाद के साथ विहरने वाले कहे जाते हैं, जो कि आश्रवों के क्षय के लिये मरण-स्मृति की तीक्ष्ण भावना करते हैं।[1]"

ऐसे चार-पाँच ग्रास को चबाने मात्र के लिये भी भरोसा नहीं करने योग्य जीवन का काल अल्प है—ऐसे समय के परिच्छेद से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

क्षण की स्वल्पता से, परमार्थतः प्राणियों का जीवन अत्यल्प, एक चित्त की प्रवृत्ति मात्र ही है। जैसे कि रथ का चक्का चलते हुए भी एक ही नेमि (=पुट्ठी) के भाग से चलता है, खड़ा होते हुए भी एक ही से खड़ा होता है। ऐसे ही प्राणियों का जीवन एक चित्त-क्षण भर है। उस चित्त के निरुद्ध होने मात्र से प्राणी निरुद्ध हो गया—ऐसा कहा जाता है। जैसे कहा है—"अतीत चित्त के क्षण में जीवित था, (इस समय) जीवित नहीं है, (आगे) नहीं जीवित रहेगा, भविष्यत् चित्त के क्षण में जीवित नहीं था, (इस समय) जीवित नहीं है, (आगे) जीवित होगा। वर्तमान् चित्त के क्षण में जीवित नहीं था, (इस समय) जीवित है, (आगे) जीवित नहीं होगा।

जीवितं अत्तभावो च सुखदुक्खा च केवला।
एकचित्त समायुत्ता लहुसो वत्तते खणो॥

[जीवन, शरीर, सुख और दुःख सब एक चित्त के साथ अत्यन्त लघु-क्षण है।]

ये निरुद्धा मरन्तस्स तिट्ठमानस्स वा इध।
सब्बेपि सदिसा खन्धा गता अप्पटिसन्धिया॥

[मरते हुए या जीते हुए (व्यक्ति) के जो स्कन्ध निरुद्ध हो गये, प्रतिसन्धि रहित हो गये, (वे) सभी स्कन्ध समान हैं।]

अनिब्बत्तेन न जातो पच्चुप्पन्नेन जीवति।
चित्तभङ्गा मतो लोको पञ्ञत्ति परमत्थिया॥

[अनुत्पन्न चित्त से उत्पन्न नहीं होता है, वर्तमान् से जीवित रहता है, चित्त के भङ्ग होने से लोक मर जाता है, परमार्थतः प्रज्ञप्ति[2] मात्र रहता है।]

—ऐसे क्षण की स्वल्पता से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

इन आठ प्रकारों में से किसी एक से अनुस्मरण करते हुए भी बार-बार मन में करने से चित्त एकाग्र होता है। मरणालम्बन की स्मृति बनी रहती है। नीवरण दब जाते हैं। ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं। आलम्बन के स्वभाव-धर्म और संवेग उत्पन्न करने वाला होने से अर्पणा को न प्राप्त करके उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है, किन्तु लोकोत्तर ध्यान[3] और द्वितीय-चतुर्थ आरूप्य-ध्यान स्वभाव-धर्म में भी भावना विशेष से अर्पणा प्राप्त होते हैं। विशुद्धि-भावना[4] के क्रम से लोकोत्तर अर्पणा को प्राप्त करता है, और आलम्बन के अतिक्रमण की भावना से आरूप्य को।

१. अंगुत्तर नि० ६,२,९।

२. तिष्य जीवित है, पुष्य जीवित है आदि चित्त-प्रवाह की प्रज्ञप्ति मात्र है। कहा भी है—"नाम-गोत्र नहीं मिटता है।"—टीका।

३. मार्ग या फल से सम्प्रयुक्त ध्यान।

४. शील-विशुद्धि, चित्त-विशुद्धि आदि छः विशुद्धियों की भावना के क्रम से।

वहाँ अर्पणा को प्राप्त हुए ही ध्यान का आलम्बन-समतिक्रमण मात्र होता है, किन्तु यहाँ दोनों भी नहीं हैं। इसलिये ध्यान उपचार प्राप्त ही होता है। यह मरण-स्मृति के बल से उत्पन्न होने से मरण-स्मृति ही कहा जाता है।

इस मरण-स्मृति में लगा हुआ भिक्षु सर्वदा अ-प्रमत्त होता है। सब भवों में अनभिरति-संज्ञा को प्राप्त होता है। जीवित रहने की इच्छा को त्यागता है। पाप की निन्दा करने वाल होता है। सन्निधि करने में नहीं लगने वाला होता है। परिष्कारों में कंजूसी के मल से रहित होता है। उसे अनित्य-संज्ञा का अभ्यास होता है। उसके अनुसार ही दुःख-संज्ञा और अनात्म-संज्ञा होती हैं। जैसा कि मरण की भावना नहीं किये हुए प्राणी सहसा हिंस्रक जन्तु, यक्ष, साँप, चोर, जल्लाद द्वारा सताये जाने वाले (प्राणियों) के समान मरने के समय भय, संत्रास, संमोह को प्राप्त होते हैं, ऐसा न प्राप्त होकर भय और संमोह रहित होकर मरता है। यदि इसी जन्म में अमृत (=निर्वाण) को नहीं प्राप्त करता है, तो मरने पर सुगति-परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय मरणस्सतिया सदा॥

[इसलिये ऐसी महा-अनुभाव वाली मरण-स्मृति में पण्डित (व्यक्ति) सदा अप्रमाद करें।]

कायगता-स्मृति

अब, जो कि वह बिना बुद्ध की उत्पत्ति के कभी भी नहीं होता है, सारे अन्य मतावलम्बियों के लिये अ-विषय है, उन उन सूत्रों में—"भिक्षुओ, एक धर्म, भावना करने और बढ़ाने से महा-संवेग के लिये होता है, महा अर्थ (=हित=कल्याण) के लिये होता है, महा योगक्षेम (=निर्वाण) के लिये होता है, महा स्मृति-सम्प्रजन्य के लिये होता है, ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिये होता है। इसी जीवन में सुख से विहरने के लिये होता है। विद्या-विमुक्ति-फल[१] के साक्षात्कार के लिये होता है। कौन सा एक धर्म ? कायगता-स्मृति[२]।"

"भिक्षुओ, वे अमृत का परिभोग करते हैं जो कि कायगता-स्मृति का परिभोग करते हैं और भिक्षुओ, वे अमृत का परिभोग नहीं करते हैं, जो कि कायगता-स्मृति का परिभोग नहीं करते हैं। भिक्षुओ, उन्होंने अमृत का परिभोग किया······नहीं परिभोग किया······(वे) परिहीन हो गये······नहीं परिहीन हुये······बिगड़ गये······नहीं बिगड़े······जिन्होंने कायगता-स्मृति की साधना की है[१]।"

ऐसे भगवान् ने अनेक प्रकार से प्रशंसा करके—"भिक्षुओ, कैसे भावना की गई, कैसे बढ़ाई गई कायगता-स्मृति महाफलवान्, महागुणवान् होती है ? यहाँ, भिक्षुओ, भिक्षु आरण्य में गया हुआ या"[३] आदि प्रकार से आनापान-पर्व, ईर्यापथ-पर्व, चतुर्सम्प्रजन्य-पर्व, प्रतिकूल मनसिकार-पर्व, धातु-मनसिकार-पर्व, नव शीवथिक-पर्व—इन चौदह पर्वों के अनुसार कायगता-स्मृति-कर्मस्थान निर्दिष्ट हुआ है, (अब) उसका भावना-निर्देश आ गया।

---

१. तीन विद्याओं, चित्त की विमुक्ति अर्थात् निर्वाण और चारों श्रामण्य-फल के साक्षात्कार के लिये होता है—यह भावार्थ है।

२. अंगुत्तर नि० १,५।

३. मज्झिम नि० ३, २, ९।

उनमें, ईर्यापथ-पर्व, चतुर्सम्प्रजन्य-पर्व, धातु-मनसिकार-पर्व—ये तीन विपश्यना के अनुसार कहे गये हैं। नव शीवथिक-पर्व विपश्यना- ज्ञानों में ही दोषों को देखने के अनुसार कहे गये हैं। और जो भी ऊर्ध्वमातक आदि में समाधि-भवना सिद्ध होती, वह अशुभ-निर्देश में प्रकाशित ही है, किन्तु आनापान-पर्व और प्रतिकूल-मनसिकार—ये ही यहाँ दो समाधि के रूप से कहे गये हैं। उनमें आनापान-पर्व आनापान-स्मृति के अनुसार अलग कर्मस्थान ही है।

किन्तु जो—"**पुन च परं, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं उद्धं पादतला अधो केसमत्थका तचपरियन्तं पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति–अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, दन्ता, तचो; मंसं, नहारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्जं,वक्कं; हदयं, यकनं, किलोमकं, पिहकं, पप्फासं; अन्तं, अन्तगुणं, उदरियं,करीसं; पित्तं, सेम्हं, पुब्बो, लोहितं, सेदो, मेदो; अस्सु, वसा, खेलो, सिङ्घानिका, लसिका, मुत्तन्ति।**"[१]

[और फिर भिक्षुओ, भिक्षु इसी शरीर को पैर के तलवे से ऊपर और मस्तक के केश से नीचे, चमड़े से घिरे, नाना प्रकार की गन्दगियों से भरे हुये देखता है—इस शरीर में हैं केश, लोम, नख, दाँत, त्वक् (= चर्म,) मांस, स्नायु (= नस), हड्डी, हड्डी (के भीतर की) मज्जा, वृक्क, हृदय (= कलेजा), यकृत, क्लोमक, प्लीहा (= तिल्ली), फुफ्फुस, आँत, पतली आँत, उदरस्थ (वस्तुयें), पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद (= बर), आँसू, वसा (= चर्बी), थूक, पोंटा, लसिका (= केहुनी आदि जोड़ों में स्थित तरल पदार्थ), और मूत्र।]

—ऐसे मत्थलुङ्ग (= मस्तिष्क) को हड्डी (के भीतर की) मज्जा में मिलाकर प्रतिकूल मनसिकार के अनुसार उपदेशे गये बत्तीस-आकार का कर्मस्थान ही यहाँ कायगता-स्मृति है।

उसका, पालिके वर्णन के क्रम से ही यह भावना-निर्देश है—

इममेव कायं, इस चार महाभूतों से बने हुए गन्दे शरीर को। **उद्धं पादतला**, पैर के तलवे से ऊपर। **अधो केसमत्थका**, केश के अग्रभाग से नीचे। **तचपरियन्तं**, तिरछे चमड़े से घिरा हुआ। **पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति**, नाना प्रकार की केश आदि गन्दगियों से यह शरीर भरा हुआ है—ऐसे देखता है। कैसे? "इस शरीर में हैं केश... ......मूत्र।"

उनमें, **अत्थि**, विद्यमान् हैं। **इमस्मिं**, जो यह पैर के तलवे से ऊपर और मस्तक के केश से नीचे चमड़े से घिरा, नाना प्रकार की गन्दगियों से भरा हुआ—कहा जाता है, उसमें। **काये**, शरीर में। शरीर गन्दगी का समूह होने से कुत्सित (= निन्दित) केश आदि और चक्षु-रोग आदि सैकड़ों रोगों का उत्पत्ति-स्थान होने से काय कहा जाता है। **केसा, लोमा**, ये केश आदि बत्तीस-आकार। वहाँ, 'इस शरीर में केश हैं, इस शरीर में लोम हैं'—ऐसे सम्बन्ध जानना चाहिये।

क्योंकि इस (शरीर) में पैर के तलवे से लेकर ऊपर और मस्तक के केश से लेकर नीचे, चमड़े से लेकर चारों ओर—इतने व्याम (= चार हाथ) मात्र के शरीर में सब प्रकार से विचारते हुए, कोई मोती, मणि, वैदूर्य, अगर, कुङ्कुम, कपूर या सुगन्धी चूर्ण आदि कुछ अणुमात्र भी पवित्र नहीं देखता है, प्रत्युत अत्यन्त दुर्गन्ध, जिगुप्सित, अशुभ-दर्शन, नाना प्रकार

१. मज्झिम नि० ३, २, ९।

के केश, लोम आदि भेद वाली गन्दगी को ही देखता है । इसलिये कहा है—"इस शरीर में हैं केश, लोम......मूत्र ।"

—यह पद के सम्बन्ध से वर्णन है ।

इस कर्मस्थान की भावना करने की इच्छा वाले आदि कर्मिक (=प्रारम्भिक योगी) कुल-पुत्र को उक्त प्रकार के कल्याण-मित्र के पास जाकर,[1] इस कर्मस्थान को ग्रहण करना चाहिये । उस (योगी) के लिये कर्मस्थान कहने वाले को भी सात प्रकार की उग्गह की कुशलता और दस प्रकार की मनसिकार की कुशलता को कहना चाहिये । (१) वचन से (२) मन से (३) वर्ण से (४) बनावट से (५) दिशा से (६) अवकाश से (७) परिच्छेद से—ऐसे सात प्रकार के उग्गह की कुशलता को कहना चाहिये ।

इस प्रतिकूल मनसिकार (=मन में करना) के कर्मस्थान में जो त्रिपिटकधारी भी होता है, उसे भी मनसिकार के समय पहले वचन से पाठ करना चाहिये । किसी-किसी को पाठ करते हुए ही **मलयवासी महादेव स्थविर** के पास कर्मस्थान को धारण किये हुए दो स्थविरों के समान कर्मस्थान प्रगट होता है । स्थविर ने उनके कर्मस्थान को माँगने पर "चार महीने इसी का पाठ करो" (कह कर) बत्तीस-आकार के पालि को दिया । यद्यपि उन्हें दो-तीन निकाय याद थे, किन्तु वे सत्कार-पूर्वक आज्ञाकारी होने से चार महीने बत्तीस-आकार का पाठ करते हुए ही स्रोता-पन्न हुए । इसलिये कर्मस्थान कहने वाले आचार्य को शिष्य से कहना चाहिये—"अभी, पहले वचन से (=बोल-बोल कर) पाठ करो ।"

और, (वैसा) करने वाले को त्वक्-पञ्चक (=केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्) आदि का परिच्छेद करके सीधे और उल्टे पाठ करना चाहिये । केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्—कह कर फिर उल्टे त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये ।

उसके पश्चात् वृक्क-पञ्चक में—माँस, स्नायु, अस्थि (=हड्डी), अस्थि मज्जा (=हड्डी के भीतर की मज्जा), वृक्क कहकर फिर उल्टे वृक्क, अस्थि मज्जा, अस्थि, स्नायु, माँस, त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये ।

उसके पश्चात् फुफ्फुस-पञ्चक में—हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस कहकर फिर उल्टे फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थि-मज्जा, अस्थि, स्नायु, माँस, त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये ।

तत्पश्चात् मस्तिष्क-पञ्चक् में—आँत, पतली आँत, उदरीय, (=उदरस्थ वस्तुयें), पाखाना, मस्तिष्क कह कर, फिर उल्टे मस्तिष्क, पाखाना, उदरीय, पतली आँत, आँत, फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थि-मज्जा, अस्थि, स्नायु, माँस, त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये ।

तत्पश्चात् मेद-छक्के में—पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद (=बर) कह कर फिर उल्टे मेद, पसीना, लोहू, पीब, कफ, पित्त, मस्तिष्क, पखाना, उदरीय, पतली आँत, आँत फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थि-मज्जा, अस्थि, स्नायु, माँस, त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये ।

तत्पश्चात् मूत्र छक्के में—आँसू, वसा (=चर्बी) थूक, पोंटा, लसिका, मूत्र कह कर फिर उल्टे मूत्र, लसिका, पोंटा, थूक, वसा, आँसू, मेद, पसीना, लोहू, पीब, कफ, पित्त, मस्तिष्क,

१. देखिये तीसरा परिच्छेद ।

पाखाना, उदरीय, पतली आँत, आँत, फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थि-मज्जा, अस्थि, स्नायु, माँस, त्वक्, दाँत, नख, लोम, केश कहना चाहिये।

इस प्रकार सैकड़ों, हजारों, लाखों समय में भी बोल-बोल कर पाठ करना चाहिये। बोल-बोल कर पाठ करने से कर्मस्थान की तन्त्री अभ्यस्थ होती है और चित्त इधर-उधर नहीं दौड़ता है। भाग प्रगट होते हैं, हाथ की अंगुलियों और लकड़ियों से बने घेरे के पैर की पंक्ति के समान जान पड़ते हैं।

जैसे वचन से, वैसे ही **मन से** भी पाठ करना चाहिये। वचन से (= बोल-बोल कर) किया हुआ पाठ मन से किये हुए पाठ का प्रत्यय होता है। मन से किया हुआ पाठ (प्रतिकूल) लक्षण के प्रतिवेध का प्रत्यय होता है।

वर्ण से, केश आदि के वर्ण का ठीक-ठीक विचार करना चाहिये। **बनावट से,** उनकी ही बनावट का ठीक-ठीक विचार करना चाहिये। **दिशा से,** इस शरीर में नाभी से ऊपर ऊपरी-दिशा और नीचे निचली-दिशा है, इसलिये यह भाग इस दिशा में है—ऐसे दिशा का भली-भाति विचार करना चाहिये। **अवकाश से,** यह भाग इस अवकाश (= स्थान) में प्रतिष्ठित है—ऐसे उस-उस (भाग) के स्थान का भली-भाँति विचार करना चाहिये। **परिच्छेद से,** परिच्छेद दो प्रकार के होते हैं—सभाग परिच्छेद और विसभाग परिच्छेद। उनमें, यह भाग नीचे, ऊपर और तिरछे इससे अलग हुआ है—ऐसे सभाग-परिच्छेद को जानना चाहिये। केश लोम नहीं हैं, लोम भी केश नहीं हैं—ऐसे अनमेल (= अ-मिश्रित होने) के अनुसार विसभाग परिच्छेद को जानना चाहिये।

ऐसे सात प्रकार के उग्गह-कौशल्य को कहते हुए यह कर्मस्थान अमुक सूत्र में प्रतिकूल के तौर पर कहा गया है, अमुक में धातु के तौर पर, इस प्रकार जानकर कहना चाहिये। क्योंकि यह **महासतिपट्ठानसुत्त**[1] में प्रतिकूल के तौर पर कहा गया है और **महाहत्थिपदोपम,**[2] **महा-राहुलोवाद,**[3] **धातु-विभङ्ग,**[4] में धातु के तौर पर कहा गया है। किन्तु **कायगतासति सुत्त**[5] में—जिसे वर्ण से (केश आदि) जान पड़ते हैं, उसके प्रति चार ध्यान विभक्त हुए हैं। वहाँ, धातु के तौर पर कहा हुआ विपश्यना-कर्मस्थान होता है और प्रतिकूल के तौर पर कहा हुआ शमथ-कर्मस्थान। यह, यहाँ शमथ-कर्मस्थान ही है।

ऐसे सात प्रकार के उग्गह-कौशल्य को कह कर क्रम से, न बहुत शीघ्रता से, न बहुत धीरे से, विक्षेप को हटाने से, प्रज्ञप्ति के समतिक्रमण से, क्रमशः छोड़ने से, अर्पणा से और तीन सूत्रान्त से—ऐसे दस प्रकार के मनसिकार-कौशल्य को कहना चाहिये।

उनमें, **क्रम से,** इसे पाठ करने से लेकर तरतीब (= परिपाटी) से मन में करना चाहिये, एक-एक का अन्तर डालकर नहीं। एक-एक का अन्तर डालकर मन में करते हुए, जैसे गँवार आदमी बत्तीस-डण्डे वाली सीढ़ी पर एक-एक का अन्तर डालकर चढ़ते हुए थके-शरीर होकर

---

१. दीघ नि० २,९।
२. मज्झिम नि० १,३,८।
३. मज्झिम नि० २,२,२।
४. मज्झिम नि० ३,४,१०।
५. मज्झिम नि० ३,२,९।

गिर पड़ता है, चढ़ नहीं सकता है, ऐसे ही भावना की सम्पत्ति के अनुसार प्राप्त होने योग्य आस्वाद की अप्राप्ति से क्लान्त-चित्त होकर गिर पड़ता है, भावना नहीं कर सकता है।

और क्रम से मनसिकार (= मन में करना) करने वाले को भी बहुत शीघ्रता से मनसिकार नहीं करना चाहिये। क्योंकि बहुत शीघ्रता से मनसिकार करने वाले का, जैसे तीन योजन के (लम्बे) मार्ग पर जाते हुए उतरने, छोड़ने को भली-भाँति नहीं देखकर शीघ्र, तीव्र गति से सौ बार भी आने-जाने वाले आदमी को यद्यपि मार्ग समाप्त हो जाता है, किन्तु पूछ कर ही जाना पड़ता है, ऐसे ही कर्मस्थान समाप्त हो जाता है, किन्तु अ-स्पष्ट ही होता है, विशेष की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये **न बहुत शीघ्रता से** मनसिकार करना चाहिये।

और जैसे न बहुत शीघ्रता से, ऐसे ही **न बहुत धीरे से** भी। क्योंकि बहुत धीरे-से मन में करने वाले का, जैसे उसी दिन तीन योजन वाले मार्ग पर चलने वाले आदमी को मार्ग में पेड़, पर्वत, तालाब आदि (स्थानों) में रुकने से मार्ग समाप्त नहीं होता है, दो-तीन दिन में समाप्त करना पड़ता है, ऐसे ही कर्मस्थान समाप्त नहीं होता है और न विशेष की प्राप्ति का प्रत्यय।

विक्षेप को हटाने से, कर्मस्थान को छोड़ कर बाहर नाना आलम्बनों में चित्त के विक्षेप को हटाना चाहिये। नहीं हटाने वाले का, जैसे एकपदिक प्रपात के मार्ग पर चलने वाले आदमी के (आगे) रखने वाले पैर का ठीक से ख्याल न करके इधर-उधर देखते हुए पैर विचलित हो जाता है और तत्पश्चात् उसे सौ पोरसा के प्रपात में गिरना पड़ता है। ऐसे ही बाहरी विक्षेप होने पर कर्मस्थान परिहीन और नष्ट हो जाता है। इसलिये विक्षेप को हटाने से मनसिकार करना चाहिये।

प्रज्ञप्ति के समतिक्रमण से, जो यह केश, लोम आदि प्रज्ञप्ति है, उसका अतिक्रमण करके 'प्रतिकूल' है—ऐसा चित्त को रखना चाहिये। जैसे कि पानी के दुर्लभ समय में आदमी जंगल में कूँयें को देखकर, वहाँ ताड़ की पत्तियाँ आदि कुछ चिह्न बाँध कर, उसी चिह्न से आकर स्नान करते और (पानी) पीते हैं, किन्तु जब उनके हमेशा संचरण करने से आया-गया हुआ पैर प्रगट होता है, तब चिह्न से काम नहीं होता है, चाहे-चाहे हुए क्षण जाकर स्नान करते और (पानी) पीते हैं। ऐसे ही पूर्व भाग में केश, लोम—प्रज्ञप्ति के अनुसार मनसिकार करने वाले को प्रतिकूल-भाव प्रगट होता है। तब केश, लोम–ऐसे प्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर प्रतिकूल-भाव में ही चित्त को रखना चाहिये।

क्रमशः छोड़ने से, जो-जो भाग नहीं जान पड़ता है, उसे उसे छोड़ते हुए क्रमशः छोड़ने से मनसिकार करना चाहिये। आदि-कर्मिक के 'केश' मनसिकार करते हुए मनसिकार जाकर 'मूत्र' इस अन्तिम भाग में ही लग कर रुकता है, और 'मूत्र' मनसिकार करते हुए मनसिकार जाकर 'केश' इस प्रारम्भ के भाग में ही लग कर रुकता है, तब उसे मनसिकार करते, मनसिकार करते हुए कोई-कोई भाग जान पड़ते हैं, कोई-कोई नहीं जान पड़ते हैं। उसे जो जो जान पड़ते हैं, उन-उन में तब तक काम करना चाहिये जब तक कि दो के जान पड़ने पर, उनमें भी एक भली प्रकार जान पड़े। ऐसे जान पड़ते हुए उसी (भाग) को बार-बार मनसिकार करते हुए अर्पणा को उत्पन्न करना चाहिये।

वहाँ, यह उपमा है—जैसे बत्तीस ताड़ वाले ताड़वन में रहने वाले बन्दर को पकड़ने की इच्छा वाला व्याधा प्रारम्भ में स्थित ताड़ के पत्ते को वाण से मार कर हल्ला मचाये, तब वह

बन्दर तरतीब से उस-उस ताड़ पर कूद कर अन्तिम ताड़ पर ही जाये। वहाँ भी जा कर व्याधा के वैसा करने पर फिर उसी प्रकार प्रारम्भ के ताड़ पर आ जाय। वह ऐसे बार-बार तरतीब से जाते हुए हल्ला किये, हल्ला किये हुए ही स्थान से कूदकर क्रमशः एक ताड़ पर गिर कर उसके बीच में मुकुलित ताड़ के पत्ते की शूचि को मज़बूती से पकड़कर (वाण से) बिधे जाने पर भी न उठे, ऐसे ही इसे भी जानना चाहिये।

यह उपमा का संसन्दन (=समता-करण) है—जैसे कि ताड़वन में बत्तीस ताड़ हैं, ऐसे इस शरीर में बत्तीस भाग हैं। बन्दर के समान चित्त है। व्याधा के समान योगी है। बन्दर के बत्तीस ताड़ वाले ताड़वन में रहने के समान योगी के चित्त का बत्तीस भाग वाले शरीर में आलम्बन के अनुसार संचरण करना है। व्याधा के प्रारम्भ में स्थित ताड़ के पत्ते को वाण से मारकर हल्ला करने पर बन्दर के उस उस ताड़ पर कूदकर अन्तिम ताड़ पर जाने के समान योगी के 'केश हैं' ऐसा मनसिकार आरम्भ करने पर तरतीब से जाकर अन्तिम भाग में ही चित्त का रुकना। फिर लौटने में भी इसी प्रकार। बार-बार तरतीब से आते-जाते हुए बन्दर के हल्ला किये, हल्ला किये जाने की जगह से कूदने के समान बार-बार मनसिकार करने वाले को किसी-किसी के जान पड़ने पर नहीं जान पड़ने वाले (भाग) को छोड़कर, जान पड़ने वाले (भाग) में परिकर्म करना। क्रमशः एक ताड़ पर कूदकर उसके बीच में मुकुलित ताड़ के पत्ते की शूचि को मज़बूती से पकड़कर (वाण से) बिधे जाते हुए भी न उठने के समान अन्त में दो के जान पड़ने पर, जो भली भाँति जान पड़ता है, उसे ही बार-बार मन में करके अर्पणा को उत्पन्न करना।

दूसरी भी उपमा है—जैसे पिण्डपातिक (=भिक्षा माँगने वाला) भिक्षु बत्तीस घर वाले गाँव के सहारे रहते हुए पहले घर में ही दो भिक्षाओं को पाकर[1] आगे के एक (घर) को छोड़ दे, दूसरे दिन तीन को पाकर आगे के दो को छोड़ दे, तीसरे दिन प्रारम्भ में ही पात्र भर पाकर आसन-शाला में जाकर खाये, ऐसे ही इसे जानना चाहिये।

बत्तीस घरके गाँव के समान बत्तीस-आकार है। पिण्डपातिक के समान योगी है। उसके उस गाँव के सहारे रहने के समान योगी के बत्तीस-आकार में परिकर्म का करना। पहले घर में दो भिक्षाओं को पाकर आगे के एक (घर) को छोड़ने और दूसरे दिन तीन पाकर आगे के दो (घर) को छोड़ने के समान मनसिकार करते हुए, मनसिकार करते हुए नहीं जान पड़नेवाले (भाग) को छोड़कर जान पड़नेवालों में दो भाग तक में परिकर्म का करना। तीसरे दिन प्रारम्भ में ही पात्र भर पाकर आसन-शाला में बैठकर खाने के समान, दोनों में जो भली प्रकार जान पड़ता है, उसीको बार-बार मन में करके अर्पणा को उत्पन्न करना।

अर्पणा से, अर्पणा के भाग से। केश आदि में से एक-एक भाग में अर्पणा होती है—ऐसा जानना चाहिये—यही इसका तात्पर्य है।

तीन सूत्रान्त से, अधिचित्त (=शमथ और विपश्यना-चित्त), शीति-भाव (=शान्त-भाव), बोध्यङ्ग की कुशलता—ये तीन सूत्रान्त वीर्य और समाधि (दोनों) को (समान-रूपसे) लगाने के लिये जानना चाहिये। यह इसका तात्पर्य है।

वहाँ, "भिक्षुओ, अधिचित्त में लगे हुए भिक्षु को तीन निमित्तों का समय समय पर मनसिकार करना चाहिये (१) समय-समय पर समाधि-निमित्त को मन में करना चाहिये, (२)

१. दो घरों में भिक्षा को पाकर—भावार्थ है।

समय-समय पर पग्रह (= वीर्य) निमित्त को मन में करना चाहिये, (३) समय-समय पर उपेक्षा निमित्त को मन में करना चाहिये।

भिक्षुओ, यदि अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु एकदम समाधि-निमित्त को ही मन में करे, तो सम्भव है कि वह चित्त आलस्य का कारण बने।

भिक्षुओ, यदि अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु एकदम पग्रह निमित्त को ही मन में करे तो सम्भव है कि वह चित्त औद्धत्यका कारण बने।

भिक्षुओ, यदि अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु एकदम उपेक्षा-निमित्त को ही मन में करे तो सम्भव है कि वह चित्त आश्रवों के क्षय के लिए भली प्रकार समाधिस्थ न हो।

भिक्षुओ, चूँकि अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु समय-समय पर समाधि निमित्त···पग्रह निमित्त···उपेक्षा निमित्त को मन में करता है, इसलिये वह चित्त मृदु, कार्य करने के योग्य तथा प्रभास्वर (=उपक्लेशों से रहित होने से परिशुद्ध) होता है, भङ्ग होने के स्वभाव का नहीं होता और आश्रवों के क्षय के लिये भली प्रकार समाधिस्थ होता है।

जैसे भिक्षुओ, सोनार या सोनार का शिष्य उल्का[1] (= सोनार के धातु तपाने की अंगीठी) को बनाता है, उल्का को बनाकर उल्का के मुख में आग जलाता है, संडास से सोने को पकड़कर उल्का के मुख में डालकर समय-समय पर फूँकता है, समय-समय पर पानी का फुहारा देता है, समय-समय पर मध्यस्थ रहता है।

भिक्षुओ, यदि सोनार या सोनार का शिष्य उस सोने को एकदम फूँके, तो सम्भव है कि सोना जल जाय। भिक्षुओ, यदि सोनार या सोनार का शिष्य उस सोने को एकदम पानी का फुहारा दे, तो सम्भव है कि सोना ठंडा हो जाय। भिक्षुओ, यदि सोनार या सोनार का शिष्य उस सोने के प्रति एकदम मध्यस्थ हो जाय, तो सम्भव है कि वह सोना भली-भाँति न पके। भिक्षुओ, चूँकि सोनार या सोनार का शिष्य उस सोने को समय-समय पर फूँकता है, समय-समय पर पानी से फुहारा देता है, समय-समय पर मध्यस्थ रहता है, इसलिये वह सोना मृदु, कार्य करने के योग्य और प्रभास्वर (= परिशुद्ध) होता है, भङ्गुर नहीं होता है, काम के लिये ठीक उतरता है। और यदि पट्टी, कुण्डल, ग्रैवेय (= गले का आभूषण), सुवर्ण-माला (=हार)—जिस-जिस प्रकार के आभूषण को चाहता है, वह उसके लिये ठीक उतरता है।

भिक्षुओ, ऐसे ही अधिचित्त में लगे हुए भिक्षु को·········[2]आश्रवों के क्षय के लिये भली प्रकार समाधिस्थ होता है, और अभिज्ञा के साक्षात्कार के लिये जिस-जिस अभिज्ञा का साक्षात कराने वाले धर्म के लिये चित्त को झुकाता है, उस उस में ही (पूर्व हेतु आदि) कारण होने पर सफल होता है।"[3]—इस सूत्र को अधिचित्त जानना चाहिये।

"भिक्षुओ, छः बातों से युक्त भिक्षु अनुत्तर शीति-भाव (= निर्वाण) का साक्षात करने में सफल होता है। किन छः (बातों) से? (१) भिक्षुओ, यहाँ, भिक्षु जिस समय चित्त का दमन (= निग्रह) करना चाहिये, उस समय चित्त का दमन करता है। (२) जिस समय

१. उल्का के लिये देखिये अभिधानप्पदीपका—

" कम्मारुद्धन अङ्गार कपल्लदीपिकासु च।
सुवण्णकारसुसाय-मुक्का वेगे च वायुनो॥ ७९५॥

२. देखिये इसी पृष्ठ में ऊपर।

३. अंगुत्तर निकाय ३, ५, ११।

चित्त को पकड़ना (= प्रग्रह) चाहिये, उस समय चित्त को पकड़ता है। (३) जिस समय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करना चाहिये, उसमय चित्त को हर्षोत्फुल्ल करता है। (४) जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये, उस समय चित्त की उपेक्षा करता है। (५) प्रणीत (= लोकोत्तर) धर्मों में लगा और (६) निर्वाण में अभिरत होता है। भिक्षुओ, इन छः बातों से युक्त भिक्षु अनुत्तर शीतिभाव का साक्षात करने में सफल होता है।"[1]—इस सूत्र को शीति-भाव जानना चाहिये।

बोध्यङ्ग की कुशलता को "ऐसे ही भिक्षुओ, जिस समय चित्त संकुचित होता है, उस समय प्रश्रब्धि-बोध्यङ्ग की भावना करने के लिये अकाल है[2]।"—ऐसे अर्पणा की कुशलता की कथा (= वर्णन) में दिखलाया ही गया है।

इस सात प्रकार के उग्गह-कौशल्य को भली-प्रकार धारण करके इस दस प्रकार के मनसिकार-कौशल्य को भली भाँति विचार कर, उस योगी को दोनों के कौशल्य के अनुसार कर्मस्थान को भली प्रकार सीखना चाहिये।

यदि उसे आचार्य के साथ एक विहार में ही उपयुक्त होता है, तो ऐसे विस्तारपूर्वक न कहलवा कर कर्मस्थान को भली प्रकार विचार कर कर्मस्थान में लगे हुए विशेष को प्राप्त कर आगे-आगे कहलवाना चाहिये। दूसरे स्थान पर रहने के इच्छुक को यथोक्त विधि से विस्तार-पूर्वक कहलवाकर, बार-बार कह कर सब ग्रन्थि-स्थानों को काट कर (=गम्भीर बातों को जान कर) **पृथ्वी-कसिण निर्देश** में कहे गये प्रकार से ही अननुरूप शयनासन को छोड़ कर अनुरूप (शयनासन) में विहरते हुए, छोटे-छोटे विघ्नों को दूर कर प्रतिकूल-मनसिकार में परिकर्म करना चाहिये।

(परिकर्म) करने वाले को पहले केशों में निमित्त-ग्रहण करना चाहिये। कैसे? एक या दो केश को उखाड़ हथेली पर रख कर पहले वर्ण (= रंग) का विचार करना चाहिये। टूटे हुए स्थान पर भी केशों को देखना चाहिये। पानी के बर्तन में या यवागु के पात्र में देखना भी ठीक है। काला (होने के) समय देख कर "काले हैं" मन में करना चाहिये। सफ़ेद होने के समय सफ़ेद और मिले हुए रंग के होने के समय बाहुल्य के अनुसार मन में करना पड़ता है। जैसे केशों में, ऐसे सारे त्वक् पञ्चक को भी देख कर ही निमित्त को ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार निमित्त को ग्रहण करके सब भागों को वर्ण, बनावट, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार विचार कर वर्ण, बनावट, गन्ध, आशय, अवकाश के अनुसार पाँच प्रकार से प्रतिकूल होने का विचार करना चाहिये।

(१) केश

यह सब भागों में क्रमशः कथा है—

केश—प्राकृतिक रंग से काले कच्चे अरिष्ट के फल के रंग के समान होते हैं। बनावट से लम्बे, गोल, तराजू के डण्डे की बनावट के समान और दिशा से ऊपरी दिशा में होते हैं। अवकाश से दोनों पार्श्व में कनपट्टी, आगे ललाट और पीछे गर्दन के गड्ढे से अलग हुआ शिर के कटाह का वेष्ठित चर्म केशों का अवकाश (= स्थान) है। परिच्छेद से, केश शिर को वेष्ठित करने वाले चर्म

१. अंगुत्तर नि० ६, ९, १।

२. देखिये पृष्ठ १२०।

में धान की नोक के बराबर प्रवेश कर प्रतिष्ठित हो, नीचे अपनी जड़ की तल, ऊपर आकाश और तिरछे एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। दो केश एक में नहीं हैं—यह सभाग परिच्छेद है। केश लोम नहीं हैं और न लोम केश—ऐसे शेष एकतिस भागों से नहीं मिले हुये केश अलग ही एक भाग है—यह विसभाग परिच्छेद है। यह केशों के वर्ण आदि से विचार करना है।

यह उनके वर्ण आदि के अनुसार पाँच प्रकार के प्रतिकूल होने से विचारना है—

ये केश वर्ण से भी प्रतिकूल हैं, बनावट से भी, गन्ध से भी, आशय से भी, अवकाश से भी।

मनोज्ञ भी यवागु या भात के पात्र में केश के रंग का कुछ देख कर 'इसमें केश मिला हुआ है, इसे ले जाओ' ऐसे घृणा करते हैं। इस प्रकार केश रंग से प्रतिकूल है। रात में भोजन करते हुए भी, केश की बनावट के मदार या मकचि के रेशे को स्पर्श करके वैसे ही घृणा करते हैं। इस प्रकार बनावट से प्रतिकूल हैं।

तेल लगाने और फूल, धूप आदि से न सजाने वाले (लोगों) के केशों की दुर्गन्धि अत्यन्त घृणित होती है, उससे घृणिततर होती है आग में डाले हुये की। केश वर्ण और बनावट से अ-प्रतिकूल (=अघृणित) भी हो सकते हैं, किन्तु गन्ध से प्रतिकूल ही होते हैं, जैसे कि छोटे बच्चे का पाखाना रंग से हल्दी के रंग का होता है, बनावट से हल्दी की पिण्डी की आकृति जैसा, और घूरे (= कूराकरकट फेंकने के स्थान) पर फेंके फूले हुये काले कुत्ते का शरीर वर्ण से पके हुए ताड़ के रंग का होता है, बनावट से छाकर फेंके हुए मृदङ्ग की बनावट जैसा। उसके दाँत भी फूल की कली के समान होते हैं—ऐसे दोनों भी वर्ण से अप्रतिकूल हो सकते हैं, किन्तु गन्ध से प्रतिकूल ही हैं। इसी प्रकार केश भी रंग और बनावट से अप्रतिकूल हो सकते हैं, किन्तु गन्ध से प्रतिकूल ही हैं।

जैसे कि गन्दगी के स्थान में गाँव के मैले से उत्पन्न सूप बनाने के पत्ते नागरिक मनुष्यों के लिये घृणित होते हैं, परिभोग नहीं करने के योग्य होते हैं, ऐसे ही केश भी पीब, लोहू, पेशाब, पाखाना, पित्त, कफ़ आदि के विपाक से उत्पन्न होने से घृणित हैं—यह उनके आशय से प्रतिकूल होना है।

ये केश गूथ-राशि से उत्पन्न हुई कर्णिका के समान एकतिस भाग की राशि में उत्पन्न हुये हैं। वे श्मशान, कूराकरकट फेंकने आदि के स्थान में उत्पन्न हुए साग के समान और खाई में उत्पन्न हुये कमल, कुवलय आदि के फूलों के समान गन्दे स्थान में उत्पन्न होने से अत्यन्त जिगुप्सनीय हैं। यह उनके अवकाश से प्रतिकूलता है।

जैसे केशों की, ऐसे ही सब भागों की वर्ण, बनावट, गन्ध, आशय, अवकाश के अनुसार पाँच प्रकार की प्रतिकूलता जाननी चाहिये। वर्ण, बनावट, दिशा, अवकाश, परिच्छेद से सभी को अलग-अलग विचारना चाहिये।

(२) लोम

लोम—प्राकृतिक रंग से केशों के समान एकदम काले नहीं होते। (वे) भूरे होते हैं। बनावट से शिर से झुके हुये ताड़ की जड़ की बनावट जैसे होते हैं। दिशा से दोनों दिशाओं में होते हैं। अवकाश से, केशों के प्रतिष्ठित होने के स्थान तथा हाथ-पैर के तलवे को छोड़कर प्रायः अवशेष शरीर को वेष्ठित करने वाले चर्म में उत्पन्न हैं। परिच्छेद से, शरीर को वेष्ठित किये

हुए चर्म में जूँ (=शिर के बालोंकी लिक्षा=लीख) के बराबर प्रवेश करके प्रतिष्ठित हो नीचे अपनी जड़, ऊपर आकाश और तिरछे एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। दो लोम एक में नहीं हैं—यह उनका सभाग-परिच्छेद है। विसभाग-परिच्छेद केश के समान ही।

(३) नख

नख—वीस नख-पत्रों का नाम है। वे सभी रंग से सफेद हैं। बनावट से मछली की चोंइया (= शकलिका) की बनावट के हैं। दिशा से पैर के नख निचली दिशा में और हाथ के नख ऊपरी दिशा में—इस प्रकार दोनों दिशाओं में हैं। अवकाश से, अंगुलियों की अगली पीठों में प्रतिष्ठित हैं। परिच्छेद से दोनों दिशाओं में अंगुली के छोर के मांस, भीतर अंगुली की पीठ के मांस, बाहर तथा आगे आकाश और तिरछे एक दूसरे से परिछिन्न हैं। दो नख एक में नहीं हैं—यह उनका सभाग-परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(४) दाँत

दाँत—परिपूर्ण दाँत वाले (व्यक्ति) को बत्तीस दाँत की हड्डियाँ होती हैं। वे भी रंग से सफेद हैं। बनावट से, अनेक बनावट के हैं। उनकी निचली दाँत की पंक्ति के बीच चार दाँत, मिट्टी की पिंडी पर तरतीब से रखे हुये लौकी के बीज की बनावट के होते हैं। उनके दोनों पार्श्व में एक-एक (दाँत) एक जड़ और एक नोक वाले मुकुलित चमेली की बनावट के होते हैं। उसके बाद एक-एक (दाँत) दो-जड़ और दो नोक वाले गाड़ी के सिपावे की बनावट के। तत्पश्चात् दो-दो (दाँत) तीन जड़ और तीन नोक वाले। तथा उसके बाद दो-दो (दाँत) चार-जड़ और चार नोक वाले होते हैं। ऊपरी पंक्ति में भी इसी प्रकार। दिशा से, ऊपरी दिशा में होते हैं। अवकाश से दोनों ठुड्डी की हड्डियों में प्रतिष्ठित होते हैं। परिच्छेद से नीचे ठुड्डी की हड्डी में प्रतिष्ठित होने से अपनी जड़, ऊपर आकाश और तिरछे एक दूसरे से परिच्छिन्न होते हैं। दो दाँत एक में नहीं होते हैं—यह उनका सभाग-परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(५) त्वक्

त्वक्—कहते हैं सारे शरीर को वेष्टित करके रहने वाले चर्म को। उसके ऊपर काले, पीले, साँवले आदि रंग की छवि होती है। जो सारे शरीर से भी एकत्र करने पर बैर की गुठली के बराबर होती है। त्वक् रंग से सफेद ही होता है। उसका वह सफेद होना आग की लपट से जलने, हथियार से मार खाने आदि से छवि के विनष्ट हो जाने पर प्रगट होता है। बनावट से (वह) शरीर की ही बनावट का होता है। यह संक्षेप है।

विस्तार से—पैर की अंगुलियों का चमड़ा रेशम के कीड़े की थैली की बनावट का होता है। पैर की पीठ का चमड़ा बूट जूते (=पुटबन्ध उपाहन) की बनावट का, नरहर का चमड़ा भात रखने के लिये बने हुये ताड़-पत्र की बनावट का, जंघे का चमड़ा चावल से भरी हुई लम्बी थैली की बनावट का, पुट्ठे का चमड़ा पानी से भरे हुये जलछाके के कपड़े की बनावट का, पीठ का चमड़ा तख्ते पर छाये हुये चमड़े की बनावट का, पेट का चमड़ा सारङ्गी की द्रोणी पर मढ़े हुये चमड़े की बनावट का, छाती का चमड़ा प्रायः चौकोर बनावट का, दोनों बाँहों का चमड़ा तूणीर पर चढ़ाये हुये चमड़े की बनावट का, हाथ की पीठ का चमड़ा छूरे की थैली की बनावट का या कंघी की

थैली की बनावट का, हाथ की अंगुलियों का चमड़ा कुञ्जी के कोष की बनावट का, गर्दन का चमड़ा गले के कंचुक की बनावट का, मुख का चमड़ा बहुत से छेदों वाले कीड़ों के घोसले की बनावट का, और शिर का चमड़ा पात्र के रखने के थैले की बनावट का होता है।

त्वक् का विचार करने वाले योगी को ऊपरी ओंठ से लेकर ऊपर की ओर ज्ञान को भेज कर, पहले मुख को घेरे हुये चमड़े का विचार करना चाहिये। उसके बाद ललाट की हड्डी के चमड़े का। तत्पश्चात् थैले में रखे हुये पात्र और थैले के बीच हाथ के समान शिर की हड्डी और शिर के चमड़े के अन्तर से ज्ञान को भेज कर हड्डी के साथ चमड़े के एकाबद्ध होने को अलग करते हुये शिर के चमड़े को विचारना चाहिये। उसके बाद कन्धे के चमड़े को। तत्पश्चात् अनुलोम और प्रतिलोम से दाहिने हाथ के चमड़े को। उसी प्रकार बायें हाथ के चमड़े को। उसके बाद पीठ के चमड़े का विचार करके अनुलोम और प्रतिलोम से दाहिने पैर के चमड़े को। उसी प्रकार बायें पैर के चमड़े को। तत्पश्चात् क्रमशः वस्ति (= मूत्राशय), पेट, हृदय (= छाती), गर्दन के चमड़ों का विचार करना चाहिये। तब गर्दन के चमड़े के बाद निचली हड्डी के चमड़े का विचार करके अधर-ओंठ के अन्ततक लेजाकर समाप्त करना चाहिये। ऐसे स्थूल का विचार करते हुए सूक्ष्म भी प्रगट होता है।

दिशा से, दोनों दिशाओं में है। अवकाश से सारे शरीर को घेरा हुआ है। परिच्छेद से नीचे प्रतिष्ठित हुये तल और ऊपर आकाश से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग-परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(६) मांस

मांस—नव सौ मांस की पेशियाँ। वह सभी रंग से, पलाश के फूल के सदृश लाल हैं। बनावट से, नरहर के मांस का पिण्ड भात से भरे हुए ताड़-पत्र की बनवट का, जंघे का मांस लोढ़े (= निसदपोत) की बनावट का, पुट्ठे का मांस (मिट्टी से बनाये हुए) चूल्हे के सिरे की बनावट का, पीठ का मांस ताड़ के गुड़ के पटल[१] की बनावट का, दोनों पसली का मांस डेहरी के पेट पर पतली मिट्टी के लेपन की बनावट का, स्तन का मांस खड़े होकर फेंके हुए मिट्टी के पिंड की बनावट का, और दोनों बाँहों का मांस द्विगुणा (= दोहरा) करके रखे हुए चर्म रहित बहुत बड़े चूहे की बनावट का होता है। ऐसे स्थूल-स्थूल का विचार करते हुए सूक्ष्म भी प्रगट होता है।

दिशा से, दोनों दिशाओं में हैं। अवकाश से तीन सौ से अधिक हड्डियों को लीपकर स्थित है। परिच्छेद से नीचे हड्डियों के समूह में प्रतिष्ठित हुये तल से, ऊपर चमड़े से और तिरछे एक दूसरे से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग-परिच्छेद है। विसभाग-परिच्छेद केश के समान ही है।

(७) स्नायु

स्नायु—नव सौ स्नायु (= नस)। रंग से सभी स्नायु सफेद हैं। बनावट से नाना बनावट की हैं। इनमें गर्दन से ऊपरी भाग से लेकर पाँच महा स्नायु शरीर को बाँधती हुई आगे

१. 'पके हुए ताड़ के फल के गूदे को ताड़ की चटाई आदि के ऊपर लीपकर सुखा करके निकाला हुआ पटल'—टीका। ताड़ की चटाई पर ताड़ के गूदे को सुखा कर पटलरूप में बनाये गये गुड़ के समान—सिंहल सन्नय।

की ओर से उतरती हुई हैं। पाँच पीछे की ओर से, पाँच दाहिने ओर से और पाँच बायें ओर से। दाहिने हाथ को बाँधती हुई भी हाथ के अगले ओर से पाँच, पिछले ओर से पाँच। वैसे ही बायें हाथ को बाँधती हुई। दाहिने पैर को बाँधती हुई भी पैर के अगले ओर से पाँच, पिछले ओर से पाँच। वैसे ही बायें पैर को बाँधती हुई भी—ऐसे शरीर को धारण करने वाली साठ महा-स्नायु शरीर को बाँधती हुई उतरी हैं, जो 'कण्डरा'[१] भी कही जाती हैं। वे सभी कन्दल[२] की कली की बनावट की होती हैं। अन्य उन-उन स्थानों में प्रवेश करके रहनेवाली उससे सूक्ष्मतर सूत की रस्सी की बनावट की होती हैं। अन्य उससे सूक्ष्मतर गुरुचि की बनावट की; दूसरी उससे सूक्ष्मतर बड़ी सारङ्गी की ताँत की बनावट की और अन्य मोटे सूत की बनावट की होती हैं। हाथ-पैर की पीठों में स्नायु पक्षी के पैर की बनावट की होती हैं। शिर में लड़कों के शिर पर बँधी जाल की बनावट की। पीठ में स्नायु धूप में फैलाई हुई गीली जाल की बनावट की, और शेष उस-उस अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश की हुई स्नायु शरीर में पहनी हुई बण्डी (= जालकञ्चुक) की बनावट की होती हैं।

दिशा से, दोनों दिशाओं में हैं। अवकाश से सारे शरीर में हड्डियों को बाँध कर स्थित हैं। परिच्छेद से, नीचे तीन सौ हड्डियों के ऊपर प्रतिष्ठित हुये तल से, ऊपर मांस और चमड़े से सटकर रहने के प्रदेश से और तिरछे एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। यह उनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(८) हड्डी

हड्डी—बत्तीस दाँत की हड्डियों को छोड़ कर अवशेष चौसठ हाथ की हड्डियाँ, चौसठ पैर की हड्डियाँ, चौसठ मांस के सहारे रहने वाली नर्म हड्डियाँ, दो एड़ी की हड्डियाँ, प्रत्येक पैर में दो-दो गुल्फ की हड्डियाँ, दो नरहर की हड्डियाँ, एक घुटने की हड्डी, एक जंघे की हड्डी, दो कमर की हड्डियाँ, अठारह पीठ के काँटों की हड्डियाँ, चौबीस पसली की हड्डियाँ, चौदह छाती की हड्डियाँ, एक हृदय (= कलेजा) की हड्डी, दो अक्षक (= हँसली) की हड्डियाँ, दो पेट के भीतर की हड्डियाँ, दो बाँह की हड्डियाँ, दो दो अग्रबाँह की हड्डियाँ, सात गले की हड्डियाँ, दो ठुड्डी की हड्डियाँ, एक नाक की हड्डी, दो आँख की हड्डियाँ, दो कान की हड्डियाँ, एक ललाट की हड्डी, एक मूर्द्धा की हड्डी, नव सिर की खोपड़ी की हड्डियाँ—इस प्रकार तीन सौ हड्डियाँ हैं। वे सभी रंग से श्वेत हैं, बनावट से नाना बनावट की हैं।

उनमें पैर की अंगुलियों के अग्र-भाग की हड्डियाँ रीठा (= कतक = निर्मली) के बीज की बनावट की हैं। उसके अनन्तर बीच के पर्व की हड्डियाँ कटहल के बीज की बनावट की हैं। मूल-पर्व की हड्डियाँ पणव की बनावट की हैं। पैर की पीठ की हड्डियाँ कूटे हुए जिमीकन्द (= सूरन) की राशि की बनावट की हैं। एड़ी की हड्डी एक गुठली वाले ताड़ के फल के बीज की बनावट की है।

---

१. बड़ी नाड़ी। "कण्डरा तु महासिरा"—अभिधान० २७९।

२. 'कन्दल' शब्द विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से वर्णित है, किन्तु यहाँ टीका, अनुटीका आदि के लेखक मौन हैं। यह शब्द सच्चक सुत्त (मज्झिम नि० १, ४, ५) और अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ नि० १, ३) की अट्ठकथाओं में वज्रपाणि यक्ष के दाँत की उपमा में प्रयुक्त है—"कन्दल मकुल सदिसा दाठा।" और जानकीहरण में "प्रवीकशाद्वलकन्दल शोभिनी" कहा गया है।

गुल्फ की हड्डियाँ बाँधी हुई खेलने की गोलियों[1] की बनावट की हैं। नरहर की हड्डियाँ गुल्फ की हड्डियों में प्रतिष्ठित स्थान छिलका नहीं छुड़ायी हुई खजूरी के गोंफा की बनावट की हैं, नरहर की छोटी हड्डी धनुही के डण्डे की बनावट की है। बड़ी मुरझाये हुए साँप की पीठ की बनावट की है। घुटने की हड्डी एक ओर से नष्ट हो गई फेन की बनावट की है। उसमें नरहर की हड्डी का प्रतिष्ठित स्थान गाय की अत्यन्त नोकीली सींग की बनावट की है। जंघे की हड्डी भली प्रकार नहीं गढ़े हुये बसूला-कुल्हाड़ी के डण्डे की बनावट की है। उसके कमर में प्रतिष्ठित स्थान खेलने वाली गोली की बनावट की है। उससे कमर की हड्डी का प्रतिष्ठित स्थान सिरा कटे हुए बड़े पुन्नाग के फल की बनावट की है।

कमर की हड्डियाँ दोनों भी एक में जुटी हुई कुम्हार के बनाये चूल्हे की बनावट की हैं और अलग-अलग लोहार की निहाई (=कूट) को बाँधने वाली रस्सी की बनावट की। सिरे पर रहने वाले पुट्ठे की हड्डी नीचे की ओर मुँह करके पकड़े हुए साँप के फण की बनावट की है, जो सात-आठ स्थानों पर छिद्रित है। पीठ के कांटे की हड्डियाँ भीतर से एक दूसरे के ऊपर रखे सीसे के पत्र (=पत्तर) के बेठन की बनावट की हैं, और बाहर से गोल-गोल गूँथी हुई माला की बनावट की। उनके बीच-बीच में आरा के दाँत के समान दो-तीन काँटे हैं।

चौबीस पसली की हड्डियों में अपरिपूर्ण (हड्डियाँ) अपरिपूर्ण तलवार की बनावट की हैं और परिपूर्ण (हड्डियाँ) परिपूर्ण तलवार की बनावट की। सभी सफेद मुर्गे की फैलाई हुई पाँख की बनावट की हैं। चौदह छाती की हड्डियाँ जीर्ण-रथ के खजाने (=पञ्जर) की बनावट की हैं। हृदय (=कलेजा) की हड्डी करछुल के फण की बनावट की है। हँसली की हड्डियाँ छोटे लोहे के बसूले के डण्डे की बनावट की हैं। (पेट के) कोठे की हड्डियाँ एक ओर से घिसी हुई सिंहल (=लंका) की कुदाल की बनावट की हैं। बाँह की हड्डियाँ दर्पण के डण्डे की बनावट की हैं। अग्रबाँह की हड्डियाँ जोड़े ताड़ के कन्द की बनावट की हैं। मणिबन्ध (=पहुँचा) की हड्डियाँ एक में सटाकर रखे हुए सीसे के बने वस्त्र के बेठन की बनावट की हैं। हाथ की पीठ की हड्डियाँ कूटे हुए कन्दल-कन्द (=सूरन) की राशि की बनावट की हैं। हाथ की अंगुलियों में मूल पर्व की हड्डियाँ ढोल (=पणव) की बनावट की, बीच के पर्व की हड्डियाँ अपरिपूर्ण कटहल के बीज की बनावट की और अगले पर्व की हड्डियाँ रीठे (=कतक=निर्मली) के बीज की बनावट की हैं।

सात गले की हड्डियाँ डण्डे में डालकर तरतीब से रखे हुए गोलाकार काटे बाँस के कोंपड़ की बनावट की हैं। निचली ठुड्डी की हड्डी लोहारों के लोहे की निहाई को बाँधने वाली रस्सी की बनावट की है और ऊपरी (ईख के छिलके को) छीलने वाले हथियार (=पँहसुल) की बनावट की। आँख और नाक के गड्ढे की हड्डियाँ गरी निकाली हुई डाभ हुए ताड़ की गुठली की बनावट की हैं। ललाट की हड्डी नीचे की ओर मुँह करके रखे हुए शंख से बने कपाल की बनावट की है। कनपट्टियों की हड्डियाँ हजाम के छूरे को रखने की थैली की बनावट की हैं। ललाट और कनपट्टी से ऊपर पगड़ी बाँधने के स्थान की हड्डी घी से परिपूर्ण सिकुड़े हुए वस्त्र-खण्ड की बनावट की है। मूर्द्धा की हड्डी कटे हुए मुँह वाले टेढ़े नारियल की बनावट की है। सिर की हड्डियाँ सीकर रखे हुए जर्जर लौकी के कटाह की बनावट की हैं।

दिशा से दोनों दिशाओं में हैं। अवकाश से साधारणतः सारे शरीर में स्थित हैं। विशेषतः सिर की हड्डियाँ गले की हड्डियों में प्रतिष्ठित हैं। गले की हड्डियाँ पीठ के काँटों की हड्डियों

१. एक दूसरे से सटाकर सूत से बाँधी हुई खेलने की गोलियाँ—टीका।

में। पीठ के काँटों की हड्डियाँ कमर की हड्डियों में, कमर की हड्डियाँ जंघे की हड्डियों में, जंघे की हड्डियाँ घुटने की हड्डियों में, घुटने की हड्डियाँ नरहर की हड्डियों में, नरहर की हड्डियाँ घुट्ठी (=गुल्फ) की हड्डियों में और घुट्ठी की हड्डियाँ पैर पीठ की हड्डियों में प्रतिष्ठित हैं।

परिच्छेद से भीतर हड्डी की मज्जा, ऊपर मांस तथा आगे और मूल में एक दूसरे से अलग हुई हैं। यह उनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(९) हड्डी की मज्जा

हड्डी की मज्जा—उन हड्डियों के भीतर की मज्जा (=गूदा)। वह रंग से सफेद है। बनावट से बड़ी-बड़ी हड्डियों के भीतर वाली बाँस की फोंफी में गर्म करके डाले हुए बड़े बेंत की नोक की बनावट की और छोटी-छोटी के भीतर वाली बाँस की लाठी के पर्व में गर्म करके डाले हुए पतले बेंत की बनावट की हैं।

दिशा से दोनों दिशाओं में हैं। अवकाश से हड्डियों के भीतर प्रतिष्ठित है। परिच्छेद से हड्डियों के भीतरी तल से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१०) वृक्क

वृक्क—(=गुरदा), एक में बँधी हुई दो मांस की पिण्डियाँ हैं। वह रंग से हल्के लाल रंग के पारिभद्रक की गुठली के रंग का है। बनावट से लड़कों के खेलने वाली जोड़े गोलियों की बनावट की है। या एक भेंटी में बँधे हुए दो आम के फलों की बनावट की।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से गले के गड्ढे से निकल कर एक मूल से थोड़ा-सा जाकर दो भागों में बँट कर मोटी नसों से बँधा हुआ हृदय के मांस को घेर कर स्थित है। परिच्छेद से वृक्क वृक्क के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद हैं। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(११) हृदय

हृदय—हृदय का मांस (=कलेजा)। वह रंग से लाल पद्म के पत्ते की पीठ के रंग का है। बनावट से बाहरी पत्तों को हटाकर नीचे की ओर मुँह करके रखे हुए पद्म की कली की बनावट का है। बाहर चिकना और भीतर कौषातकी (=नेनुआ) के फल के भीतरी भाग के समान है। प्रज्ञावानों का थोड़ा विकसित और मन्द प्रज्ञा वालों का अधखिला हुआ ही होता है। उसके भीतर पुन्नाग के बीज के प्रतिष्ठित होने भर को गड्ढा होता है, जहाँ आधे पसर भर लोहू ठहरता है, जिसके सहारे मनोधातु और मनोविज्ञान धातु होती हैं।

वह रागचरित वाले का लाल होता है। द्वेष चरित वाले का काला, मोह चरित वाले का मांस के धोये हुए जल के समान। वितर्क चरित वाले का मोथी (=कुलत्थ) के जूस के रंग का, श्रद्धा चरित वाले का कर्णिकार (=कनइल) के फूल के रंग का, और प्रज्ञा-चरित वाले का निर्मल, परिशुद्ध, स्वच्छ, उज्वल भली प्रकार धोये हुए जातिमणि के समान ज्योति वाला जान पड़ता है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच में प्रतिष्ठित है। परिच्छेद से हृदय, हृदय के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१२) यकृत

यकृत—मांस का जोड़ा-पटल। वह रंग से लाल, पाण्डु-सा न बहुत लाल कुमुद के पत्ते की पीठ के रंग का है। बनावट से मूल में एक ओर आगे जोड़े कचनार (=कोविदार) के पत्ते की बनावट का है। वह कमबुद्धि वालों को एक ही, किन्तु बड़ा होता है। बुद्धिमानों को छोटे, किन्तु दो या तीन।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से दोनों स्तनों के भीतर दाहिने पार्श्व के सहारे स्थित है। परिच्छेद से यकृत के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१३) क्लोमक

क्लोमक—प्रतिच्छन्न, अप्रतिच्छन्न के भेद से दो प्रकार का ढाँकने वाला मांस है। वह दोनों प्रकार का भी रंग से सफेद वस्त्र-खण्ड के रंग का है। बनावट से अपने-अपने स्थान की बनावट वाला है।

दिशा से प्रतिच्छन्न क्लोमक ऊपरी दिशा में और दूसरा दोनों दिशाओं में है। अवकाश से प्रतिच्छन्न क्लोमक हृदय और वृक्क को ढँककर और अप्रतिच्छन्न क्लोमक सारे शरीर में चमड़े के नीचे मांस को बाँधे हुए है। परिच्छेद से नीचे मांस, ऊपर चमड़ा और तिरछे क्लोमक के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१४) प्लीहा

प्लीहा—पेट के जीभ का मांस। वह रंग से नीला निग्गुण्डी[1] (=मेउड़) के फूल के रंग का होता है। बनावट से सात अंगुल के बराबर बन्धन रहित काले बछड़े की जीभ की बनावट का। दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से हृदय के बायें पार्श्व में उदर-पटल के सिरे के सहारे स्थित है, जिसके मारने की चोट से बाहर निकलने पर प्राणी मर जाते हैं। परिच्छेद से प्लीहा के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१५) फुफ्फुस

फुफ्फुस—बत्तीस मांस के टुकड़ों वाला फुफ्फुस का मांस। वह रंग से लाल, न बहुत पके गूलर के फूल के रंग का है। बनावट से विसम कटे हुए मोटे पूवे के टुकड़े की बनावट का है। भीतर खाये-पिये हुये (पदार्थों) के न होने पर कर्मज-अग्नि की गर्मी के बढ़ने से पीड़ित होकर चबाये हुए पुवाल के पिण्ड के समान नीरस और ओज रहित होता है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच हृदय और यकृत को ऊपर से ढँककर लटकते हुये स्थित है। परिच्छेद से फुफ्फुस के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

---

१. "निग्गुण्डीत्थी सिन्दुवारो"—अभिधान० ५७४।

(१६) आँत

आँत—पुरुष की बत्तीस हाथ, स्त्री की अट्ठाइस हाथ, इक्कीस स्थानों पर झुकी हुई आँत की बट्टी है। वह रंग से सफेद चीनी और चूना[1] (=सुधा) के रंग की है। बनावट से लोहू की द्रोणी में मोड़ कर रखे कटे-सिर साँप की बनावट की है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से ऊपर गले के गड्ढे में और नीचे पाखाना के मार्ग में बाँधती हुई, गले के गड्ढे और पाखाना के मार्ग के अन्त तक शरीर के भीतर स्थित है। परिच्छेद से आँत के भाग से अलग हुई है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१७) पतली आँत

पतली आँत—आँतों के झुके हुये स्थानों में बन्धन। वह रंग से सफ़ेद कुमुदनी की जड़ के रंग की है। बनावट से कुमुदनी की जड़ की बनावट की ही है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से कुदाल,कुल्हाड़ी आदि को बनाने वालों के यन्त्र के खींचने के समय झुके हुए स्थानों में न बहने देने के लिये यन्त्र के तख्तों को बाँधे रहने वाले यन्त्र के सूत के समान तथा पादपुंछन की रस्सियों के घेरे के बीच, उसे सीकर रहने वाली रस्सियों के समान इक्कीस आँत के झुकावों के बीच स्थित हैं। परिच्छेद से पतली आँत के भाग से अलग हुई हैं। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१८) उदरस्थ वस्तुयें

उदरस्थ वस्तुयें—पेट में खायी-पीयी, चबायी, चाटी वस्तुयें। वह रंग से खाये हुए आहार के रंग की हैं। बनावट से जलछाके में ढीले बँधे हुए चावल की बनावट की हैं।

दिशा से ऊपरी दिशा में हैं। अवकाश से पेट में स्थित हैं।

पेट, दोनों ओर से दबाये जाते हुए भीगे वस्त्र के बीच में उत्पन्न हुये फुलाव के समान आँतों का पटल है, (जो) बाहर चिकना और भीतर सड़े हुए मांस से लिपटी गन्दी चादर के फुलाव के समान है। सड़े हुए कटहल के छिलके के भीतर के समान भी कहना योग्य है। जहाँ **तार्कोटक, केंचुये, ताड़हीरक, शूचिमुख** (=सूई के समान नोकीले मुँह वाले), **पटतन्तुक, सूत्रक** आदि बत्तीस प्रकार के कीड़ों के समूह तितर-बितर होकर झुण्ड के झुण्ड विचरते हुए रहते हैं। जो खायी-पीयी हुई वस्तुओं के नहीं रहने पर उछल कर रोते हुए, हृदय के मांस को ठोकर मारते हैं और पेय तथा भोजन आदि के खाने के समय ऊपर की ओर मुँह करके पहली बार खायी हुई वस्तु में से दो-तीन ग्रास जल्दी-जल्दी गायब कर जाते हैं। जो उन कीड़ों का प्रसूति-गृह (=बच्चा उत्पन्न करने का घर), पाखाना-घर, रोगी-गृह और श्मशान होता है। जहाँ, जैसे कि चण्डाल-ग्राम के द्वार पर की गड़ही में गर्मी के दिनों में खूब जोरों से मेंह के बरसने से पानी द्वारा बहती हुई पेशाब, पाखाना, चमड़ा, हड्डी, स्नायु का टुकड़ा, थूक, पोंटा, लोहू इत्यादि नाना प्रकार की

१. "गारा-चूना के रंग का"—सिंहल सन्नय। "पत्थर से बनाये हुये चूना के रंग का"—टीका।

गन्दगी पड़ कर कीचड़-पानी से मिल जाती है। दो-तीन दिन के बीतने पर उसमें कीड़ों के समूह उत्पन्न हो जाते हैं, जो सूरज की धूप की गर्मी के वेग से पीड़ित होकर ऊपर फेन के बुलबुलों को छोड़ते हैं। वह बहुत ही नीले रंग की अत्यन्त दुर्गन्ध बहाने वाली, घृणित, न पास जाने और न देखने के योग्य हो जाती है, सूँघने या चाटने की बात ही क्या? ऐसे ही नाना प्रकार का पेय-भोजन आदि दाँत रूपी मूसलों से संचूर्ण किया, जिह्वा रूपी हाथ से उलाटा हुआ, थूक, लार से लिपटा, उस समय रंग, गन्ध, रस आदि से रहित हो, जुलाहे (=तन्तुवाय) की खली और कुत्ते के वमन के समान, पड़कर पित्त, कफ, वात से घिर जाता है। जठराग्नि के सन्ताप के वेग से पीड़ित हुए कीड़ों का छोटा-बड़ा समूह ऊपर-ऊपर फेन के बुलबुलों को छोड़ता है। वह अत्यन्त सड़ा, दुर्गन्धि बहाने वाला, घृणित हो जाता है, जिसे सुनकर भी पेय, भोजन आदि में घिनौनाहट होती है। ज्ञान-चक्षु से देखने की बात ही क्या? और जहाँ पड़ा हुआ पेय, भोजन आदि पाँच भागों में बँट जाता है—(१) एक भाग को कीड़े खाते हैं। (२) एक भाग को जठराग्नि जला डालता है। (३) एक भाग पेशाब हो जाता है।। (४) एक भाग पाखाना हो जाता है। (५) एक भाग रस होकर लोहू, मांस आदि को बढ़ाता है।

परिच्छेद से पेट के पटल और उदरस्थ वस्तुओं के भाग से अलग हुई है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(१९) पाखाना

पाखाना—टट्टी। वह रंग से अधिकांशतः खाये हुए आहार के रंग का ही होता है और बनावट से अवकाश की बनावट का।

दिशा से निचली दिशा में है। अवकाश से पक्वाशय (=अन्न के हजम होने का स्थान) में स्थित है।

पक्वाशय नीचे नाभी और पीठ के काँटों की जड़ के बीच आँतों के अन्त में ऊँचाई में आठ अंगुल के बराबर बाँस की नली के समान है। जहाँ, जैसे कि ऊँची जमीन पर बरसे हुए मेंह का पानी बहकर नीची ज़मीन को भर देता है, ऐसे ही जो कुछ पेय, भोजन आदि आमाशय (=पेट की थैली विशेष) में पड़ता है, वह जठराग्नि से फेन को ऊपर छोड़ता हुआ पक-पक कर लोढ़े से पीसे हुए के समान महीन हो आँत के बिल से नीचे गिर, खूब मलकर बाँस के पर्व में डाली हुई पीली मिट्टी के समान एकत्र होकर रहता है।

परिच्छेद से पक्वाशय के पटल और पाखाना के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२०) मस्तिष्क

मस्तिष्क—सिर की खोपड़ी के भीतर रहने वाली मज्जा की राशि। वह रंग से सफेद अहिच्छत्रक (=भूमिस्फोट) की पिण्डी के रंग का है। दही नहीं हुये बिगड़े दूध के रंग का भी कहना युक्त है। बनावट से अवकाश की बनावट का है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से सिर की खोपड़ी के भीतर चार सीयन के मार्ग के सहारे मिलाकर रखे हुए चार आटे के पिण्ड के समान एकत्र रहता है। परिच्छेद से सिर की खोपड़ी के भीतरी तल और मस्तिष्क के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२१) पित्त

पित्त—दो प्रकार का पित्त होता है बद्ध पित्त और अ-बद्ध पित्त। उनमें बद्ध पित्त रंग से महुआ के गाढ़े तेल के रंग का और अबद्ध पित्त कुम्हलाई हुई आकुली[1] (=सारदी) के फूल के रंग का है। बनावट से दोनों भी अवकाश की बनावट के हैं।

दिशा से बद्ध पित्त ऊपरी दिशा में और दूसरा दोनों दिशाओं में है। अवकाश से अबद्ध पित्त केश, लोम, दाँत, नख, मांस रहित स्थानों और कड़े सूखे चमड़े को छोड़कर पानी में तेल की बूँद के समान अवशेष शरीर में फैला हुआ है। जिसके कुपित होने पर आँखें पीली हो जाती हैं, नाचती हैं, शरीर काँपता है, खुजलाता है। बद्ध पित्त हृदय और फुफ्फुस के बीच यकृत के मांस के सहारे प्रतिष्ठित, बहुत बड़े नेनुआ (=कौषातकी) के कोष (=खुज्झा) के समान पित्त के कोष में स्थित है। जिसके कुपित होने पर प्राणी पागल और बेहोश हो जाते हैं। लज्जा-संकोच को छोड़कर नहीं करने योग्य भी (काम) करते हैं। नहीं कहने योग्य (बात) कहते हैं। नहीं सोचने योग्य (बात) को सोचते हैं। परिच्छेद से पित्त के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२२) कफ़

कफ़—शरीर के भीतर एक पूर्ण पात्र भर कफ़। वह रंग से सफ़ेद नागबला[2] (= कन्दा-रिष्टा) के पत्ते के रस के रंग का है। बनावट से अवकाश के बनावट का है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से पेट के पटल में स्थित है। जो पेय, भोजन आदि खाने के समय, जैसे कि पानी में सेवार के पत्ते लकड़ी या कंकड़ के पड़ने पर टूट कर दो भागों में हो, पुनः मिल जाते हैं, ऐसे ही पेय-भोजन आदि के पड़ते समय टूट कर दो भागों में हो, पुनः मिल जाता है। जिसके मन्द पड़ जाने पर पके हुए फोड़े और मुर्गी के सड़े हुए अंडे के समान पेट अत्यन्त घिनौना और मूर्दा की दुर्गन्ध का हो जाता है। वहाँ की उठी हुई गन्ध से ढेकार (= उद्रेक) भी, मुख भी, मूर्दा के समान दुर्गन्ध वाला होता है और वह आदमी "हटो, दुर्गन्धि बहा रहे हो" कहने के योग्य होता है। जो बढ़कर घना हो जाता है, वह पाखानाघर में (छेद के) पिधान के पटरे के समान, पेट के भीतर ही दुर्गन्धि को रोके रहता है। परिच्छेद से कफ़ के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२३) पीब

पीब—सड़े हुए लोहू से बनी हुई पीब। वह रंग से पीले पड़े पत्ते के रंग की है। मृत शरीर में सड़े हुए घने माँड़ के रंग की होती है। बनावट से अवकाश की बनावट की है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से पीब का अवकाश निश्चित नहीं है, जहाँ कि वह एकत्र होकर रहे। जहाँ-जहाँ खूँटे, कण्टक, प्रहार, आग की ज्वाला आदि से चोट लगे हुए शरीर के भाग में लोहू रुक कर पक जाता है या फोड़े-फुन्सी आदि पैदा होते हैं, वहाँ-वहाँ रहता है। परिच्छेद से पीब के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

---

१. हेमद्रुम, त्वचः फल, तलपोट, मेहरिपु इत्यादि भी इसके नाम हैं।

२. "नागबला चेवझसा" अभि० ५८८।

(२४) लोहू

लोहू—दो प्रकार के लोहू होते हैं—जमा रहने वाला लोहू और बहने वाला लोहू। उनमें जमा रहने वाला लोहू भली प्रकार पके घने लाख के रस के रंग का होता है और बहने वाला लोहू परिशुद्ध लाख के रस के रंग का। बनावट से दोनों भी अवकाश की बनावट के हैं।

दिशा से जमा रहने वाला लोहू ऊपरी दिशा में है और दूसरा दोनों दिशाओं में। अवकाश से बहने वाला लोहू केश, लोम, दाँत, नख, मांस से रहित स्थान और कड़े सूखे हुए चमड़े को छोड़कर धमनी के जाल के अनुसार सारे उपादिन्न शरीर में फैला हुआ है। जमा हुआ लोहू यकृत के निचले भाग को पूर्ण कर एक पूर्ण पात्र भर हृदय, वृक्क, फुफ्फुस के ऊपर थोड़ा-थोड़ा गिरता हुआ वृक्क, हृदय, फुफ्फुस को भिगोता रहता है। उसके वृक्क, हृदय आदि को नहीं भिगोने पर प्राणी पिपासित हो जाते हैं। परिच्छेद से लोहू के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२५) पसीना

पसीना—लोम के छेद आदि से निकलने वाला जल। वह रंग से परिशुद्ध तिल के तेल के रंग का होता है। बनावट से अवकाश की बनावट का है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से पसीना का अवकाश निश्चित नहीं है, जहाँ कि वह लोहू के समान हमेशा ठहरे। जब अग्नि-संताप, सूरज की गर्मी, ऋतु के विकार आदि से शरीर संतप्त होता है, तब पानी से उखड़े हुए वि-सम कटे भिसाड़ (= भिस = मुलाल = कवलगट्टा), कुमुद की नाल के कलाप के समान सब केश, लोम के कूप के छेदों से निकलता है। इसलिए उसकी बनावट भी केश, लोम के कूप के छेदों के अनुसार ही जाननी चाहिये।

पसीना का विचार करने वाले योगी को केश, लोम के कूप के छेदों को पूर्ण कर रहने के अनुसार ही पसीना को मन में करना चाहिये। परिच्छेद से पसीना के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२६) मेद

मेद—गाढ़ा तेल। वह रंग से चीरी हुई हल्दी के रंग का है। बनावट से मोटे शरीर वाले (व्यक्ति) के चमड़े-मांस के भीतर रखे हुए हल्दी के रंग के कपड़े के टुकड़े की बनावट का होता है। दुबले शरीर वाले (व्यक्ति) के नरहर का मांस, जांघ का मांस, पीठ के काँटों के सहारे रहने वाला पीठ का मांस, पेट की गोलाई का मांस—इनके सहारे दुगुना, तिगुना करके रखे हुए हल्दी के रंग के कपड़े के टुकड़े के रंग का होता है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से मोटे का सारे शरीर में फैलकर और दुबले का नरहर के मांस आदि के सहारे रहता है। जो तेल कहा जाने पर भी अत्यन्त घिनौना होने से न तो सिर में तेल के लिये ही, न नाक के तेल आदि के लिये ही ग्रहण करते हैं।

परिच्छेद से नीचे मांस, ऊपर चमड़े और तिरछे मेद के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२७) आँसू

आँसू—आँखों से बहने वाला जल। वह रंग से परिशुद्ध तिल के तेल के रंग का होता है। बनावट से अवकाश की बनावट का है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से आँख के कूपों (=गड्ढों) में स्थित है। यह पित्त के कोष में रहने के समान आँख के कूपों में सर्वदा एकत्र होकर नहीं रहता है। जब प्राणी प्रसन्न-मन होकर बड़े जोर से हँसते हैं, दुर्मन होकर रोते हैं, विलाप करते हैं, या वैसे विषम आहार को खाते हैं और जब उनकी आँखें धुँआ, धूल, पांशु आदि से चोट खाती हैं, तब इन सौमनस्य, दौर्मनस्य विषम आहार और ऋतु से उत्पन्न होकर आँख के गड्ढों को भर कर रहता है या बहता है।

आँसू का विचार करने वाले योगी को आँख के गड्ढों को भर कर रहने के अनुसार ही विचार करना चाहिये।

परिच्छेद से आँसू के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२८) वसा

वसा—(शरीर में) मिला हुआ तेल। वह रंग से नारियल के तेल के रंग की होती है। माँड़ में मिलाये हुए तेल के रंग की भी कहना युक्त है। बनावट से नहाने के समय स्वच्छ जल के ऊपर फैले चक्कर खाते हुए तेल की बूँद की बनावट की है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से अधिकांशतः हथेली, हाथ की पीठ, पैर के तलवे, पैर की पीठ, नाक के पुट, ललाट, कन्धे के कूटों पर होती है। यह इन स्थानों में सर्वदा विलीन ही होकर नहीं रहती है, जब आग की गर्मी, सूरज की गर्मी, विषम ऋतु और विषम धातु से वे स्थान गर्म होते हैं, तब वहाँ नहाने के समय स्वच्छ जल के ऊपर फैले हुए तेल की बूँद के समान इधर-उधर घूमती है। परिच्छेद से वसा के भाग से अलग हुई है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(२९) थूक

थूक—मुख के भीतर फेन से मिला जल। वह रंग से सफ़ेद फेन के रंग का होता है। बनावट से अवकाश की बनावट का है। फेन की बनावट का भी कहना युक्त है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से दोनों गालों की बगल से उतर कर जीभ पर रहता है। यह यहाँ सर्वदा एकत्र होकर नहीं रहता है, जब सत्त्व उस प्रकार के आहार को देखते या स्मरण करते हैं, गर्म, तीते, कडुवे, नमकीन, खट्टे में से कुछ मुख में रखते हैं अथवा जब उनका हृदय ओकाता है (= आकिलायति) या किसी कारण से घिनौनाहट उत्पन्न होती है, तब थूक उत्पन्न होकर दोनों गाल की बग़लों से उतरकर जीभ पर ठहरता है। यह जीभ के अगले भाग पर पतला होता है और जीभ के मूल में गाढ़ा। मुख में डाले हुए सत्तू (= सतुआ), चावल या दूसरी किसी खाने की वस्तु को नदी के किनारे खोदे हुए कूँयें के पानी के समान खत्म न होते हुए भिगोने में समर्थ होता है।

परिच्छेद से थूक के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(३०) पोंटा

पोंटा—मस्तिष्क से बहने वाली मैल। वह रंग से बड़े ताड़ की गुठली की गरी के रंग का होता है। बनावट से अवकाश की बनावट का है।

दिशा से ऊपरी दिशा में है। अवकाश से नाक के पुटों को भर कर रहता है। यह यहाँ सर्वदा एकत्र होकर नहीं रहता है, जैसे कि आदमी पद्मिनी के पत्ते में दही को बाँध कर नीचे काँटे से छेद करे, तब उस छेद से दही की छाछ चूकर बाहर गिरे, ऐसे ही जब प्राणी रोते हैं या विषम आहार, ऋतु के कारण धातु-प्रकोप होते हैं, तब भीतर सिर से गन्दा कफ़ होकर, मस्तिष्क बह कर तालु और मस्तक के छेद से उतर कर नाक के पुटों को भर कर ठहरता है या बहता है।

पोंटा का विचार करने वाले योगी से नाक के पुटों को भरे रहने के अनुसार ही विचार करना चाहिये। परिच्छेद से पोंटा के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(३१) लसिका

लसिका—शरीर की सन्धियों के बीच चिकनी मैल। वह रंग से कनइल (=कर्णिकार) के गोंद (=लासा) के रंग की होती है। बनावट से अवकाश की बनावट की है।

दिशा से दोनों दिशाओं में है। अवकाश से हड्डियों की सन्धियों के बीच स्थित है। यह जिसकी मन्द होती है, उसके उठते, बैठते, चलते-फिरते, समेंटते-पसारते हड्डियाँ कटकटाती हैं। चुटकी से शब्द करते हुए (व्यक्ति) के समान घूमता है। एक, दो योजन मात्र मार्ग चलने पर उसकी वायोधातु कुपित हो जाती है। गात्र दुखने लगते हैं। जिसे बहुत होती है, उसके उठने-बैठने आदि में हड्डियाँ नहीं कटकटाती हैं। लम्बा मार्ग चलने पर उसकी वायोधातु नहीं कुपित होती है। गात्र नहीं दुखते हैं।

परिच्छेद से लसिका के भाग से अलग हुई है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

(३२) मूत्र

मूत्र—पेशाब। वह रंग से उरद (=माष) के क्षार के पानी के रंग का होता है। बनावट से नीचे मुख करके रखे पानी के घड़े के बीच गये हुए जल की बनावट का है।

दिशा से बिचली दिशा में है। अवकाश से वस्ति के भीतर रहता है। वस्ति वस्ति-पुट (=पेशाब की थैली) कहा जाता है। जहाँ, जैसे कि गड़ही में फेंके हुए बिना मुख वाले **रवन-घट**[1]

---

१. "रवन-घट" "यवन-घट" दोनों पाठ हैं। इसका अर्थ सिंहल सन्नय में—"पसीज कर जल घुसने वाला मुख रहित घड़ा" है। पुरानी बर्मी व्याख्या में—"कीचड़ मिले पानी को छानने का घड़ा विशेष" है। टीका में—"रवन घट में स्वभाव से सूई की नोक के बराबर भी जल के घुसने का मार्ग नहीं होता है" कहा गया है। खुद्दक पाठ की अट्ठकथा में—"नीचे मुख वाला लौण-घट" आया हुआ है। वस्तुतः 'रवन-घट' परिशुद्ध जल को ग्रहण करने के लिये बने विशेष प्रकार के घड़े का ही नाम है।

में गड्ढी का रस (= जल) घुसता है, किन्तु उसके घुसने का मार्ग कहीं जान पड़ता है, ऐसे ही शरीर से मूत्र घुसता है, किन्तु उसके घुसने का मार्ग नहीं जान पड़ता है, केवल निकलने का मार्ग प्रगट होता है, जिसमें कि मूत्र के भरने पर "पेशाब करेंगे" ऐसा प्राणियों को विचार[1] होता है।

परिच्छेद से वस्ति के बीच और मूत्र के भाग से अलग हुआ है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही।

इस प्रकार केश आदि भागों का रंग, बनावट, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार विचार कर, क्रम से, न बहुत शीघ्रता से[2] आदि ढंग से रंग, बनावट, गन्ध, आशय, अवकाश के अनुसार पाँच तरह से प्रतिकूलता है—ऐसे मन में करने वाले को प्रज्ञप्ति के समतिक्रमण के अन्त में जैसे कि चक्षुष्मान् आदमी के बत्तीस रंग के फूलों की एक धागे में गुथी हुई माला को देखते हुये सब फूल एक में होने के समान जान पड़ते हैं, ऐसे ही—"इस शरीर में हैं केश"[3] इस प्रकार इस शरीर को देखने वाले को ये सारे धर्म एक में होने के समान प्रगट होते हैं। इसीलिये मनसिकार कौशल्य की कथा में कहा गया है—"आदि कर्मिक के 'केश' मनसिकार करते हुए, मनसिकार जाकर 'मूत्र'—इस अन्तिम भाग में ही लग कर रुकता है।[4]"

यदि बाहर (= दूसरों के शरीर में) भी मनसिकार को ले जाता है, तब उसे ऐसे सब भागों के प्रगट होने पर घूमते हुए आदमी, जानवर आदि सत्त्व आकार को छोड़कर भागों की राशि के तौर पर ही जान पड़ते हैं। उनके द्वारा खाया जाता हुआ पेय, भोजन आदि भागों की राशि में डालने के समान जान पड़ता है।

तब उसे "क्रमशः छोड़ने"[5] आदि के अनुसार "प्रतिकूल, प्रतिकूल" ऐसे पुनः पुनः मनसिकार करते हुए क्रम से अर्पणा उत्पन्न होती है। वहाँ, केश आदि का रंग, बनावट, दिशा अवकाश, परिच्छेद के अनुसार जान पड़ना उग्गह-निमित्त है। सब प्रकार से प्रतिकूल होने के अनुसार जान पड़ना प्रतिभाग-निमित्त है। उसका सेवन करते हुये, भावना करते हुए उक्त प्रकार से अशुभ कर्मस्थान में (उत्पन्न होने के) समान अर्पणा उत्पन्न होती है। वह जिसे एक ही भाग प्रगट होता है, या एक भाग में अर्पणा को पाकर फिर दूसरे में योग नहीं करता है, उसे एक ही उत्पन्न होती है।

जिसे बहुत से भाग प्रगट होते हैं या एक में ध्यान को पाकर फिर दूसरे में भी योग करता है। उसे **मल्लक-स्थविर** के समान भाग की गणना के अनुसार प्रथम-ध्यान उत्पन्न होते हैं।

उस आयुष्मान् ने दीर्घ-भाणक **अभय-स्थविर** को हाथ से पकड़ कर—"आवुसो, अभय ! इस प्रश्न को सीखो", ऐसा कह कर कहा—"मल्लकस्थविर बत्तीस भागों में बत्तीस प्रथम ध्यान के लाभी हैं, यदि रात में एक को और दिन में एक को प्राप्त होते हैं, तो आधे महीने से अधिक दिनों के बाद फिर (उन्हें) प्राप्त होते हैं, यदि प्रतिदिन एक को प्राप्त होते हैं, तो फिर एक महीने से अधिक दिनों के बाद।"

---

१. चेष्टा—सिंहल सन्नय।
२. देखिये पृष्ठ २२२।
३. देखिये पृष्ठ २१९।
४. देखिये पृष्ठ २२२।
५. देखिए पृष्ठ २२२।

ऐसे प्रथम-ध्यान के अनुसार प्राप्त होता हुआ भी यह कर्मस्थान रंग, बनावट आदि में स्मृति के बल से प्राप्त होने से **कायगता-स्मृति** कहा जाता है।

इस कायगता स्मृति में लगा हुआ भिक्षु—"अरति (= उदासी) और रति (= काम-भोगों की इच्छा) को पछाड़ने वाला होता है। उसे अरति नहीं पछाड़ती है, वह उत्पन्न अरति को हटा-हटा कर विहरता है। भय-भैरव को सहने वाला होता है। उसे भय-भैरव नहीं पछाड़ते। वह उत्पन्न भय-भैरव को हटा-हटा कर विहरता है। जाड़ा, गर्मी, सहने वाला होता है···प्राण लेने वाली शारीरिक वेदनाओं को (सहर्ष) स्वीकार करने वाला होता है[1]" केश आदि के रंग-भेद के सहारे चारों ध्यानों का लाभी होता है, छः अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है।

तस्मा हवे अप्पमत्तो अनुयुञ्जेथ पण्डितो।
एवं अनेकानिसंसं इमं कायगतासतिं॥

[इसलिये ऐसी अनेक गुण वाली इस कायगता-स्मृति में पण्डित (व्यक्ति) अप्रमत्त हो जुटें।]

आनापान-स्मृति

अब जो वह भगवान् द्वारा—"भिक्षुओ, यह भी आनापान-स्मृति-समाधि भावना करने पर, बढ़ाने पर शान्त, उत्तम असेचनक सुख-विहार है, वह उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए बुरे अकुशल धर्मों को बिल्कुल अन्तर्ध्यान कर देती है, शान्त कर देती है।[2]" इस प्रकार प्रशंसा करके—"भिक्षुओ, कैसे भावना की गई, बढ़ाई गई आनापान-स्मृति-समाधि शान्त, प्रणीत (= उत्तम), असेचनक, सुख विहार होती है और उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए बुरे अकुशल धर्मों को बिल्कुल अन्तर्ध्यान कर देती है, शान्त कर देती है ?

भिक्षुओ, यहाँ, भिक्षु आरण्य में गया हुआ या वृक्ष के नीचे गया हुआ अथवा शून्य-घर में गया हुआ पालथी मारकर काय को सीधा करके स्मृति को सामने कर बैठता है। वह स्मृति के साथ ही आश्वास करता है, स्मृति के साथ ही प्रश्वास करता है। लम्बा आश्वास करते हुए 'लम्बा आश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। लम्बा प्रश्वास करते हुए 'लम्बा प्रश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। छोटा आश्वास करते हुए 'छोटा आश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। छोटा प्रश्वास करते हुए 'छोटा प्रश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। सारे काय का प्रतिसंवेदन करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। सारे काय का प्रतिसंवेदन करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। काय-संस्कार को प्रश्रब्ध (= शान्त) करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। काय-संस्कार को प्रश्रब्ध करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। प्रीति का प्रतिसंवेदन करते हुए······सुख का प्रतिसंवेदन करते हुए······चित्त के संस्कारों का प्रतिसंवेदन करते हुए······चित्त-संस्कार को प्रश्रब्ध करते हुए······चित्त का प्रतिसंवेदन करते हुए······चित्त को प्रमुदित करते हुए······चित को एकाग्र करते हुए······चित्त का विमोचन करते हुए······अनित्य की अनुपश्यना करते हुए······विराग की अनुपश्यना करते हुए······निरोध की अनुपश्यना करते हुए······प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा

१. मज्झिम नि० ३, २, ९।
२. संयुत्त नि० ५२, १, १।

अभ्यास करता है।[1]" इस प्रकार सोलह-वस्तुक आनापान-स्मृति कर्मस्थान निर्दिष्ट है। उसका भावना-निर्देश आ गया।

चूँकि वह पालि वर्णन के अनुसार ही कहे जाने से सब प्रकार से परिपूर्ण होगा, इसलिये यह, यहाँ पालि-वर्णन के अनुसार निर्देश है—

प्रथम चतुष्क

"भिक्षुओ, कैसे भावना की गई, बढ़ाई गई आनापान-स्मृति-समाधि" यहाँ, **कैसे**, यह आनापान-स्मृति-समाधि की भावना का नाना प्रकार से विस्तार करने की इच्छा से प्रश्न किया गया है। और "भिक्षुओ, आनापान-स्मृति-समाधि की भावना करने से" यह नाना प्रकार से विस्तार करने की इच्छा से पूछी हुई बातों का निदर्शन है। "कैसे बढ़ाई गई······शान्त करता है?" यहाँ भी इसी प्रकार।

भावना की गई, उत्पन्न की गई या बढ़ाई गई। **आनापान-स्मृति-समाधि**, आनापान की परिग्राहक स्मृति के साथ लगी हुई समाधि या आनापान-स्मृति से समाधि ही आनापान-स्मृति समाधि है। **बढ़ाई हुई**, बार-बार की गई।

शान्त और प्रणीत, शान्त भी और प्रणीत (=उत्तम) भी। दोनों स्थानों में 'भी' शब्द से नियम (होना) जानना चाहिये। क्या कहा गया है? जैसे अशुभ-कर्मस्थान केवल प्रतिवेध के अनुसार शान्त और प्रणीत होता है, किन्तु औदूलारिक (=स्थूल) आलम्बन और प्रतिकूल आलम्बन होने से आलम्बन के अनुसार न शान्त होता है और न प्रणीत ही, ऐसे यह किसी भी पर्याय से अशान्त और अ-प्रणीत नहीं है, बल्कि आलम्बन के शान्त होने से भी शान्त, उपशान्त, एकदम शान्त है और प्रतिवेध नामक अङ्ग के शान्त होने से भी। आलम्बन के प्रणीत होने से भी प्रणीत और अतृप्तिकर है। अंग के प्रणीत होने से भी। इसीलिये कहा है—"शान्त और प्रणीत।"

असेचनक और सुख-विहार=यहाँ, उसका सेचन नहीं है, इसलिये असेचनक है। अनासक्ति, अमिश्रित, अलग हुई, आवेणी वाली। यहाँ परिकर्म या उपचार से शान्त नहीं है, प्रारम्भ के मनसिकार से लेकर अपने स्वभाव से ही शान्त और प्रणीत है—यह अर्थ है। कोई-कोई[2] असेचनक, "अनासक्ति, ओजवन्त, स्वभाव से ही मधुर" कहते हैं। ऐसा यह असेचनक प्राप्त किये, प्राप्त किये ही क्षण कायिक, चैतसिक सुख के प्रतिलाभ के लिये होने से सुख-विहार जानना चाहिये।

उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए, नहीं दबाये गये, नहीं दबाये गये। **बुरे**, हीन। **अकुशल धर्मों को**, अविद्या से उत्पन्न हुए धर्मों को। **बिल्कुल अन्तर्ध्यान कर देती है**, एक क्षण में ही गायब कर देती है, दूर कर देती है। **शान्त कर देती है**, भली प्रकार मिटा देती है, या निर्वेध भागीय होने से क्रमशः आर्य-मार्ग की वृद्धि को प्राप्त हो समुच्छेद कर देती है। बिल्कुल शान्त कर देती है—कहा गया है।[3]

यह, यहाँ संक्षेप में अर्थ है—भिक्षुओ, किस प्रकार से, किस आकार से, किस विधि से भावना की गई, किस प्रकार से बढ़ाई गई आनापान-स्मृति-समाधि शान्त और······कर देती है?

---

१. संयुत्त नि० ५२, १, १।

२. 'इसे उत्तर-विहारवासियों के प्रति कहा गया है'—टीका। "अभयगिरिवासी" सिंहल सन्नय।

३. इसी आनापानस्मृति कर्मस्थान की भावना करके सभी बुद्ध सम्यक् ज्ञान को प्राप्त होते हैं—टीका।

अब, उस बात का विस्तार करते हुए—"भिक्षुओ, यहाँ" आदि कहा गया है। वहाँ **भिक्षुओ, यहाँ भिक्षु,** भिक्षुओ, इस शासन (= बुद्ध धर्म) में भिक्षु। यह इस जगह 'यहाँ' शब्द सब प्रकार से आनापान-स्मृति-समाधि को उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के आलम्बन हुए शासन को प्रगट करने वाला और दूसरे धर्म (= शासन) के वैसे होने का निषेध करने वाला है। कहा गया है—"भिक्षुओ, यहाँ ही श्रमण है······ दूसरे धर्म श्रमणों से शून्य हैं।[1]" इसलिये कहा है—"इस शासन में भिक्षु।"

आरण्य में गया हुआ या······शून्य घर में गया हुआ, यह इसके आनापान-स्मृति-समाधि की भावना के योग्य शयनासन के परिग्रह को प्रगट करने वाला है। इस भिक्षु का चित्त बहुत दिनों तक रूप आदि आलम्बनों में लगा रहा है, आनापान-स्मृति-समाधि के आलम्बन पर चढ़ना नहीं चाहता है, कूट-गोण (= नहीं सिखाया हुआ बैल) के नधे हुए रथ के समान कुमार्ग पर ही दौड़ता है। इसलिये, जैसे कि ग्वाला कूट-धेनु (= दूध दूहने के समय विघ्न करने वाली गाय) के दूध को पीकर बढ़े बिना सिखाये हुए बछड़े को सिखाने की इच्छा से गाय से हटाकर एक ओर बहुत बड़े खम्भे को गाड़ कर वहाँ रस्सी से बाँधे, तब वह बछड़ा इधर-उधर छटपटा कर भाग नहीं सकने के कारण उसी खम्भे के पास बैठे या सोये, ऐसे ही इस भिक्षु को बहुत दिनों तक रूपालम्बन आदि के रस के पीने से बढ़ा हुआ दुष्ट चित्त को दमन करने की इच्छा से रूप आदि आलम्बन से हटाकर आरण्य या······शून्य-घर में घुस कर, वहाँ आश्वास-प्रश्वास के खम्भे में स्मृति की रस्सी से बाँधना चाहिये। ऐसे इसका वह चित्त इधर-उधर छटपटा कर भी पहले अभ्यस्त आलम्बन को नहीं पाते हुए स्मृति की रस्सी को तोड़कर भाग न सकते हुए, उसी आलम्बन के पास उपचार-अर्पणा के रूप में बैठता और सोता है। इसी-लिये पुराने लोगों ने कहा है—

यथा खम्भे निबन्धेय्य वच्छं दम्मं नरो इध।
बन्धेय्येवं सकं चित्तं सतियारम्मणे दळ्हं॥

[जैसे आदमी दमन करने योग्य बछड़े को खम्भे में बाँधे, वैसे ही अपने चित्त को मजबूती के साथ स्मृति से आलम्बन में बाँधे।]

—ऐसे इसके लिये यह शयनासन भावना करने के योग्य होता है। इसलिये कहा है—"यह इसके आनापान-स्मृति-समाधि की भावना के योग्य शयनासन के परिग्रह को प्रगट करने वाला है।" अथवा, चूँकि यह कर्मस्थान के प्रभेदों में श्रेष्ठ आनापान-स्मृति कर्मस्थान, जो सब बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्ध-श्रावकों के विशेष की प्राप्ति और दृष्ट-धर्म सुख-विहार का कारण है, स्त्री-पुरुष, हाथी, घोड़ा आदि के शब्द से आकुल गाँव को बिना त्यागे (इसकी) भावना करना सहज नहीं है, क्योंकि ध्यान के लिए शब्द कण्टक (= विघ्न) है, किन्तु गाँव रहित आरण्य में योगी इस कर्मस्थान का परिग्रह करके आनापान चतुर्थ ध्यान को उत्पन्न कर उसी को पादक बना संस्कारों को विचारते हुए अग्रफल अर्हत्व को सहज ही में पा सकता है, इसलिये इसके योग्य शयनासन को दिखलाते हुए भगवान् ने आरण्य में गया हुआ आदि कहा।

भगवान् वास्तु-विद्या के आचार्य के समान हैं। जैसे वास्तु-विद्या का आचार्य नगर की भूमि को देख कर भली भाँति विचार करके "यहाँ नगर बसाओ" कहता है और कुशल पूर्वक नगर के पूर्ण हो जाने पर राजकुल से महा-सत्कार प्राप्त करता है, ऐसे ही वह योगी के लिये योग्य शयनासन का विचार कर यहाँ 'कर्मस्थान में लगना चाहिये' कहते हैं। तत्पश्चात् वहाँ कर्मस्थान

१. दीघ नि० २, ३।

में लगे हुए योगी के क्रम से अर्हत्व को प्राप्त करने पर "वह भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध हैं" ऐसे महासत्कार प्राप्त करते हैं।

यह भिक्षु चीता के समान कहा जाता है। जैसे चीतों का महाराजा जंगल में तृण, वन या पर्वत के झुरमुट के सहारे छिपकर जंगली भैंसे, गोकर्ण (= हिरण), सूअर आदि जानवरों को पकड़ता है। ऐसे ही यह आरण्य आदि में कर्मस्थान में लगा हुआ भिक्षु क्रम के अनुसार स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्-मार्ग और आर्य-फल को ग्रहण करता है—ऐसा जानना चाहिये। इसलिये पुराने लोगों ने[1] कहा है—

> यथापि दीपिको नाम निलीयित्वा गण्हति मिगे।
> तथेवायं बुद्धपुत्तो युत्तयोगो विपस्सको।
> अरञ्ञं पविसित्वान गण्हाति फलमुत्तमं॥

[जैसे चीता छिपकर जानवरों को पकड़ता है, वैसे ही यह बुद्ध-पुत्र योग में लगा, विपश्यना करने वाला जंगल में प्रवेश कर उत्तम-फल को ग्रहण करता है।]

उससे इसके भावना करने के उत्साह और वीर्य के योग्य भूमि आरण्य-शयनासन को दिखलाते हुए भगवान् ने 'आरण्य में गया हुआ' आदि कहा।

वहाँ, **आरण्य में गया हुआ**, आरण्य कहते हैं "इन्द्रकील से निकल कर बाहर सारा ही आरण्य है" और "आरण्यक शयनासन कम से कम पाँच सौ धनुष वाला होता है" ऐसे कहे गये लक्षण वाले आरण्यों में से जिस किसी एकान्त सुखदायक आरण्य में गया हुआ।

वृक्ष के नीचे गया हुआ, वृक्ष के पास गया हुआ। **शून्य-घर में गया हुआ**, शून्य, विविक्त (= खाली) स्थान में गया हुआ। यहाँ, आरण्य और वृक्ष-मूल को छोड़ कर शेष सात प्रकार के शयनासन[2] में गया हुआ भी शून्य-घर में गया हुआ कहना चाहिये।

ऐसे इसके तीनों ऋतुओं के योग्य और धातु, चर्य्या के अनुकूल आनापान-स्मृति की भावना के योग्य शयनासन को कह कर अ-संकुचित, अ-चंचल, शान्त ईर्यापथ को कहते हुए "**बैठता है**" कहा। तब इसके बैठने के दृढ़-भाव, आश्वास-प्रश्वास करने के योग्य होने और आलम्बन परिग्रह के उपाय को कहते हुए '**पालथी मार कर**' आदि कहा।

पालथी, चारों ओर से जंघों का बँधा हुआ आसन। **मारकर**—बाँध कर। **काय को सीधा करके**, ऊपर के शरीर को सीधा करके अठारह पीठ के काँटों को सिरे से सिरे का प्रतिपादन करके। ऐसे बैठने वाले (व्यक्ति) के चमड़ा, मांस, स्नायु नहीं झुकते हैं। तब उसको जो उनके झुकने के कारण प्रति क्षण वेदना उत्पन्न होतीं, वे नहीं उत्पन्न होती हैं। उनके नहीं उत्पन्न होने पर चित्त एकाग्र होता है। कर्मस्थान नहीं गिरता है। वृद्धि और स्फीत-भाव को प्राप्त होता है।

सामने (= परिमुख) स्मृति को बनाकर, कर्मस्थान के सामने स्मृति को रख कर। अथवा 'परि' परिग्रहण करने के लिये है, 'मुख' निर्याण के लिये है और 'स्मृति' उपस्थित किये रहने के लिये। इसलिये 'परिमुख (= सामने)—स्मृति' कही जाती है।' इस प्रकार पटिस-

---

१. भदन्त नागसेन ने कहा है, देखिये मिलिन्द पञ्ह ७,५।

२. शेष सात प्रकार के शयनासन हैं—पर्वत, कन्दरा, पहाड़ की गुफा, श्मशान, पर्ती, मैदान और पुवाल की ढेर—देखिये विभङ्ग १२।

म्भिदा में कहे गये के अनुसार भी यहाँ अर्थ जानना चाहिये। यह संक्षेप है—"परिग्रह करने के लिये स्मृति को करके।"

वह स्मृति के साथ ही आश्वास करता है, स्मृति के साथ ही प्रश्वास करता है, वह भिक्षु ऐसे बैठकर और ऐसे स्मृति को उपस्थित करके, उस स्मृति को नहीं त्यागते हुए, स्मृतिके साथ ही आश्वास करता है, स्मृति के साथ ही प्रश्वास करता है। वह स्मृति के साथ करने वाला होता है—ऐसा कहा गया है।

अब, जिन आकारों से स्मृति के साथ करने वाला होता है, उन्हें दिखलाने के लिये **लम्बा आश्वास करते हुए** आदि कहा गया है। **पटिसम्भिदा** में यह कहा है—"वह स्मृति के साथ ही आश्वास करता है, स्मृति के साथ प्रश्वास करता है"—इसी की व्याख्या में—"बत्तीस आकार से स्मृति के साथ करने वाला होता है। लम्बे आश्वास के अनुसार चित्त की एकाग्रता, और अविक्षेप को जानने वाले की स्मृति बनी रहती है। उस स्मृति और उस ज्ञान से स्मृति के साथ करने वाला होता है। लम्बे प्रश्वास के अनुसार·········प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए आश्वास के अनुसार और प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए प्रश्वास के अनुसार चित्त की एकाग्रता और अ-विक्षेप को जानने वाले की स्मृति बनी रहती है, उस स्मृति और उस ज्ञान से स्मृति के साथ करने वाला होता है।"

लम्बा आश्वास करते हुए, लम्बा साँस प्रवर्तित करते हुए। 'आश्वास' बाहर निकलने वाली वायु। 'प्रश्वास, भीतर प्रवेश करने वाली वायु।' ऐसा **विनय** की **अट्ठकथा** में कहा गया है। किन्तु **सुत्तन्त** की अट्ठकथाओं में इसके विपरीत आया हुआ है। उनमें, सारे गर्भशायी सत्त्वों को माता के पेट से निकलने के समय पहले भीतर की वायु बाहर निकलती है, पीछे बाहर की वायु सूक्ष्म धूल को लेकर भीतर प्रवेश करती हुई तालु से लगकर शान्त हो जाती है। ऐसे आश्वास-प्रश्वास को जानना चाहिये।

जो उनकी लम्बाई-छोटाई है, वह समय के अनुसार जाननी चाहिये। जैसे खाली स्थान में फैला हुआ पानी या बालू, लम्बा पानी या लम्बी बालू, छोटा पानी, या छोटी बालू कहा जाता है, ऐसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म भी आश्वास-प्रश्वास हाथी के शरीर और साँप के शरीर में उनके लम्बे शरीर को धीरे-धीरे पूर्ण कर धीरे-धीरे ही निकलते हैं। इसलिये लम्बे कहे जाते हैं। कुत्ते-खरगोश आदि के छोटे शरीर को शीघ्र पूर्ण कर, शीघ्र ही निकलते हैं, इसलिये छोटे कहे जाते हैं। किन्तु मनुष्यों में कोई-कोई हाथी, साँप आदि के समान समय के अनुसार लम्बा आश्वास-प्रश्वास करते हैं और कोई-कोई कुत्ते-खरगोश आदि के समान छोटा। इसलिये उनके समय के अनुसार देरी में निकलने और प्रवेश करने वाले लम्बे हैं, तथा थोड़ी देर में निकलने और प्रवेश करने वाले छोटे—ऐसा जानना चाहिये।

वह भिक्षु नव प्रकार से 'लम्बा आश्वास-प्रश्वास कर रहा हूँ'—जानता है और ऐसा जानते हुए उसे एक प्रकार से कायानुपश्यना स्मृति-प्रस्थान की भावना पूर्ण होती है—जानना चाहिये। जैसे **पटिसम्भिदा** में कहा है—

"कैसे लम्बा आश्वास करते हुए 'लम्बा आश्वास कर रहा हूँ' जानता है? लम्बा प्रश्वास करते हुए 'लम्बा प्रश्वास कर रहा हूँ' जानता है? लम्बे आश्वास को देर में आश्वास करता है, लम्बे प्रश्वास को देर में प्रश्वास करता है, लम्बे आश्वास-प्रश्वास को देर में आश्वास भी करता है, प्रश्वास भी करता है। लम्बे आश्वास-प्रश्वास को देर में आश्वास करने वाले को भी, प्रश्वास

करने वाले को भी छन्द उत्पन्न होता है। छन्द से उससे सूक्ष्मतर लम्बे आश्वास को देर से आश्वास करता है। छन्द से उससे सूक्ष्मतर लम्बे प्रश्वास को..........लम्बे आश्वास-प्रश्वास को देर में आश्वास भी करता है, प्रश्वास भी करता है। छन्द से उससे, सूक्ष्मतर लम्बे आश्वास-प्रश्वास को देर में आश्वास करने वाले को भी, प्रश्वास करने वाले को भी प्रामोद्य उत्पन्न होता है। प्रामोद्य से उससे सूक्ष्मतर लम्बे आश्वासको देर में आश्वास करता है, प्रामोद्य से उससे सूक्ष्मतर लम्बे प्रश्वास को.............लम्बे आश्वास-प्रश्वास को देर में आश्वास भी करता है, प्रश्वास भी करता है, प्रामोद्य से उससे सूक्ष्मतर लम्बे आश्वास-प्रश्वास को आश्वास करने वाले को भी, प्रश्वास करने वाले को भी लम्बे आश्वास-प्रश्वास से चित्त बदल जाता है, उपेक्षा (उत्पन्न) होती है। इन नव आकारों से लम्बे आश्वास-प्रश्वास काय है, (आलम्बन में बना रहने वाला) उपस्थान स्मृति है, अनुपश्यना (= पुनः पुनः विचार करके देखना) ज्ञान है। काय उपस्थान है, स्मृति नहीं। स्मृति उपस्थान और स्मृति (दोनों) है। उस स्मृति और उस ज्ञान से, उस काय की अनुपश्यना करता है, इसलिये कहा जाता है—काय में कायानुपश्यना-स्मृत्युपस्थान-भावना।"

इसी प्रकार 'छोटे' शब्द में भी। यह विशेषता है—जैसे, 'लम्बे आश्वास को देर में' कहा गया है, ऐसे ही यहाँ "छोटे आश्वास को अल्पकाल में आश्वास करता है।" आया हुआ है। इसलिये छोटे के अनुसार "इसलिये कहा जाता है–काय में कायानुपश्यना-स्मृत्युपस्थान भावना।" तक मिलाना चाहिये।

ऐसे देर और अल्पकाल के अनुसार इन आकारों से आश्वास-प्रश्वास को जानते हुए लम्बा आश्वास करते हुए 'लम्बा आश्वास कर रहा हूँ' जानता है।.........छोटा प्रश्वास करते हुए 'छोटा प्रश्वास कर रहा हूँ' जानता है—ऐसा समझना चाहिये। और ऐसे जानने वाले उस—

दीघो रस्सो च अस्सासो पस्सासोपि च तादिसो।
चत्तारो वण्णा वत्तन्ति नासिकग्गेव[1] भिक्खुनो॥

[भिक्षु के नासिकाग्र पर लम्बा, छोटा आश्वास और वैसे प्रश्वास भी—(ये) चारों आकार प्रवर्तित होते हैं।]

सारे काय का प्रतिसंवेदन करते हुए आश्वास करूँगा......प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है, सारे आश्वास-काय के प्रारम्भ, मध्य, अन्त को जानते हुए, प्रगट करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। सारे प्रश्वास-काय के प्रारम्भ, मध्य, अन्त को जानते हुए, प्रगट करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। ऐसे जानते हुए, प्रगट करते हुए ज्ञान से युक्त चित्त से आश्वास और प्रश्वास करता है, इसलिए आश्वास-प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है—कहा जाता है।

एक भिक्षु को चूर्ण-विचूर्ण हो फैले हुए आश्वास-काय या प्रश्वास-काय में प्रारम्भ प्रगट होता है, मध्य, अन्त नहीं। वह प्रारम्भ ही परिग्रह कर सकता है, मध्य, अन्त में क्लान्त होता है। एक को मध्य प्रगट होता है, प्रारम्भ, अन्त नहीं। एक को अन्त प्रगट होता है, प्रारम्भ, मध्य नहीं। वह अन्त का ही परिग्रह कर सकता है, प्रारम्भ, मध्य में क्लान्त होता है। एक को सभी

१. 'नासिकग्गेव' गाथा बनाने की सहूलियत से ह्रस्व करके कहा गया है। 'नासिकग्गे वा' पाठ है, यहाँ 'वा' (= या) अ-नियमार्थ है। उससे ऊपर का ओंठ भी संगृहीत है। "नासिकग्गे वा ओट्ठग्गे वा" पाठ से भी यह ज्ञातव्य है—टीका, सिंहल सन्नय।

प्रकट होता है, वह सभी का परिग्रह कर सकता है, कहीं भी क्लान्त नहीं होता है। वैसा ही होना चाहिये—इसे बतलाते हुए कहा गया है—'सारे काय का प्रतिसंवेदन करते हुए आश्वास करूँगा·········प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है।'

वहाँ, **अभ्यास करता है**, ऐसे उद्योग करता है, प्रयत्न करता है। अथवा जो वैसे हुए (व्यक्ति) का संवर है, यह अधिशील शिक्षा है। जो वैसे हुए की समाधि है, यह अधिचित्त शिक्षा है। जो वैसे हुए की प्रज्ञा है, यह प्रज्ञा-शिक्षा है—इस प्रकार ये तीनों शिक्षायें उस आलम्बन में, उस स्मृति और उस मनसिकार से अभ्यास करता है, आसेवन करता है, बढ़ाता है, पुनः पुनः करता है—ऐसे यहाँ अर्थ जानना चाहिये।

चूँकि पूर्व प्रकार से केवल आश्वास-प्रश्वास ही करना चाहिये, अन्य कुछ नहीं करना चाहिये, किन्तु यहाँ से लेकर ज्ञान उत्पन्न करने आदि में योग करना चाहिये। इसलिये वहाँ, 'आश्वास कर रहा हूँ' जानता है, 'प्रश्वास कर रहा हूँ' जानता है ही—वर्तमानकाल के अनुसार पालि को कह कर, यहाँ से लेकर करने योग्य ज्ञान उत्पन्न करने आदि के आकार को बतलाने के लिए—**'सारे काय का प्रतिसंवेदन करते हुए आश्वास करूँगा'** आदि प्रकार से भविष्य-काल के वचन के अनुसार पालि कही गई है—ऐसा जानना चाहिये।

काय-संस्कार को प्रश्रब्ध करते हुए आश्वास करूँगा......प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करेगा, औदलारिक (= स्थूल) काय-संस्कार को शान्त करते हुए, भली प्रकार से शान्त करते हुए, निरुद्ध, उपशम करते हुए आश्वास-प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है।

वहाँ, इस प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म होने और प्रश्रब्धि को जानना चाहिये—इस भिक्षु को पहले (कर्मस्थान के) न आरम्भ करने के समय काय और चित्त पीड़ित और स्थूल होते हैं। काय और चित्त के स्थूलपन के न शान्त होने पर आश्वास-प्रश्वास भी स्थूल होते हैं, बलवान् होकर प्रवर्तित होते हैं। नाक (आश्वास-प्रश्वास) नहीं कर सकती है, मुँह से आश्वास-प्रश्वास करते हुए रहता है। जब उसके काय भी, चित्त भी परिग्रह कर लिये गये होते हैं, तब वे शान्त, उपशान्त होते हैं। उनके उपशान्त होने पर आश्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होकर प्रवर्तित होते हैं, "हैं न, नहीं हैं?" ऐसा विचार करने योग्य हुए होते हैं।

जैसे दौड़कर, पहाड़ से उतरकर या बहुत बड़े बोझ को सिर से उतारकर खड़े हुए आदमी के आश्वास-प्रश्वास स्थूल होते हैं, नाक (आश्वास-प्रश्वास) नहीं कर सकती है, मुँह से आश्वास-प्रश्वास करते हुए भी खड़ा होता है। जब वह उस थकावट को दूर कर नहा और पीकर भींगे वस्त्र को छाती पर करके शीतल छाया में सोया होता है, तब उसके वे आश्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होते हैं। ऐसे ही इस भिक्षु के पहले (कर्मस्थान के) न आरम्भ करने के समय काय और······ विचार करने योग्य हुए होते हैं।

वह किस कारण? वैसा ही पहले कर्मस्थान के न आरम्भ करने के समय 'स्थूल काय-संस्कारों को शान्त करूँगा'—ऐसा आभोग, समन्नाहार, मनसिकार, प्रत्यवेक्षण नहीं होता है, किन्तु कर्मस्थान के आरम्भ करने के समय होता है, इसलिये कर्मस्थान के नहीं आरम्भ करने के समय की अपेक्षा कर्मस्थान के आरम्भ करने के समय में उसका काय-संस्कार सूक्ष्म होता है। इससे पुराने लोगों ने कहा है—

सारद्धे काये चित्ते च अधिमत्तं पवत्तति।
असारद्धम्हि कायम्हि सुखुमं सम्पवत्तति॥

[काय और चित्त के पीड़ित होने पर प्रबल होकर प्रवर्तित होता है और काय (और चित्त) के पीड़ित न होने पर सूक्ष्म होकर प्रवर्तित होता है।]

"कर्मस्थान को आरम्भ करने के समय में भी स्थूल प्रथम ध्यान के उपचार में सूक्ष्म होता है, उसमें भी स्थूल प्रथम ध्यान में सूक्ष्म होता है। प्रथम ध्यान और द्वितीय ध्यान के उपचार में स्थूल, द्वितीय ध्यान में सूक्ष्म, द्वितीय ध्यान और तृतीय ध्यान के उपचार में स्थूल, तृतीय ध्यान में सूक्ष्म, तृतीय ध्यान और चतुर्थ ध्यान के उपचार में स्थूल, चतुर्थ ध्यान में अत्यन्त सूक्ष्म होता है, उसमें नहीं प्रवर्तित होता है।" यह **दीघभाणक** और **संयुत्तभाणकों** का मत है, किन्तु **मज्झिम-भाणक** 'प्रथम ध्यान में स्थूल, द्वितीय-ध्यान के उपचार में सूक्ष्म होता है'—ऐसे निचले-निचले ध्यान से ऊपरी-ऊपरी ध्यान के उपचार में भी सूक्ष्मतर बतलाते हैं। किन्तु सबके ही मत से कर्मस्थान को आरम्भ नहीं करने के समय प्रवर्तित काय-संस्कार कर्मस्थान को आरम्भ करने के समय में शान्त हो जाता है। कर्मस्थान को आरम्भ करने के समय प्रवर्तित काय-संस्कार प्रथम ध्यान के उपचार में......चतुर्थ ध्यान के उपचार में प्रवर्तित काय संस्कार चतुर्थ ध्यान में शान्त हो जाता है। यह शमथ में नय (=ढंग) है। किन्तु विपश्यना में कर्मस्थान को नहीं आरम्भ करने में काय-संस्कार स्थूल और महाभूतों के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, **उपादारूप**[1] के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, सम्पूर्ण रूपों के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, अरूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, रूप और अरूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, प्रत्ययों के साथ **नाम-रूप** को देखने में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, लक्षण के आलम्बन वाली विपश्यना में सूक्ष्म होता है। वह भी दुर्बल-विपश्यना में स्थूल है, प्रबल-विपश्यना में सूक्ष्म होता है। पहले कहे गये ढंग से पहले-पहले की अपेक्षा पिछले-पिछले को शान्त जानना चाहिये। ऐसे यहाँ स्थूल, सूक्ष्म और शान्त होने को जानना चाहिये।

पटिसम्भिदा में अनुयोग और परिहार के साथ इस प्रकार से इसका अर्थ कहा गया है—"कैसे काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास करूँगा......प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है? कौन से काय-संस्कार हैं? लम्बा आश्वास......प्रश्वास कायिक हैं—ये काय से सम्बन्धित धर्म काय-संस्कार हैं। उन काय संस्कारों को शान्त करते हुए, निरुद्ध करते हुए, उपशम करते हुए अभ्यास करता है......जिस प्रकार के काय-संस्कार से काय का आगे झुकना, लटकना, भली प्रकार झुकना, पीछे की ओर झुकना, हिलना, चंचल होना, काँपना होता है, (वैसे) काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। काय-संस्कार को शान्त करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। जिस प्रकार के काय-संस्कार से काय का आगे की ओर झुकना नहीं होता है, लटकना नहीं होता है, भली प्रकार झुकना नहीं होता है, पीछे की ओर झुकना नहीं होता है, हिलना नहीं होता है, चंचल होना नहीं होता है, चलना नहीं होता है, काँपना नहीं होता है, शान्त सूक्ष्म काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास करूँगा......प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है।

इस प्रकार काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास करूँगा—अभ्यास करता है। काय संस्कार को शान्त करते हुए प्रश्वास करूँगा—अभ्यास करता है। ऐसा होने पर वायु की उप-

---

१. चार महाभूतों (=पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) के आश्रय से प्रवर्तित हुए रूप को उपादा-रूप कहते हैं।

लब्धि का उत्पादन नहीं होता है। आश्वास-प्रश्वास का उत्पादन नहीं होता है। आनापान-स्मृति का उत्पादन नहीं होता है। आनापान-स्मृति-समाधि का उत्पादन नहीं होता है और न उस समापत्ति को पण्डित (व्यक्ति) प्राप्त ही होते हैं, न (उससे) उठते ही हैं।

इस प्रकार काय-संस्कार को शान्त करते आश्वास-प्रश्वास करूँगा—अभ्यास करता है। ऐसा होने पर वायु की उपलब्धि का उत्पादन होता है। आश्वास-प्रश्वास का उत्पादन होता है। आनापान-स्मृति का उत्पादन होता है। आनापान-स्मृति-समाधि का उत्पादन होता है। उस समापत्ति को पण्डित (व्यक्ति) प्राप्त भी होते हैं और उससे उठते भी हैं।

जैसे किसके समान ? जैसे काँसे पर ठोंकने पर पहले जोर से शब्द होते हैं, जोरे से हुए शब्दों के निमित्त को भली प्रकार ग्रहण कर लेने से, भली भाँति मन में बैठा लेने से, ठीक से उपधारण (= विचार कर ग्रहण करना) कर लेने से जोर से हुए शब्दों के निरुद्ध (= शान्त) हो जाने पर भी पीछे धीमे शब्द होते हैं, धीमे शब्दों के निमित्त को भली प्रकार ग्रहण कर लेने से, भलीभाँति मन में बैठा लेने से, ठीक से उपधारण कर लेने से, धीमे शब्दों के निरुद्ध भी हो जाने पर, पीछे धीमे शब्दों के निमित्त के आलम्बन से भी चित्त प्रवर्तित होता है। ऐसे ही प्रथम स्थूल आश्वास-प्रश्वास प्रवर्तित होते हैं, स्थूल आश्वास-प्रश्वास के निमित्त को भली प्रकार ग्रहण कर लेने से, भलीभाँति मन में बैठा लेने से, ठीक से उपधारण कर लेने से, स्थूल आश्वास-प्रश्वास के निरुद्ध भी हो जाने पर, पीछे सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास प्रवर्तित होते हैं। सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वासों के निमित्त को भली प्रकार ग्रहण कर लेने से, भली भाँति मन में बैठा लेने से, ठीक से उपधारण कर लेने से, सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास के निरुद्ध भी हो जाने पर, पीछे सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास के निमित्त के आलम्बन से भी चित्त विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है। ऐसा होने पर वायु की उपलब्धि का उत्पादन होता है। आश्वास-प्रश्वासों का उत्पादन होता है। आनापान-स्मृति का उत्पादन होता है। आनापान-स्मृति-समाधि का उत्पादन होता है। उस समापत्ति को पण्डित (व्यक्ति) प्राप्त भी होते हैं, उससे उठते भी हैं।

काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास-प्रश्वास काय हैं, उपस्थान स्मृति है, अनुपश्यना (= पुनः पुनः विचार करके देखना) ज्ञान है। काय उपस्थान है, स्मृति नहीं। स्मृति उपस्थान और स्मृति भी है। उस स्मृति और ज्ञान से उस काय की अनुपश्यना करता है, इसलिये काय में कायानुपश्यना-स्मृत्युपस्थान-भावना कहा जाता है।"—यह कायानुपश्यना के अनुसार कहे गये प्रथम चतुष्क् के पदों का क्रमशः वर्णन है।

चूँकि यही चतुष्क् प्रारम्भिक योगाभ्यासी (= आदि कर्मिक) के लिये कर्मस्थान के अनुसार कहा गया है, दूसरे तीन चतुष्क् इसमें प्राप्त हुए ध्यान वाले (व्यक्ति) की वेदना, चित्त और धर्मानुपश्यना के अनुसार कहे गये हैं। इसलिये इस कर्मस्थान की भावना करके आनापान-चतुर्थ-ध्यान की पदस्थान (= कारण = प्रत्यय) हुई विपश्यना से प्रतिसम्भिदा आदि के साथ अर्हत्व को प्राप्त करने की इच्छा वाले प्रारम्भिक योगाभ्यासी कुलपुत्र को पहले कहे गये ढंग से ही शील को परिशुद्ध करने आदि सब कृत्यों को करके उक्त प्रकार के आचार्य के पास पाँच सन्धि वाले कर्मस्थान को सीखना चाहिये।

ये पाँच सन्धियाँ हैं—(१) उग्गह (२) परिपुच्छा (३) उपट्ठान (४) अप्पना (५) लक्खण। उग्गह कर्मस्थान के सीखने को कहते हैं। **परिपुच्छा** कर्मस्थान के (संशय को दूर करने के लिये) प्रश्न पूछना है। **उपट्ठान** कर्मस्थान का जान पड़ना है। **अप्पना** कर्मस्थान

रगड़ते हुए तेजी से झुण्ड-झुण्ड होकर निकलता है। वह तेजी से तीन, चार, पाँच, दस गिनता ही है।

ऐसे इसे भी पहले के ढंग से गिनते हुए आश्वास-प्रश्वास प्रगट होकर जल्दी-जल्दी बार-बार आते जाते हैं। उसके बाद उस (योगी)को बार-बार आते-जाते हैं—ऐसा जानकर भीतर और बाहर नहीं ग्रहण करके द्वार पर आये, आये हुए को ही ग्रहण करके 'एक, दो, तीन, चार, पाँच; एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः; एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः सात;······आठ······नव······दस—ऐसे जल्दी-जल्दी गिनना चाहिये ही। कर्मस्थान के गिनने में लगे होने पर गिनने के बल से ही तेज धार में पतवार के सहारे नाव को रखने के समान चित्त एकाग्र होता है।

उसके ऐसे जल्दी-जल्दी गिनते हुए कर्मस्थान निरन्तर जारी रहने के समान होकर जान पड़ता है। तब, निरन्तर जारी है—ऐसा जानकर भीतर और बाहर वायु का विचार न करके पहले के ढंग से ही तेजी से गिनना चाहिये। भीतर घुसने वाली वायु के साथ चित्त को घुसाने वाले (योगी) का भीतर वायु से चोट खाये मेद से भरे हुए के समान होता है। बाहर निकलनेवाली वायु के साथ चित्त को, निकालने वाले का चित्त बाहरी अनेक आलम्बनों में विक्षिप्त होता है। स्पर्श किये, स्पर्श किये हुए स्थान पर स्मृति को बनाकर भावना करनेवाले को ही भावना की सिद्धि होती है। इसलिये कहा है—'भीतर और बाहर वायु का विचार न करके पहले के ढंग से ही तेजी से गिनना चाहिये।

कितनी देर तक इसे गिनना चाहिये? जबतक बिना गणना के आश्वास-प्रश्वास के आलम्बन में स्मृति बनी रहती है। बाहर फैले वितर्कों को दूर करके आश्वास-प्रश्वास के आलम्बन में स्मृति को बनाये रखने के लिये ही गिनना है।

अनुबन्धना

इस प्रकार गणना से मन में करके अनुबन्धना से मन में करना चाहिये। अनुबन्धना कहते हैं गणना को छोड़कर स्मृति से निरन्तर आश्वास-प्रश्वास के पीछे चलने को। वह भी आरम्भ, मध्य, अन्त के पीछे चलने के अनुसार नहीं।

बाहर निकलने वाली वायु का नाभी आरम्भ है, हृदय मध्य और नासिका अन्त है। भीतर घुसने वाली वायु का नासिका का अग्रभाग आरम्भ, हृदय मध्य और नाभी अन्त है। उसके पीछे जाने वाले इस (योगी) का विक्षेप में पड़ा हुआ चित्त पीड़ा और (कर्मस्थान के) कम्पन के लिये होता है। जैसे कहा है—"आश्वास के आरम्भ, मध्य, अन्त के पीछे-पीछे स्मृति से चलने वाले का भीतरी विक्षेप में पड़े हुए चित्त से काय भी, चित्त भी पीड़ित, कम्पित और चंचल होते हैं। प्रश्वास के आरम्भ, मध्य, अन्त के पीछे-पीछे स्मृति के चलने वाले का बाहरी विक्षेप में पड़े हुए चित्त से काय भी, चित्त भी पीड़ित, कम्पित और चंचल होते हैं।"[१] इसलिये अनुबन्धना से मनसिकार करते हुए आरम्भ, मध्य, अन्त का मनसिकार नहीं करना चाहिये, प्रत्युत स्पर्श किये हुए स्थान और स्थापन (= अर्पणा) के अनुसार मनसिकार करना चाहिये।

फुसना और ठपना

गणना और अनुबन्धना के अनुसार मनसिकार नहीं है। स्पर्श किये हुए, स्पर्श किये हुए

१. पटिसम्भिदामग्ग।

स्थान में ही गिनते हुए गणना और फुसना का मनसिकार करता है। वहीं गणना करने को त्याग कर स्मृति से उनके पीछे-पीछे चलते हुए अर्पणा से चित्त को स्थिर करते हुए अनुबन्धना, फुसना और ठपना से मनसिकार करता है—ऐसा कहा जाता है। इस अर्थ को अट्ठकथाओं में कही गई पंगुल (=पंगु) और द्वारपाल (=दौवारिक) की उपमाओं तथा पटिसम्भिदा में कही गई आरा (=क्रकच) की उपमा से जानना चाहिये।

उनमें, यह **पंगुल की उपमा** है—जैसे पंगुल झूले में माता-पुत्र के क्रीड़ा करते हुए झूले को फेंक कर वहीं झूले के खम्भे के पास बैठा हुआ क्रम से आते और जाते हुए झूले के पटरे के दोनों सिरों और बीच को देखता है, किन्तु दोनों किनारों और बीच को देखने के फेर में नहीं पड़ता है। ऐसे ही भिक्षु स्मृति से उपनिबन्धना रूपी खम्भे के पास खड़ा होकर आश्वास-प्रश्वास रूपी झूले को फेंक कर वहीं, निमित्त में स्मृति से बैठते हुए क्रम से आते और जाते हुए स्पर्श करने के स्थान में आश्वास-प्रश्वास के आरम्भ, मध्य, अन्त के पीछे-पीछे जाते हुए स्मृति से वहाँ चित्त को रखते हुए देखता है, किन्तु उन्हें देखने के फेर में नहीं पड़ता है।......

यह **द्वारपाल की उपमा** है—जैसे द्वारपाल नगर के भीतर और बाहर तू कौन हो? कहाँ से आये हो? कहाँ जा रहे हो? या तेरे हाथ में क्या है?—ऐसे मीमांसा (=जाँच) नहीं करता है, क्योंकि उसके वे काम नहीं हैं, किन्तु द्वार पर आये, आये हुए (व्यक्ति) की मीमांसा (=जाँच) करता है। ऐसे ही इस भिक्षु को भीतर घुसी वायु और बाहर निकली वायु से काम नहीं है, किन्तु द्वार पर आयी-आयी हुई से ही काम है।......

आरे की उपमा प्रारम्भ से लेकर ऐसे जाननी चाहिये। यह कहा है—

निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
अजानतो च तयो धम्मे भावना नुपलब्भति॥

[निमित्त, आश्वास-प्रश्वास, एक चित्त का आलम्बन न होना—(इन) तीन धर्मों को नहीं जानने वाले को (आनापन-स्मृति की) भावना नहीं प्राप्त होती है।]

निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
जानतो व तयो धम्मे भावना उपलब्भति॥

[निमित्त, आश्वास-प्रश्वास, एक चित्त का आलम्बन न होना—(इन) तीन धर्मों को जानने वाले को ही (आनापान-स्मृति की) भावना प्राप्त होती है।]

"कैसे ये तीनों धर्म एक चित्त के आलम्बन नहीं होते हैं, ये तीनों धर्म अ-विदित नहीं होते हैं, चित्त-विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है, प्रधान (= वीर्य) दिखाई देता है, कार्य (= प्रयोग) को सिद्ध करता है, और (लौकिक तथा लोकोत्तर) विशेषता को प्राप्त करता है?

जैसे वृक्ष समतल भूमि पर पड़ा हो, ऐसा उपनिबन्धना, निमित्त है। जैसे आरे के दाँत हों ऐसे आश्वास-प्रश्वास हैं। जैसे वृक्ष पर स्पर्श किये हुए आरे के दाँतों के प्रति पुरुष की स्मृति बनी रहती है, किन्तु वह आये या गये हुए आरे के दाँतों का ख्याल नहीं करता है तथा आये या गये हुए आरे के दाँत अविदित नहीं होते हैं, वीर्य दिखाई देता है, कार्य सिद्ध होता है, विशेषता को प्राप्त करता है। ऐसे ही भिक्षु नासिका के अग्रभाग या मुख-निमित्त (= ऊपरी ओंठ) पर स्मृति को उपस्थित करके बैठा रहता है, (वह) आये या गये हुए आश्वास-प्रश्वास का

ख्याल नहीं करता है, तथा (उसे) आये या गये हुए आश्वास-प्रश्वास अविदित नहीं होते हैं, वीर्य दिखाई देता है, कार्य सिद्ध होता है और विशेषता को प्राप्त करता है।

प्रधान (= वीर्य)—यह कौन सा प्रधान है ? वीर्य आरम्भ किये हुए (व्यक्ति) का काय भी, चित्त भी काम करने के योग्य होता है—यह प्रधान है। कौन सा प्रयोग है ? वीर्य आरम्भ किये हुए (= व्यक्ति) के उपक्लेश (= नीवरण) दूर हो जाते हैं, वितर्क शान्त हो जाते हैं—यह प्रयोग है। कौन-सी विशेषता है ? वीर्य आरम्भ किये हुए (व्यक्ति) के संयोजन दूर हो जाते हैं, अनुशय निकल जाते हैं—यह विशेषता है। इस प्रकार ये तीनों धर्म एक चित्त के आलम्बन नहीं होते हैं, किन्तु ये तीनों धर्म अविदित नहीं होते हैं, चित्त-विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है, प्रधान दिखाई देता है, कार्य सिद्ध होता है और विशेषता को प्राप्त करता है।

आनापानसति यस्स परिपुण्णा सुभाविता।
अनुपुब्बं परिचिता तथा बुद्धेन देसिता॥
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा॥"[1]

[आनापान-स्मृति की जिसने परिपूर्ण भली प्रकार से भावना की है, क्रमशः अभ्यास किया है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है—वैसा(भगवान्) बुद्ध ने कहा है।]

—यह आरे की उपमा है। यहाँ इसके आने-जाने के अनुसार मनसिकार करना मात्र ही प्रयोजन है—ऐसा जानना चाहिये।

इस कर्मस्थान का मनसिकार करते हुए किसी को थोड़े ही दिनों में (प्रतिभाग-) निमित्त उत्पन्न होता है और अवशेष ध्यानाङ्ग से युक्त अर्पणा कही जानेवाली ठपना (भी) प्राप्त होती है।

किसी को गणना के अनुसार ही मनसिकार करने के समय से लेकर क्रमशः स्थूल आश्वास-प्रश्वास के निरोध होने से काय की पीड़ा के शान्त हो जाने पर काय भी, चित्त भी हल्का होता है, शरीर आकाश में उछलने के आकार को प्राप्त हुये के समान होता है, जैसे पीड़ा सहित काय-वाले के चारपाई या चौकी पर बैठते समय चारपाई-चौकी झुक जाती है, शब्द (उत्पन्न) होता है। चादर (= प्रस्तरण) में सिकुड़न पड़ जाती है, किन्तु पीड़ा रहित कायवाले के बैठते समय चारपाई-चौकी नहीं झुकती है, शब्द नहीं (उत्पन्न) होता है, चादर में सिकुड़न नहीं पड़ती है, सेमर की रूई से भरी हुई चारपाई-चौकी के समान होता है। क्यों ? चूँकि वीर्य आरम्भ किया हुआ शरीर हल्का होता है। ऐसे ही गणना के अनुसार मनसिकार करने के समय से क्रमशः स्थूल आश्वास-प्रश्वास के निरोध से काय की पीड़ा के शान्त हो जाने पर काय भी, चित्त भी हल्का होता है, शरीर आकाश में उछलने के आकार को प्राप्त हुये के समान होता है।

उसके स्थूल आश्वास-प्रश्वास के शान्त हो जाने पर सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास के निमित्त का आलम्बन हुआ चित्त प्रवर्तित होता है। उसके भी सिद्ध होने पर एक दूसरे के बाद उससे सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतर निमित्त का आलम्बन हुआ ही प्रवर्तित होता है।

कैसे ? जैसे पुरुष बहुत बड़ी लोहे की छड़ से काँसे की थाली को ठोंके, एक बार के ठोंकने से महाशब्द उत्पन्न हो, उसके पश्चात् स्थूल शब्द को आलम्बन करके चित्त प्रवर्तित हो और स्थूल शब्द के निरुद्ध होने पर, पीछे सूक्ष्म शब्द आलम्बन करके। उसके भी निरुद्ध हो जाने

१. पटिसम्भिदामग्ग।

पर एक दूसरे के बाद उससे सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतर शब्द को आलम्बन करके प्रवर्तित होता ही है। ऐसे इसे जानना चाहिये। यह कहा भी है—"जैसे कांसे पर ठोंकने पर[1]?" विस्तार।

जैसे दूसरे कर्मस्थान आगे-आगे स्पष्ट होते हैं, वैसा यह नहीं है। यह आगे-आगे भावना करनेवाले को सूक्ष्म होता जाता है, जान भी नहीं पड़ता है। ऐसे उसके नहीं जान पड़ने पर उस भिक्षु को आसन से उठ चर्म-खण्ड को झाड़कर नहीं जाना चाहिये। क्या करना चाहिये ? आचार्य से पूछूँगा या मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया—ऐसा (सोचकर) नहीं उठना चाहिये। क्योंकि ईर्य्या-पथ को कुपित करके जानेवाले का कर्मस्थान नया-नया ही होता है, इसलिये वैसे बैठे हुए ही (स्वभाव से स्पर्श करने वाले) स्थान से लाना चाहिये।

यह लाने का उपाय है—उस भिक्षु को कर्मस्थान के नहीं जान पड़ने की बात को जानकर ऐसा विचार करना चाहिये—'ये आश्वास-प्रश्वास कहाँ हैं ? कहाँ नहीं हैं ? या किसे हैं ? किसे नहीं हैं ?' तब ऐसे विचार करते हुये—ये माँ के पेट के भीतर नहीं हैं, पानी में डूबे हुए को नहीं हैं, वैसे ही असंज्ञी हुए को, मरे हुए को, चतुर्थ ध्यान प्राप्त हुए को, रूप और अरूप भव में उत्पन्न हुए को, और निरोध (-समापत्ति) को प्राप्त हुए (व्यक्तियों) को। इस प्रकार जानकर ऐसे अपने आप ही अपने को समझाना चाहिये—"पण्डित, तू माँ के पेट में नहीं हो न ? न तो पानी में डूबे हुए ? न असंज्ञी हुए ? न मरे हुए ? न चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुये ? न रूप और अरूप भव में उत्पन्न हुए ? न निरोध (-समापत्ति) को प्राप्त हुए ? तेरे आश्वास-प्रश्वास हैं ही, किन्तु मन्द-प्रज्ञ होने से नहीं जान सकते हो।" तब इसे स्वभाव से स्पर्श किये हुए स्थान के अनुसार चित्त को करके मनसिकार करना चाहिये।

ये लम्बे नाक वाले (व्यक्ति) के नासा-पुट (- नाक के छेद) से लगते हुए प्रवर्तित होते हैं और छोटे नाक वाले के ऊपरी ओंठ से। इसलिये इस (योगी) को 'इस स्थान पर लगते हैं' ऐसा ख्याल करना चाहिये। इसी बात के प्रति भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, मैं स्मृति नहीं रहने वाले, प्रज्ञा रहित (व्यक्ति) के लिये आनापान-स्मृति की भावना नहीं कहता।"[2]

यद्यपि जो कोई (भी) कर्मस्थान स्मृति और प्रज्ञा से युक्त (व्यक्ति) को ही सिद्ध होता है, किन्तु दूसरा (कर्मस्थान) मन में करते हुए प्रगट होता है। यह आनापान स्मृति-कर्मस्थान कठिन है, कठिनाई से भावना किया जाने वाला है। बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्ध-पुत्र (=भिक्षु) महापुरुषों के ही मनसिकार की भूमि (=क्षेत्र) है, (यह) न तो छोटा है और न छोटे सत्त्वों से सेवित ही। जैसे-जैसे मन में किया जाता है, वैसे-वैसे शान्त और सूक्ष्म होता है। इसलिये यहाँ बलवान् स्मृति और प्रज्ञा होनी चाहिये।

जैसे रेशमी वस्त्र के सीने के समय सूई भी पतली होनी चाहिये, सूई का छेद भी उससे पतला होना चाहिये। ऐसे ही रेशमी वस्त्र के समान इस कर्मस्थान की भावना करने के समय सूई की भाँति स्मृति भी, सूई के छेद की भाँति उसके साथ रहने वाली प्रज्ञा भी बलवान् होनी चाहिये, और उन स्मृति और प्रज्ञा से युक्त उस भिक्षु को वे आश्वास-प्रश्वास स्वाभाविक स्पर्श करने के स्थान को छोड़कर नहीं खोजने चाहिये।

जैसे किसान खेत को जोतकर बैलों को छोड़ चरागाह की ओर करके छाया में बैठा हुआ विश्राम करे, तब उसके वे बैल तेजी से जंगल में चले जायँ। जो चतुर किसान होता है, वह फिर

१. पटिसम्भिदामग्ग।

२. संयुत्त नि० ५२, १, १।

उन्हें पकड़कर जोतना चाहता हुआ उनके पीछे-पीछे जंगल को नहीं घूमता है, प्रत्युत रस्सी और बैलों को हाँकने की छड़ी को लेकर सीधे ही उनके उतरने के घाट पर जाकर बैठता या सोता है। तब उन बैलों को दिन भर चरकर उतरने के घाट पर उतरकर नहा, पानी पी, निकलकर खड़े हुए देख रस्सी से बाँध, छड़ी से पीटते हुए ला बाँधकर फिर (खेती का) काम करता है। ऐसे ही उस भिक्षु को वे आश्वास-प्रश्वास स्वाभाविक रूप से स्पर्श करने के स्थान को छोड़कर नहीं खोजने चाहिये। स्मृति रूपी रस्सी और प्रज्ञा रूपी छड़ी को लेकर स्वाभाविक रूप से स्पर्श करने के स्थान में चित्त को करके मनसिकार प्रवर्तित करना चाहिये। ऐसे उस मनसिकार करने वाले को थोड़े समय में ही उतरने के घाट पर बैलों के समान वे जान पड़ते हैं। तत्पश्चात् इसे स्मृति की रस्सी से बाँधकर उसी स्थान में लगा कर प्रज्ञा की छड़ी से पीटते हुए बार-बार कर्मस्थान में भिड़ना चाहिये।

उसके ऐसे भिड़ते हुए थोड़े समय में ही (उग्गह और प्रतिभाग) निमित्त जान पड़ता है, किन्तु वह सबका एक समान नहीं होता है। प्रत्युत किसी का सुख-स्पर्श को उत्पन्न करते हुए सेमर की रूई के समान, कपास की रूई की भाँति और वायु की धारा के सदृश जान पड़ता है—ऐसा कोई-कोई (आचार्य) कहते हैं।

यह अट्ठकथाओं में विनिश्चय है—यह किसी को तारे की प्रभा के रूप के समान, मणि की गोली के समान और मोती की गोली के समान; किसी को कर्कश (= रूखा) स्पर्श वाला होकर कपास के बीज के समान और लकड़ी की हीर से बनाई हुई सूई के समान। किसी को लम्बे पामङ्ग (=करधनी) के धागे के समान, फूल की माला के समान और आग के समान। किसी को फैले हुए मकड़े के सूत के समान, मेघ की घटा के समान, पद्म के फूल के समान, रथ के चक्के के समान, चन्द्र-मण्डल के समान और सूर्य-मण्डल के समान जान पड़ता है।

वह (प्रतिभाग निमित्त), जैसे बहुत से भिक्षुओं के सूत्र का पाठ करके बैठे हुए होने पर, एक भिक्षु द्वारा "आप लोगों को किस प्रकार का होकर यह सूत्र जान पड़ता है?" कहने पर, एक ने "मुझे बहुत बड़ी पहाड़ी नदी के समान होकर जान पड़ता है" कहा। दूसरे ने "वन-पंक्ति के समान।" अन्य ने "मुझे एक शीतल छाया वाले, शाखा-युक्त, फल के भार से लदे हुए वृक्ष के समान।" उनको वह एक ही सूत्र संज्ञा के नानत्व से नाना प्रकार से जान पड़ता है, क्योंकि यह संज्ञा से उत्पन्न है, संज्ञा इसका निदान है, यह संज्ञा से प्रभूत है। इसलिये संज्ञा के नानत्व से नाना प्रकार से जान पड़ता है—ऐसा जानना चाहिये। और यहाँ, आश्वास के आलम्बन का दूसरा ही चित्त है, प्रश्वास के आलम्बन का दूसरा तथा निमित्त को आलम्बन किया हुआ दूसरा। जिसे ये तीनों धर्म नहीं हैं, उसका कर्मस्थान न तो अर्पणा और न उपचार को ही प्राप्त होता है, किन्तु जिसे ये तीनों धर्म हैं, उसी का कर्मस्थान उपचार और अर्पणा को प्राप्त होता है। यह कहा गया है—

> निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
> अजानतो च तयो धम्मे भावना नुपलब्भति॥
> निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
> जानतो च तयो धम्मे भावना उपलब्भति॥[1]

१. देखिये अर्थ, पृष्ठ २५१।

ऐसे निमित्त के जान पड़ने पर उस भिक्षु को आचार्य के पास जाकर कहना चाहिये—"भन्ते, मुझे इस प्रकार जान पड़ता है।" आचार्य को "यह निमित्त है' या 'निमित्त नहीं है' नहीं कहना चाहिये। 'आवुसो, ऐसा होता है' कह कर 'बार-बार मन में करो' कहना चाहिये, क्योंकि 'निमित्त है' कहने पर प्रयत्न करना छोड़ दे, और 'निमित्त नहीं है' कहने पर निराशा में डूब जाय, इसलिये उन दोनों को न कह कर मनसिकार में ही लगाना चाहिये। ऐसा दीघभाणक, (कहते हैं), किन्तु मज्झिम-भाणक कहते हैं—"आवुसो, यह निमित्त है, कर्मस्थान को बार-बार मन में करो सत्पुरुष !" कहना चाहिये।

तब इसे निमित्त में ही चित्त को स्थिर करना चाहिये। ऐसे इस (योगी) को यहाँ से लेकर ठपना के अनुसार भावना होती है। पुराने लोगों ने यह कहा है—

निमित्ते ठपयं चित्तं नानाकारं विभावयं।
धीरो अस्सासपस्सासे सकं चित्तं निबन्धति ॥

[आश्वास-प्रश्वास में (होने वाले) नाना आकार को दूर करते, और (प्रतिभाग-) निमित्त में चित्त को स्थिर करते हुए, प्रज्ञावान् (योगी) अपने चित्त को बाँधता है।]

ऐसे निमित्त के जान पड़ने (के समय) से उसके नीवरण दूर ही हो जाते हैं, क्लेश शान्त ही हो जाते हैं, स्मृति बनी ही रहती है और चित्त उपचार समाधि से एकाग्र ही हुआ रहता है।

तब इस (योगी) को उस निमित्त को वर्ण से मन में नहीं करना चाहिये, न लक्षण से प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। प्रत्युत राजा की पटरानी के चक्रवर्ती के गर्भ की भाँति और किसान के धान-जौ की बाल (=गर्भ) की भाँति आवास आदि सात विपरीत बातों[1] को त्याग कर, उन्हीं सात अनुकूल बातों का सेवन करते हुए भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये। उसकी ऐसे रक्षा करके बार-बार मनसिकार से वृद्धि, वैपुल्य को ले जाकर दस प्रकार की अर्पणा की कुशलता को पूर्ण करना चाहिये, वीर्य की समता को जुटाना चाहिये।

उस ऐसे प्रयत्न करने वाले को पृथ्वी-कसिण में कहे गये क्रम से ही उस निमित्त में चतुष्क् और पञ्चक् ध्यान उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चतुष्क्-पञ्चक् ध्यान को उत्पन्न हुआ भिक्षु यहाँ भली-भाँति विचार करने और विवर्त्तन से कर्मस्थान को बढ़ाकर पारिशुद्धि को प्राप्त करने की इच्छा से उसी ध्यान को पाँच प्रकार से वशी[2] को प्राप्त हुआ अभ्यस्त कर नाम और रूप का विचार करके विपश्यना प्रारम्भ करता है।

कैसे ? वह समापत्ति से उठकर आश्वास-प्रश्वासों की उत्पत्ति करज काय[3] और चित्त को देखता है। जैसे लोहार की अँगीठी को फूँकते समय भाथी (= भस्त्रा), आदमी और उसके किये प्रयत्न से वायु चलती है, ऐसे ही काय और चित्त से आश्वास-प्रश्वास। तत्पश्चात् आश्वास-प्रश्वास और काय को रूप तथा चित्त और उससे सम्प्रयुक्त धर्मों को अरूप—ऐसा विचार करता है। यह यहाँ संक्षेप है। विस्तार से नाम-रूप की भावना पीछे आयेगी[4]।

---

१. देखिये पृष्ठ ११८।

२. देखिये पृष्ठ १३९।

३. पृथ्वी, आप, तेज, वायु—ये चार महाभूत तथा उपादा रूप—दीघनिकायट्ठकथा २२।

४. देखिये परिच्छेद १८।

इस प्रकार नाम-रूप का विचार करके उसके प्रत्यय को ढूँढ़ता है और ढूँढ़ते हुए उसे देखकर तीनों भी कालों में नामरूप की प्रवृत्ति के प्रति शंका को मिटाता है। शंका रहित हो कलाप[1] के विचार से त्रिलक्षण (= अनित्य, दुःख, अनात्म) को लेकर उदय-व्यय (= उत्पत्ति-लय) की अनुपश्यना के पूर्व भाग में उत्पन्न अवभास आदि दस विपश्यना के उपक्लेशों को त्याग[2] उपक्लेशों से रहित **प्रतिपदा-ज्ञान मार्ग** होता है—ऐसा विचार कर उदय को त्याग भङ्गानुपश्यना को पाकर निरन्तर भङ्ग होने को देखने से भय के रूप से संस्कारों को जान पड़ने पर निर्वेद को प्राप्त होते हुए, विरागी होते हुए, उससे अलग होते हुए क्रम से चार आर्य मार्गों को प्राप्त कर अर्हत्-फल में प्रतिष्ठित हो उन्नीस प्रकार के प्रत्यवेक्षण ज्ञान[3] की अन्तिम सीमा को प्राप्त कर देवताओं के साथ लोक का अग्र-दाक्षिणेय्य होता है।

यहाँ तक **गणना** से आरम्भ कर प्रतिपश्यना के अन्त तक आनापान-स्मृति समाधि की भावना समाप्त हो जाती है।

यह सब प्रकार से प्रथम चतुष्क् का वर्णन है।

द्वितीय चतुष्क्

अन्य तीन चतुष्कों में चूँकि अलग कर्मस्थान की भावना का ढंग नहीं है, इसलिये क्रमशः पदों के वर्णन के अनुसार ही इनका इस प्रकार अर्थ जानना चाहिये—

पीतिपटिसंवेदी—प्रीति को भली भाँति जानते हुए, प्रगट करते हुए। **अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामीति सिक्खति** (= आश्वास करूँगा, प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है)—प्रीति को दो प्रकार से भली भाँति जाना जाता है– (१) आलम्बन और (२) असंमोह से।

कैसे आलम्बन से प्रीति भली भाँति जानी जाती है? प्रीति-युक्त दो ध्यानों को प्राप्त होता है, उसकी समापत्ति के क्षण ध्यान के प्रतिलाभ से आलम्बन से प्रीति भली भाँति जानी जाती है आलम्बन के जाने हुए होने के कारण। कैसे असंमोह से? प्रीति-युक्त दो ध्यानों को प्राप्त होकर (उनसे) उठ ध्यान से युक्त प्रीति को क्षय, व्यय (= विनाश) के रूप से देखता है। विपश्यना के क्षण लक्षण के प्रतिवेध से असंमोह से प्रीति जानी जाती है।

यह प्रतिसम्भिदा में कहा गया है—"लम्बे आश्वास से चित्त की एकाग्रता, अ-विक्षेप को जानने वाले की स्मृति उपस्थित रहती है, उस स्मृति से, उस ज्ञान से,वह प्रीति भली भाँति जानी जाती है। लम्बे प्रश्वास से······छोटे आश्वास से···छोटे प्रश्वास से···सब काया का प्रतिसंवेदन करते हुए आश्वास-प्रश्वास से···काय-संस्कार को शान्त करते हुए आश्वास-प्रश्वास से चित्त की एकाग्रता, अ-विक्षेप जानने वाले की स्मृति उपस्थित होती है, उस स्मृति से, उस ज्ञान से वह प्रीति जानी जाती है। आवर्जन से वह प्रीति जानी जाती है, जानने, देखने, प्रत्यवेक्षण करने, चित्त का अधिष्ठान करने, श्रद्धा से विश्वास करने, प्रयत्न करने, स्मृति को बनाये रखने, चित्त को एकाग्र करने, प्रज्ञा से जानने, अभिज्ञेय······परिज्ञेय······प्रहाण (= त्याग) करने योग्य······भावना

१. कलाप २१ होते हैं, देखिये अभिधम्मत्थसंगह ६।

२. देखिये, बीसवाँ परिच्छेद।

३. देखिये बाइसवाँ परिच्छेद।

करने योग्य……साक्षात् करने योग्य का साक्षात् करने वाले से वह प्रीति जानी जाती है। ऐसे वह प्रीति जानी जाती है[1]।"

इसी ढंग से शेष पदों को भी अर्थ से जानना चाहिये। यह यहाँ विशेष-मात्र है—

तीन ध्यानों के अनुसार सुख का प्रतिसंवेदन और चारों (ध्यानों) के भी अनुसार चित्त-संस्कार का प्रतिसंवेदन जानना चाहिये। **चित्त-संस्कार** कहते हैं वेदना आदि[2] दो स्कन्धों को। **सुखपटिसंवेदी** पद में विपश्यना की भूमि को दिखलाने के लिये—"सुख—दो सुख हैं, कायिक और चैतसिक[3]।" प्रतिसम्भिदा में कहा गया है। **पस्सम्भयं चित्तसंखारं**—औदारिक (= स्थूल)-चित्त संस्कार को शान्त करते हुए। निरुद्ध करते हुए—अर्थ है। उसे विस्तार से काय-संस्कार में कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

यहाँ, 'प्रीति' पद में प्रीति के शीर्ष से वेदना कही गई है। 'सुख' पद में स्वरूप से ही वेदना और दोनों चित्त-संस्कार पदों में—"संज्ञा, और वेदना—ये चैतसिक धर्म हैं, चित्त संस्कार चित्त से बँधे हुए हैं।" वाक्य से वेदना संज्ञा से सम्प्रयुक्त है—ऐसे वेदना की अनुपश्यना के अनुसार यह चतुष्क् कहा गया जानना चाहिये।

तृतीय चतुष्क्

तीसरे चतुष्क् में भी चार ध्यानों के अनुसार चित्त की प्रतिसंवेदिता को जानना चाहिये। **अभिप्पमोदयं चित्तं**—चित्त को मुदित, प्रमुदित करते हुए, हँसाते, प्रसन्न करते हुए **अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामीति सिक्खति**[4]। दो प्रकार से 'अभिप्रमोद' होता है—समाधि और विपश्यना से। कैसे समाधि से? सप्रीतिक दो ध्यानों को प्राप्त करता है। वह ध्यान प्राप्त करने के क्षण सम्प्रयुक्त-प्रीति से चित्त को मुदित, प्रमुदित करता है। कैसे विपश्यना से? सप्रीतिक दो ध्यानों को प्राप्त करके (उनसे) उठकर ध्यान से युक्त प्रीति को क्षय = व्यय (= विनाश = लय) होने के रूप से विचारता है—ऐसे विश्यना के क्षण ध्यान से युक्त प्रीति को आलम्बन करके चित्त को मुदित, प्रमुदित करता है। ऐसा प्रतिपन्न हुआ (योगी) **अभिप्पमोदयं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति** कहा जाता है।

समादहं चित्तं—प्रथम ध्यान आदि के अनुसार आलम्बन में चित्त को सम स्थापित करते हुए, रखते हुए। या उन ध्यानों को प्राप्त हो, उठकर ध्यान से सम्प्रयुक्त चित्त को क्षय = व्यय होने के रूप से विचारने वाले को विश्यना के क्षण लक्षण के प्रतिबोध से क्षणिक चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है, ऐसे क्षणिक चित्त की एकाग्रता के अनुसार भी आलम्बन में चित्त को सम स्थापित करते हुए, सम रखते हुए **समादहं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति** कहा जाता है।

विमोचयं चित्तं—प्रथम ध्यान से नीवरणों से चित्त को छुड़ाते हुए, विमुक्त करते हुए, द्वितीय से वितर्क-विचारों से, तृतीय से प्रीति से, चतुर्थ से सुख-दुःख से चित्त को छुड़ाते हुए,

१. पटि० १. १८७।

२. आदि शब्द से 'संज्ञा' गृहीत है—टीका।

३. पटि० १. १८८।

४. दे० पृष्ठ २५५।

विमुक्त करते हुए। या उन ध्यानों को प्राप्त हो उठकर ध्यान से युक्त चित्त को क्षय = व्यय होने के रूप से विचारता है, वह विपश्यना के क्षण अनित्य की अनुपश्यना से नित्य होने की संज्ञा (= ख्याल)से चित्त को छुड़ाते हुए, विमुक्त करते हुए, दुःख की अनुपश्यना से सुख होने की संज्ञा से, अनात्म की अनुपश्यना से आत्मा होने की संज्ञा से। निर्वेद की अनुपश्यना से नन्दी (= राग) से, विरागानुपश्यना से राग से। निरोधानुपश्यना से समुदय (= उत्पत्ति) से। प्रतिनिःसर्गानुपश्यना से आदान (= नित्य आदि के अनुसार ग्रहण करने) से चित्त को छुड़ाते हुए, विमुक्त करते हुए आश्वास प्रश्वास करता है, इसलिये कहा जाता है—'**विमोचयं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी'ति सिक्खति।**' ऐसे चित्तानुपश्यना के अनुसार इस चतुष्क् को कहा गया जानना चाहिये।

चतुर्थ चतुष्क्

चौथे चतुष्क् में **अनिच्चानुपस्सी**—यहाँ अनित्य को जानना चाहिये, अनित्यता को जानना चाहिये, अनित्यानुपश्यना जाननी चाहिये, अनित्यानुपश्यना जाननी चाहिये, अनित्यानुपश्यी जानना चाहिये।

उनमें, **अनित्य**—पञ्चस्कन्ध। क्यों ? उत्पत्ति, नाश, विपरीत होने से। **अनित्यता**—उन्हीं का उत्पाद, नाश और विपरीत होना या होकर, न होना। उत्पन्न हुए को उसी आकार से नहीं रहकर क्षणिक निरोध से नाश होना—अर्थ है। **अनित्यानुपश्यना**—उस अनित्यता के अनुसार रूप आदि में अनित्य है,—ऐसी अनुपश्यना। **अनित्यानुपश्यी**—उस अनुपश्यना से युक्त। इसलिये ऐसा आश्वास-प्रश्वास करते हुए यहाँ, अनित्यानुपश्यी होकर आश्वास-प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है—जानना चाहिये।

विरागानुपस्सी—दो विराग हैं क्षय-विराग और अत्यन्त विराग। उनमें संस्कारों का क्षणिक भङ्ग होना क्षय-विराग है और अत्यन्त विराग निर्वाण है। **विरागानुपश्यना**—दोनों के देखने के अनुसार प्रवर्तित विपश्यना और मार्ग। उस दो प्रकार की भी अनुपश्यना से युक्त होकर आश्वास-प्रश्वास करते हुए—विरागानुपश्यी आश्वास-प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है, जानना चाहिये। **निरोधानुपस्सी** पद में भी इसी प्रकार।

पटिनिस्सग्गानुपस्सी—यहाँ भी दो प्रतिनिःसर्ग हैं, परित्याग प्रतिनिःसर्ग और पक्खन्दन प्रतिनिःसर्ग। प्रतिनिःसर्ग ही अनुपश्यना है, इसलिये प्रतिनिःसर्गानुपश्यना। विपश्यना के मार्गों का यह नाम है। विपश्यना ही तदाङ्ग (प्रहाण) के अनुसार स्कन्ध-अभिसंस्कारों के साथ क्लेशों को त्यागती है और संस्कृत (= बने हुए) के दोष को देखने-देखने से उनके विपरीत निर्वाण की ओर झुका हुआ होने से कूद पड़ता है, (इसलिये) परित्याग प्रतिनिःसर्ग और पक्खन्दन प्रतिनिःसर्ग कहा जाता है। मार्ग समुच्छेद (=प्रहाण) के अनुसार स्कन्धाभिसंस्कार के साथ क्लेशों को त्यागता है और आलम्बन करने से निर्वाण में कूद पड़ता है, (इसलिये) परित्याग प्रतिनिःसर्ग और पक्खन्दन प्रतिनिःसर्ग कहा जाता है। दोनों भी पूर्व-पूर्व के ज्ञानों के पीछे-पीछे (=अनु-अनु) देखने से अनुपश्यना कहे जाते हैं। उन दोनों भी प्रकार के प्रतिनिःसर्गानुपश्यना से युक्त होकर आश्वास-प्रश्वास करते हुए प्रतिनिःसर्गानुपश्यी आश्वास-प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है, जानना चाहिये।

यह चौथा चतुष्क् शुद्ध विपश्यना के अनुसार ही कहा गया है किन्तु पहले के तीन शमथ-विपश्यना के अनुसार। ऐसे चारों चतुष्कों के अनुसार सोलह-वस्तुक आनापान-स्मृति की भावना जाननी चाहिये। इस प्रकार सोलह-वस्तु के अनुसार यह आनापान-स्मृति महाफलवान् होती है, महानृशंस वाली।

"भिक्षुओ, यह भी आनापान-स्मृति समाधि भावना की गई, बढ़ाई गई शान्त और प्रणीत होती है।"[1] आदि वचन से शान्त होने आदि के अनुसार से भी इसके महागुणवान् होने को जानना चाहिये। वितर्क के उपच्छेद के लिए समर्थ होने से भी। यह शान्त-प्रणीत-असेचनक[2]-सुख विहार होने से समाधि के विघ्नकारक वितर्कों के अनुसार इधर-उधर चित्त के दौड़ने को दूर कर आनापान के आलम्बन के सामने ही चित्त को करता है। इसीलिये कहा है—"वितर्कों के उपच्छेद के लिए आनापान-स्मृति की भावना करनी चाहिये।"[3]

विद्या और विमुक्ति की पूर्णता का मूल होने से भी इसके महागुणवान् होने को जानना चाहिये। भगवान् ने यह कहा है—"भिक्षुओ, आनापान स्मृति की भावना करने पर, बढ़ाने पर (वह) चार स्मृति-प्रस्थानों को परिपूर्ण करती है। चारों स्मृति-प्रस्थान भावना करने पर, बढ़ाने पर सात बोध्यङ्गों को परिपूर्ण करते हैं। सातों बोध्यङ्ग भावना करने पर, बढ़ाने पर विद्या और विमुक्ति को परिपूर्ण करते हैं।"[4]

अन्तिम आश्वास-प्रश्वास के विदित होने से भी इसके महागुणवान् होने को जानना चाहिये। भगवान् ने यह कहा है—" राहुल, इस प्रकार भावना की गई, बढ़ाई गई आनापान स्मृति से जो वह अन्तिम आश्वास-प्रश्वास हैं, वह भी विदित होकर लय होते हैं, अ-विदित होकर नहीं।"[5]

लय होने के अनुसार तीन अन्तिम हैं—(१) भव-अन्तिम (२) ध्यान-अन्तिम (३) च्युति अन्तिम। भवों में से, काम-भव में आश्वास-प्रश्वास होते हैं। रूप और अरूप भव में नहीं होते हैं। इसलिये वे भव-अन्तिम हैं। ध्यानों में से—प्रथम के तीनों ध्यानों में होते हैं, चतुर्थ में नहीं होते हैं, इसलिये वे ध्यान-अन्तिम हैं। जो च्युति-चित्त के पूर्व सोलहवें-चित्त के साथ उत्पन्न होकर च्युति-चित्त के साथ लय होते हैं, वे च्युति-अन्तिम हैं। यही यहाँ अन्तिम माने गये हैं।

इस कर्मस्थान में लगे हुये भिक्षु को आनापान-आलम्बन के भली-भाँति अभ्यस्त होने से च्युति-चित्त से पूर्व सोलहवें चित्त की उत्पत्ति के क्षण उत्पत्ति का आवर्जन करने वाले को उनकी उत्पत्ति भी प्रगट होती है। स्थिति का आवर्जन करने वाले को उनकी स्थिति भी प्रगट होती है और भङ्ग (= नाश) का भी आवर्जन करने वाले को उनका भङ्ग भी प्रगट होता है।

इसके अतिरिक्त अन्य कर्मस्थान की भावना करके अर्हत्व पाने वाले भिक्षु को आयु की अवधि परिच्छिन्न होती है या अ-परिच्छिन्न। किन्तु इस सोलह वस्तुक आनापान-स्मृति की भावना करके अर्हत्व प्राप्त हुए की आयु की अवधि परिच्छिन्न ही होती है। वह—"अब मेरे आयुसंस्कार

१. संयुत नि० ५२, १, १।
२. देखो पृष्ठ २४०
३. अंगुत्तर नि० ९, १, १।
४. मज्झिम नि० ३, २, ८।
५. मज्झिम नि० २, २, २।

इतने (दिनों तक) प्रवर्तित होंगे, इसके पश्चात् नहीं" ऐसा जानकर अपने स्वभाव से ही शरीर-कृत्य, पहनना-ओढ़ना आदि सब कामों को करके **कोट-पर्वत[1]-विहार** में रहने वाले **तिष्य स्थविर** के समान, **महाकरञ्जिय विहार** में रहने वाले महातिष्य स्थविर के समान, **देवपुत्र महाराष्ट्र** में पिण्डपातिक तिष्य **स्थविर** के समान, और चित्तल पर्वतवासी दो भ्राता स्थविरों के समान आँखें मूँदता है।

उनमें से यहाँ एक कथा दी जाती है—दो भ्राता स्थविरों में से एक पूर्णिमा के उपोशथ के दिन **प्रातिमोक्ष** को समाप्त कर भिक्षु संघ से घिरा हुआ अपने वास-स्थान में जाकर टहलने के स्थान पर जाकर खड़ा हुआ, चन्द्रमा के आलोक को देखकर अपने आयु-संस्कारों को विचारते हुए भिक्षु-संघ को कहा—"आप लोगों ने पहले कैसे परिनिर्वृत होते हुए भिक्षुओं को देखा है ?" उनमें से किसी-किसी ने कहा—"हम लोगों ने पहले आसन पर बैठे हुए ही परिनिर्वृत होने वाले भिक्षुओं को देखा है।" किसी-किसी ने—'हम लोगों ने आकाश में पालथी मार कर बैठे हुए।' स्थविर ने कहा—'अब मैं आप लोगों को चंक्रमण करते हुए ही परिनिर्वृत होने को दिखलाऊँगा।' उसके पश्चात् चंक्रमण (-स्थान) में लकीर खींच कर—'मैं इस चंक्रमण के सिरे से दूसरे सिरे पर जाकर लौटते हुए इस लकीर को पाकर ही परिनिर्वृत होऊँगा' ऐसा कह कर चंक्रमण में उतर कर दूसरे भाग में जाकर लौटते हुए एक पैर से लकीर को काँढ़ने के क्षण ही परिनिर्वृत हुए।

तस्मा हवे अप्पमत्तो अनुयुञ्जेथ पण्डितो।
एवं अनेकानिसंसं आनापानसति सदा॥

[इसलिये ऐसी अनेक गुण वाली आनापान-स्मृति में पण्डित (व्यक्ति) अप्रमत्त हो जुटे।]

उपशमानुस्मृति

आनापान-स्मृति के पश्चात् कही गई उपशमानुस्मृति की भावना करने की इच्छा वाले को एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो—"**यावता भिक्खवे, धम्मा सङ्खता वा असङ्खता वा, विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति, यदिदं मदनिम्मदनो पिपास-विनयो आलयसमुग्घातो—वट्टुपच्छेदो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं**[2]।"

[भिक्षुओ, जहाँ तक संस्कृत धर्म या असंस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों का विराग (=निर्वाण) अग्र कहा जाता है, जो कि मद को निर्मद करने वाला है, प्यास (=तृष्णा) को बुझाने वाला है, आलय (=राग) को नष्ट करने वाला है, वर्त (=संसार-चक्र) का उपच्छेद करने वाला है, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।]

इस प्रकार सारे दुःखों का उपशम कहे जाने वाले निर्वाण के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये।

वहाँ, **यावता**—जहाँ तक (= जितना)। **धम्मा**—स्वभाव । **सङ्खता वा असङ्खता वा**—जुटा-मिलाकर प्रत्ययों से बनाये गये या नहीं बनाये गये। **विरागो तेसं धम्मानं अग्ग-**

१. कोळपब्बु—सिंहली नाम।

२. अंगुत्तर नि० ३, ५, ७।

मक्खायति—उन संस्कृत-असंस्कृत धर्मों का विराग अग्र कहा जाता है; श्रेष्ठ, उत्तम कहा जाता है।

विरागो—राग का अभाव मात्र ही नहीं, प्रत्युत जो कि मद को निर्मद करने वाला है······निर्वाण है जो वह मद को निर्मद करने वाला आदि नाम असंस्कृत धर्म का होता है, उसे विराग जानना चाहिये। चूँकि वह उसे प्राप्त होने पर सारे भी मान, मद, पुरुष-मद आदि मद निर्मद, अमद हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, इसलिये **मदनिम्मदनो** (= मद को निर्मद करने वाला) कहा जाता है। चूँकि उसे प्राप्त होने पर सभी काम की प्यास बुझ जाती है, अस्त हो जाती है, इसलिये **पिपास विनयो** (= प्यास को बुझानेवाला) कहा जाता है। चूँकि उसे प्राप्त होने पर पाँच-काम गुणों के आलय (= राग) नष्ट हो जाते हैं, इसलिये **आलयसमुग्घातो** (= आलय को नष्ट करनेवाला) कहा जाता है। चूँकि उसे प्राप्त होने पर तीनों भवों का चक्कर खत्म हो जाता है, इसलिये **वट्टूपच्छेदो** (= संसार के चक्कर को खत्म करने वाला) कहा जाता है। चूँकि उसे प्राप्त होने पर सब प्रकार से तृष्णा क्षय हो जाती है, विराग को प्राप्त होती है, लय हो जाती है, इसलिये **तण्हक्खयो विरागो निरोधो** कहा जाता है। और चूँकि यह चार योनियों, पाँच गतियों, सात विज्ञान की स्थितियों और नव सत्वावासों को एक के बाद दूसरे को बिनने, बाँधने, सीने से 'वान' नाम सेपुकारी जाने वाली 'तृष्णा' से निकला हुआ है, (उसे) छोड़ा हुआ है, अलग हुआ है, इसलिये **निर्वाण** कहा जाता है।

इस प्रकार इनके मद को निर्मद करने आदि के गुणों के अनुसार निर्वाण कहे जानेवाले उपशम का अनुस्मरण करना चाहिये। जो अन्य भी भगवान् द्वारा—"भिक्षुओ, तुम्हें असंस्कृत का उपदेश करता हूँ।······सत्य······पार······सुदुर्दश्य······अजर······ध्रुव······विष्प्रपञ्च······अमृत······शिव······क्षेम······अद्भुत······अनीतिक (= अनर्थ रहित)······निर्दुःख (= अव्यापद्य)······विशुद्धि······द्वीप······भिक्षुओ, तुम्हें त्राण का उपदेश करता हूँ[1]।" आदि सूत्रों में उपशम के गुण कहे गये हैं। उनके अनुसार से भी अनुस्मरण करना चाहिये ही।

ऐसे मद को निर्मद करने आदि के गुण के अनुसार अनुस्मरण करने वाले उस (योगी) का "उस समय राग से लिप्त चित्त नहीं होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त; उस समय उसका चित्त उपशम (= निर्वाण) के प्रति सीधा ही होता है।"[2] बुद्धानुस्मृति आदि में कहे गये के अनुसार ही दबे हुए नीवरण वाले को एक ही क्षण में ध्यान के अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं। उपशम के गुणों की गम्भीरता से या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण करने में लगे होने के कारण अर्पणा को नहीं प्राप्त कर ध्यान उपचार प्राप्त ही होता है। वह उपशम के गुणों के अनुस्मरण करने से उत्पन्न होने के कारण उपशमानुस्मृति ही कही जाती है।

छः अनुस्मृतियों के समान यह भी आर्य श्रावक को ही सिद्ध होती है, ऐसा होने पर भी उपशम की ओर झुके रहने वाले पृथक्-जन को (इसे) मन में करना चाहिये। श्रुत से भी उपशम में चित्त प्रसन्न होता है।

इस उपशमानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु सुखपूर्वक सोता है। सुखपूर्वक सोकर उठता है। शान्त इन्द्रिय, शान्त मन वाला होता है। लज्जा-संकोच से युक्त, प्रासादिक, प्रणीत और

१. संयुत्त नि० ४१, १, २।
२. अंगुत्तर नि० ६, १, ९।

अधिमुक्ति वाला। सब्रह्मचारियों के लिए गौरव करने के योग्य और सत्कार-प्राप्त। आगे प्रतिवेध नहीं प्राप्त होने पर सुगति परायण होता है।

तस्मा हवे अप्पमत्तो भावयेथ विचक्खणो।
एवं अनेकानिसंसं अरिये उपसमे सतिं॥

[इसलिए अनेक गुण वाली आर्य उपशमानुस्मृति में पण्डित (व्यक्ति) अप्रमत्त हो जुटे।]

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि-भावना के भाग में
अनुस्मृति-कर्मस्थान निर्देश नामक
आठवाँ परिच्छेद समाप्त।

नवाँ परिच्छेद

ब्रह्मविहार निर्देश

(१) मैत्री ब्रह्मविहार

अनुस्मृति कर्मस्थान के पश्चात् कहे गये—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—इन चार ब्रह्म विहारों में से मैत्री की भावना करने की इच्छा वाले प्रारम्भिक योगी को विघ्नों को दूर करके कर्मस्थान को ग्रहण कर भोजन करके, भोजन से उत्पन्न शरीर की पीड़ा को मिटाकर एकान्त-स्थान में भली-भाँति बिछाये हुए आसन पर सुख पूर्वक बैठ, प्रारम्भ से द्वेष में अवगुण और शान्ति में गुण का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

क्यों ? इस भावना से द्वेष को त्यागना चाहिये, शान्ति को प्राप्त करना चाहिये, किन्तु बिना देखा हुआ कोई भी अवगुण दूर नहीं किया जा सकता है या नहीं जाना गया आनृशंस नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये—"आवुसो, द्वेष से दूषित हुआ, पछाड़ा गया, सब प्रकार से पकड़ा गया चित्त वाला जीव-हिंसा भी करता है।"[1] आदि सूत्रों के अनुसार द्वेष में अवगुण देखना चाहिये।

"खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।"[2]

[क्षान्ति नाम से कही जाने वाली तितिक्षा (= सहनशीलता) परम तप है, बुद्ध लोग निर्वाण को परम पद बताते हैं।]

"खन्तिबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।"[3]

[क्षमा-बल ही जिसके बल (= सेना) का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।]

"खन्त्या भिय्यो न विज्जति।"[4]

[क्षमा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है।]

आदि के अनुसार क्षमा (= क्षान्ति) में आनृशंस जानना चाहिये।

इस प्रकार अवगुण देखने से द्वेष से चित्त को अलग करने और गुण देखने से क्षमा में लगाने के लिए मैत्री-भावका का आरम्भ करना चाहिये और आरम्भ करने वाले को प्रारम्भ से ही व्यक्ति के दोषों को जानना चाहिये—'इन व्यक्तियों में मैत्री-भावना पहले नहीं करनी चाहिये, इनमें नहीं भावना करनी चाहिये।'

---

१. अंगुत्तर नि०।
२. धम्मपद १४, ६।
३. धम्मपद २६, १७।
४. संयुत्त नि० १,।

अप्रिय व्यक्ति, अति प्रिय सहायक, मध्यस्थ और वैरी व्यक्ति—इन चारों में पहले मैत्री-भावना नहीं करनी चाहिये।

असमान-लिङ्ग (=स्त्री आदि वि-सम लिङ्ग) में भाग[1] करके नहीं भावना करनी चाहिये। मरे हुए की भावना नहीं करनी चाहिये ही।

किस कारण से अप्रिय आदि में पहले भावना नहीं करनी चाहिये? अप्रिय को प्रिय के स्थान पर रखते हुए क्लान्त होता है। अत्यन्त प्रिय सहायक को मध्यस्थ के स्थान पर रखते हुए क्लान्त होता। उसके थोड़े से भी दुःख के उत्पन्न होने पर रुलाई आने के समान हो जाता है। मध्यस्थ को गौरव और प्रिय के स्थान पर रखते हुए क्लान्त होता है। वैरी का अनुस्मरण करने वाले को क्रोध उत्पन्न होता है, इसलिये अप्रिय आदि में पहले भावना नहीं करनी चाहिये।

अ-समान लिङ्ग में उसी के प्रति भाग करके भावना करने वाले (योगी) को राग उत्पन्न होता है। किसी एक अमात्य के पुत्र ने कुलूपग स्थविर से पूछा—"भन्ते, मैत्री की भावना किसमें करनी चाहिये?" स्थविर ने "प्रिय व्यक्ति में" कहा। और उसको अपनी स्त्री प्रिय थी, वह उसमें मैत्री की भावना करते हुए सारी रात भीत से लड़ा[2]। इसलिये अ-समान-लिङ्ग में भाग करके नहीं भावना करनी चाहिये।

मरे हुए में भावना करते हुए न तो अर्पणा को प्राप्त होता है और न उपचार को ही। किसी एक तरुण भिक्षु ने आचार्य के प्रति मैत्री करनी प्रारम्भ की। उसकी मैत्री नहीं हो पाई। वह महास्थविर के पास जाकर—"भन्ते, मुझे मैत्री ध्यान की समापत्ति अभ्यस्त है, किन्तु उसे प्राप्त नहीं हो सकता हूँ, क्या कारण है?" कहा। स्थविर ने—"आवुसो, निमित्त को ढूँढ़ो।" कहा। वह (उसे) ढूँढ़ते हुए आचार्य की मृत्यु हुई बात को जानकर, दूसरे के प्रति मैत्री करते हुए समापत्ति को प्राप्त हुआ। इसलिये मरे हुए में भावना नहीं करनी चाहिये ही।

सबसे पहले—"**अहं सुखितो होमि, निद्दुक्खो**" (=मैं सुखी हूँ, दुःख रहित हूँ) या—"**अवेरो अव्यापज्झो अनीघो सुखी अत्तानं परिहरामि**" (=मैं वैर रहित हूँ, व्यापाद रहित हूँ, उपद्रव रहित हूँ, सुख पूर्वक अपना परिहरण कर रहा हूँ) ऐसे बार-बार अपने में ही भावना करनी चाहिये।

ऐसा होने पर जो **विभङ्ग** में कहा गया है—"कैसे, भिक्षु मैत्री युक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण कर विहरता है? जैसे कि एक प्रिय, मनाप व्यक्ति को देखकर मैत्री करे, ऐसे ही सारे सत्त्वों को मैत्री से पूर्ण करता है।" और जो **प्रतिसम्भिदा** में—"किन पाँच आकारों से सीमा रहित फैलनेवाली मैत्री-चेतोविमुक्ति है?"

सब्बे सत्ता अवेरा अव्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहन्तु। सब्बे पाणा… सब्बे भूता… सब्बे पुग्गला… सब्बे अत्तभाव-परियापन्ना अवेरा अव्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तू'ति।"

---

१. भाग करने का तात्पर्य है—तिष्या, दत्ता, पुष्पावती आदि विभाग करना।

२. शील का अधिष्ठान करके द्वार-बन्द कोठरी में चारपाई पर बैठकर मैत्री-भावना करते हुए, मैत्री से उत्पन्न राग से अन्धा हुआ स्त्री के पास जाना चाहता हुआ, द्वार का ठीक-ठीक विचार न कर भीत को छेद कर भी निकलने की इच्छा से उस पर मारा—टीका

[सारे सत्त्व वैर रहित, व्यापाद रहित, उपद्रव रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करें। सारे प्राणी......सारे भूत (= उत्पन्न हुए जीव)...सारे व्यक्ति...सारे आत्म-भाव (= पञ्चस्कन्ध से बने शरीर) में पड़े हुए वैर रहित, व्यापाद रहित, उपद्रव रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करें।]

आदि कहा गया है और जो मेत्त सुत्त में—

"सुखिनो वा खेमिनो होन्तु
सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।"[1]

[सारे सत्त्व सुखी, कल्याण प्राप्त हों, (वे) सुखी चित्त वाले हों।]

आदि कहा गया है। क्या वह विरुद्ध होता है, क्योंकि वहाँ अपने पर भावना नहीं कही गयी है? वह नहीं विरुद्ध होता है।

क्यों? वह अर्पणा के अनुसार कहा गया है और यह साक्षी होने के अनुसार। यदि सौ या हजार वर्ष—"मैं सुखी हूँ" आदि ढंग से अपने पर मैत्री-भावना करता है, तो उसे अर्पणा नहीं उत्पन्न होती है, किन्तु 'मैं सुखी हूँ' ऐसे भावना करने वाले को—जैसे मैं सुख चाहता हूँ और मरना नहीं चाहता हूँ—ऐसे अन्य भी सत्त्व हैं—इस प्रकार अपने को साक्षी करके अन्य सत्त्वों के प्रति हित-सुख की चाह उत्पन्न होती है। भगवान् ने भी—

"सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा
नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एवं पियो पुथु अत्ता परेसं
तस्मा न हिंसे परमत्तकामो[2]॥"

[सारी दिशाओं में चित्त से जाकर अपने से प्रियतर किसी को नहीं पाया, ऐसे (ही) दूसरे प्राणियों को अलग-अलग (उनकी) आत्मा (= शरीर) प्रिय है, इसलिये अपने हित-सुखके लिये दूसरे की हिंसा न करे।]

कहकर इस नय को दिखलाया है।

इसलिये साक्षी होने के लिये पहले अपने को मैत्री से पूर्ण कर उसके पश्चात् सुखपूर्वक प्रवर्तित होने के लिये जो उसका प्रिय, मनाप, गौरवणीय, सत्कार करने के योग्य आचार्य या आचार्य के जैसा, उपाध्याय या उपाध्याय के जैसा है, उसके प्रिय-मनाप होने के कारण दान, प्रिय-वचन आदि और गौरव, सत्कार पाने के कारण शील, श्रुत आदि को अनुस्मरण करके—"यह सत्पुरुष सुखी हो, दुःख रहित हो" आदि ढंग से मैत्री-भावना करनी चाहिये। इस प्रकार के व्यक्ति पर (मैत्री करने से) अवश्य अर्पणा प्राप्त होती है।

इस भिक्षु को उतने से ही सन्तोष न करके सीमा का उल्लंघन करने की इच्छा से उसके बाद अत्यन्त प्रिय सहायक के ऊपर, अत्यन्त प्रिय सहायक के बाद मध्यस्थ पर, मध्यस्थ से वैरी व्यक्ति पर मैत्री-भावना करनी चाहिये और भावना करने वाले को एक-एक भाग में चित्त को मृदु, काम करने के योग्य (=कर्मण्य) करके उसके बाद वाले भाग में ले जाना चाहिये। किन्तु जिसका वैरी व्यक्ति नहीं है या महापुरुष के स्वभाव वाला है जो कि अनर्थ करने पर भी

१. सुत्त नि० १, ८।
२. संयुत्त नि० ३, १, ८ और उदान ५, १।

दूसरे पर वैरी का ख्याल नहीं करता है, उसे "मध्यस्थ पर मेरा मैत्री-चित्त कर्मण्य हो गया है। अब उसे वैरी पर ले जाऊँगा।" ऐसा करना ही नहीं चाहिये, किन्तु जिसका है, उसके प्रति कहा गया है—"मध्यस्थ के पश्चात् वैरी व्यक्ति पर मैत्री की भावना करनी चाहिये।"

यदि उसका वैरी के ऊपर चित्त को ले जाते हुए उससे किये गये अपराधों के अनुस्मरण से प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न होती है, तब इससे पहले व्यक्तियों के प्रति जहाँ कहीं पुनः पुनः मैत्री को प्राप्त होकर (उससे) उठकर बार-बार उस व्यक्ति पर मैत्री करते हुए प्रतिहिंसा के भाव को मिटाना चाहिये। यदि ऐसे भी प्रयत्न करने से (वैर) नहीं शान्त होता है, तो—

ककचूपम ओवादआदीनं अनुसारतो।
पटिघस्स पहानाय घटितब्बं पुनप्पुनं॥

['ककचूपम' (= आरा की उपमा) के उपदेश आदि के अनुसार प्रतिघ (= प्रतिहिंसा का भाव) को दूर करने के लिये पुनः पुनः प्रयत्न करना चाहिये।

और वह भी इस आकार से अपने को उपदेश करते हुए ही—'अरे, क्रोध करनेवाले आदमी, क्या भगवान् ने नहीं कहा है—"भिक्षुओ, यदि दोनों ओर मुठिया लगे आरा (=क्रकच) से लुटेरे चोर अङ्ग-प्रत्यङ्ग चीर डालें, तो वहाँ भी जो मन द्वेषयुक्त (= दूषित) करे, वह मेरा अनुशासन करनेवाला नहीं है।[1]" और—

"तस्सेव तेन पापियो यो कुद्धं पटिकुज्झति।
कुद्धं अप्पटिकुज्झन्तो सङ्गामं जेति दुज्जयं॥"

[जो क्रोधी के प्रति क्रोध करता है, उससे उसी की बुराई है, क्रोधी के प्रति क्रोध नहीं करनेवाला दुर्जय संग्राम को (भी) जीत लेता है।]

"उभिन्नमत्थं चरति अत्तनो च परस्स च।
परं संकुपितं ञत्वा यो सतो उपसम्मति॥[2]"

[दूसरे को कुपित हुआ जानकर जो स्मृतिमान् शान्त हो जाता है, वह अपना और दूसरे—दोनों की भलाई करता है।]

और—

"भिक्षुओ, ये सात बातें वैरियों द्वारा इच्छित हैं, वैरियों द्वारा करणीय हैं, (जो) क्रोध स्वभाववाले स्त्री या पुरुष को आती हैं। कौन-सी सात? भिक्षुओ, यहाँ वैरी वैरी के लिये ऐसा चाहता है—'बहुत अच्छा कि यह कुरूप होता'। सो किस कारण? भिक्षुओ, वैरी वैरी के रूपवान् होने से प्रसन्न नहीं होता है। भिक्षुओ, यह पुरुष=पुद्गल क्रोधी स्वभाववाला है, क्रोध से पछाड़ा गया है, क्रोध के वशीभूत है। यद्यपि वह भली प्रकार स्नान किया, सुन्दर ढंग से लेपन किया हुआ, केश, श्मश्रु बनाया और श्वेत वस्त्र पहना हुआ होता है, किन्तु वह क्रोध से पछाड़ा गया कुरूप ही होता है। भिक्षुओ, यह पहली बात वैरियों द्वारा इच्छित, वैरियों द्वारा करणीय है (जो) क्रोध स्वभाववाले स्त्री या पुरुष को आती है।

और फिर भिक्षुओ, वैरी के लिए वैरी ऐसा चाहता है—"बहुत अच्छा कि यह दुःखपूर्वक सोये।"......बहुत धनवाला न हो......धन-सम्पत्तिवाला न हो......यशवाला न हो......

१. मज्झिम नि० १, ३, १।
२. संयुत्त नि० ११, १, ४।

मित्रोंवाला न हो……शरीर छूटने पर परम मरण के पश्चात् सुगति को प्राप्त हो स्वर्गलोक में न उत्पन्न हो। सो किस कारण? भिक्षुओ, वैरी वैरी के स्वर्ग-गमन से प्रसन्न नहीं होता है। भिक्षुओ, यह पुरुष = पुद्गल क्रोधी स्वभाववाला है, क्रोध से पछाड़ा गया है, क्रोध के वशीभूत है। काय से दुश्चरित करता है, वचन, मन से दुश्चरित करता है। वह काय, वचन, मन से दुश्चरित करके शरीर छूटने पर परम मरण के पश्चात् क्रोध से पछाड़ा गया अपाय = दुर्गति = विनिपात = निरय (= नरक) में उत्पन्न होता है[१]।"

और—

"जैसे भिक्षुओ, मुरदाठी (= छवालात = चिते का अर्द्ध दग्धकाष्ठ = जले हुए मुर्दे के चिते का लुकठा) दोनों ओर से जली हुई हो और बीच में गूथ लगा हो, वह न तो गाँव में लकड़ी का काम देती है, न जंगल में ही लकड़ी का काम देती है। भिक्षुओ, मैं इस पुरुष = पुद्गल को वैसा ही कहता हूँ।"[२]

तू ऐसे क्रोध करते हुए भगवान् का शासन (= आज्ञा) करने वाला नहीं होगा, क्रोधी पर क्रोध करते हुए क्रुद्ध पुरुष से भी खराब होकर दुर्जय संग्राम को नहीं जीतेगा। वैरियों द्वारा करने वाली बातों को अपने आप करेगा और मुरदाठी के समान होगा।

उसके ऐसे प्रयत्न और उद्योग करते हुए यदि वह वैर-भाव शान्त हो जाता है, तो बहुत अच्छा, यदि शान्त नहीं होता है, तो जो-जो बातें उस पुरुष की शान्त और परिशुद्ध होती हैं, अनुस्मरण करते हुए चित्त को प्रसन्न करती हैं, उन-उन को अनुस्मरण करके वैर-भाव को मिटाना चाहिये।

किसी-किसी का कायिक-कर्म (= काय-समाचार) ही उपशान्त होता है और उसका उपशान्त होना बहुत से व्रत-प्रतिव्रत के करने वाले का सब लोगों से जाना जाता है, किन्तु वाचिक-कर्म और मनोकर्म नहीं शान्त होते हैं, उसको उन्हें सोचकर कायिक-कर्म का उपशम ही अनुस्मरण करना चाहिये।

किसी-किसी का वाचिक-कर्म ही उपशान्त होता है, उसका उपशान्त होना सब लोगों से जाना जाता है, वह स्वभाव से ही कुशल-क्षेम पूछने वाला होता है, हँस-मुख, सुखपूर्वक बातचीत करनेवाला, संमोदन करनेवाला, उतान-मुँह, पहले बोलनेवाला; मधुर स्वर से धर्म का पाठ करता है, अ-व्याकुल, परिपूर्ण पद-व्यञ्जनों से धर्म कहता है, किन्तु काय-कर्म और मनो-कर्म नहीं उपशान्त होते हैं, उसको उन्हें नहीं सोचकर वची-कर्म के उपशम को ही अनुस्मरण करना चाहिये।

किसी-किसी का मनो-कर्म ही उपशान्त होता है, उसका उपशान्त होना चैत्य की वन्दना आदि के समय सब लोगों को प्रगट होता है, जो अशान्त चित्तवाला होता है, वह चैत्य, बोधि (-वृक्ष), या वृद्ध भिक्षुओं (= स्थविरों) की वन्दना करते हुए सत्कारपूर्वक वन्दना नहीं करता है। धर्म-श्रवण करने के स्थान में विक्षिप्त चित्त हो या झेंपते हुए बैठता है, किन्तु उपशान्त चित्तवाला श्रद्धा के साथ सत्कारपूर्वक वन्दना करता है। कान लगाये, चित्त देकर काय या वचन से चित्त की प्रसन्नता को प्रगट करते हुए धर्म सुनता है। इस प्रकार एक का मनो-कर्म ही उपशान्त होता है। काय-वची-कर्म अ-उपशान्त होते हैं, उनको उन्हें नहीं सोचकर मनकर्म के उपशम को ही अनुस्मरण करना चाहिये।

१. अंगुत्तर नि० ७, ६, ११।
२. अंगुत्तर नि० और इतिवुत्तक ५, २।

किसी-किसी का इन तीनों में एक भी उपशान्त नहीं होता है, उस व्यक्ति पर, यद्यपि यह इस समय मनुष्य-लोक में विचर रहा है, तथापि कुछ दिनों के बीतने पर आठ महानिरय[1], सोलह उत्सद[2] निरय, को पूर्ण करने वाला होगा—ऐसे करुणा करनी चाहिये। कारुण्य के कारण वैर-भाव शान्त हो जाता है। किसी-किसी के ये तीनों भी बातें शान्त होती हैं, उसे जो-जो रुचे, उसे अनुस्मरण करना चाहिये। उस प्रकार के व्यक्ति पर मैत्री-भावना करनी कठिन नहीं होती है।

इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये—"आवुसो, ये पाँच वैर-भाव को दूर करने वाले हैं, जहाँ कि भिक्षु का उत्पन्न वैर-भाव सब प्रकार से दूर करना चाहिये[3]।" पञ्चक-निपात में आये हुए इस 'आघात प्रतिविनय' सूत्र का विस्तार करना चाहिये।

यदि इस प्रकार से भी प्रयत्न करनेवाले को वैर-भाव उत्पन्न होता ही है, तो इसे अपने को ऐसे उपदेश करना चाहिये—

अत्तनो विसये दुक्खं कतं ते यदि वेरिना।
किं तस्साविसये दुक्खं सचित्ते कत्तुमिच्छसि॥

[यदि तेरे वैरी द्वारा अपने ऊपर दुःख डाला गया (तो तू) किस कारण उसके अगोचर अपने चित्त में दुःख करना चाहते हो ?]

बहूपकारं हित्वान ञातिवग्गं रुदम्मुखं।
महानत्थकरं कोधं सपत्तं न जहासि किं॥

[बहुत उपकारक रोते हुए मुखवाले (अपने) ज्ञाति-वर्ग को छोड़ कर महा अनर्थकारक वैरी क्रोध को किस कारण नहीं छोड़ते ?]

यानि रक्खसि सीलानि तेसं मूल निकन्तनं।
कोधं नामुपलाळेसि को तया सदिसो जळो॥

[जिन शीलों का पालन करते हो उनकी जड़ काटने वाले क्रोध को दुलराते (= प्यार करते) हो, तेरे जैसा कौन जड़ है ?]

कतं अनरियं कम्मं परेन इति कुज्झसि।
किं नु त्वं तादिसं येव यो सयं कत्तुमिच्छसि॥

[दूसरे (= शत्रु) द्वारा अनार्य (= अनुचित) कर्म किया गया—ऐसा क्रोध कर रहे हो और क्या तू वैसा ही नहीं हो जो कि स्वयं करना चाहते हो ?]

रोसेतुकामो यदि तं अमनापं परो करि।
रोसुप्पादेन तस्सेव किं पूरेसि मनोरथं॥

[दूसरा तुझे क्रोधित करने की इच्छा से यदि अप्रिय (काम) किया, तो क्रोध उत्पन्न करके उसी का मनोरथ किस कारण पूर्ण कर रहे हो ?]

दुक्खं तस्स च नाम त्वं कुद्धो काहसि वा न वा।
अत्तानं पनिदानेव कोधदुक्खेन बाधसि॥

---

१. सञ्जीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तापन, महातापन और अवीचि—ये आठ महानिरय (= नरक) हैं।

२. अवीचि महानिरय के द्वार-द्वार पर चार-चार करके कुक्कुल आदि सोलह उत्सद निरय हैं।

३. अंगुत्तर नि० ५, १, १।

[तू क्रोधित होकर उसको दुःखित करोगे या नहीं, किन्तु अपने को अभी क्रोध के दुःख से पीड़ित कर रहे हो।]

कोधन्धा अहितं मग्गं आरूळ्हा यदि वेरिनो।
कस्मा तुवम्पि कुज्झन्तो तेसं येवानुसिक्खसि॥

[क्रोध से अन्धे हुए वैरी यदि बुराई की राह पर चल रहे हैं, तो तू भी क्रोध करते हुए क्यों उन्हीं का अनुकरण कर रहे हो ?]

यं रोसं तव निस्साय सत्तुना अप्पियं कतं।
तमेव रोसं छिन्दस्सु किमट्ठाने विहञ्ञसि॥

[शत्रु से जिस क्रोध के कारण तेरे लिये अप्रिय काम किया गया है, उसी क्रोध को त्याग दो, बिना मतलब के किस कारण परेशान हो रहे हो ?]

खणिकत्ता च धम्मानं येहि खन्धेहि ते कतं।
अमनापं निरुद्धा ते कस्स दानीध कुज्झसि॥

[(सभी) धर्मों के क्षणिक होने से जिन स्कन्धों से तेरे लिये अप्रिय (काम) किया गया है, वे निरुद्ध हो गये, अब यहाँ किसके लिये क्रोध कर रहे हो ?]

दुक्खं करोति यो यस्स तं विना कस्स सो करे।
सयम्पि दुक्खहेतु त्वमिति किं तस्स कुज्झसि॥

[जो जिसके लिए दुःख करता है, वह उस (पुरुष) के बिना किसके लिये करेगा, इस प्रकार स्वयं भी तू दुःख के हेतु हो, उसके लिये किस कारण क्रोध कर रहे हो ?]

यदि ऐसे अपने को उपदेश करने पर भी वैर नहीं शान्त होता है, तो उसे अपने और अन्य के कर्म-स्वकत्व (= कर्मायत्त = अपना किया कर्म अपना ही होता है) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। उनमें अपने का इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—"हे (पुरुष), तू उसके लिये क्रोध करके क्या करोगे ? द्वेष के कारण हुआ यह काम तेरे ही अनर्थ के लिये होगा। तू कर्म-स्वक् हो, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु, कर्म-प्रतिशरण; जो काम करोगे, उसका दायाद (= उत्तराधिकारी) होगे और यह तेरा कर्म न तो सम्यक् सम्बोधि, न प्रत्येक बोधि, न श्रावक-भूमि और न ब्रह्मत्व, शक्रत्व (= इन्द्रत्व), चक्रवर्ती, प्रादेशिक राज्य आदि सम्पत्तियों में से किसी एक सम्पत्ति को प्राप्त कराने में समर्थ है, प्रत्युत शासन (= बुद्धधर्म) से च्युत कराकर जूठा खानेवाला आदि होने और निरय आदि के विशेष दुःखों के लिये तेरा यह काम होनेवाला है। सो तू इसे करते हुए दोनों हाथों से लपट रहित अंगारों को या गूथ को लेकर दूसरे को मारने की इच्छावाले आदमी के समान अपने को ही पहले जलाते और दुर्गन्ध कर रहे हो।"

ऐसे अपने कर्म-स्वकत्व का प्रतिवेक्षण करके, दूसरे का भी इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करना चाहिये —"ये भी तेरे लिये क्रोध करके क्या करेंगे ? यह इन्हीं के अनर्थ के लिये होगा न ? यह आयुष्मान् कर्मस्वक् हैं, कर्म-दायाद······ जो काम करेंगे, उसके दायाद होंगे। इनका यह कर्म न तो सम्यक् सम्बोधि, न प्रत्येक बोधि, न श्रावक-भूमि और न ब्रह्मत्व, शक्रत्व, चक्रवर्ती, प्रादेशिक राज्य आदि सम्पत्तियों में से किसी एक सम्पत्ति को ही प्राप्त करने के लिये समर्थ है, प्रत्युत शासन से च्युत कराकर जूठा खाने वाला आदि होने और निरय आदि विशेष दुःखों के लिये उनका यह कर्म होने वाला है। यह इसे करते हुए उल्टी हवा में खड़ा होकर

दूसरे के ऊपर धूल फेंकने की इच्छा वाले आदमी के समान अपने पर ही फेंकता है। भगवान् ने यह कहा है—

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं
सुखमो रजो पटिवातं'व खित्तो ॥[1]

[जो दोष रहित शुद्ध निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, तो उसी मूर्ख को (उसका) पाप लौट कर लगता है, जैसे सूक्ष्म धूल को हवा के आने के रुख फेंकने से (वह फेंकने वाले पर पड़ती है) ।]

यदि ऐसे कर्म-स्वक् होने का भी प्रत्यवेक्षण करने वाले का (क्रोध) नहीं शान्त होता है, तो उसे शास्ता के पूर्वचर्य्या-गुणों का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उसके प्रत्यवेक्षण करने का यह ढंग है—'हे प्रव्रजित, तेरे शास्ता ने सम्बोधि से पूर्व ही, नहीं सम्बुद्ध हुए बोधिसत्त्व ही होते समय चार असंख्य एक लाख कल्प पारमिताओं के पूर्ण करते हुए वहाँ, वहाँ वध करने वाले वैरियों के ऊपर भी चित्त को खराब नहीं किया न ? जैसे कि **शीलव जातक**[2] में अपनी देवी के साथ बुराई किये पापी अमात्य द्वारा लाये वैरी राजा के तीन सौ योजन राज्य ग्रहण करने पर निषेध करने के लिये उठे अमात्यों को हथियार भी छूने नहीं दिया, फिर हजार अमात्यों के साथ कच्चे श्मशान में गले तक भूमि खोदकर गाड़े जाते हुए चित्त को बुरा मात्र भी न कर, मुर्दा खाने के लिये आये हुए सियारों (=गीदड़ों) के धूल हटाने के कारण पुरुषत्व (= उद्योग) करके जीवन पाकर यक्ष के अनुभाव से अपने श्रीगर्भ (= राज-भवन) में जा, श्रीशयन पर सोये हुए वैरी को देख, क्रोध न करके ही परस्पर शपथ कर उसे मित्र बना कहा—

आसिंसेथेव पुरिसो न निब्बिन्देय्य पण्डितो ।
पस्सामि वोहमत्तानं यथा इच्छि तथा अहु ॥

[पण्डित पुरुष आशा करे ही, उदास न हो । मैं अपने को ही देखता हूँ कि जैसा चाहा वैसा ही हुआ ।]

खन्तिवादी जातक[3] में निर्बुद्धि काशी के राजा द्वारा—"श्रमण, तू किस वाद को (मानने वाले) हो ?" पूछे जाने पर "मैं क्षान्ति (= क्षमा)-वादी हूँ।" कहने पर काँटेदार कोड़ों से पीटकर हाथ-पैर के काटे जाने पर क्रोधमात्र भी नहीं किया।

यह आश्चर्य (की बात) नहीं है कि जो बूढ़ा प्रव्रजित ऐसा करे, **चूलधम्मपाल जातक**[4] में तो उतान सोनेवाला भी होते हुए—

चन्दनरसानुलित्ता बाहा छिज्जन्ति धम्मपालस्स ।
दायादस्स पथब्या पाणा मे देव ! रुज्झन्ति ॥

१. धम्मपद ९, १० ।
२. जातक ७२ ।
३. जातक ३१३ ।
४. जातक १५८ ।

[(सारी) पृथ्वी के दायाद (= उत्तराधिकारी) धर्मपाल की चन्दन से पुती हुई बाँहें कट रही हैं, देव ! मेरे प्राण निरुद्ध हो रहे हैं ।]

इस प्रकार माँ के विलाप करते हुए पिता महाप्रताप नामक राजा द्वारा बाँस के कोपड़ों के समान चारों हाथ पैरों को कटवा डालने पर, उतने से भी सन्तोष न कर 'इसके शिर को काट डालो' ऐसी आज्ञा करने पर 'अब यह तेरे चित्त को काबू में करने का समय है, हे धर्म्मपाल ! शिर को कटवानेवाले पिता, शिर को काटनेवाले आदमियों, चिल्लाती हुई माँ और अपने पर—इन चारों पर एक जैसे चित्तवाले होओ।" ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करके बुरा आकारमात्र भी नहीं किया।

और यह भी आश्चर्य (की बात) नहीं है जो कि मनुष्य होकर ऐसा किया, पशु होकर भी छद्दन्त (= षडदन्त) नामक हाथी हो विष बुझे बाण से नाभी में छिदने पर भी उतने अनर्थकारक रौद्र (= व्याधा)[1] के ऊपर चित्त को नहीं बुरा किया। जैसे कहा है—

समप्पितो पुथुसल्लेन नागो
अदुट्ठचित्तो लुद्दकं अज्झभासि।
किमत्थियं कस्स वा सम्म हेतु
ममं वधि कस्स वायं पयोगो ॥

[पृथुल वाण से मारा गया हाथी बिना बुरे चित्त का हुआ व्याधे से कहा—सौम्य, किस लिये या किसके हेतु मुझे मारे, अथवा किसका यह प्रयोग है ?]

और ऐसा कहकर "काशिराज की रानी द्वारा तेरे दाँत के लिये भेजा गया हूँ भदन्त !" कहने पर, उसके मनोरथ को पूर्ण करते हुए छः रंग की किरणों को निकालने वाले चमकते हुए सुन्दर सुशोभित अपने दाँतों को काटकर दे दिया।

महाकपि होकर आप ही पर्वत के प्रपात (= खड्ड) से निकाले गये आदमी द्वारा—

'भक्खो अयं मनुस्सानं यथेवञ्ञे वने मिगा।
यं नूनिमं वधित्वान छातो खादेय्य वानरं ॥

[जैसे वन में अन्य पशु हैं, (वैसे ही) यह मनुष्यों के लिये भक्ष्य (= आहार) है, क्यों न मैं भूखा इस बन्दर को मार कर खाऊँ ?]

असितो व गमिस्सामि मंसमादाय सम्बलं।
कन्तारं नित्थरिस्सामि पाथेय्यं मे भविस्सति ॥

[भर पेट खाकर ही मांस को पाथेय लेकर जाऊँगा, (इस प्रकार) रेगिस्तान पार कर जाऊँगा, (यह) मेरा पाथेय होगा।]

ऐसा सोच कर पत्थर उठा शिर को फोड़ने पर आँसू भरे आँखों से उस आदमी को देखता हुआ—

माय्योसि मे, भदन्ते त्वं तुवं नामेदिसं करि।
तुवं खो नाम दीघायु अञ्ञं वारेतुमरहसि ॥[2]

---

१. सोणुत्तर उसका नाम था।

२. जातक ५१५।

[भदन्त, तू मेरे मालिक (= आर्य) हो, भला तू ने भी ऐसा किया, हे दीर्घायु ! तू दूसरे को रोकने के योग्य हो ।]

—कह कर उस आदमी पर बुरा चित्त न कर और अपने दुःख को न विचार कर उसी आदमी को क्षेम-भूमि पर पहुँचा दिया ।

भूरिदत्त[1] नामक साँपों का राजा होकर उपोशथ के अंगों को ग्रहण कर वल्मीकि के सिरे पर सोते हुए कल्प-विनाश के अग्नि के समान औषधि से सारे शरीर पर छिड़कने पर भी, झपोले में डालकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में खेलाते हुए भी, उस ब्राह्मण पर मन को बुरा मात्र भी नहीं किया । जैसे कहा है—

पेलाय पक्खिपन्तेपि मद्दन्तेपि च पाणिना ।
आलम्बने न कुप्पामि सीलखण्डभया मम ॥

[झपोले में डालते हुए भी और हाथ से मलते हुए भी अपने शील के टूटने के डर से **आलम्बन**[2] पर कोप नहीं करता था ।]

चम्पेय्य नामक सर्पराज भी होकर सँपेरे द्वारा सताये जाने पर मन में बुरा मात्र भी नहीं पैदा किया । जैसे कहा है—

तदापि मं धम्मचारिं उपवुत्थ-उपोसथं ।
अहितुण्डिको गहेत्वान राजद्वारम्हि कीळति ।

[उस समय भी मुझ धर्मचारी के उपोशथ वास करते समय सँपेरा पकड़ कर राजद्वार पर खेलाता था ।

यं सो वण्णं चिन्तयति नीलं पीतञ्च लोहितं ।
तस्स चित्तानुवत्तन्तो होमि चिन्तित सन्निभो ॥

[वह जो रंग सोचता था, नीला, पीला, लाल उसके चित्त के अनुसार चिन्तित के समान ही मैं होता था ।]

थलं करेय्यं उदकं उदकम्पि थलं करे ।
यदिहं तस्स कुप्पेय्यं खणेन छारिकं करे ॥

[स्थल को जल करूँ और जल को स्थल करूँ । यदि मैं उस पर कोप करूँ (तो) क्षण में ही राख कर डालूँ ।]

यदि चित्तवसी हेस्सं परिहायिस्सामि सीलतो ।
सीलेन परिहीनस्स उत्तमत्थो न सिज्झति ॥

[यदि चित्त के वश में होऊँ (तो) शील से परिहीन हो जाऊँगा और शील से परिहीन के लिये उत्तमार्थ (= बुद्धत्व) नहीं सिद्ध होता है ।]

सङ्खपाल नामक नागराजा होकर तेज बर्छियों से आठ स्थानों पर छेदकर घाव के मुखों से काँटों सहित लताओं को घुसाकर नाक में मजबूत रस्सी को डालकर सोलह व्याधे के पुत्रों से बँहिगा पर लेकर ढोते हुए पृथ्वी पर शरीर के रगड़े जाते हुए महान् दुःख को उठाते हुए क्रोधित

१. जातक ५४२ । और चरिया पिटक २, २ ।
२. आलम्बन सँपेरे का नाम था ।
३. जातक ५०५ और चरियापिटक २, ३ ।

होकर देखने मात्र से ही सारे व्याधा के पुत्रों को भस्म करने में समर्थ होकर भी आँख को उघाड़ कर बुरा आकार मात्र भी नहीं किया। जैसे कहा है[1]—

चातुद्दसिं पञ्चदसिञ्चळार, उपोसथं निच्चमुपावसामि।
अथागमुं सोळस भोजपुत्ता रज्जुं गहेत्वान दळ्हञ्च पासं॥
भेत्वान नासं अतिकड्ढ रज्जुं नयिंसु मं सम्परिगय्ह लुद्दा।
एतादिसं दुक्खमहं तितिक्खं उपोसथं अप्पटिकोपयन्तो॥

[अळार[2] ! चातुर्दशी, पूर्णिमा को नित्य उपोशथ रहता था, तब सोलह व्याधा के लड़के रस्सी और मज़बूत जाल लेकर आये। नाक को छेदकर रस्सी को उससे निकाल मुझे उठाकर व्याधे ले गये। मैंने इस प्रकार के दुःख को, उपोशथ को कुपित न करते हुए सहन किया।]

केवल ये ही नहीं, दूसरे भी मातुपोसजातक[3] आदि में अनेक आश्चर्य के (कार्य) किये। अब सर्वज्ञ-भाव को प्राप्त देवताओं के साथ लोक में किसी के क्षमा-गुण से बराबरी न किये जाने वाले, उन भगवान् शास्ता को मानते हुए वैर चित्त को उत्पन्न करना अत्यन्त अयुक्त है, अनुचित है।

यदि ऐसे शास्ता की पूर्वचर्या के गुणों को देखने पर भी बहुत दिनों तक क्लेशों का दास होने से उसका वैर नहीं शान्त होता है, तो उसे अनादि होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। वहाँ, कहा गया है—"भिक्षुओ, वह सत्व सुलभ नहीं है जो पहले कभी माता न हुआ हो, जो पहले कभी पिता न हुआ हो, जो भाई···बहिन···पुत्र···पुत्री न हुआ हो।"[4] इसलिये उस आदमी पर ऐसा चित्त उत्पन्न करना चाहिये—यह अतीत काल में मेरी माता होकर दस महीने पेट से ढोकर पेशाब, पाखाना, थूक-पोंटा आदि को हरिचन्दन के समान घृणा नहीं करते हुये हटा-कर छाती पर नचाते हुए, गोद से ढोते हुए पोसा था। बाप होकर बकरी के जाने के मार्ग, शंकु द्वारा जाने के मार्ग[5] आदि में जाकर व्यापार करते हुए, मेरे लिये जीवन को त्यागकर दोनों ओर से छिड़े युद्ध में घुसकर, नौका से महासमुद्र में कूदकर और अन्य दुष्कर (कामों) को करके पुत्रों को पोसूँगा—सोच उन-उन उपायों से धन को जुटा मुझे पोसा। भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री होकर भी यह उपकार किया, उस पर मेरा मन बुरा करना योग्य नहीं है।

यदि ऐसे भी चित्त को शान्त नहीं कर सकता है, तो उसे इस प्रकार मैत्री के गुणों का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए—हे प्रव्रजित, भगवान् ने कहा है न? "भिक्षुओ, मैत्री से युक्त चित्त की विमुक्ति का आसेवन करने के, बढ़ाने के, अभ्यास करने के,······ग्यारह आनृशंस जानने चाहिए। कौन से ग्यारह? (१) सुखपूर्वक सोता है, (२) सोकर सुखपूर्वक उठता है, (३) बुरा स्वप्न नहीं देखता है, (४) मनुष्यों का प्रिय होता है, (५) अमनुष्यों का प्रिय होता है, (६) देवता उसकी रक्षा करते हैं, (७) उस पर आग, विष या हथियार नहीं असर करता है, (८) शीघ्र चित्त एकाग्र होता है, (९) मुख की सुन्दरता बढ़ती है, (१०) अ-संमूढ (=बेहोशी

---

१. चरि० २, १०।
२. सार्थवाह का नाम था, जिसे सम्बोधित कर कह रहा है।
३. जातक ४५४।
४. संयुत्त नि० १४, २, ४।
५. शंकु को गड़ाकर रस्सी के सहारे जानेवाला मार्ग।

के बिना) काल करता है, (११) आगे नहीं प्राप्त होते हुए ब्रह्मलोक को जाने वाला होता है।" यदि तू इस चित्त को नहीं शान्त करोगे, तो इन आनृशंसों से वंचित हो जाओगे।

ऐसे भी शान्त नहीं कर सकने वाले को धातुओं का विभाजन करना चाहिये। कैसे? हे प्रव्रजित, तू इसके लिये क्रोध करते हुए किसके लिए क्रोध कर रहे हो? क्या केशों के लिये क्रोधित होते हो, अथवा लोमों के लिये······नखों······पेशाब के लिए क्रोधित होते हो? अथवा केश आदि में पृथ्वी-धातु पर क्रोधित होते हो? आप-धातु, तेज-धातु, वायो-धातु पर क्रोधित होते हो? अथवा जो पञ्चस्कन्ध द्वादश आयतन, अठारह धातु को लेकर आयुष्मान् इस नाम के हैं—कहा जाता है, उनमें क्या रूपस्कन्ध के लिए क्रोधित हो रहे हो? अथवा वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान-स्कन्ध के लिए क्रोधित हो रहे हो? अथवा क्या चक्षु-आयतन के लिये क्रोधित हो रहे हो, क्या रूपायतन के लिये क्रोधित हो रहे हो······क्या मनायतन के लिये क्रोधित हो रहे हो, क्या धर्मायतन के लिए क्रोधित हो रहे हो? या क्या चक्षु-धातु के लिये क्रोधित हो रहे हो, क्या रूप-धातु, चक्षुर्विज्ञान-धातु·········मनोधातु·········धर्मधातु·········मनोविज्ञान-धातु के लिए?" ऐसे धातु का विभाजन करके आरा के ऊपर सरसों के समान और आकाश में चित्र-कर्म की भाँति क्रोध के प्रतिष्ठित होने का स्थान नहीं होता है।

धातु का विभाजन नहीं कर सकने वाले को दान का संविभाग करना चाहिये। अपनी वस्तु दूसरे को देनी चाहिये। दूसरे की वस्तु आप लेनी चाहिये। यदि दूसरा आजीविका रहित होता है, परिभोग करने के परिष्कारों से रहित होता है, तो अपनी वस्तु ही देनी चाहिये। ऐसा करने वाले (व्यक्ति) का उस आदमी के ऊपर का वैर बिल्कुल शान्त हो जाता है और दूसरे का अतीत के जन्म से लेकर पीछे पड़ा हुआ भी क्रोध उस क्षण ही शान्त हो जाता है। **चित्तल पर्वत**[1] के विहार में तीन बार उठाये गये शयनासन से **पिण्डपातिक स्थविर** के— "भन्ते, यह आठ कार्षापण के दाम का पात्र मेरी माता-उपासिका का दिया हुआ है, धर्म से मिला है, महा-उपासिका के लिये पुण्य का लाभ करायें।" कह कर दिये हुए पात्र को पाये स्थविर के समान। ऐसा महागुणवाला यह दान है। कहा भी गया है—

अदन्त दमनं दानं, दानं सब्बत्थ साधकं।
दानेन पियवाचाय उण्णमन्ति नमन्ति च॥

[दान दमन नहीं किये गये (व्यक्ति) का दमन करने वाला है, दान सर्व-साधक है, दान और प्रिय वचन से (दायक) ऊँचे होते और (प्रतिग्राहक) झुकते हैं।]

ऐसे वैरी व्यक्ति पर शान्त हो गये उस वैर वाले का, जैसे प्रिय, अतिप्रिय, सहायक, मध्यस्थों पर, ऐसे ही उस पर भी मैत्री चित्त उत्पन्न होता है। तब उसे पुनः पुनः मैत्री करते हुए, अपने पर, प्रिय व्यक्ति पर, मध्यस्थ पर, वैरी व्यक्ति पर—इन चारों जनों पर सम-चित्त करके सीमा को तोड़ना चाहिये।

उसका यह लक्षण है—यदि इस व्यक्ति के प्रिय, मध्यस्थ, वैरी के साथ अपने को लेकर चार के एक स्थान में बैठने पर चोर आकर—"भन्ते, एक भिक्षु को हमें दीजिये।" कह कर "किसलिये?" कहने पर "उसे मार गले के लोहू को लेकर बलि करने के लिये" कहें। वहाँ यह भिक्षु "अमुक या अमुक को कपड़ें" ऐसा सोचे तो सीमा का भेद नहीं किया ही होता

१. सितुल पव्—लंका में।

है। यदि 'मुझे पकड़ें, इन तीनों को मत (पकड़ें)' सोचे, तो सीमा का भेद नहीं किया होता है। क्यों? जिस-जिसका पकड़ा जाना चाहता है, उस-उसकी बुराई चाहने वाला होता है, और दूसरों का हितैषी होता है। किन्तु जब चारों जनों के बीच एक को भी चोरों को देने योग्य नहीं देखता है, और अपने तथा उन तीनों जनों पर सम ही चित्त करता है, तो सीमा का भेद किया होता है। इसीलिए पुराने लोगों ने कहा है—

"अत्तनि हितमज्झत्ते अहिते च चतुब्बिधे।
यदा पस्सति नानत्तं हितचित्तो व पाणिनं।
न निकामलाभी मेत्ताय कुसली'ति पवुच्चति॥

[अपने, प्रिय, मध्यस्थ और अप्रिय—चारों प्रकार में जब नानत्व देखता है, तो प्राणियों का हित चाहने वाला ही कहा जाता है, किन्तु मैत्री को चाहे-चाहे हुए समय पर पाने वाला या मैत्री (-भावना) में 'कुशल' नहीं कहा जाता है।]

यदा चतस्सो सीमायो सम्भिन्ना होन्ति भिक्खुनो।
समं फरति मेत्ताय सब्बलोकं सदेवकं।
महाविसेसो पुरिमेन यस्स सीमा न नायति॥

[जब भिक्षु की चारों सीमायें टूटी हुई होती हैं, तब देवों के साथ सारे लोक को मैत्री से एक समान पूर्ण कर देता है, और जिसकी सीमा नहीं जान पड़ती है, वह पहले से महागुणवान् है।]

इस प्रकार सम काल में ही सीमा का भेद, निमित्त और उपचार इस भिक्षु को प्राप्त हो जाता है। सीमा का भेद किये जाने पर, उसी निमित्त को आसेवन करते हुए, बढ़ाते हुए, बहुल करते हुए, थोड़े से प्रयास में ही पृथ्वी-कसिण में कहे गये ढंग से ही अर्पणा को पाता है। यहाँ तक उसे—पाँच अंगों से रहित,[1] पाँच अंगों से युक्त, त्रिविध कल्याणकर, दस लक्षणों से युक्त मैत्रीसहगत प्रथमध्यान प्राप्त हुआ होता है। उसके प्राप्त हो जाने पर उसी निमित्त को आसेवन करते हुए, बढ़ाते हुए, बहुल करते हुए क्रमशः चतुष्क् नय से द्वितीय, तृतीय ध्यानों और पञ्चक नय से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ ध्यानों को प्राप्त करता है।

वह प्रथम ध्यान आदि में से किसी एक से—**मेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति, तथा दुतियं, तथा ततियं, तथा चतुत्थिं, इति उद्धमधो तिरियं सब्बधि सब्बत्तताय सब्बावन्तं लोकं मेत्तासहगतेन चेतसा विपुलेन महग्गतेन अप्पमाणेन अवेरेन अब्यापज्झेन फरित्वा विहरति।**[2]

[मैत्री-युक्त चित्त से एक दिशा को परिपूर्ण कर विहरता है। वैसे ही दूसरी दिशा को, वैसे ही तीसरी दिशा को, वैसे ही चौथी दिशा को। इस प्रकार ऊपर, नीचे, तिरछे सब जगह सर्वात्म के लिये, सारे प्राणी वाले लोक को विपुल, महान्, प्रमाण रहित, वैर रहित, व्यापाद रहित, मैत्री-युक्त चित्त से पूर्ण कर विहरता है।]

प्रथम ध्यान आदि के अनुसार अर्पणा चित्त को ही यह विकुर्वणा (= विविध-क्रिया) सिद्ध होती है।

---

१. देखिये, चौथा निर्देश, पृष्ठ १२९।
२. मज्झिम नि० १,१,७; दीघ नि० १,२।

यहाँ, **मेत्तासहगतेन**—मैत्री से समन्नागत (= युक्त)। **चेतसा**—चित्त से। **एकं दिसं**—इस एक दिशा के प्रथम ग्रहण किए हुए सत्त्व को लेकर एक दिशा में रहने वाले सत्त्वों को पूर्ण कर विहरने के अनुसार कहा गया है। **फरित्वा**—स्पर्श कर, आलम्बन कर। **विहरति**—ब्रह्म विहार से अधिष्ठान किये हुए ईर्य्यापथ विहार को करता है। **तथा दुतियं**—जैसे पूरब आदि दिशाओं में जिस किसी एक दिशा को पूर्ण कर विहरता है, वैसे ही उसके बाद दूसरी, तीसरी और चौथी—अर्थ है।

इति उद्धं—इसी प्रकार ऊपरी दिशा को—कहा गया है। **अधो तिरियं**—निचल दिशा को भी, तिरछी दिशा को भी ऐसे ही। और वहाँ, **अधो**—नीचे। **तिरियं**—अनुदिशाओं में। ऐसे सब दिशाओं में घोड़ों के घेरे में घोड़े के समान मैत्री-युक्त चित्त को चलाता भी है, लौटाता भी है। इतने से एक-एक दिशा को ग्रहण करके भाग-भाग करके मैत्री पूर्ण करने को दिखलाया गया है। 'सब्बधि' आदि भाग रहित दिखलाने के लिये कहा गया है। उनमें **सब्बधि**—सब जगह। **सब्बत्तताय**—सब हीन, मध्यम, उत्कृष्ट (= उत्तम), मित्र, वैरी, मध्यस्थ आदि प्रभेदों में अपने लिये। यह दूसरा सत्त्व है—ऐसा भाग नहीं करके अपनी समानता के लिये कहा गया है। अथवा 'सब्बत्तताय' का अर्थ है, सर्व-चित्त भाव से। थोड़ा सा भी बाहर विक्षिप्त नहीं करते हुए—कहा गया है। **सब्बावन्तं**—सब सत्त्व वाले। सब सत्त्व से युक्त—यह अर्थ है। **लोक**—सत्त्व-लोक।

विपुलेन—ऐसे आदि पर्याय दिखलाने के लिये यहाँ फिर मैत्री-युक्त (चित्त) से कहा गया है। अथवा चूँकि यहाँ भाग करके परिपूर्ण करने के समान पुनः 'वैसे' या 'इस प्रकार' शब्द नहीं कहे गये हैं, इसलिये फिर मैत्री-युक्त चित्त से कहा गया है। या यह निगमन के रूप में कहा गया है। 'विपुल' से यहाँ परिपूर्ण करने के रूप में विपुलता जाननी चाहिये। किन्तु भूमि के अनुसार यह **महग्गत** है और अभ्यस्त तथा अप्रमाण सत्त्वों के आलम्बन के अनुसार **अप्पमाण**। वैरी व्यापाद के प्रहाण से **अवेरं** है। दौर्मनस्य के प्रहाण से **अब्यापज्झं**। दुःख रहित होना कहा गया है। यह, 'मैत्री-युक्त चित्त से' आदि ढंग से कही गई विकुर्वणा का अर्थ है।

जैसे यह अर्पणा-प्राप्त चित्त को ही विकुर्वणा सिद्ध होती है, वैसे जो भी **प्रतिसम्भिदा** में—"पाँच आकार से सीमा रहित स्फरणा-चेतोविमुक्ति है, सात आकार से सीमा से स्फरण (=पूर्ण) होनेवाली चेतोविमुक्ति है, दस आकार से दिशा में स्फरण करनेवाली चेतोविमुक्ति है।"[1] कहा गया है, वह भी अर्पणा-प्राप्त चित्तवाले को ही सिद्ध होती है—जानना चाहिये।

और वहाँ, "सारे सत्त्व वैर रहित, व्यापाद रहित, उपद्रव रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करें। सारे प्राणी···सारे भूत···सारे व्यक्ति···सारे आत्म-भाव में पड़े हुए वैर रहित, व्यापाद रहित, उपद्रव रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करें[1]।" इन पाँच आकारों से सीमा-रहित स्फरणा-मैत्री-चित्त की विमुक्ति को जानना चाहिये।

"सारी स्त्रियाँ वैर रहित···अपना परिहरण करें···सारे पुरुष·· सारे आर्य·· सारे अनार्य··· सारे देव···सारे मनुष्य···सारे विनिपातिक (= दुर्गति को प्राप्त) वैर रहित···परिहरण करें[2]।" इन सात आकारों से सीमा से मैत्री-चित्त की विमुक्ति को जानना चाहिये।

१. देखिये, पृष्ठ २६५।

२. पटि० २।

"सारे पूरब दिशा के सत्त्व वैर रहित···अपना परिहरण करें, सारे पश्चिम दिशा के··· सारे उत्तर दिशा के···सारे दक्षिण दिशा के···सारे पूरब की अनुदिशा के···सारे पश्चिम की अनुदिशा के···सारे उत्तर की अनुदिशा के···सारे दक्षिण की अनुदिशा के···सारे निचली दिशा के···सारे ऊपरी दिशा के सत्त्व वैर रहित···परिहरण करें। सारे पूरब दिशा के प्राणी···उत्पन्न हुए जीव (= भूत)···पुद्गल (= व्यक्ति)···आत्म-भाव (= शरीर) प्राप्त वैर रहित···परिहरण करें। सारी पूरब दिशा की स्त्रियाँ···सारे पुरुष, आर्य, अनार्य, देव, मनुष्य, विनिपातिक वैर रहित···परिहरण करें। सारी पश्चिम दिशा की, उत्तर, दक्षिण, पूरब की अनुदिशा की, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की अनुदिशा की, निचली दिशा की, ऊपरी दिशा की स्त्रियाँ···विनिपातिक वैर रहित, व्यापाद रहित···पीड़ा रहित···सुखपूर्वक···अपना परिहरण करें[1]।" इन दस आकारों से दिशा-स्फरण-मैत्री-चित्त की विमुक्ति को जानना चाहिये।

वहाँ, **सब्बे**—यह निःशेष ग्रहण करना है। **सत्ता**—रूप आदि स्कन्धों में छन्द-राग से सक्त, विसक्त होने से सत्त्व है। भगवान् ने यह कहा है—"राध, रूप में जो छन्द है, जो राग है, जो नन्दी है, जो तृष्णा है, उसमें सत्त्व विसक्त (= अनुरक्त) है, इसलिये सत्त्व कहा जाता है। वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान में जो छन्द है, जो राग है, जो नन्दी है, जो तृष्णा है, उसमें सत्त्व विसक्त (=अनुरक्त) है, इसलिये सत्त्व कहा जाता है[2]।" रूढ़ि शब्द से वीतरागों में भी इसका व्यवहार होता ही है, फाँकों से बनी हुई विशेष बीजनी के लिये भी ताड़वण्ट (=ताड़ का पंखा) के व्यवहार होने के समान। वैय्याकरण (=अक्षरचिन्तक) अर्थ का विचार न कर नाममात्र यह है—कहते हैं। जो भी अर्थ का विचार करते हैं, वे सक्त के योग से सत्त्व कहते हैं।

प्राणन[3] करने से **पाणा** (=प्राणी) हैं। आश्वास-प्रश्वास करने की वृत्ति वाले—अर्थ है। उत्पन्न होने से **भूत** हैं। पैदा होने, सम्भूत होने से—यह अर्थ है। 'पुं' निरय कहा जाता है, उसमें गलते हैं, इसलिये **पुग्गल** हैं। जाते हैं—यह अर्थ है। आत्म-भाव कहते हैं शरीर को या पञ्चस्कन्ध ही है। उसे लेकर प्रज्ञप्ति मात्र के होने से। उस आत्मभाव में पर्यापन्न (= पड़े हुए) हैं, इसलिये **अत्तभावपरियापन्ना** (कहा जाता है)। पर्यापन्न का अर्थ है परिच्छिन्न, उसमें पड़े हुए—यह अर्थ है।

जैसे 'सत्त्व' शब्द है, ऐसे शेष भी रूढ़ि के अनुसार करके ये सब सारे सत्त्व के पर्याय शब्द हैं—ऐसा जानना चाहिये। यद्यपि दूसरे भी सारे जन्तु, सारे जीव आदि सब सत्त्व के पर्याय शब्द हैं, किन्तु प्रगट रूप से इन्हीं पाँच को लेकर पाँच प्रकार से सीमा-रहित स्फरण-मैत्री-चित्त की विमुक्ति कही गई है।

किन्तु जो सत्त्व, प्राणी आदि के, न केवल शब्द मात्र से ही, प्रत्युत अर्थ से भी नानत्व ही बतलाते हैं, उनकी सीमा-रहित स्फरणा विरुद्ध होती है। इसलिये वैसे अर्थ न लगा कर इन पाँच आकारों में किसी एक के रूप में सीमा रहित मैत्री का स्फरण करना चाहिये और यहाँ "सारे सत्त्व वैर रहित हों" यह एक अर्पणा है। "व्यापाद रहित हों" यह एक अर्पणा है। व्यापाद रहित का अर्थ है व्याबाधा (=दौर्मनस्य) रहित। 'दुःख रहित हों' यह एक अर्पणा है·······।

---

१. पटि० २।

२. संयुत्त नि० २२, १, १२।

३. प्राणन का अर्थ आश्वास-प्रश्वास है।

"सुखपूर्वक अपना परिहरण करें" यह एक अर्पणा है। इसलिये इन पदों में भी जो-जो प्रगट होता है, उस-उसके अनुसार मैत्री का स्फरण करना चाहिये। इस प्रकार पाँचों आकारों में चारों अर्पणाओं के अनुसार सीमा रहित स्फरण में बीस अर्पणा होती हैं।

किन्तु सीमा-सहित स्फरण में सात आकारों में चार के हिसाब से अट्ठाइस और यहाँ 'स्त्री-पुरुष'—ऐसे लिङ्ग के अनुसार कहा गया है। 'आर्य-अनार्य'—ऐसे आर्य-पृथक्जन के अनुसार। 'देव, मनुष्य, विनिपातिक'—ऐसे उत्पत्ति के अनुसार।

दिशा के स्फरण में—'सारे पूरब दिशा के सत्त्व' आदि ढंग से एक-एक दिशा में बीस-बीस करके दो सौ। 'सारी पूरब दिशा की स्त्रियाँ' आदि ढंग से एक-एक दिशा में अट्ठाइस-अट्ठाइस करके दो सौ अस्सी। (इस प्रकार कुल) चार सौ अस्सी अर्पणा होती हैं। ऐसे सभी **प्रतिसम्भिदा** में कही गई पाँच सौ अट्ठाइस अर्पणा होती हैं।

इस तरह इन अर्पणाओं में जिस किसी के अनुसार मैत्रीचेतोविमुक्ति की भावना करके यह योगी 'सुखपूर्वक सोता है'[1] आदि ढंग से कहे गये ग्यारह अनृशंसों को पाता है।

उनमें, **सुखपूर्वक सोता है**—जैसे शेष लोग करवट बदलते हुए घुरु-घुरु शब्द करते दुःखपूर्वक सोते हैं, ऐसे न सोकर सुखपूर्वक सोता है। नींद आने पर भी समापत्ति को प्राप्त हुए के समान होता है।

सोकर सुखपूर्वक उठता है—जैसे दूसरे कँहरते हुए, जम्हाई लेते हुए करवट बदलते दुःखपूर्वक सोकर उठते हैं, ऐसे सोने से न उठकर खिलते हुए कमल के समान सुखपूर्वक विकार रहित सोकर उठता है।

बुरा स्वप्न नहीं देखता है—स्वप्न देखते हुए भी कल्याणकर ही स्वप्न देखता है, चैत्य की वन्दना करते हुए के समान, पूजा करते हुए के समान और धर्म-श्रवण करते हुए के समान होता है। जैसे कि अपने को चोरों से घेरे जाने के समान, हिंसक जन्तुओं से परेशान होने के समान और प्रपात में गिरते हुए के समान देखते हैं, ऐसे बुरा स्वप्न नहीं देखता है।

मनुष्यों का प्रिय होता है—छाती पर बिखरे हुए मुक्ताहार के समान और शिर पर गूँथी गई माला के समान मनुष्यों का प्रिय = मनाप होता है।

अमनुष्यों का प्रिय होता है—जैसे कि मनुष्यों का, ऐसे ही अमनुष्यों का प्रिय होता है। विशाख स्थविर के समान। वे **पाटलिपुत्र**[2] में कुटुम्बिक थे। उन्होंने वहीं रहते हुए सुना-ताम्रपर्णी (=लंका) द्वीप चैत्यों की माला (=पंक्ति) से अलंकृत और काषाय (-वस्त्रों) से प्रभासमान है, चाहे-चाहे हुए स्थान पर ही बैठ या सो सकते हैं। ऋतु, शयनासन, पुद्गल और धर्म-श्रवण के अनुकूल है, यहाँ सब सुलभ है।"

उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति को पुत्र-स्त्री को सौंप कर चादर की खूँट में बँधे हुए एक कार्षापण से ही घर से निकल समुद्र के तीर नाव की इन्तजारी में एक महीना बिताया। व्यापार में चतुर होने के कारण इस स्थान पर उन्होंने सामान खरीद कर अमुक स्थान पर बेंचते हुए धार्मिक व्यापार से उसी महीने के बीच सहस्र एकत्र कर लिया (और) क्रमशः **महाविहार**[3] में आकर प्रव्रजित होने की याचना की।

---

१. देखिये, पृष्ठ २७३।
२. वर्तमान, पटना (बिहार)
३. लंका में अनुराधपुर का महाविहार।

उन्होंने प्रव्रजित करने के लिये सीमा में ले जाने पर उस हजार की थैली को फाँड़ (= ओवट्टिक) के बीच से जमीन पर गिराया। 'यह क्या है ?' कहने पर 'भन्ते, हजार कार्षापण हैं।' कह कर 'उपासक, प्रव्रजित होने के समय से लेकर विधान नहीं कर सकते, अभी इसका विधान करो।' कहने पर 'विशाख के प्रव्रजित होने की जगह आये हुए मत खाली जायें।' (कह) खोलकर सीमा-मालक[1] में लुटाकर प्रव्रजित हो उपसम्पन्न हुए।

वह पाँच वर्ष के होकर दो मात्रिकाओं[2] को याद करके प्रवारणा[3] कर अपने अनुकूल कर्म-स्थान ग्रहण कर एक-एक विहार में चार महीने करके समवर्तवास (=सब सत्त्वों पर समान मैत्री-चित्त से विहरने वाला होकर) बसते हुए विचरे। इस प्रकार विचरते हुए—

वनन्तरे ठितो थेरो विसाखो गज्जमानको।
अत्तनो गुणमेसन्तो इममत्थं अभासथ॥

[वन के बीच रहते[4] स्थविर विशाख ने गर्जना करते हुए अपने गुण का प्रत्यवेक्षण करते हुए इस बात को कहा—]

यावता उपसम्पन्नो, यावता इध मागतो।
एत्थन्तरे खलितं नत्थि अहो लाभा ते मारिस॥

[जब से उपसम्पन्न हुये और जब से यहाँ आये, इसके बीच चूक नहीं हुई है, मार्ष ! क्या ही तुझे लाभ है !]

वह चित्तल-पर्वत के विहार को जाते हुए दो ओर जाने वाले मार्ग को पाकर—'क्या यह मार्ग है अथवा यह ?' ऐसे सोचते खड़े हुए। तब पर्वत पर रहने वाला देवता हाथ फैला-कर—'यह मार्ग है' (कह) उन्हें दिखाया।

वह चित्तल-पर्वत के विहार में जा वहाँ चार महीने रह कर 'भोर के समय जाऊँगा' ऐसा सोचकर सोये। चङ्क्रमण के किनारे मणिल वृक्ष पर रहने वाला देवता सीढ़ी के तख्ते पर बैठ कर रोने लगा। स्थविर ने—'यह कौन है ?' कहा। 'भन्ते, मैं मणिलिया[5] हूँ।'

"किसलिये रो रहे हो ?"

"आप के जाने के कारण।"

"मेरे यहाँ रहने पर तुम्हें क्या लाभ है ?"

"भन्ते, आपके यहाँ रहने पर अमनुष्य परस्पर मैत्री करते हैं, वे अब आप के चले जाने पर झगड़ा करेंगे, बुरे वचन भी कहेंगे।"

---

१. भिक्षु-सीमा के भीतर—अर्थ है।

२. भिक्षु और भिक्षुणी प्रातिमोक्ष—ये दो मात्रिकायें हैं।

३. वर्षावास के पश्चात् भिक्षुओं की एक विधि-विशेष।

४. स्थविर ने वैसे विहार करते हुए एक दिन किसी रमणीय वन को देखकर उसमें किसी वृक्ष के नीचे समापत्ति को प्राप्त हो, किये परिच्छेद के अनुसार उससे उठ अपने गुण का प्रत्यवेक्षण करने की प्रीति के सौमनस्य से प्रीति-वाक्य कहते हुए—'जब से उपसम्पन्न हुआ' आदि गाथा को कहा। उसी को बतलाते हुए 'वन के बीच रहते' पहली गाथा कही गई है—टीका।

५. मणिल वृक्ष पर रहने के कारण ऐसा कहता है।

स्थविर ने—"यदि मेरे यहाँ रहने पर तुम लोगों को सुखपूर्वक विहरना होता है, तो बहुत अच्छा" कहकर और भी चार महीने वहीं रह फिर वैसे ही जाने का मन किया। देवता भी फिर वैसे ही रोया। इसी प्रकार स्थविर वहीं रहकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"—ऐसे मैत्री के साथ विहरने वाला भिक्षु अमनुष्यों का प्रिय होता है।

देवता उसकी रक्षा करते हैं—जैसे माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं, (वैसे) देवता उसकी रक्षा करते हैं।

उस पर आग, विष या हथियार नहीं असर करता है—मैत्री के साथ विहरनेवाले के शरीर पर **उत्तरा उपासिका**[1] के समान आग, **संयुत्त-भाणक चूलशिवस्थविर**[2] के समान विष, **सांकृत्य श्रामणेर**[3] के समान हथियार नहीं असर करता है। नहीं घुसता है। उसके शरीर को दुःख नहीं पहुँचाता है। यह कहा गया है।

धेनु की कथा को भी यहाँ कहते हैं—एक धेनु बछड़े के लिये दूध की धार छोड़ती हुई खड़ी थी। एक व्याधा, उसे मारूँगा (सोच) हाथ से घुमा कर लम्बे डण्डे वाली बर्छी को फेंका। वह उसके शरीर से लग कर ताड़ के पत्ते के समान लुढ़कते हुए चली गई। न तो उपचार के बल से और न अर्पणा के बल से ही, केवल बछड़े पर बलवान् प्रिय चित्त होने से। ऐसी महानुभाव वाली मैत्री है।

शीघ्र चित्त एकाग्र होता है—मैत्री के साथ विहरने वाले का चित्त शीघ्र ही समाधिस्थ होता है। उसके लिये ढीलापन नहीं है।

मुख की सुन्दरता बढ़ती है—बन्धन (= भेंटी) से छूटे, पके ताड़ के समान उसके मुख की सुन्दरता बढ़ती है।

अ-संमूढ़ काल करता है—मैत्री के साथ विहरने वाले की सम्मोह (= बेहोश) के साथ मृत्यु नहीं होती है, अ-सम्मोह के साथ ही नींद आने के समान मृत्यु होती है।

आगे नहीं प्राप्त होते हुए—मैत्री की समापत्ति से आगे अर्हत्व को नहीं पा सकते हुए, यहाँ से च्युत हो, सोकर उठते हुए (व्यक्ति) के समान ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है।

(२) करुणा ब्रह्मविहार

करुणा की भावना करने की इच्छा वाले को करुणा-रहित होने के दोष और करुणा के **आनृशंस का प्रत्यवेक्षण करके** करुणा-भावना का आरम्भ करना चाहिये; किन्तु उसे भी आरम्भ करते हुए पहले प्रिय व्यक्ति आदि पर नहीं आरम्भ करना चाहिये, क्योंकि प्रिय-प्रिय ही

१. देखिये, धम्मपदट्ठकथा १७,३। और विशुद्धिमार्ग बारहवाँ परिच्छेद।

२. "सिंहल द्वीप में दो भाई मिलकर धन कमाते थे। जेठा किसी रोग से मर गया। छोटा, भाई की मृत्यु से दुःखी होकर प्रव्रजित हो मैत्री-भावना करते हुए विहरता था। उसके भाई की स्त्री उसकी लज्जा से दूसरे पुरुष से विवाह करना चाहती हुई भी नहीं करती थी। तब उसने—'जब तक स्थविर जीवित हैं, तब तक मेरा मनोरथ नहीं पूर्ण होगा' सोच पिण्डपात में विष मिलाकर स्थविर को दिया। स्थविर ने भी मैत्री-कर्मस्थान को बिना त्यागे हुए ही खाया और उन्हें किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ"—गण्ठी पाठ।

३. देखिये, विशुद्धिमार्ग का बारहवाँ परिच्छेद तथा धम्मपदट्ठकथा ८,९।

होकर रहता है, अत्यन्त प्रिय सहायक अत्यन्त प्रिय सहायक ही होकर, मध्यस्थ मध्यस्थ ही होकर, अप्रिय अप्रिय ही होकर, वैरी वैरी ही होकर रहता है। लिङ्ग का अ-समान होना, मरा हुआ होना—अ-क्षेत्र ही हैं।

"कैसे भिक्षु करुणा-युक्त चित्त से एक दिशा को स्फरण (=परिपूर्ण) करके विहरता है? जैसे एक निर्धन, बुरी दशा को प्राप्त व्यक्ति को देख कर करुणा करे, ऐसे ही सब सत्त्वों पर करुणा से स्फरण करता है[1]।" विभङ्ग में कहा गया होने से सबसे पहले किसी करुणा करने के योग्य अत्यन्त दुःखित, निर्धन, बुरी अवस्था को प्राप्त, कृपण, हाथ-पैर कटे, कड़ाही को सामने रखकर अनाथालय में बैठे, हाथ-पैरों से कृमि-समूह के पवरते, (दुःख के मारे) चिल्लाते हुए पुरुष को देखकर—"कैसा यह सत्त्व बुरी अवस्था को प्राप्त है, अच्छा होता कि यह इस दुःख से छूट जाता।" ऐसे करुणा करनी चाहिये। उसे नहीं पाने वाले को भी सुखी रहने वाले भी पापी व्यक्ति की वध्य (पुरुष) से उपमा करके करुणा करनी चाहिये।

कैसे? सामान के साथ पकड़े गये चोर को—"इसका वध कर डालो" (ऐसी) राजा की आज्ञा से राजपुरुष बाँधकर चौराहे-चौराहे पर सौ कोड़े लगाते वध करने के स्थान में ले जाते हैं। उसे आदमी खाद्य-भोज्य भी, माला-गन्ध, विलेपन और पेय भी देते हैं। यद्यपि वह उन्हें खाते और परिभोग करते हुए सुखी, भोग से युक्त होने के समान जाता है, किन्तु उसे कोई 'यह सुखी है, महाभोग-सम्पन्न है'—ऐसा नहीं मानता है। प्रत्युत "यह अभागा अब मरेगा, जो-जो ही यह कदम रखता है, उस-उस से मृत्यु के पास होता जाता है।" ऐसे उस पर आदमी करुणा करते हैं। इसी प्रकार करुणा-कर्मस्थान वाले भिक्षु को सुखी व्यक्ति पर भी करुणा करनी चाहिये। 'यह अभागा है, यद्यपि इस समय सुखी है, सुसज्जित भोगों का उपभोग कर रहा है, किन्तु तीनों द्वारों में से एक से भी किये गये कल्याण-कर्म के अभाव से इस समय अपायों में बहुत अधिक दुःख, दौर्मनस्य का अनुभव करेगा।"

ऐसे उस व्यक्ति पर करुणा करके, उसके बाद इसी ढंग से प्रिय व्यक्ति पर, तत्पश्चात् मध्यस्थ पर, उसके पीछे वैरी पर—इस प्रकार क्रमशः करुणा करनी चाहिये।

यदि उसे पहले कहे गये के अनुसार ही वैरी के ऊपर प्रतिघ (=वैर-भाव) उत्पन्न होता है, तो उसे मैत्री में कहे गये ढंग से ही शान्त करना चाहिये। और जो कि यहाँ पुण्य किया हुआ होता है, उसे भी ज्ञाति, रोग, सम्पत्ति की विपत्ति आदि[2] में से किसी एक विपत्ति से युक्त देखकर या सुनकर उसके न होने पर भी संसार-चक्र के दुःख को न त्याग सकने से 'दुःखी ही है यह'—ऐसे सब प्रकार से करुणा करके, कहे गये ढंग से ही अपने पर प्रिय व्यक्ति पर, मध्यस्थ और वैरी पर—इन चारों व्यक्तियों पर सीमा तोड़कर, उस निमित्त को आसेवन करते, बढ़ाते, बहुल करते हुए मैत्री में कहे गये ढंग से ही त्रिक्, चतुष्क् ध्यान के अनुसार अर्पणा को बढ़ाना चाहिये।

किन्तु, **अंगुत्तरट्ठकथा** में 'पहले वैरी व्यक्ति पर करुणा करनी चाहिये, उस पर चित्त को मृदु करके, निर्धन पर, तत्पश्चात् प्रिय व्यक्ति पर, उसके बाद अपने पर'—यह क्रम वर्णित है। वह 'निर्धन, बुरी दशा को प्राप्त' इस पालि (के पाठ) से नहीं मेल खाता है। इसलिये कहे गये ढंग से ही भावना को आरम्भ करके सीमा को तोड़कर अर्पणा बढ़ानी चाहिये।

---

१. विभङ्ग १३।

२. (१) ज्ञाति (२) भोग (३) रोग (४) शील (५) दृष्टि—ये पाँच प्रकार की विपत्तियाँ हैं—दे० अंगुत्तर नि० ५, ३, १०।

उसके बाद, पाँच प्रकार से सीमा बिना स्फरण, सात प्रकार से सीमा सहित स्फरण, दस प्रकार से दिशा में स्फरण—यह विकुर्वण है। 'सुखपूर्वक सोता है' आदि आनृशंस मैत्री में कहे गये ढंग से ही जानने चाहिये।

(३) मुदिता ब्रह्मविहार

मुदिता-भावना का आरम्भ करने वाले को भी पहले प्रिय व्यक्ति आदि पर नहीं आरम्भ करना चाहिये, क्योंकि प्रिय प्यारा होने मात्र से ही मुदिता का प्रत्यय नहीं बनता है। मध्यस्थ, वैरी व्यक्ति की बात ही क्या ? लिङ्ग की असमानता, मरा होना—अ-क्षेत्र ही हैं।

किन्तु, अत्यन्त प्रिय सहायक प्रत्यय हो सकता है, जो अट्ठकथा में सोण्ड-सहायक (=अत्यन्त प्रिय सहायक) कहा गया है। वह मुदित-मुदित ही होता है। पहले हँसकर पीछे कहता है। इसलिये उसे पहले मुदिता से स्फरण करना चाहिये। या प्रिय व्यक्ति को सुखी, सज्जित, प्रमोद करते हुए देखकर या सुनकर—"क्या ही यह सत्त्व आनन्द कर रहा है ! बहुत ही अच्छा है, बहुत ही सुन्दर है !" ऐसे मुदिता उत्पन्न करनी चाहिये। इसी अर्थ को लेकर विभङ्ग में कहा गया है—"कैसे भिक्षु मुदिता-युक्त चित्त से एक दिशा को स्फरण करके विहरता है ? जैसे एक प्रिय=मनाप व्यक्ति को देखकर मुदित हो, ऐसे ही सब सत्त्वों को मुदिता से स्फरण करता है।"[१]

यदि वह उसका सोण्ड-सहायक या प्रिय व्यक्ति अतीत काल में सुखी था, किन्तु सम्प्रति निर्धन और बुरी अवस्था को प्राप्त हुआ, तो उसके अतीत में सुखी होने का अनुस्मरण करके—'यह अतीत में ऐसा महाभोग, महापरिवार-सम्पन्न, नित्य मुदित रहनेवाला था। उसके इस मुदित होने के आकार को लेकर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए। अथवा भविष्य में फिर उस सम्पत्ति को पाकर हाथी, घोड़े की पीठ, सोने की पालकी आदि द्वारा विचरण करेगा।' ऐसे भविष्य के उसके मुदित होने के आकार को लेकर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए। ऐसे प्रिय व्यक्ति पर मुदिता को उत्पन्न कर, पीछे मध्यस्थ पर, फिर वैरी पर—क्रमशः मुदिता करनी चाहिए।

यदि उसे पहले कहे गये ढंग से ही वैरी पर प्रतिघ उत्पन्न होता है, तो उसे मैत्री में कहे गये ढंग से ही शान्त करके इन तीनों जनों और अपने पर—चारों जनों पर सम-चित्त होने से सीमा को तोड़कर उस निमित्त को आसेवन करते, बढ़ाते, बहुल करते, मैत्री में कहे गये ढंग से ही त्रिक्-चतुष्क् ध्यान के अनुसार ही अर्पणा को बढ़ाना चाहिए। उसके पश्चात् पाँच प्रकार से सीमा रहित स्फरण, सात प्रकार से सीमा सहित स्फरण, दस प्रकार से दिशा में स्फरण—यह विकुर्वण है। 'सुखपूर्वक सोता है' आदि आनृशंस मैत्री में कहे गये के अनुसार ही जानने चाहिए।

(४) उपेक्षा ब्रह्मविहार

उपेक्षा-भावना करने की इच्छा वाले से मैत्री आदि में प्राप्त त्रिक्, चतुष्क् ध्यान से अभ्यस्त तृतीय ध्यान से उठकर "सुखी हों" आदि के अनुसार सत्त्वों के प्रति ममत्व से उत्पन्न मनस्कार से युक्त होने से, प्रतिघानुनय (=वैर और स्नेह) के समीपचारी होने से, सौमनस्य के योग से स्थूल होने से पहले (मैत्री, करुणा, मुदिता) में दोष और शान्त (=सूक्ष्म) होने से

१. विभङ्ग १३।

उपेक्षा में गुण को देखकर जो स्वभाव से मध्यस्थ व्यक्ति है, उसकी उपेक्षा करके उपेक्षा को उत्पन्न करना चाहिए। उसके पश्चात् प्रिय व्यक्ति आदि में। कहा है—"कैसे भिक्षु, उपेक्षा-युक्त चित्त से एक दिशा को स्फरण करके विहरता है? जैसे एक अमनाप और मनाप व्यक्ति को देखकर उपेक्षक हो, ऐसे ही सब सत्त्वों को उपेक्षा से स्फरण करता है[1]।"

इसलिए कहे गये ढंग से मध्यस्थ व्यक्ति पर उपेक्षा उत्पन्न करके, तत्पश्चात् प्रिय व्यक्ति पर, उसके बाद सोण्ड-सहायक पर और तब वैरी पर—ऐसे इन तीनों जनों और अपने पर सब जगह मध्यस्थ के अनुसार सीमा तोड़ कर उस निमित्त को आसेवन करना चाहिए, बढ़ाना चाहिए, बहुल करना चाहिए।

उस ऐसे करने वाले को पृथ्वी-कसिण में कहे गये ढंग से ही चतुर्थ ध्यान उत्पन्न होता है। क्या यह पृथ्वी-कसिण आदि में उत्पन्न तृतीय ध्यान वाले को भी उत्पन्न होता है? नहीं उत्पन्न होता है। क्यों आलम्बन के अ-समान होने से। मैत्री आदि में उत्पन्न तृतीय ध्यान के लिए ही उत्पन्न होता है आलम्बन के सभाग होने से। उसके बाद विकुर्वण और आनृशंस का लाभ मैत्री में कहे गये के अनुसार ही जानना चाहिये।

प्रकीर्णक-कथा

ब्रह्मुत्तमेन कथिते ब्रह्मविहारे इमे इति विदित्वा।
भिय्यो एतेसु अयं पकिण्णककथापि विञ्ञेय्या॥

[उत्तम ब्रह्मा[2] (=भगवान् बुद्ध) द्वारा कहे गये इन ब्रह्मविहारों को इस प्रकार जानकर इनमें यह और प्रकीर्णक-कथा भी जाननी चाहिये।]

इन मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा में अर्थ से मैद्य उत्पन्न करने से **मैत्री** कही जाती है। स्नेह करना अर्थ है। अथवा मित्र में उत्पन्न हुई या मित्र को यह प्रवर्तित होती है, इसलिये भी मैत्री है। दूसरे को दुःख होने पर सज्जनों के हृदय को कँपा देती है, इसलिये **करुणा** कही जाती है। दूसरे के दुःख को खरीद लेती है अथवा मारती, नष्ट कर देती है, इसलिये करुणा है। या दुःखितों में फैलाई जाती है, स्फरण के रूप में फैलती है, इसलिये करुणा है। इससे युक्त (व्यक्ति) प्रमोद करते हैं या स्वयं मोद करती है या केवल प्रमोद करना मात्र ही **मुदिता** है। 'वैर रहित हों' आदि कामों के प्रहाण और मध्यस्थ होने से उपेक्षा करता है, इसलिये **उपेक्षा** है।

लक्षण आदि से भलाई के रूप में होने के लक्षण वाली मैत्री है। भलाई लाना (उसका) कृत्य है। आघात को दूर करना उसका प्रत्युपस्थान है। सत्त्वों का मनाप-भाव दिखलाना प्रत्यय है। व्यापाद का शान्त होना उसकी सम्पत्ति है, स्नेह की उत्पत्ति, विपत्ति (= नाश) है[3]।

दुःख को दूर करने के आकार के लक्षण वाली करुणा है। दूसरे के दुःख को न सह सकना उसका काम है। अविहिंसा प्रत्युपस्थान है। दुःख से पछाड़े गये (व्यक्तियों) का अनाथ के रूप

---

१. विभङ्ग १३।

२. ब्रह्मा तीन प्रकार के होते हैं—(१) व्यावहारिक ब्रह्मा (२) उत्पत्ति ब्रह्मा (३) विशुद्ध ब्रह्मा। यहाँ "भिक्षुओ, तथागत का ही नाम ब्रह्मा है" इस वाक्य से उत्तम-श्रेष्ठ ब्रह्मा भगवान् धर्मराज तथागत ही हैं।

३. क्योंकि मैत्री के बहाने राग ठग डालता है और तृष्णा-राग उत्पन्न होकर मैत्री का विनाश कर डालता है।

में देखना पदस्थान है। विहिंसा का शान्त होना उसकी सम्पत्ति है और शोक का उत्पन्न होना विपत्ति।

प्रमोद के लक्षण वाली मुदिता है। ईर्ष्या नहीं करना उसका कृत्य है। अरति (=उदासी) को नाश करना उसका प्रत्युपस्थान है। सत्त्वों की सम्पत्ति को देखना पदस्थान है। अरति का शान्त होना उसकी सम्पत्ति और प्रहास (=हँसी) का उत्पन्न होना विपत्ति है।

सत्त्वों में मध्यस्थ के आकार से प्रवर्तित होने के लक्षण वाली उपेक्षा है। सत्त्वों में सबको बराबर रूप से देखना उसका काम है। प्रतिघ और अनुनय (=स्नेह) को शान्त करना उसका प्रत्युपस्थान है। सत्त्व कर्म-स्वक् हैं, वे किसकी रुचि से सुखी होंगे या दुःख से छूटेंगे, सम्पत्ति से नहीं बरबाद होंगे ? ऐसे होने वाली कर्म-स्वकता को देखना पदस्थान है। प्रतिघ-अनुनय का शान्त होना उसकी सम्पत्ति है। काम-भोग सम्बन्धी अज्ञान-उपेक्षा की उत्पत्ति, विपत्ति है।

इन चारों भी ब्रह्मविहारों का विपश्यना सुख और भव-सम्पत्ति साधारण प्रयोजन है। व्यापाद आदि को दूर करना प्रत्येक का काम है। व्यापाद के दूरीकरण का ही प्रयोजन यहाँ मैत्री है। विहिंसा, अरति, राग को दूर करने के लिए दूसरे (ब्रह्म विहार) हैं। कहा भी गया है—"आवुसो, यह व्यापाद का निस्तार है जो कि मैत्री चेतोविमुक्ति है······आवुसो, यह विहिंसा का निस्तार है जो कि करुणा चेतोविमुक्ति है······आवुसो, यह अरति का निस्तार है जो कि मुदिता चेतोविमुक्ति है।······आवुसो, यह राग का निस्तार है जो कि उपेक्षा चेतोविमुक्ति है।"[1]

एक-एक के यहाँ समीप और दूर के अनुसार दो-दो वैरी हैं। मैत्री ब्रह्मविहार का—समीप विचरने वाले पुरुष के दुश्मन के समान गुण के दर्शन के सभाग होने से राग समीपवर्ती वैरी है। वह शीघ्र ही अवसर पा लेता है, इसलिये उससे मैत्री की भली प्रकार रक्षा करनी चाहिये। पर्वत आदि घने स्थानों में रहने वाले आदमी के वैरी के समान सभाग-विसभाग होने से व्यापाद दूरवर्ती वैरी है, इसलिये उससे निर्भय होकर मैत्री करनी चाहिये। मैत्री भी करेगा और क्रोध भी—यह सम्भव नहीं।

करुणा ब्रह्मविहार का—"इष्ट=कान्त=मनाप=मनोरम लोकामिष (=लौकिक भोग) से संबद्ध चक्षु (द्वारा) विज्ञेय रूपों के अलाभ को अलाभ के तौर पर समझते, या अतीत=निरुद्ध (=नष्ट), विकार-प्राप्त (रूपों के) पहले अलाभ को अलाभ के तौर पर स्मरण करते, दौर्मनस्य (=खेद) उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार का दौर्मनस्य है, वह गेध सम्बन्धी (=काम-भोग सम्बन्धी) दौर्मनस्य कहा जाता है।"[2] आदि प्रकार से आया हुआ गेध-सम्बन्धी दौर्मनस्य विपत्ति-देखने के सभाग होने से समीपवर्ती वैरी है। सभाग-विसभाग होने से विहिंसा दूरवर्ती वैरी है, इसलिये उससे निर्भय होकर करुणा करनी चाहिये। करुणा भी करेगा और हाथ आदि से पीड़ा भी पहुँचायेगा—यह सम्भव नहीं।

मुदिता ब्रह्मविहार का—"चक्षु विज्ञेय इष्ट······लोकामिष से संबद्ध रूपों के लाभ को लाभ के तौर पर देखने वाले को या पहले कभी प्राप्त अतीत=निरुद्ध, विकार प्राप्त हुए (रूपों को) देखने में सौमनस्य उत्पन्न होता है, जो इस प्रकार का सौमनस्य है—यह गेध-सम्बन्धी सौमनस्य कहा जाता है[3]।" आदि प्रकार से आया हुआ गेध-सम्बन्धी सौमनस्य सम्पत्ति देखने के सभाग

१. दीघ नि० ३।

२. मज्झिम नि० ३, ४, ७।

३. मज्झिम नि० ३, ४, ७

होने से समीपवर्ती वैरी है। सभाग-विसभाग होने से अरति दूरवर्ती वैरी है, इसलिये उससे निर्भय होकर मुदिता की भावना करनी चाहिये। प्रमुदित भी होगा और शून्य (=प्रान्त) शयनासनों में या अधिकुशल-धर्मों (=शमथ-विपश्यना) में उदास भी होगा—यह सम्भव नहीं।

उपेक्षा ब्रह्मविहार का—"चक्षु से रूप को देखकर बाल-मूढ़, पृथक्जन (क्लेश तथा मार्ग की) अवधि नहीं जीते हुए, विपाक नहीं जीते हुए, दोष नहीं देखने वाले, अश्रुतवान् पृथक्जन को उपेक्षा उत्पन्न होती है, जो इस तरह की उपेक्षा है, वह रूप का अतिक्रमण नहीं करती है, इसलिये वह उपेक्षा गेध (=काम-भोग) सम्बन्धी कही जाती है[1]।" आदि ढंग से आई हुई गेध-सम्बन्धी अज्ञान-उपेक्षा दोष-गुण का विचार न करने के तौर पर सभाग होने से समीपवर्ती वैरी है। सभाग विसभाग होने से राग-प्रतिघ दूरवर्ती वैरी हैं, इसलिये उनसे निडर होकर उपेक्षा करनी चाहिये। उपेक्षा भी करेगा और राग तथा प्रतिघ भी करेगा—यह सम्भव नहीं।

इन सबको ही करने की चाह आदि है, नीवरण इत्यादि का दबना मध्य है, अर्पणा अन्त है। प्रज्ञप्ति धर्म के अनुसार एक सत्त्व या बहुत से सत्त्व आलम्बन हैं। उपचार या अर्पणा के पाने पर आलम्बन बढ़ता है।

यह (आलम्बन को) बढ़ाने का क्रम है—जैसे चतुर किसान जोतने योग्य स्थान को घेर कर जोतता है, ऐसे पहले ही एक आवास (=मठ) का परिच्छेद करके वहाँ सत्त्वों पर "इस आवास में सत्त्व वैर रहित हों" आदि ढंग से मैत्री की भावना करनी चाहिये। वहाँ चित्त को मृदु, कर्मण्य करके दो आवासों का परिच्छेद करना चाहिये। उसके बाद क्रमशः तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नव, दस, एक गली (=रथ्या), आधा गाँव, गाँव, जनपद, राज्य, एक दिशा—ऐसे एक चक्रवाल तक। या उससे भी अधिक वहाँ-वहाँ सत्त्वों पर मैत्री-भावना करनी चाहिये। वैसे ही करुणा आदि। यही आलम्बन को बढ़ाने का क्रम है।

जैसे कसिणों का फल[2] आरुप्य (=अरूप ध्यान) हैं, समाधियों का फल **नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन** है, विपश्यना का फल फल-समापत्ति है, शमथ-विपश्यना का फल निरोध-समापत्ति है, ऐसे ही पहले के तीन ब्रह्मविहारों का फल यहाँ उपेक्षा ब्रह्मविहार है। जैसे कि खम्भों को न खड़ा कर लरही और धरन (= तुला संघाट) को नहीं रख कर आकाश में बातियाँ (=गोपानसी) नहीं रखी जा सकतीं, ऐसे पहले (ब्रह्मविहारों) में तृतीय ध्यान के बिना चौथे की भावना नहीं की जा सकती।

यहाँ प्रश्न हो सकता है—'क्यों ये मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ब्रह्मविहार कही जाती हैं? क्यों चार हैं? कौन सा इनका क्रम है? और अभिधर्म में क्यों अप्रमाण्य कही गई हैं?'

(प्रश्नोत्तर) कहा जा रहा है—श्रेष्ठ और निर्दोष होने से यहाँ ब्रह्मविहार होना जानना चाहिए। सत्त्वों पर सम्यक् प्रतिपत्ति होने से ये विहार श्रेष्ठ हैं। जैसे ब्रह्मा निर्दोष चित्त से विहार करते हैं, ऐसे (ही) इनसे युक्त योगी ब्रह्मा के समान होकर विहार करते हैं, इस प्रकार श्रेष्ठ और निर्दोष होने से ब्रह्मविहार कहे जाते हैं।

'क्यों चार हैं?' आदि प्रश्नों का यह उत्तर है—

विसुद्धि मग्गादिवसा चतस्सो, हितादिआकारवसा पनासं।
कमो, पवत्तन्ति च अप्पमाणे ता गोचरे येन तदप्पमञ्ञा॥

---

१. मज्झिम नि० ३, ४, ७

२. कसिण-भावना के पश्चात् ही आरुप्यों की प्राप्ति होती है, इसीलिये उन्हें कसिणों का फल कहा गया है।

[विशुद्धि के मार्ग आदि के अनुसार चार हैं, हित आदि के आकार के अनुसार इनका (यह) क्रम है, वे अप्रमाण्य गोचर में प्रवर्तित होती हैं, जिससे अप्रमाण्य हैं।]

इनमें, चूँकि मैत्री व्यापाद-बहुल के लिये, करुणा विहिंसा-बहुल के लिये, मुदिता अरति-बहुल के लिये उपेक्षा राग-बहुल के लिये विशुद्धि का मार्ग है और चूँकि भलाई करना, बुराई मिटाना, सम्पत्ति का अनुमोदन करना और पक्षपात आदि नहीं करना—(इन) के अनुसार सत्त्वों पर चार प्रकार से मनस्कार किया जाता है। और चूँकि जैसे माँ बच्चा, रोगी, जवान, अपने काम में लगे रहने वाले—चारों पुत्रों में से बच्चे का बड़ा होना चाहती है, रोगी को रोग से अच्छा होना चाहती है, जवान की यौवन-सम्पत्ति को बहुत दिनों तक बना रहना चाहती है, अपने कामों में लगे रहने वाले के प्रति एक प्रकार से अनुत्सुक होती है, वैसे अप्रमाण्य-विहारी को भी सब सत्त्वों पर मैत्री आदि के अनुसार होना चाहिये, इसलिये इस विशुद्धि के मार्ग आदि के अनुसार चार अप्रमाण्य हैं।

चूँकि इन चारों की भी भावना करने की इच्छा वाले को प्रथम भलाई के आकार से सत्त्वों पर लगना चाहिये और मैत्री भलाई के आकार से प्रवर्तित होने के लक्षण वाली है। उसके बाद ऐसे भलाई चाहने वाले सत्त्वों को दुःख से सताये जाते देख कर, सुन कर या कल्पना करके दुःख को दूर करने के आकार की प्रवृत्ति के अनुसार दुःख को दूर करने के लक्षण वाली करुणा है, ऐसे चाहे हुए हितों के होने और चाहे हुए दुःखों के मिटने पर, उनकी सम्पत्ति को देखकर सम्पत्ति के प्रमोदन के अनुसार, प्रमोद करने की लक्षण वाली मुदिता है। उसके पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव से उपेक्षा करके मध्यस्थ आकार से प्रतिपन्न होना चाहिये और मध्यस्थ आकार की प्रवृत्ति के लक्षण वाली उपेक्षा है, इसलिये इस हित आदि के आकार के अनुसार इनमें प्रथम मैत्री कही गई है, तब करुणा, मुदिता, उपेक्षा—यह क्रम जानना चाहिये।

चूँकि ये सभी अप्रमाण गोचर में प्रवर्तित होती हैं, क्योंकि अप्रमाण सत्त्व इनके गोचर हैं और एक सत्त्व का भी इतने प्रदेश में मैत्री आदि की भावना करनी चाहिये—ऐसे प्रमाण न ग्रहण कर सम्पूर्ण स्फरण करने के तौर पर प्रवर्तित हैं, इसलिये कहा है—

विसुद्धिमग्गादिवसा चतस्सो, हितादिआकारवसा पनासं।
कमो, पवत्तन्ति च अप्पमाणे ता गोचरे येन तदप्पमञ्ञा॥

ऐसे अप्रमाण्य गोचर होने से एक लक्षण वाली भी इनमें पहले की तीन त्रिक्-चतुष्क् ध्यान वाली ही हैं। क्यों? सौमनस्य के नहीं होने से। क्यों इनमें सौमनस्य नहीं होता है? दौर्मनस्य से उत्पन्न हुए व्यापाद आदि के निस्तार से। अन्त की शेष एक ध्यान वाली ही है। क्यों? उपेक्षा-वेदना से युक्त होने से। सत्त्वों पर मध्यस्थ हुई ब्रह्मविहार की उपेक्षा उपेक्षा-वेदना के बिना नहीं होती है।

किन्तु जो ऐसा कहे—चूँकि भगवान् द्वारा आठवें निपात में चारों भी अप्रमाण्यों में अविशेष रूप से कहा गया है—"भिक्षु, तू उसके पश्चात् इस स-वितर्क, स-विचार समाधि की भावना करना, अ-वितर्क-विचार मात्र की भी भावना करना। अ-वितर्क-अविचार की भी भावना करना। स-प्रीतिक की भी भावना करना, निष्प्रीतिक की भी भावना करना, सुख-युक्त की भी भावना करना, उपेक्षा-युक्त की भी भावना करना[1]।" इसलिये 'चारों भी अप्रमाण्य चतुष्क्-पञ्चक ध्यान वाले हैं' कहने वाला 'मत ऐसा कहो' कहने योग्य है।

---

१. अंगुत्तर नि० ८, ७, ४।

से ही बैठोगे। जहाँ-जहाँ ही सोओगे, आराम से ही सोओगे।" ऐसे अर्हत्व के अन्त तक उपदेश को समाप्त किया। इसलिये त्रिक्, चतुष्क् ध्यान वाले ही मैत्री आदि हैं। उपेक्षा शेष एक ध्यान-वाली ही जाननी चाहिये, अभिधर्म में वैसा ही विभाजन किया गया है।

ऐसे त्रिक्, चतुष्क् ध्यान के अनुसार और शेष एक ध्यान के अनुसार दो प्रकार से रहने वाले, इसका भी शुभ-परम[1] आदि के अनुसार परस्पर असदृश अनुभाव को जानना चाहिये। **हलिद्दवसन सूत्र**[2] में ये शुभ-परम आदि के भाव से मिलाकर कही गई हैं—"भिक्षुओ, मैं मैत्री चेतोविमुक्ति का शुभ-परम कहता हूँ।......भिक्षुओ, मैं करुणा-चेतोविमुक्ति का आकाशानन्त्यायतन परम (= अन्त) कहता हूँ।......भिक्षुओ, मैं मुदिता चेतोविमुक्ति को विज्ञानानन्त्यायतन परम कहता हूँ।......भिक्षुओ, मैं उपेक्षा चेतोविमुक्ति को आकिंचन्यायतन परम कहता हूँ।"

क्यों ये ऐसे कही गई हैं? उस-उसके उपनिश्रय (= प्रत्यय) होने के कारण। मैत्री के साथ विहरने वाले को सत्त्व अ-प्रतिकूल होते हैं। उसे अ-प्रतिकूल की परिचर्या से अ-प्रतिकूल परिशुद्ध नीले आदि रंगों में चित्त के ले जाने वाले को बिना परिश्रम के ही वहाँ चित्त चला जाता है। इस प्रकार मैत्री शुभ-विमोक्ष का उपनिश्रय होती है। उसके बाद नहीं। इसलिये शुभ-परम कही गई है।

करुणा के साथ विहरने वाले को डण्डे[3] से मारने आदि के रूप निमित्त से उत्पन्न प्राणी के दुःख को देखने वाले को करुणा के उत्पन्न होने से रूपों के दोष भली प्रकार विदित होते हैं। रूपों के दोष विदित होने से पृथ्वी-कसिण आदि में से किसी एक को उखाड़ कर रूपरहित आकाश में चित्त को ले जाने से बिना परिश्रम के ही वहाँ चित्त चला जाता है। इस प्रकार करुणा आकाशानन्त्यायतन का उपनिश्रय होती है, उसके बाद नहीं। इसलिये आकाशानन्त्यायतन परम कहा गया है।

मुदिता के साथ विहरने वाले को उस-उससे प्रमोद करने से उत्पन्न हुए प्रमोद वाले प्राणियों के विज्ञान को देखने वाले को मुदिता के उत्पन्न होने से विज्ञान को ग्रहण करने के लिए चित्त अभ्यस्त होता है। उसका चित्त क्रम से प्राप्त आकाशानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर आकाश-निमित्त के गोचर वाले विज्ञान में चित्त को ले जाने से बिना परिश्रम के ही वहाँ चला जाता है। इस प्रकार मुदिता विज्ञानन्त्यायतन का उपनिश्रय होती है, उसके बाद नहीं। इसलिये विज्ञा-नन्त्यायतन परम कही गई है।

उपेक्षा के साथ विहरने वाले को 'सब सुखी हों, दुःख से छुटकारा पायें या पाये हुए सुख से मत वियुक्त हों'—ऐसे मन में न करके सुख-दुःख आदि परमार्थ को ग्रहण करने से विमुख होने से अ-विद्यमान को ग्रहण करने से परिचित चित्त वाले का, परमार्थ से अविद्यमान को ग्रहण करने में दक्ष चित्त का क्रम से प्राप्त विज्ञानानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर स्वभाव से अविद्यमान परमार्थ हुए विज्ञान के अभाव में चित्त को ले जाने से बिना परिश्रम के ही वहाँ चित्त चला जाता है। इस प्रकार उपेक्षा आकिंचन्यायतन का उपनिश्रय होती है, उसके बाद नहीं। इसलिये आकिंचन्यायतन परम कहा गया है।

१. 'सुभन्त्वेव अधिमोक्खो होति' आदि—दीघ नि० ३,१०।

२. संयुत्त नि० ५१,१,१।

३. 'मुद्गर की मार आदि से'—सिंहल सन्नय।

ऐसे 'शुभ-परम' आदि के अनुसार इनके आनुभाव को जानकर, फिर सभी ये दान आदि सब कल्याणकारक धर्मों को पूर्ण करने वाली हैं—इसे जानना चाहिये। सत्त्वों पर भलाई के विचार से, सत्त्वों का दुःख सहन करने से, पायी हुई सम्पत्ति-विशेष की चिरस्थिति की इच्छा से और सब प्राणियों पर पक्षपात के अभाव से सम-प्रवर्तित चित्त के होने से महासत्त्व 'इसे देना चाहिये, इसे नहीं देना चाहिये' ऐसे विभाग न कर सब सत्त्वों के सुख के लिए दान देते हैं। उनके उपघात (=नाश) को त्यागते हुए शील को ग्रहण करते हैं। शील को परिपूर्ण करने के लिये नैष्क्रम्य करते हैं। सत्त्वों के हिताहित में अ-संमोह के लिए प्रज्ञा को परिशुद्ध करते हैं। सत्त्वों के हित-सुख के लिये नित्य उद्योग करते हैं। उत्तम वीर्य से वीर भाव को पाये हुए भी सत्त्वों के नाना प्रकार के अपराध को क्षमा करते हैं। 'तुम्हें यह देंगे, करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करके (उसके) विरुद्ध नहीं करते हैं। उसके हित-सुख के लिए अविचल अधिष्ठान वाले होते हैं। उन पर अविचल मैत्री से पहले करने वाले होते हैं। उपेक्षा से किये हुए का बदला नहीं चाहते हैं। ऐसे पारमिताओं को पूर्ण कर जब तक दशबल[1], चार वैशारद्य[2], छः असाधारण ज्ञान[3], अठारह सम्बुद्ध के धर्म-प्रभेद[4] वाले सभी कल्याणकारक धर्मों को परिपूर्ण करते हैं—ऐसे दान आदि सब कल्याणकारक धर्म को पूर्ण करने वाली यही होती हैं।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि-भावना
के भाग में ब्रह्मविहार-निर्देश नामक
नवाँ परिच्छेद समाप्त।

१. देखिये पृष्ठ २।
२. दे० पृष्ठ २।
३. दे० पटिसम्भिदामग्ग ४।
४. दे० हिन्दी मिलिन्द प्रश्न का परिशिष्ट।

दसवाँ परिच्छेद

आरुप्य-निर्देश

(१) आकाशानन्त्यायतन

ब्रह्मविहारों के पश्चात् कहे गये चार आरुप्यों में प्रथम आकाशानन्त्यायतन की भावना करने की इच्छा वाले को—"रूप के कारण डण्डा लेना, हथियार लेना, झगड़ा, लड़ाई, विवाद दिखाई देते हैं, किन्तु अरूपों में ये बिल्कुल नहीं हैं, वह इस प्रकार विचार कर रूपों के ही निर्वेद, विराग, निरोध के लिये प्रतिपन्न होता है।"[1] इस वचन से इन डण्डा लेना आदि और आँख, कान के रोग आदि के हजारों रोगों के अनुसार करज-रूप[2] में दोष देखकर उसके समतिक्रमण के लिये परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोड़कर नव पृथ्वी-कसिण आदि में से किसी एक में चतुर्थध्यान को उत्पन्न करता है।

यद्यपि वह रूपावचर के चतुर्थ-ध्यान के रूप में करज-रूप को अतिक्रमण कर लिया होता है, तथापि कसिण-रूप भी चूँकि उसका प्रतिभाग ही है, इसलिए उसे भी अतिक्रमण करना चाहता है।

कैसे ? जैसे साँप से डरने वाला आदमी जंगल में साँप द्वारा पीछा किये जाने पर तेजी से भाग कर गये हुए स्थान पर रेखा का चित्र, ताड़ का पत्ता, रस्सी या फटी हुई पृथ्वी के छेद को देखकर डरता ही है, त्रस्त होता ही है, उन्हें नहीं देखना चाहता है और जैसे अनर्थ करने वाले वैरी व्यक्ति के साथ एक गाँव में रहने वाला आदमी उसके द्वारा मारना, बाँधना, घर जलाना आदि से परेशान हुआ दूसरे गाँव को बसने के लिए जाकर वहाँ भी वैरी के समान रूप-शब्द, चाल-ढाल वाले आदमी को देखकर डरता ही है, त्रस्त होता ही है, उसे देखना नहीं चाहता है।

यह उपमा का मेल बैठाना है—उन पुरुषों का साँप या वैरी से परेशान होने के समय के समान भिक्षु का आलम्बन द्वारा करज-रूप से युक्त होने का समय है। उनके तेजी से भागने, दूसरे गाँव को जाने के समान भिक्षु का रूपावचर के चतुर्थ ध्यान द्वारा करज-रूप के अतिक्रमण करने का समय है। उनके भागे हुए स्थान और दूसरे गाँव में रेखा का चित्र, ताड़ का पत्ता आदि और वैरी के समान भिक्षु का कसिण-रूप भी उसके समान ही यह है—ऐसा विचार कर उसे भी अतिक्रमण करने की इच्छा का होना है। सूअर से मारे गये कुत्ते[3] और पिसाच[4] (= भूत) से डरने वाले आदमी की भी उपमायें यहाँ कहनी चाहिये।

---

१. मज्झिम नि० १, ३, ७।

२. करज-रूप का अर्थ है कर्मज-रूप।

३. एक कुत्ता वन में सूअर द्वारा मार खाते मात्र ही भागा। वह रात्रि में रूप के नहीं दिखाई देने के समय भात पकाने की हाड़ी को दूर से देखकर सूअर के ख्याल से डरा, त्रस्त हुआ भागा।

४. पिसाच से डरनेवाला आदमी रात्रिके समय अनजान देश में शिर टूटे हुए ताड़ के पेड़ को देखकर पिसाच के ख्याल से डरा, त्रस्त हुआ मूर्छित गिर पड़ा।

ऐसे वह, उस चतुर्थ-ध्यान के आलम्बन हुए कसिण रूप से निर्वेद प्राप्त हो चले जाने की इच्छा से पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करके अभ्यस्त रूपावचर के चतुर्थ-ध्यान से उठकर उस ध्यान में—यह मेरे द्वारा निर्वेद किये रूप को आलम्बन करता है, सौमनस्य (उसका) समीपवर्ती वैरी है, और शान्त-विमोक्ष से (वह) औदारिक (= स्थूल) है—ऐसे दोष देखता है। यहाँ अंगों की स्थूलता नहीं है। जिस प्रकार यह रूप दो अंगों वाला है, वैसे ही आरुप्य भी।

वह वहाँ ऐसे दोष देखकर चाह को त्याग आकाशानन्त्यायतन को शान्त के तौर पर मन में करके चक्रवाल के अन्ततक या जितना चाहता है, उतना कसिण को फैलाकर उससे स्पर्श किये हुए स्थान को 'आकाश' या 'अनन्त आकाश' मन में करते हुए कसिण को उघाड़ता है[1]।

कसिण को उघाड़ते हुए चटाई के समान न तो बटोरता है और न कड़ाही से पूड़ी के समान निकालता ही है, केवल उसका आवर्जन नहीं करता है, न मनस्कार करता है, न प्रत्यवेक्षण करता है। आवर्जन न करते हुए, मनस्कार न करते हुए और प्रत्यवेक्षण न करते हुए एकदम उससे स्पर्श किये हुए स्थान को "आकाश, आकाश" मनस्कार करते हुए कसिण को उघाड़ता है।

कसिण भी उघाड़े जाते हुए न तो उटता है और न उघड़ता है, केवल इसके मनस्कार न करने और "आकाश, आकाश" मनस्कार के कारण उघाड़ा गया होता है। कसिण से उघाड़ा गया आकाश मात्र जान पड़ता है। कसिण से उघाड़ा गया आकाश, कसिण का स्पर्श किया हुआ स्थान या कसिण का विवृत्त आकाश—यह सब एक ही है।

वह उस कसिण के उघाड़े हुए आकाश के निमित्त को "आकाश, आकाश" पुनः पुनः आवर्जन करता है। तर्क-वितर्क करता है। उसके बार-बार आवर्जन करने, तर्क-वितर्क करने वाले के नीवरण दब जाते हैं। स्मृति ठहरती है। उपचार से चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त को बार-बार आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है।

उसके ऐसे बार-बार आवर्जन, मनस्कार करते पृथ्वी-कसिण आदि में रूपावचर-चित्त के समान आकाश में आकाशानन्त्यायतन चित्त को पाता है। यहाँ भी पहले भाग में तीन या चार **जवन**[2] कामावचर वाले उपेक्षा-वेदना-युक्त ही होते हैं। चौथा या पाँचवाँ अरूपावचर। शेष पृथ्वी-कसिण में कहे गये ढंग से ही।

यह विशेष है—ऐसे अरूपावचर-चित्त के उत्पन्न होने पर वह भिक्षु, जैसे सवारी (=पालकी आदि), डेहरी (= पतोली), कूँड़े (= कुम्भी) आदि के मुखों में से किसी एक को नीले, पीले लाल, श्वेत या किसी प्रकार के कपड़े से बाँधकर देखने वाला आदमी वायु के वेग से या किसी अन्य से वस्त्र को हटाये जाने पर आकाश को ही देखत हुए खड़ा हो, ऐसे ही पहले कसिण-मण्डल को ध्यान की आँख से देखते हुए विहर कर "आकाश, आकाश" इस परिकर्म के मनस्कार से सहसा हटाने पर उस निमित्त में आकाश को ही देखते हुए विहरता है।

इतने तक यह—"**सब्बसो रूपसञ्ञानं समतिक्कमा पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा**

---

१. रूपावचर के चतुर्थ-ध्यान के आलम्बन हुए पृथ्वी-कसिण आदि कसिण-रूप को हटाता है—टीका।

२. देखिये, पृष्ठ २४।

नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा, अनन्तो आकासोति आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति।"

[सब प्रकार से रूप-संज्ञा के समतिक्रमण से, प्रतिघ संज्ञा के अस्त हो जाने पर नानत्व-संज्ञा को मन में न करने से आकाश अनन्त है—ऐसे आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त होकर विहरता है।]

—ऐसा कहा जाता है।

वहाँ, **सब्बसो**—सब प्रकार से या सबका। सम्पूर्ण का—अर्थ है। **रूप सञ्ञानं**—संज्ञा के रूप में कहे गये रूपावचर के ध्यानों और उनके आलम्बनों का। क्योंकि रूपावचर-ध्यान भी "रूप" कहा जाता है। "रूपी रूपों को देखता है"[1] आदि में उसका आलम्बन भी—"बाहर सुरूप-कुरूप रूपों को देखता है।"[1] आदि में। इसलिये यहाँ, रूप में संज्ञा, रूप-संज्ञा—ऐसे संज्ञा के रूप में कहे गये रूपावचर-ध्यान का नाम है। रूप इसकी संज्ञा है, इसलिये रूप-संज्ञा कहते हैं। रूप इसका नाम कहा गया है। ऐसे पृथ्वी-कसिण के भेद के तदालम्बन का यह नाम है—ऐसा जानना चाहिये।

समतिक्कमा—विराग और निरोध से। क्या कहा गया है? इनके कुशल, विपाक, क्रिया के अनुसार पन्द्रह ध्यानों का,[2] और इनके पृथ्वी-कसिण आदि के अनुसार नव[3] आलम्बन वाली रूप-संज्ञा का, सब प्रकार से शेष रहित विराग और निरोध से, विराग तथा निरोध के हेतु आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त होकर विहरता है। सब प्रकार से रूप-संज्ञा का अतिक्रमण न करने वाले से इसे प्राप्त होकर विहार नहीं किया जा सकता।

वहाँ चूँकि आलम्बन में विरक्त नहीं हुए की संज्ञा का समतिक्रमण नहीं होता है और समतिक्रमण की हुई संज्ञाओं में आलम्बन या समतिक्रमण होता ही है। इसलिये आलम्बन के समतिक्रमण को नहीं कह कर—"रूप संज्ञा कौन-सी है? रूपावचर समापत्ति को समापन्न, उत्पन्न, या दृष्ट-धर्म-सुख के साथ विहार करने वाले[4] की संज्ञा=संजानन=संजानन का होना—ये रूपसंज्ञा कही जाती हैं। इन रूप-संज्ञाओं को लाँघ गया होता है, व्यतिक्रमण = समतिक्रमण कर गया होता है, इसलिये कहा जाता है,—सब प्रकार से रूप-संज्ञा के समतिक्रमण से।"[5] ऐसे विभङ्ग में संज्ञाओं का ही समतिक्रमण कहा गया है। चूँकि आलम्बन के समतिक्रमण से ये समापत्तियाँ पाई जाती हैं, एक ही आलम्बन में प्रथम-ध्यान आदि के समान नहीं; इसलिये यह आलम्बन के समतिक्रमण के रूप में भी अर्थ का वर्णन किया गया है—ऐसा जानना चाहिये।

---

१. दीघ नि० २,३।

२. पाँच कुशल, पाँच विपाक और पाँच क्रिया, कुल १५ ध्यानों के अनुसार। विस्तारपूर्वक चौदहवें परिच्छेद में इनका वर्णन हुआ है। काम-भव में उत्पन्न हुए पृथक्जन और शैक्ष्य पाँचों भी कुशल ध्यानों का और अर्हत पाँचों भी क्रिया ध्यानों का अतिक्रमण कर आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त होते हैं, किन्तु रूप-भव में उत्पन्न विपाक के तौर पर प्रवर्तित उनके भवाङ्ग ध्यानों का भी अतिक्रमण करके इस समापत्ति को प्राप्त होते हैं।

३. परिच्छिन्न आकाश के अतिरिक्त नव-कसिण-संज्ञा का।

४. क्रिया-ध्यान समापन्न अर्हत की।

५. विभङ्ग।

पटिघ सञ्ञानं अत्थङ्गमा—चक्षु आदि वस्तुओं[1] और रूप आदि के आलम्बनों[2] के प्रतिघात (=संघर्ष) से उत्पन्न हुई संज्ञा प्रतिघ-संज्ञा है। रूप-संज्ञा आदि का यह नाम है। जैसे कहा है—"कौन-सी प्रतिघ-संज्ञा है? रूप-संज्ञा, शब्द संज्ञा, गन्ध-संज्ञा, रस-संज्ञा, स्पर्श-संज्ञा—ये प्रतिघ-संज्ञा कही जाती हैं।" पाँच कुशल-विपाकों, पाँच अकुशल-विपाकों—सब प्रकार से उन दसों भी प्रतिघ-संज्ञाओं के अस्त, प्रहाण, अनुत्पत्ति से। अप्रवर्ति (=जारी न रहना) करके—कहा गया है।

यद्यपि ये प्रथम ध्यान आदि प्राप्त (व्यक्ति) को भी नहीं होती हैं, क्योंकि उस समय पाँचों द्वारों[3] पर चित्त नहीं प्रवर्तित होता है। ऐसा होने पर भी, अन्यत्र प्रहीण हुए सुख-दुःखों का चतुर्थ-ध्यान के समान और सत्कायदृष्टि[4] आदि का तृतीय-मार्ग (=अनागामी-मार्ग) के समान इस ध्यान में उत्साह उत्पन्न करने के लिए इस ध्यान की प्रशंसा के रूप में इनका यहाँ वचन जानना चाहिये।

अथवा, यद्यपि वे रूपावचर (ध्यान) प्राप्त को नहीं होती हैं, तथापि न प्रहीण होने से नहीं होती हैं, क्योंकि विराग के लिए रूपावचर की भावना होती है और रूप के अधीन इनकी प्रवृत्ति है। यह भावना रूप-विराग के लिए होती है। इसलिए वे यहाँ प्रहीण हैं—कहना उचित है और न केवल कहना ही, प्रत्युत सर्वांशतः ऐसे धारण करना भी उचित है।

इसके पूर्व उनके नहीं प्रहीण होने से ही प्रथम-ध्यान प्राप्त के लिये—'शब्द काँटा है'[5] भगवान् ने ऐसा कहा है और यहाँ प्रहीण होने से ही अरूप-समापत्तियों को कम्पनरहित और शान्त[6]-विमोक्ष का होना कहा गया है। **आलार कालाम** अरूप (-समापत्ति) को प्राप्त हुआ पाँच सौ बैलगाड़ियों के पास से हो-होकर गई हुई को न तो देखा और न शब्द ही सुना[7]।

नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा—नानत्व गोचर में होने वाली संज्ञाओं के या नानत्व संज्ञाओं के। चूँकि ये—"कौन सी नानत्व संज्ञा हैं? (ध्यान) नहीं प्राप्त हुए मनोधातु[8]-युक्त की या मनोधातु-युक्त की संज्ञा=संजानन=संजानन का होना—ये नानत्व संज्ञायें कही जाती हैं।" ऐसे विभङ्ग में विभक्त करके कही गई हैं। यहाँ अभिप्रेत (ध्यान) नहीं प्राप्त की मनोधातु, मनोविज्ञान धातु[9] से युक्त की संज्ञा रूप, शब्द आदि भेदों के नानत्व, नाना स्वभाव वाले गोचर में प्रवर्तित होती हैं। चूँकि ये आठ कामावचर-कुशल संज्ञा, बारह अकुशल संज्ञा, ग्यारह कामावचर कुशल-विपाक-संज्ञा, दो अकुशल-विपाक-संज्ञा, ग्यारह कामावचर-क्रिया की संज्ञा—ऐसे चौवालीस[10] भी संज्ञा नानत्व, नाना स्वभाव वाली, परस्पर असदृश हैं, इसलिये नानत्व संज्ञा कही गई हैं।

---

१. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय—ये पाँच वस्तुयें हैं—दे० चौदहवाँ परिच्छेद।
२. रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श—ये पाँच आलम्बन हैं।
३. चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय—ये पाँच द्वार हैं।
४. आत्मा के होने के विश्वास को सत्काय-दृष्टि कहते हैं।
५. अंगुत्तर नि० १, ३, २।
६. दे० मज्झिम नि० १, १, ६।
७. दे० दीघ नि० २, ३।
८. दे० पृष्ठ २३।
९. दे० पृ० २३।
१०. द्विपञ्च-विज्ञान को छोड़कर शेष कामावचर के चित्त।

सब प्रकार से उन नानत्व संज्ञाओं को मन में नहीं करने से, आवर्जन नहीं करने से, मन में न लाने से, प्रत्यवेक्षण न करने से। चूँकि उनका आवर्जन नहीं करता है, उन्हें मन में नहीं लाता है, प्रत्यवेक्षण नहीं करता है, इसलिये कहा गया है।

चूँकि यहाँ पहले की रूप-संज्ञा और प्रतिघ-संज्ञा इस ध्यान से उत्पन्न हुए भव में भी नहीं रहती हैं, उस भव में इस ध्यान को प्राप्त होकर विहरने के समय की क्या बात? इसलिये उनके समतिक्रमण से, अस्त होने से—दोनों प्रकार से भी अभाव ही कहा गया है। किन्तु नानत्व संज्ञाओं में चूँकि आठ कामावचर की कुशल-संज्ञा, नव क्रिया-संज्ञा[1], दस अकुशल-संज्ञा—ये सत्ताइस संज्ञायें इस ध्यान से उत्पन्न हुए भव में रहती हैं, इसलिए उनके अ-मनस्कार से - कहा गया जानना चाहिये। वहाँ भी इस ध्यान को प्राप्त होकर विहार करते हुए उनके मनस्कार न करने से ही प्राप्त होकर विहरता है, किन्तु उन्हें मनस्कार करते हुए (ध्यान) को नहीं प्राप्त होता है।

संक्षेप से यहाँ, 'रूप-संज्ञा के समतिक्रमण से'—इससे रूपावचर के सारे धर्मों का प्रहाण कहा गया है। 'प्रतिघ-संज्ञाओं' के अस्त होने से, नानत्व संज्ञाओं के अ-मनस्कार से'—इससे कामावचर के सब चित्त-चैतसिकों का प्रहाण और अ-मनस्कार कहा गया जानना चाहिये।

अनन्तो आकासो—यहाँ, इसके उत्पन्न होने का अन्त और लय होने का अन्त नहीं जान पड़ता है, इसलिये अनन्त है। **आकाश**—कसिण से उघाड़ा गया आकाश कहा जाता है। यहाँ मनस्कार (= मन में करना) के रूप में भी अनन्त जानना चाहिये। उसी से विभङ्ग में कहा गया है—"उस आकाश में चित्त को रखता है स्थिर करता है, अनन्त को स्फरण करता है, इसलिये अनन्त आकाश कहा जाता है।"

आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति—यहाँ, इसका अन्त नहीं है, इसलिये अनन्त है। आकाश-अनन्त है इसलिये 'आकाशानन्त' है। 'आकाशानन्त' ही 'आकाशानन्त्य' है। उस आकाशानन्त्य को अधिष्ठान के अर्थ में इस ध्यान से युक्त का आयतन है, देवताओं के देवायतन के समान। इसलिये आकाशानन्त्यायतन है।

उपसम्पज्ज विहरति—उस आकाशानन्त्यायतन को पाकर, निष्पादन कर, उसके अनुरूप ईर्यापथ विहार से विहरता है।

(२) विज्ञानन्त्यायतन

विज्ञानन्त्यायतन की भावना करने की इच्छा वाले को पाँच प्रकार से आकाशानन्त्यायतन-समापत्ति में अभ्यस्त वशी वाला होकर 'यह समापत्ति रूपावचर ध्यान की समीपवर्ती वैरी है, विज्ञानन्त्यायतन के समान शान्त नहीं है—इस प्रकार आकाशानन्त्यायतन में दोष देखकर, वहाँ चाह को त्याग, विज्ञानन्त्यायतन को शान्त के तौर पर मनस्कार करके उस आकाश को स्फरण करके प्रवर्त विज्ञान को—"विज्ञान, विज्ञान" बार-बार आवर्जन करना चाहिये। मनस्कार करना चाहिये। प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। तर्क-वितर्क करना चाहिये, किन्तु "अनन्त है, अनन्त है" ऐसे मन में नहीं करना चाहिये[2]।

---

१. आठ कामावचर-सहेतुक क्रिया और एक मनोद्वारावर्जन।

२. चूँकि विज्ञान अनन्त आकाश में ही प्रवर्तित है, इसलिये पुनः 'अनन्त है' ऐसा मन में नहीं करना चाहिये।

उसके ऐसे उस निमित्त में बार-बार चित्त को चलाने से नीवरण दब जाते हैं, स्मृति ठहरती है। उपचार से चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त को पुनः पुनः आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है। उसके ऐसे करते हुए आकाश में आकाशानन्त्यायतन के समान आकाश के स्पर्श किये विज्ञान में विज्ञानन्त्यायतन-चित्त को प्राप्त करता है। अर्पणा को कहे हुए ढंग से ही जानना चाहिये।

इतने तक यह—"**सब्बसो आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्म, अनन्तं विञ्ञानन्ति विञ्ञानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति।**"[1]

[सब प्रकार से आकाशानन्त्यायतन को अतिक्रमण कर 'विज्ञान अनन्त है' ऐसे विज्ञानन्त्यायतन को प्राप्त होकर विहरता है]

—ऐसा कहा जाता है।

वहाँ, **सब्बसो**—इसे कहे गये ढंग से (जानना चाहिये)। **आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्म**—यहाँ, पहले कहे गये ही ढंग से ध्यान भी आकाशानन्त्यायतन है, और आलम्बन भी। आलम्बन भी पहले के अनुसार ही आकाशानन्त्य ही प्रथम आरुप्य का आलम्बन होने से देवों के देवायतन के समान अधिष्ठान के अर्थ में आयतन है, इसलिये आकाशानन्त्यायतन है। वैसे आकाशानन्त्य ही उस ध्यान की उत्पत्ति के हेतु—'**कम्बोज** घोड़ों का आयतन (= उत्पत्ति स्थान) है ; आदि के समान उत्पत्ति-देश के अर्थ में आयतन भी है, इसलिये आकाशानन्त्यायतन है। ऐसे यह, ध्यान और आलम्बन—दोनों को भी प्रवर्तित न होने देने और मन में न करने से समतिक्रमण करके ही, चूँकि इस विज्ञानन्त्यायतन को प्राप्त होकर विहरना चाहिये, इसलिये इन दोनों को भी एक में करके आकाशानन्त्यायतन को समतिक्रमण कर—यह कहा गया जानना चाहिये।

अनन्तं विञ्ञानं—वही, 'आकाश अनन्त है' ऐसे स्फरण करके प्रवर्तित विज्ञान। विज्ञान अनन्त है—ऐसे मन में करते हुए, कहा गया है। या मन में करने के तौर पर अनन्त है। वह उस आकाश के आलम्बन हुए विज्ञान को सर्वांशतः मनमें करते हुए 'अनन्त है' ऐसा मन में करता है।

जो कि विभङ्ग में कहा गया है—"विज्ञान अनन्त है" उसी आकाश को विज्ञान से स्पर्श किये हुए को मन में करता है, अनन्त को स्फरण करता है, इसलिए कहा जाता है कि विज्ञान अनन्त है। "वहाँ, विज्ञान से" उपयोग[2] (=कर्म-कारक) के अर्थ में करण जानना चाहिये। ऐसे ही **अट्ठकथाचार्य** उसके अर्थ का वर्णन करते हैं। अनन्त को स्फरण करता है, उसी आकाश को स्पर्श किये हुए विज्ञान को मन में करता है—कहा गया है।

विञ्ञानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति—यहाँ, इसका अन्त नहीं है, इसलिए अनन्त है, अनन्त ही आनन्त्य है। विज्ञान + आनन्त्य को विज्ञानानन्त्य न कहकर 'विज्ञानन्त्य' कहा है। यह यहाँ रूढ़ि शब्द है। वह विज्ञानन्त्य अधिष्ठान के अर्थ में इस ध्यान से युक्त धर्म का आयतन

१. विभङ्ग १३।

२. आलपन के साथ सातों विभक्तियाँ पदमाला और सद्नीति में इस प्रकार वर्णित हैं—

"पच्चत्तमुपयोगञ्च करणं सम्पदानियं।
निस्सक्कं सामिवचनं भुम्ममालपनट्ठमं॥

इस प्रकार उपयोग, द्वितीया विभक्ति है और करण तृतीया-विभक्ति।

है, देवों के देवायतन के समान। इसलिए विज्ञानन्त्यायतन कहा गया है। शेष पहले के समान ही।

(३) आकिंचन्यायतन

आकिंचन्यायतन की भावना करने की इच्छावाले को पाँच प्रकार से विज्ञानन्त्यायतन समापत्ति में अभ्यस्त वशी वाला होकर 'यह समापत्ति आकाशानन्त्यायतन की समीपवर्ती वैरी है, आकिंचन्यायतन के समान शान्त नहीं है—ऐसे विज्ञानन्त्यायतन में दोष को देखकर वहाँ चाह को त्याग आकिंचन्यायतन को शान्त के तौर पर मन में करके उसी विज्ञानन्त्यायन के आलम्बन हुए आकाशानन्त्यायतन के विज्ञान का अभाव, शून्यता, खालीपन मन में करना चाहिये।

कैसे ? उस विज्ञान को मन में न करके "नहीं है, नहीं है" "शून्य है, शून्य है" या "विवर्त (=खाली) है, विवर्त है"—ऐसे पुनः पुनः आवर्जन करना चाहिये। मनस्कार करना चाहिये। प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। तर्क-वितर्क करना चाहिये।

उसके ऐसे उस निमित्त में चित्त को चलाने से नीवरण दब जाते हैं। स्मृति ठहरती है। उपचार से चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त को पुनः पुनः आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है। उस ऐसे करने वाले का आकाश में स्पर्श किये हुए महद्गत विज्ञान में विज्ञानन्त्यायतन के समान उसी के आकाश को स्फरण करके प्रवर्तित महद्गत विज्ञान का शून्य, नहीं, खाली होने में आकिंचन्यायतन-चित्त को पाता है और अर्पणा का ढंग कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये।

यह विशेषता है—उसके अर्पणा-चित्त के उत्पन्न होने पर वह भिक्षु जैसे कि आदमी बैठक (= मण्डलमाल) आदि में किसी काम से एकत्र हुए भिक्षु-संघ को देखकर कहीं जाकर एकत्र होने के काम के समाप्त हो जाने पर भिक्षुओं के उठकर चले जाने पर, द्वार पर खड़ा होकर फिर उस स्थान को देखते हुए शून्य ही देखता है, खाली ही देखता है, उसे ऐसा नहीं होता—'इतने भिक्षु मर गये या दिशाओं में चले गये, प्रत्युत यह शून्य है, यह खाली है—ऐसे नास्ति-भाव को ही देखता है। ऐसे ही पहले आकाश में प्रवर्तित विज्ञान को विज्ञानन्त्यायतन-ध्यान के भिक्षु से देखते हुए विहर कर "नहीं है,नहीं है" आदि परिकर्म के मनस्कार से उस विज्ञान के अन्तर्हित हो जाने पर, उसके अन्तर्हित हुए, अभाव को ही देखता हुआ विहरता है।

इतने से यह—"**सब्बसो विञ्ञानञ्चायतनं समतिक्कम्म, नत्थि किञ्चीति आकिञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति।**"

[सब प्रकार से विज्ञानन्त्यायतन को समतिक्रमण कर 'कुछ नहीं है' ऐसे आकिंचन्यायतन को प्राप्त होकर विहरता है।]

—ऐसा कहा जाता है।

यहाँ भी **सब्बसो**—इसे कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये। **विञ्ञानञ्चायतन**—यहाँ भी पहले कहे ढंग से ही ध्यान भी विज्ञानन्त्यायतन है, आलम्बन भी। आलम्बन भी पहले के अनुसार ही वह विज्ञानन्त्य है और द्वितीय अरूप ध्यान का आलम्बन होने से देवों के देवायतन के समान अधिष्ठान के अर्थ में आयतन भी है, इसलिये विज्ञानन्त्यायतन है। वैसे (ही) वह विज्ञानन्त्य है और उसी ध्यान की उत्पत्ति का हेतु होने से 'कम्बोज घोड़ों का आयतन है' आदि के समान उत्पत्ति-देश के अर्थ में आयतन भी है, इसलिये विज्ञानन्त्यायतन है। इस प्रकार यह

ध्यान और आलम्बन—दोनों को भी प्रवर्तित न होने देने और मन में न करने से समतिक्रमण करके ही, चूँकि इस आकिंचन्यायतन को प्राप्त होकर विहरना चाहिए, इसलिए इन दोनों को भी एक में करके विज्ञानन्त्यायतन को समतिक्रमण कर—यह कहा गया जानना चाहिए।

नत्थि किञ्चि—"नहीं है, नहीं है" 'शून्य है, शून्य है' 'खाली है, खाली है'—ऐसे मन में करते हुए—कहा गया है। जो विभङ्ग में कहा गया है—"कुछ नहीं है का तात्पर्य है—उसी विज्ञान को अभाव कर देता है, विभाव कर देता है, अन्तर्धान कर देता है, कुछ नहीं है—ऐसा देखता है, इसलिए कहा जाता है कि 'कुछ नहीं है'।" वह यद्यपि क्षय (= नाश) के तौर पर विचार करने (= सम्मर्षण) के समान कहा गया है, तथापि इसका अर्थ ऐसे ही जानना चाहिए। उस विज्ञान को आवर्जन नहीं करते, मन में नहीं करते, प्रत्यवेक्षण नहीं करते, केवल इसके नहीं होने, शून्य, खाली होने को ही मन में करते हुए अभाव करता है, विभाव करता है, अन्तर्धान करता है—ऐसा कहा गया है, दूसरे प्रकार से नहीं।

आकिञ्चञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरति—यहाँ, उसका किंचन नहीं है, इसलिए वह अकिंचन है, अन्ततोगत्वा भङ्ग मात्र भी इसका शेष नहीं है—ऐसा कहा गया है। अकिंचन का भाव आकिंचन्य है। आकाशानन्त्यायतन के विज्ञान के न होने का यह नाम है। आकिंचन्य अधिष्ठान के अर्थ में इस ध्यान का आयतन है, देवों के देवायतन के समान; इसलिए आकिंचन्यायतन कहा जाता है। शेष पहले के समान ही।

(४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की भावना करने की इच्छा वाले को पाँच प्रकार से आकिंचन्यायतन-समापत्ति में अभ्यस्त वशी वाला होकर 'यह समापत्ति विज्ञानन्त्यायतन की समीपवर्ती वैरी है और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के समान शान्त नहीं है या "संज्ञा रोग है, संज्ञा फोड़ा है, संज्ञा काँटा है,…यह शान्त है, यह उत्तम है, जो कि नैवसंज्ञानासंज्ञा है।" ऐसे आकिंचन्यायतन में दोष और ऊपर आनृशंस को देखकर आकिंचन्यायतन में चाह को त्याग कर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को शान्त के तौर पर मन में करके, उसी अभाव को आलम्बन करके प्रवर्तित हुई आकिंचन्यायतन-समापत्ति 'शान्त है, शान्त है' ऐसे बार-बार आवर्जन करना चाहिये। मन में करना चाहिये। प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। तर्क-वितर्क करना चाहिये।

उसके ऐसे निमित्त में बार-बार मन को चलाने से नीवरण दब जाते हैं। स्मृति ठहरती है। उपचार से चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त को पुनः पुनः आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है, उस ऐसे करने वाले का विज्ञान के नहीं होने पर आकिंचन्यायतन के समान, आकिंचन्यायतन समापत्ति वाले चारों स्कन्धों में नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-चित्त को पाता है। यहाँ अर्पणा का ढंग कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये।

इतने से यह—"**सब्बसो आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम्म नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरति**।"

[सब प्रकार से आकिंचन्यायतन को समतिक्रमण कर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हो विहरता है।]

—ऐसा कहा जाता है।

यहाँ भी **सब्बसो**—इसे कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये।

आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम—यहाँ भी पहले कहे गये ढंग से ही ध्यान भी, आकिंचन्यायतन है, आलम्बन भी। आलम्बन भी पहले प्रकार से ही वह आकिंचन्य है और तृतीय अरूप ध्यान का आलम्बन होने से, देवों के देवायतन के समान अधिष्ठान के अर्थ में आयतन भी है, इसलिए आकिंचन्यायतन है। वैसे (ही) वह आकिंचन्य ही उस ध्यान की उत्पत्ति के कारण 'कम्बोज घोड़ों का आयतन है' आदि के समान उत्पत्ति-देश के अर्थ में आयतन भी है, इसलिए आकिंचन्यायतन कहा जाता है। ऐसे ही यह ध्यान और आलम्बन—दोनों को भी प्रवर्तित न होने देने और मन में न करने से समतिक्रमण करके ही, चूँकि इस नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त होकर विहरना चाहिये, इसलिए इन दोनों को भी एक में करके आकिंचन्यायतन को समतिक्रमण कर—यह कहा गया जानना चाहिये।

नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं—यहाँ, जिस संज्ञा के होने से वह नैवसंज्ञानसंज्ञायतन कहा जाता है। जैसे प्रतिपन्न होने वाले को वह संज्ञा होती है, उसे दिखलाते हुए विभङ्ग में—"नैवसंज्ञी-नासंज्ञी" को उद्धृत कर "उसी आकिंचन्यायतन को शान्त के तौर पर मन में करता है, संस्कारों से अवशेष समापत्ति की भावना करता है, इसलिए नैवसंज्ञीनासंज्ञी कहा जाता है।" ऐसा कहा गया है।

सन्ततो मनसि करोति—यह कैसी शान्त समापत्ति है! जहाँ कि नास्ति-भाव (=न होना) को भी आलम्बन करके रहेगा—ऐसे शान्त आलम्बन के होने से उसे शान्त है—मन में करता है। यदि शान्त के तौर पर मन में करता है तो कैसे समतिक्रमण होता है? नहीं प्राप्त होने की इच्छा से। यद्यपि वह शान्त के तौर पर मन में करता है, तथापि उसे "मैं इसका आवर्जन करूँगा, प्राप्त होऊँगा, अधिष्ठान करूँगा, उठूँगा, प्रत्यवेक्षण करूँगा—यह आभोग=समन्नाहार=मनस्कार नहीं होता है। क्यों? आकिंचन्यायतन से नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन के शान्ततर, उत्तमत्तर होने से।

जैसे राजा महाराजा के अनुभाव से हाथी पर चढ़कर नगर की गली में घूमते हुए दन्तकार आदि शिल्पियों को एक वस्त्र को मजबूती से पहन कर, एक से शिर को लपेट कर, दाँत के चूर्ण आदि से भरे हुए शरीर वाले, अनेक दाँत के प्रभेद आदि शिल्पों को करते हुए देखकर "क्या ही खूब दक्ष आचार्य हैं, इस प्रकार के भी शिल्प (=कारीगरी) बनायेंगे!" ऐसे उनकी दक्षता पर प्रसन्न होता है, उसे ऐसा नहीं होता है—"बहुत अच्छा कि मैं राज्य को त्याग कर ऐसा शिल्पी बनूँ।" सो किस कारण? राज्यश्री के महा-आनृशंस होने से। वह शिल्पियों को समतिक्रमण करके ही जाता है। ऐसे ही यह यद्यपि उस समापत्ति को शान्त के तौर पर मन में करता है, किन्तु मैं इस समापत्ति को आवर्जन करूँगा, प्राप्त होऊँगा, अधिष्ठान करूँगा, उठूँगा, प्रत्यवेक्षण करूँगा—ऐसा यह आभोग······मनस्कार नहीं होता है।

वह उसे शान्त के तौर पर मन में करते हुए पहले कहे गये के अनुसार अत्यन्त सूक्ष्म अर्पणा-प्राप्त संज्ञा को पाता है, जिससे नैवसंज्ञी-नासंज्ञी होता है, संस्कारों से अवशेष समापत्ति की भावना करता है—ऐसा कहा जाता है। **संस्कारों से अवशेष समापत्ति की**—अत्यन्त सूक्ष्म भाव को प्राप्त हुई संस्कार वाली चतुर्थ आरुप्य-समापत्ति की।

अब, जो वह ऐसे संज्ञा की प्राप्ति से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा जाता है, उसे अर्थ से दिखलाने के लिए—"नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का तात्पर्य है नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त, उत्पन्न

था दृष्ट-धर्म-सुख विहारी के चित्त-चैतसिक धर्म ।" कहा गया है। उनमें, यहाँ प्राप्त हुए (योगी) के चित्त-चैतसिक धर्म अभिप्रेत हैं।

यहाँ शाब्दिक अर्थ—स्थूल-संज्ञा के अभाव से और सूक्ष्म संज्ञा के होने से इससे युक्त-धर्म (=स्वभाव) के ध्यान की न तो संज्ञा है, और न असंज्ञा, इसलिए नैवसंज्ञानासंज्ञा है। वह नैवसंज्ञानासंज्ञा ही मनायतन और धर्मायतन से युक्त होने से आयतन भी है, इसलिये नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है।

अथवा, जो यहाँ संज्ञा है, वह भली प्रकार संज्ञा का काम करने के लिए असमर्थ होने से न तो संज्ञा है और संस्कार के अवशेष सूक्ष्म भाव से विद्यमान होने से न असंज्ञा है, इसलिए नैवसंज्ञानासंज्ञा है। वह नैवसंज्ञानासंज्ञा ही शेष धर्मों के अधिष्ठान के अर्थ में आयतन भी है, इसलिए नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। यहाँ केवल संज्ञा ही ऐसी नहीं है, बल्कि वेदना भी नैववेदनानावेदना है। चित भी नैवचित्तनाचित्त है। स्पर्श भी नैवस्पर्शनास्पर्श है। इसी प्रकार शेष युक्त धर्मों में संज्ञा के शीर्ष से यह देशना (=धर्मोपदेश) की गई है—ऐसा जानना चाहिये।

पात्र मलने के तेल आदि की उपमाओं से इस अर्थका विभावन करना चाहिये—

तेल की उपमा

श्रामणेर ने तेल से पात्र को मलकर रखा। यवागु पीने के समय स्थविर ने उसे "पात्र लाओ" कहा। उसने "भन्ते, पात्र में तेल है" कहा। उसके बाद "श्रामणेर, तेल लाओ, फोंफी (=नाली) में भर लूँगा।" ऐसा कहने पर "भन्ते, तेल नहीं है।" कहा—

वहाँ, जैसे भीतर होने से यवागु के साथ अकप्य होने के कारण 'तेल है' ऐसा कहा जाता है और फोंफी को भरने आदिके लिए 'नहीं है'—ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार वह भी संज्ञा भली प्रकार संज्ञा का नाम करने के लिए असमर्थ होने से संज्ञा नहीं है। अवशेष संस्कारोंके सूक्ष्म-भाव से विद्यमान होने से न-असंज्ञा कही जाती है।

यहाँ संज्ञा का क्या काम है? आलम्बन को जानना और विपश्यना के विषय-भाव को जाकर निर्वेद उत्पन्न करना। सुखोदक (=हाथमुख आदि धोने के लिए गर्म करके ठंडा किया हुआ जल) में अग्निधातु के जलाने के समान, यह जानने का काम भी अच्छी तरह नहीं कर सकती है। शेष समापत्तियों में से संज्ञा के समान विपश्यना के भाव को जाकर निर्वेद उत्पन्न कर भी नहीं सकती है।

अन्य स्कन्धों[1] में अभिनिवेश नहीं किया हुआ[2] भिक्षु नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-स्कन्धमें विचार करके निर्वेद पाने के लिए समर्थ नहीं है, और भी—आयुष्मान् सारिपुत्र स्वभाव से ही विपश्यना करने वाले महाप्रज्ञावान् थे, सारिपुत्र के समान ही (कर) सकेगा। वह भी "ऐसे ये धर्म नहीं होकर होते हैं, होकर विनाश को प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार कलाप (=समूह) के विचार द्वारा ही; अनुपद धर्म की विपश्यना[3] द्वारा नहीं। इस प्रकार यह समापत्ति सूक्ष्म भाव को प्राप्त हुई है।

१. प्रथम-ध्यान आदि स्कन्धों में।
२. विपश्यना का अभ्यास नहीं किया हुआ।
३. स्पर्श आदि को अलग लेकर स्वरूप से अनित्य आदि के अनुसार विचार करना।

पानी की उपमा

जैसे पात्र मलनेके तेल की उपमा से, ऐसे ही रास्ते के पानी की उपमा से भी इस अर्थ को प्रगट करना चाहिये। रास्ते में जाते हुए स्थविर के आगे जाता हुआ श्रामणेर थोड़ा पानी देख-कर "भन्ते, पानी है, जूते उत्तार लीजिये।" कहा। उसके बाद स्थविर ने—"यदि पानी है तो स्नान करने का कपड़ा (=स्नान शाटक) लाओ, स्नान करूँगा।" कहने पर "भन्ते, नहीं है।" कहा।

वहाँ, जैसे जूते के भींगने के अर्थ में पानी है—कहा जाता है और स्नान करने के अर्थ में नहीं है। ऐसे भी वह भली प्रकार संज्ञा का काम करने के लिए अ-समर्थ होने से संज्ञा नहीं है। अवशेष संस्कारों के सूक्ष्म होने से विद्यमान होने से न अ-संज्ञा होती है।

न केवल इनसे ही, अन्य भी अनुरूप उपमाओं से यह अर्थ प्रगट करना चाहिये। **उपसम्पज्ज विहरति**—इसे कहे गये ढंग से ही जानना चाहिये।

प्रकीर्णक कथा

असदिसरूपो नाथो, आरुप्पं यं चतुब्बिधं आह।
तं इति ञत्वा तस्मिं, पकिण्णककथापि विञ्ञेय्या॥

[असदृश रूप वाले नाथ (=भगवान्) ने जो चार प्रकार के अरूपों को कहा है, उसे इस प्रकार जानकर उसमें प्रकीर्णक-कथा भी जाननी चाहिये।]

अरूप-समापत्तियाँ—

आरम्मणातिक्कमतो चतस्सोपि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतासं न इच्छन्ति विभाविनो॥

[आलम्बनों के अतिक्रमण से ये चारों भी होती हैं, पण्डित लोग इनके अङ्ग के अतिक्रमण को नहीं मानते हैं।]

इनमें रूप निमित्त के अतिक्रमण से पहली, आकाश के अतिक्रमण से दूसरी, आकाश में प्रवर्तित विज्ञान के अतिक्रमण से तीसरी, आकाश में प्रवर्तित विज्ञान के नहीं होने से चौथी—सब प्रकार से आलम्बन के अतिक्रमण से चारों भी ये अरूप समापत्तियाँ होती हैं—ऐसा जानना चाहिए। इनके अंगों का अतिक्रमण पण्डित लोग नहीं मानते हैं। रूपावचर समापत्तियों के समान इनमें अङ्गों का अतिक्रमण नहीं है। इन सब में ही उपेक्षा, चित्त की एकाग्रता—दो ही ध्यान के अङ्ग होते हैं। ऐसा होने पर भी—

सुप्पणीततरा होन्ति पच्छिमा पच्छिमा इध।
उपमा तत्थ विञ्ञेय्या पासादतल-साटिका॥

[यहाँ पिछली-पिछली अत्यन्त उत्तमतर होती हैं, उनमें प्रासाद-तल और शाटिका (=वस्त्र) की उपमा जाननी चाहिये।]

जैसे चार मंजिलवाले प्रासाद के निचले तल में दिव्य नाच, गीत, बाजा, सुगन्धि, गन्ध, माला, भोजन, शयन, वस्त्र आदि से उत्तम पाँच काम-भोग की चीजें तैयार हों, दूसरे में इससे उत्तमतर। तीसरे में उससे उत्तमतर। चौथे में सबसे उत्तम। वहाँ यद्यपि वे चारों भी

प्रासाद के तल ही हैं; उनके प्रासाद-तल के होने में विशेषता नहीं है, पाँच काम-भोग की समृद्धि के अनुसार निचले-निचले से ऊपरी-ऊपरी उत्तमतर होता है और जैसे एक स्त्री द्वारा काते मोटे, पतले, नर्मतर, नर्मतम सूतों के चार, तीन, दो, एक चपत के वस्त्र हों, लम्बाई और चौड़ाई में बराबर प्रमाणवाले। उनके प्रमाण से विशेषता नहीं है। सुख-स्पर्श महीन और कीमती होने से पहले-पहले से पिछले-पिछले उत्तमतर होते हैं। ऐसे ही यद्यपि इन चारों में भी उपेक्षा, चित्त की एकाग्रता—ये दो ही अंग होते हैं, किन्तु विशेष भावना से उनके अङ्गों के उत्तम, उत्तमतर होने से पिछले-पिछले अत्यन्त उत्तमतर होते हैं—ऐसा जानना चाहिये। ऐसे क्रमशः उत्तम-उत्तम होनेवाली ये—

> असुचिम्हि मण्डपे लग्गो एको तं निस्सितो परो।
> अञ्ञो बहि अनिस्साय तं तं निस्साय चापरो॥
> ठितो, चतूहि एतेहि पुरिसेहि यथाक्कमं।
> समानताय ञातब्बा चतस्सोपि विभाविना॥

[अशुचिवाले मण्डप में एक आदमी लग कर खड़ा हुआ हो, उससे लगकर दूसरा, अन्य बाहर बिना उससे लगा हुआ और फिर उससे लगकर दूसरा खड़ा हो—इन चारों आदमियों की क्रमशः समानता से चारों भी (समापत्तियाँ) को पण्डित द्वारा जानना चाहिये।]

यह अर्थ-योजना है—अशुचि के स्थान में एक मण्डप था। एक आदमी आकर उस अशुचि से घृणा करते हुए उस मण्डप को हाथ से सहारा कर वहाँ उससे लगा हुआ सटे के समान होकर खड़ा हो गया। तब दूसरा आकर उस मण्डप में लगे हुए आदमी के सहारे। दूसरा आकर सोचा—जो यह मण्डप से लगा हुआ है और जो उसके सहारे है, ये दोनों खराब हो गये हैं, मण्डप के गिरने पर इनका गिरना ध्रुव है। बहुत अच्छा कि मैं बाहर ही खड़ा होऊँ। वह उसके सहारे खड़े हुए से न सहारा कर बाहर ही खड़ा हुआ। तब दूसरा आकर मण्डप से लगे हुए और उसके सहारे खड़े हुए के अ-क्षेम-भाव (=अ-रक्षित) को सोचकर बाहर खड़े हुए को भली प्रकार खड़ा हुआ मानकर उसके सहारे खड़ा हो गया।

वहाँ, अशुचि के स्थान में मण्डप के समान कसिण के उघाड़े हुए आकाश को जानना चाहिये। अशुचि की जिगुप्सा से मण्डप से लगे आदमी के समान रूप-निमित्त जिगुप्सा कर आकाश का आलम्बन आकाशानन्त्यायतन है। मण्डप से लगे आदमी के सहारे खड़े हुए के समान आकाश के आलम्बन आकाशानन्त्यायतन के प्रति प्रवर्तित हुआ विज्ञानन्त्यायतन। उन दोनों के भी अ-क्षेम होने को सोचकर सहारा नहीं कर उस मण्डप से लगे बाहर खड़े हुए के समान आकाशानन्त्यायतन को आलम्बन कर उस आलम्बन के अभाव में आकिञ्चन्यायतन। मण्डप से लगे हुए और उसका सहारा किये हुए (आदमी) के अ-क्षेम होने को सोचकर बाहर खड़ा हुआ भली-भाँति खड़ा है—ऐसा मानकर उसके सहारे खड़े हुए के समान विज्ञान के अभाव रूपी बाहर प्रदेश में स्थित आकिञ्चन्यायतन के प्रति प्रवर्तित नैवसंज्ञानासंज्ञायतन जानना चाहिये। ऐसे प्रवर्तित हुआ—

> आरम्मणं करोतेव अञ्ञाभावेन तं इदं।
> दिट्ठदोसम्पि राजानं वुत्तिहेतु जनो यथा॥

[वह (=नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-ध्यान) अन्य (आलम्बन के) न होने से उसे आलम्बन करता ही है, जैसे आदमी जीविका के कारण राजाओं के दोष को देखकर भी।]

यह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन, विज्ञानन्त्यायतन समापत्ति का समीपवर्ती वैरी है। ऐसे दोष देखकर भी उस अकिञ्चन्यायतन को दूसरे आलम्बन के अभाव से आलम्बन करता ही है। किसके समान ? दोष देखे गये राजा का भी जीविका के कारण जैसे आदमी। जैसे संयमरहित काय, वचन, मन से कठोर चाल-ढालवाले सब दिशाओं के मालिक किसी राजा को 'यह कठोर चाल-ढालवाला है' ऐसे दोष देखकर भी अन्यत्र वृत्ति न पाते हुए लोग वृत्ति के कारण (उसके) सहारे रहते हैं। ऐसे उस आकिंचन्यायतन में दोष को देखकर भी यह अन्य आलम्बन को नहीं पाते हुए नैवसंज्ञानासंज्ञा को आलम्बन करता ही है। और ऐसा करते हुए—

आरूळ्हो दीघनिस्सेणिं यथा निस्सेणिबाहुकं।
पब्बतञ्च आरूळ्हो यथा पब्बतमत्थकं॥
यथा वा गिरिमारूळ्हो अत्तनो येव जण्णुकं।
ओलुब्भति तथेवेतं झानमोलुब्भ वत्तती'ति॥

[लम्बी सीढ़ी पर चढ़ा हुआ जैसे सीढ़ी की भुजाओं का, पर्वत[1] की चोटी पर चढ़ा हुआ जैसे पर्वत के सिरे का, अथवा गिरि[2] पर चढ़ा हुआ अपने ही घुटने का सहारा करता है। वैसे ही यह (तृतीय आरुप्य)-ध्यान के सहारे प्रवर्तित होता है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में समाधि-भावना
के भाग में आरुप्यनिर्देश नामक
दसवाँ परिच्छेद समाप्त।

१. मिट्टी का पर्वत या मिश्र-पर्वत।
२. शिलामय पर्वत।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

समाधि-निर्देश

(१) आहार में प्रतिकूल-संज्ञा

अब आरुप्य के अनन्तर 'एक संज्ञा' इस प्रकार कही गई आहार में प्रतिकूल-संज्ञा का भावना-निर्देश आ गया।

वहाँ, आहरण करता है, इसलिये आहार कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—(१) कबलीकार (= कौर करके खाने योग्य) आहार (२) स्पर्शाहार (३) मनोसञ्चेतना आहार (४) विज्ञानाहार।

कौन क्या आहरण करता है? कबलीकार-आहार ओजष्टमकरूप[1] को लाता है। स्पर्शाहार तीनों वेदनाओं को लाता है। मनोसञ्चेतनाहार तीनों भवों में प्रतिसन्धि को लाता है। विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण नामरूप को लाता है।

उनमें, कबलीकार-आहार में चाह (= रस-तृष्णा) का भय है। स्पर्शाहार में एक पास होने (= उपगमन) का भय है।[2] मनोसञ्चेतना-आहार में उत्पत्ति का भय है। विज्ञानाहार में प्रतिसन्धि का भय है। ऐसे उन भय-युक्त बातों में कबलीकार आहार को पुत्र के मांस की उपमा से स्पष्ट करना चाहिये, स्पर्शाहार को चमड़े रहित गाय की उपमा से, मनोसञ्चेतना आहार को अंगार के गड्ढे की उपमा से और विज्ञानाहार को तीन सौ बर्छी से मारे गये (चोर) की उपमा से।[3]*

इन चारों आहारों में भोजन किया, पिया, खाया, जीभ से चाटा (आदि) प्रभेद वाला कबलीकार आहार ही इस अर्थ में आहार अभिप्रेत है। उस आहार में प्रतिकूल के आकार से ग्रहण करने के तौर पर उत्पन्न हुई संज्ञा आहार में प्रतिकूल-संज्ञा है।

उस आहार में प्रतिकूल-संज्ञा की भावना करने की इच्छा वाले को कर्मस्थान को सीख कर, सीखे हुए से एक पद को भी अशुद्ध नहीं करते, एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो भोजन किये, पिये, खाये, चाटे प्रभेद वाले कबलीकार आहार में दस प्रकार से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। जैसे—गमन से, पर्येषण (= खोज) से, परिभोग से, आशय से,

---

१. चारों महाभूत और गन्ध, वर्ण, रस, ओज—ये आठ ओजष्टमक-रूप कहे जाते हैं।

२. आलम्बन के साथ एक होने का भय; आलम्बन के साथ होने को उपगमन-भय कहा जाता है—सिंहल सन्नय।

३. शुद्ध पाठ है—'तिसत्तिसताहतूपमेना' ति'। विभिन्न पाठों के रहते हुए भी पपञ्चसूदनी (१, १, ९) तथा सिंहल सन्नय में यही पाठ आया है, जो युक्त है।

* इन उपमाओं की व्याख्या के लिए देखिये, पपञ्चसूदनी १, १, ९ में आहार का वर्णन तथा संयुत्त निकाय १२, ७, ३।

निधान से, अपरिपक्व से, परिपक्व से, फल से, निष्यन्द (= इधर-उधर बहना) से, संम्रक्षण (= लिपटना) से।

गमन

वहाँ, **गमन से**—ऐसे महा-अनुभाव वाले शासन में प्रव्रजित हुए (योगी) को सारी रात बुद्ध-वचन का पाठ (= स्वाध्याय) या श्रमण धर्म करके, समय से ही उठकर चैत्य, बोधि-(वृक्ष) के आँगन के करने योग्य व्रत को करके परिभोग करने के पानी को ला, रख कर परिवेण (=आँगन) को झाड़ कर शरीर-कृत्य को कर आसन पर जा, बीस-तीस बार कर्मस्थान को मन में करके उठ कर पात्र-चीवर को ले जन-सम्बाध (= विघ्न) से रहित, प्रविवेक-सुख वाले, छाया-जल से सम्पन्न, पवित्र, शीतल, रमणीय प्रदेश वाले तपोवनों को छोड़ आर्य विवेक की प्रीति की इच्छा न करके श्मशान की ओर जाने वाले गीदड़ (=सियार) के समान आहार के लिये गाँव की ओर जाना चाहिये।

ऐसे जाने वाले को चारपाई या चौकी से उतरने के समय से लेकर पैर की धूल, छिपकली (=बिषतुइया) का पाखाना आदि के फैले हुए पावड़े को काँड़ना (=पैर रख कर ऊपर से जाना) होता है, उसके बाद कभी-कभी चूहे, चमगीदड़, द्वारा दूषित होने से भीतर कमरे से प्रतिकूलतर सामने देखना होता है। उसके बाद उल्लू, कबूतर आदि के पाखानों से सने हुए ऊपरी तल से प्रतिकूलतर निचलातल, उससे कभी-कभी वायु द्वारा हिले पुराने तृण-पत्तों से रोगी श्रामणेरों के पेशाब, पाखाना, थूक, पोंटा द्वारा और वर्षाकाल में पानी के कीचड़ आदि से गन्दे होने से निचले तल से प्रतिकूलतर परिवेण और परिवेण से प्रतिकूलतर विहार जाने का मार्ग देखना चाहिये।

क्रमशः बोधिवृक्ष और चैत्य की वन्दना कर **वितर्क-मालक**[1] में खड़े हुए, मुक्ता की राशि के समान चैत्य, मोर के परों के कलाप (= मोरछल) के समान मनोहर बोधि और देव-विमान की श्रीसम्पत्ति के समान शयनासन को देखकर ऐसे रमणीय प्रदेश को पीठ देकर (=पीछे करके) आहार के कारण जाना होगा—ऐसा सोच, जाकर गाँव की राह जाते हुए खूँटी, काँटा की राह भी, पानी के वेग से टूटा हुआ विषम (= ऊँच-नीच) रास्ता भी देखना होता है।

उसके पश्चात् फोड़े को ढँकते हुए (व्यक्ति) के समान पहनने के वस्त्र को पहनकर घाव को बाँधने के कपड़े को बाँधने के समान काय-बन्धन को बाँधकर, हड्डियों के समूह को ढँकते हुए (व्यक्ति) के समान चीवर को ओढ़कर, दवाके कपाल को निकालते हुए (व्यक्ति) के समान पात्र को निकाल कर गाँव के द्वार के पास जाने वाले को हाथी का मुर्दा (=कुणप), घोड़े का मुर्दा, गौ का मुर्दा, भैंस का मुर्दा, आदमी का मुर्दा, साँप का मुर्दा, कुत्ते का मुर्दा भी देखने को प्राप्त होता है। न केवल देखना, नाक पर लगने वाली उनकी दुर्गन्धि भी सहनी पड़ती है। वहाँ से गाँव के द्वार पर खड़ा होकर चण्ड हाथी, घोड़ा आदि की बाधाओं को त्यागने के लिये गाँव की सड़क देखनी होती है।

इस प्रकार पावड़े आदि अनेक प्रतिकूल मुर्दोंतक को आहार के कारण काँड़ना, देखना, और सूँघना होता है। आश्चर्यजनक है प्रतिकूल आहार! ऐसे गमन (=जाना) से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

---

१. 'आज कहाँ भिक्षाटन के लिए जाऊँ' ऐसे विचार करने का स्थान।

पर्येषण

कैसे पर्येषण से ? ऐसे गमन के प्रतिकूल को सहकर भी संघाटी को ओढ़े गाँव में गये हुए कृपण (= भिखमंगा) व्यक्ति के समान कपाल को हाथ में लिये घर की परिपाटी से गाँव की गलियों में घूमना होता है। वर्षाकाल में पैर रखे-रखे हुए स्थान पर नरहर तक भी पानी के कीचड़ में पैठ जाते हैं। एक हाथ से पात्र को पकड़ना होता है और एक से चीवर को ऊपर उठाना। ग्रीष्म-काल में वायु के जोर से उठे पंशु, तृण, धूल से भरे शरीर वाला हो घूमना होता है। उस-उस घर के दरवाजे को पाकर मछली का धोवन, मांस का धोवन, चावल का धोवन, थूक, पोंटा, कुत्ते-सूअर के पाखाना आदि से मिले हुए कीड़ों के समूह से भरे, नीली मक्खियों से आकीर्ण, गड्ढा (= ओलिगल्ल) और गड़ही (= चन्दनिका) देखनी होती हैं। लाँघनी भी होती हैं। जहाँ से कि वे मक्खियाँ उड़कर संघाटी में भी, पात्र में भी, शिर में भी छिप जाती हैं।

घर में प्रवेश किये हुए को भी कोई-कोई देते हैं, कोई-कोई नहीं देते हैं। देते हुए भी कोई-कोई कल के पके हुए भात को भी, पुरानी खाद्य-वस्तु को भी, सड़ी हुई, दाल (=कुल्माष)[1] सूप आदि को भी देते हैं। नहीं देते हुए भी कोई-कोई "भन्ते, आगे बढ़िये" कहते हैं। कोई-कोई नहीं देखने के समान होकर चुप हो जाते हैं। कोई-कोई दूसरी ओर मुँह कर लेते हैं। कोई-कोई "जाओ रे, मुण्डे !" आदि कड़ी बातों से पेश आते हैं। ऐसे कृपण व्यक्ति के समान गाँव में भिक्षा के लिये घूमकर निकलना चाहिये।

इस प्रकार गाँव में प्रवेश करने के समय से लेकर निकलने तक पानी के कीचड़ आदि प्रतिकूल को आहार के कारण काँड़ना, देखना और सहना होता है। आश्चर्य-जनक है प्रतिकूल आहार ! ऐसे पर्येषण से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

परिभोग

कैसे परिभोग से ? ऐसे आहार का पर्येषण कर गाँव के बाहर उचित स्थान पर सुख-पूर्वक बैठे हुए, जब तक उसमें हाथ नहीं डालता है, तब तक उस प्रकार के गौरवणीय भिक्षु या लज्जावान व्यक्ति को देखकर निमंत्रित भी किया जा सकता है, खाने की इच्छा से उसमें हाथ डालने मात्र पर "लीजिये" कहने वाले को लज्जित होना पड़ता है। हाथ को डालकर मींसने वाले की पाँचों अँगुलियों के सहारे पसीना पिघलता हुआ सूखे-कड़े भात को भी भिगोते हुए नर्म कर देता है।

उसके मींसने मात्र से भी सुन्दरता-रहित हुए को कौर करके मुँह में रखने पर निचले दाँत ओखल का काम करते हैं, ऊपरी मूसल का काम तथा जीभ हाथ का काम। उसे कुत्तों की द्रोणी[2] में कुत्तों के भात के समान दाँत रूपी मूसलों से कूटकर जीभ से उलटते-पलटते हुए जीभ के अग्रभाग में पतला परिशुद्ध थूक लिपटता है। बीच से लेकर घना थूक लिपटता है, और दातौन से नहीं साफ किये हुए स्थान में दाँत की मैल लिपटती है।

वह ऐसे विचूर्ण हुआ लिपटा, उसी क्षण वर्ण, गन्ध, बनावट की विशेषता से लुप्त हो कुत्तों की द्रोणी में पड़े हुए कुत्ते के वमन के समान अत्यन्त घृणित हो जाता है। ऐसा होते हुए

---

१. कुम्मास (=कुल्माष) शब्द का अर्थ सिंहल सन्नय में 'कोमु' अर्थात् पिट्ठा लिखा गया है, किन्तु पिट्ठा व्यञ्जन नहीं होता। कहा भी है—'सूपो कुम्मास व्यञ्जनं' अभि० १०४८।

२. कुत्तों को खाना देने के लिए बनाई हुई लकड़ी की छोटी नाव।

भी आँख के मार्ग से दूर होने से (= नहीं दिखाई देने से) खाना पड़ता है। ऐसे परिभोग से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

आशय

कैसे आशय से? ऐसे खाया हुआ, भीतर जाने पर, चूँकि बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध को भी, चक्रवर्ती राजा को भी पित्त, कफ, पीब, लोहू के चारों आशयों में से कोई एक आशय होता ही है, मन्द-पुण्य वालों को चारों भी आशय होते हैं, इसलिये जिसका पित्त का आशय अधिक होता है, उसका घने महुआ के तेल से लिपटे हुए के समान अत्यन्त घृणित होता है। जिसका कफ का आशय अधिक होता है उसका नागबला[1] के पत्तों के रस से लिपटे हुए के समान। जिसका पीब का आशय अधिक होता है, उसका सड़े छाँछ (=मट्ठा) से लिपटे के समान। जिसका लोहू का आशय अधिक होता है, उसका (लाल) रंग से लिपटे हुए के समान अत्यन्त घृणित होता है। ऐसे आशय से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

निधान

कैसे निधान से? वह इन चारों आशयों में से किसी एक आशय से लिपटा हुआ पेट के भीतर प्रवेश कर न तो सोने के बर्तन में, न मणि, चाँदी आदि के बर्तनों में ही निधान होता है। यदि दस वर्ष वाले द्वारा खाया जाता है तो दस वर्ष नहीं धोये हुए पाखाना-घर के कूँयें के समान स्थान में प्रतिष्ठित होता है। यदि बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे वर्ष वाले द्वारा, यदि सौ वर्ष वाले द्वारा खाया जाता है तो सौ वर्ष नहीं धोये हुए पाखाना-घर के कूँयें के समान स्थान में प्रतिष्ठित होता है। ऐसे निधान से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

अ-परिपक्व

कैसे अ-परिपक्व से? वह आहार इस प्रकार के स्थान में निधान हुआ, जब तक अ-परिपक्व होता है, तब तक उसी कहे गये प्रकार के अत्यन्त अन्धकार = तिमिष वाले नाना गन्दगियों की दुर्गन्धि से मिली हवा के चलने वाले अत्यन्त दुर्गन्ध, घृणित स्थान में, जैसे कि गर्मी के दिनों में असमय वर्षा के होने पर चण्डाल-गाँव के द्वार के गड्ढे में गिरे हुए तृण, पत्ता, चटाई का टुकड़ा, साँप, कुत्ता, मनुष्य के मुर्दे आदि सूरज की गर्मी से सन्तप्त हो फेन, बुलबुले से भर जाते हैं, ऐसे ही उस दिन भी, कल भी उससे पहले दिन भी खाया हुआ सब एक में होकर कफ के पटल से बँधा शरीर के अग्नि की सन्ताप से खौलते हुए, खौलने से उत्पन्न फेन, बुलबुलों से भरा अत्यन्त घृणित दशा को प्राप्त होता है।

ऐसे अपरिपक्व से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

परिपक्व

कैसे परिपक्व से? वह शरीर के अग्नि से पक कर सोने-चाँदी आदि धातुओं के समान सोना, चाँदी आदि नहीं हो जाता है, किन्तु फेन और बुलबुलों को छोड़ते हुए नर्म करने के योग्य

१. गोरक्ष नाम की लता। "नागबला चेवझसा" अभि० ५८८।

पीस कर (=बूक कर) नली में डाली जाती हुई पीली मिट्टी के समान, पाखाना होकर पक्वाशय को और पेशाब होकर पेशाब की थैली (= मूत्र-वस्ति) को पूर्ण करता है।

ऐसे परिपक्व से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

फल

कैसे फल से ? भली प्रकार पकता हुआ केश, लोम, नख, दाँत आदि नाना गन्दगियों (=कुणप) को बनाता है और भली प्रकार नहीं पकता हुआ दाद, खुजली, कच्छु (=विचर्चिका =एक प्रकार की खुजली), कोढ़ (=कुष्ठ), किलास (=कोढ़ विशेष), क्षय (=शोष), खाँखी (=कास=खाँसी), अतिसार प्रभृति सैकड़ों रोग। यह इसका फल है।

ऐसे परिपक्व से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

निष्यन्द

कैसे निष्यन्द से ? खाते समय यह एक द्वार से प्रवेश कर निकलते समय आँख से आँख का गूथ (= कीचड़), कान से कान का गूथ (=खोंठी) आदि प्रकार से अनेक द्वारों से बहता है। खाने के समय यह महा परिवार के साथ भी खाया जाता है किन्तु निकलने के समय पाखाना-पेशाब आदि होकर एक-एक से ही निकाला जाता है। पहले दिन उसे खाते हुए बहुत आनन्दित भी होता है, गद्गद होता है, प्रीति-सौमनस्य उत्पन्न होता है। दूसर दिन निकलते समय नाक बन्द करता है, मुख बिचकाता है, घृणा करता है, चुप रहता है[१]। पहले दिन उसे अनुरक्त हो, लालच करते हुए, उसमें भिड़े, मूर्छित होकर भी खाता है, किन्तु दूसरे दिन एक रात्रि के वास से ही राग रहित हो, दुःखित, लज्जित और घृणित होकर निकालता है। इसलिये पुराने लोगों ने कहा है—

अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसित्वा नवहि द्वारेहि सन्दति॥

[अन्न, पेय, खादनीय और बहुत सुन्दर भोजन, एक द्वार से प्रवेश कर नव द्वारों से निकलता है।]

अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
भुञ्जति सपरिवारो निक्खामेन्तो निलीयति॥

[अन्न, पेय, खादनीय और बहुत सुन्दर भोजन को परिवार के साथ खाता है, किन्तु निकालते हुए छिपता है।]

अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
भुञ्जति अभिनन्दन्तो निक्खामेन्तो जिगुच्छति॥

[अन्न, पेय, खादनीय और बहुत सुन्दर भोजन को अभिनन्दन करता हुआ खाता है, किन्तु निकालते हुए घृणा करता है।]

अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
एकरत्ति परिवासा सब्बं भवति पूतिकं॥

---

१. बे-मन का होता है—टीका।

[अन्य, पेय, खादनीय और बहुत सुन्दर भोजन एक रात्रि के परिवास में सब सड़ जाता है]

ऐसे निष्यन्द से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

संम्रक्षण

कैसे संम्रक्षण से? परिभोग के समय भी यह हाथ, ओंठ, जीभ, तालू को लपेटता है। वे उससे लिपटे होने से प्रतिकूल होते हैं। जो धोये जाने पर भी दुर्गन्ध को दूर करने के लिए बार-बार धोने पड़ते हैं। खाये हुए होने पर जैसे कि भात के पकते समय भूसी (=तुष), टूँड़ आदि उतिराकर हाँड़ी के मुख के किनारे और ढक्कन को लपेटते हैं। ऐसे ही सारे शरीर में रहने वाले शारीरिक अग्नि से फेन छोड़-छोड़ कर पक, उतिराता हुआ दाँत में दाँत की मैल हो लपेटता है, जीभ, तालू आदि को थूक, कफ आदि होकर। आँख, कान, नाक, नीचे के मार्ग आदि को कीचड़ (=आँख का गूथ), खोंठ (=कान का गूथ), पोंटा, पेशाब, पाखाना आदि होकर लपेटता है, जिससे लपेटे गये ये द्वार प्रतिदिन धोये जाने पर भी न तो पवित्र होते हैं और न मनोरम ही; जिनमें किसी को धोकर फिर हाथ को पानी से धोना पड़ता है। किसी को धोकर दो बार गोबर से भी, मिट्टी से भी, गन्ध-चूर्ण से भी धोने पर प्रतिकूलता नहीं दूर होती है।

ऐसे संम्रक्षण से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उस ऐसे दस प्रकार से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण, तर्क-वितर्क करने वाले को प्रतिकूल के आकार से कबलिंकार-आहार प्रगट होता है। वह उस निमित्त को पुनः पुनः आसेवन करता है, बढ़ाता है, बहुल करता है। ऐसे करने वाले के नीवरण दब जाते हैं। कबलिंकार-आहार के स्वभाव की धर्मता के गम्भीर होने से अर्पणा को नहीं पाकर उपचार समाधि से चित्त समाधिस्थ होता है। प्रतिकूल के ग्रहण के रूप से संज्ञा प्रगट होती है, इसलिये यह कर्मस्थान "आहार में प्रतिकूल संज्ञा" ही कहा जाता है।

इस 'आहार में प्रतिकूल संज्ञा' में लगे हुए भिक्षु का चित्त रस-तृष्णा (= रसास्वादन की इच्छा) से मुड़ता है, आगे नहीं बढ़ता है, रुक जाता है। वह रेगिस्तान को पार करने की इच्छा वाले के पुत्र-मांस[1] के समान मद रहित आहार का आहरण (= भोजन) केवल दुःख को पार करने के लिए करता है। तब सुखपूर्वक ही कबलिंकार-आहार को जानने से उसका पाँच काम-गुण (= भोग-विलास) सम्बन्धी राग दूर हो जाता है।[2] वह पाँच काम-गुण के दूर हो जाने से रूपस्कन्ध को जानता है। अ परिपक्व आदि प्रतिकूल होने के अनुसार उसकी कायगता-स्मृति की भावना भी पूर्णता को प्राप्त होती है। अशुभ-संज्ञा के अनुलोम (= सीधा) मार्ग पर (वह) चलने वाला होता है। इस प्रतिपत्ति के सहारे इसी जन्म में अमृत के अन्त तक को नहीं पाने पर सुगति-परायण होता है।

---

१. दे० पृष्ठ ३०४।

२. यहाँ पालि-शब्द "परिञ्ञं" का अर्थ सिंहल-सन्नय में "परिच्छेद करके जानना" लिखा है, किन्तु टीका तथा चूलसीहनाद सुत्तन्त, मज्झिम नि० (१,२,११) की अट्ठकथा के "परिञ्ञं समतिक्कमं वदामी'ति" आदि पाठों से मैंने उक्त अर्थ उचित समझा है।

(२) चतुर्धातु व्यवस्थान

अब 'आहार में प्रतिकूल संज्ञा' के पश्चात् "एक व्यवस्थान"—ऐसे कहे गये चतुर्धातु-व्यवस्थान की भावना का निर्देश आ गया।

व्यवस्थान का अर्थ है (कर्कश आदि) स्वाभाविक लक्षण के उपधारण (=विचार करना) करने के अनुसार निश्चय करना। चारों धातुओं का निश्चय-करण ही चतुर्धातु-व्यवस्थान है। धातु-मनस्कार, धातु-कर्मस्थान, चतुर्धातु-व्यवस्थान—(ये) अर्थ से एक ही हैं। यह दो प्रकार से आया है संक्षेप और विस्तार से। संक्षेप से महासत्तिपट्ठान[1] में आया है और विस्तार से महाहत्थिपदूपम, राहुलोवाद तथा धातु-विभङ्ग[2] में।

"जैसे भिक्षुओ, दक्ष कसाई या कसाई का शिष्य गाय को मारकर चौराहे पर टुकड़े-टुकड़े अलग करके बैठा हो, ऐसे ही भिक्षुओ, इसी काय को यथा-स्थित, यथा-प्रणिहित धातु के अनुसार प्रत्यवेक्षण करता है—"इस शरीर में पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेजो-धातु, वायो-धातु है।" ऐसे तीक्ष्ण प्रज्ञावाले योगाभ्यासिक (=कर्मस्थानिक) के लिये महासतिपट्ठान में संक्षेप से आया है।

उसका अर्थ है—जैसे दक्ष कसाई या उसी का मजदूरी पर काम करने वाला शिष्य गाय को मारकर टुकड़े-टुकड़े कर चारों दिशाओं से आये हुए महामार्गों के बीच कहे जाने वाले चौराहे पर भाग-भाग करके बैठा हो, ऐसे ही भिक्षु चारों ईर्यापथों में से जिस किसी आकार से स्थित होने से यथा-स्थित होता है और यथा-स्थित होना ही यथा-प्रणिहित काय है, (वह उसे) "इस शरीर में पृथ्वी-धातु······वायो-धातु है" ऐसे धातु के अनुसार प्रत्यवेक्षण करता है।

क्या कहा गया है? जैसे कसाई के गाय को पालते हुए भी, मारने के स्थान को ले जाते हुए भी, लाकर वहाँ बाँध कर रखे हुए भी, मारते हुए भी, मारी हुई को देखते हुए भी, तभी तक 'गाय है' वह नाम लुप्त नहीं हो जाता है, जब तक कि काट कर टुकड़े-टुकड़े नहीं बाँट देता है, किन्तु बाँट कर बैठने पर ही गाय का नाम लुप्त होता है और 'मांस' नाम कहा जाता है। उसे ऐसा नहीं होता है कि मैं गाय को बेच रहा हूँ, ये (लोग) गाय को ले जा रहे हैं, प्रत्युत उसे 'मैं माँस बेच रहा हूँ, ये (लोग) भी मांस को ले जा रहे हैं' ऐसे ही होता है। इसी प्रकार इस भिक्षु को भी पहले बाल-अनाड़ी रहने के समय गृहस्थ होने का भी, प्रव्रजित का भी तभी तक "सत्त्व, पुरुष या व्यक्ति" ऐसी संज्ञा नहीं लुप्त होती है, जब तक इसी शरीर को यथास्थित, यथा प्रणिहित घन-भाव (= स्थूल होना) का बाँट करके धातु के अनुसार प्रत्यवेक्षण नहीं करता है। धातु के अनुसार प्रत्यवेक्षण करने वाले की सत्त्व संज्ञा लुप्त हो जाती है। धातु के अनुसार ही चित्त ठहरता है। उसी से भगवान् ने कहा है—"जैसे भिक्षुओ, दक्ष कसाई या······बैठा हो। ऐसे ही भिक्षुओ, भिक्षु······वायो-धातु।"

महाहत्थिपदूपम में "आवुस, भीतरी (=आध्यात्मिक) पृथ्वी धातु कौन-सी है? जो भीतर, अपने सहारे, कर्कश, खुरदरा शरीरस्थ, जैसे-केश, लोम······उदरस्थ वस्तुयें, पाखाना या और भी जो कुछ अपने भीतर, अपने सहारे, कर्कश, खुरदरा, शरीरस्थ है। आवुस, यह पृथ्वी-धातु कही जाती है।"

---

१. दे० दीघ नि० २२।

२. दे० क्रमशः मज्झिम नि० १, ३, ८; २, २, २; ३, ४, १०।

"आवुस, भीतरी आप्-धातु कौन-सी है? जो अपने भीतर, अपने सहारे, हुआ शरीरस्थ जल-जलीय है, जैसे पित्त···मूत्र या और भी जो कुछ अपने भीतर, अपने सहारे हुआ शरीरस्थ जल-जलीय है। आवुस, यह भीतरी आप्-धातु कही जाती है।"

"आवुस, भीतरी तेजो-धातु कौन-सी है? जो अपने भीतर, अपने सहारे हुआ शरीरस्थ अग्नि-अग्निमय है, जैसे जिससे तपता है, जिससे जरा को प्राप्त होता है, जिससे जलता है, जिससे भोजन किया, पिया, खाया, चाटा हुआ भली प्रकार हजम होता है या और भी जो कुछ अपने भीतर, अपने सहारे हुआ शरीरस्थ अग्नि-अग्निमय है। आवुस, यह भीतरी तेजो-धातु कही जाती है।"

"आवुस, भीतरी वायो-धातु कौन-सी है? जो अपने भीतर, अपने सहारे हुई शरीरस्थ वायु, वायुमय है, जैसे ऊपर जाने वाली वायु, नीचे जाने वाली वायु, पेट में रहने वाली वायु, कोष्ठ (= कोठे) में रहने वाली वायु, अङ्ग-अङ्ग में घूमने वाली वायु, आश्वास-प्रश्वास या और भी जो कुछ अपने भीतर, अपने सहारे हुई शरीरस्थ वायु, वायुमय है। यह आवुस, भीतरी वायोधातु कही जाती है।"

ऐसे न बहुत तीक्ष्ण प्रज्ञा वाले धातु-कर्मस्थानिक के अनुसार विस्तार से आया है। जैसे यहाँ, ऐसे (ही) राहुलोवाद और धातु-विभङ्ग में भी।

उनमें से यह कठिन शब्दों का वर्णन है—**अपने भीतर** (= अज्झत्तं) **अपने सहारे** (= पच्चत्तं)—यह दोनों भी अपने का नाम है। अपना कहते हैं अपने में पैदा हुये को। अपने शरीर में हुआ—यह अर्थ है। वह, जैसे लोक में स्त्रियों में होती हुई बातचीत 'अधिस्त्री' कही जाती है, ऐसे अपने में होने से आध्यात्म (= अपने भीतर) और अपने सहारे होने से प्रत्यात्म (= अपने सहारे) भी कहा जाता है।

कर्कश का अर्थ है ठोस। **खुरदरा** का अर्थ है रूखर (= खरखर करने वाला)। उनमें पहला लक्षण (सूचक) शब्द है और दूसरा आकार (सूचक) शब्द। पृथ्वी-धातु ठोस लक्षण वाली है, वह रूखर आकार की होती है, इसलिये खुरदरा कहा गया है। **शरीरस्थ**—दृढ़ता से पकड़ा हुआ। 'मैं' 'मेरा' ऐसे दृढ़ता से पकड़ा, ग्रहण किया, परामृष्ट—यह अर्थ है।

जैसे—यह निपात (= अव्यय) है। उसका वह कौन-सा है? यह अर्थ है। उसके पश्चात् उसे दिखलाते हुए केश, लोम आदि कहा है। यहाँ मस्तिष्क को मिलाकर बीस प्रकार से पृथ्वी-धातु कही गई जाननी चाहिये। **और भी जो कुछ**—शेष तीनों भागों में पृथ्वी-धातु संग्रहीत है।

बहते हुए उस-उस स्थान को फैलता है, पाता है, इसलिये आप् (= जल) कहा जाता है। कर्म से उत्पन्न आदि होने के अनुसार नानाप्रकार के जल में गया हुआ **जलीय** है। वह क्या है? आप्-धातु का बाँधना लक्षण।

गर्म करने के रूप में **तेज** (= अग्नि) है। कहे गये ढंग से ही अग्नि में गया हुआ अग्निमय है। वह क्या है? उष्ण-स्वभाव **जिससे**—जिस अग्नि के कुपित होने से यह शरीर **तपता है**। एक दिन के ज्वर आदि के होने से गर्म हो जाता है। **जिससे जरा को प्राप्त होता है**—जिससे यह शरीर जीर्ण होता है, इन्द्रियों की विकलता, बल का नाश, झुर्रियों का पड़ना और (केशों) का पकना होता है। **जिससे जलता है**—जिसके कुपित होने से यह शरीर

जलता है और वह व्यक्ति "जल रहा हूँ, जल रहा हूँ" ऐसे रोते हुए सौ बार धोये[1] हुए घी, गोशीर्ष-चन्दन आदि के लेप और पंखे की हवा चाहते हैं। **जिससे भोजन किया, पिया, खाया, चाटा हुआ भली प्रकार हजम होता है**—जिससे यह भोजन किया हुआ भात आदि, पिया हुआ पेय आदि, खाया हुआ आटे से बनी खाने की वस्तु आदि या चाटा हुआ पका आम, मधु, राब आदि भली प्रकार हजम होता है। रस आदि होकर बँट जाता है—यह अर्थ है। यहाँ पहले के तीन अग्नि चारों (= कर्म, चित्त, ऋतु, आहार)[2] से उत्पन्न होते हैं। पिछला कर्म से ही उत्पन्न होता है।

बहने से **वायु** कही जाती है। कहे गये ढंग से ही वायु में गया हुआ **वायुमय** है। वह क्या है ? भरने का स्वभाव। **ऊपर जानेवाली वायु**—डेंकार, हिचकी आदि से होनेवाली ऊपर चढ़ने वाली वायु। **नीचे जानेवाली वायु**—पाखाना, पेशाब आदि को निकालने वाली नीचे उतरने वाली वायु। **पेट में रहने वाली वायु**—आँतों के बाहर की वायु। **कोष्ठ में रहने वाली वायु**—आँतों के भीतर की वायु। **अङ्ग-अङ्ग में घूमने वाली वायु**—धमनी-जाल के अनुसार सारे शरीर में अङ्ग-अङ्ग में फैली हुई मोड़ने-पसारने आदि को उत्पन्न करने वाली वायु। **आश्वास**—भीतर प्रवेश करने वाली वायु। **प्रश्वास**—बाहर निकलने वाली वायु। यहाँ, पहले के पाँच चारों (कर्म, चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न होते हैं, आश्वास-प्रश्वास चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। सब जगह या और भी **जो कुछ**—इस पद से शेष भागों में आप्-धातु आदि संग्रहीत हैं।

इस तरह बीस प्रकार से पृथ्वी-धातु, बारह प्रकार से आप्-धातु, चार प्रकार से तेजो-धातु, छः प्रकार से वायो-धातु—बयालीस प्रकार से चारों धातुओं का विस्तार किया गया है। यह अभी यहाँ, पालि का वर्णन है।

भावना-विधि

भावना की विधि में यहाँ, तीक्ष्ण प्रज्ञावाले भिक्षु के लिए—केश पृथ्वी-धातु है, लोम पृथ्वी-धातु है आदि ऐसे विस्तार करनेवाले को धातु का परिग्रह प्रपञ्च जान पड़ता है। जो ठोस लक्षणवाली है यह पृथ्वी-धातु है। जो बाँधने के लक्षणवाली है, यह आप्-धातु है। जो पकाने के लक्षणवाली है, यह तेजो-धातु है। जो भरने के लक्षणवाली है, यह वायो-धातु है। ऐसे मनस्कार करनेवाले को यह कर्मस्थान प्रगट होता है। न बहुत तीक्ष्ण प्रज्ञावाले को ऐसे मनस्कार करते अन्धकार प्रगट नहीं होता है। पहले के ढंग से ही विस्तार से मनस्कार करनेवाले को प्रगट होता है।

कैसे ? जैसे दो भिक्षुओं के बहुत पेय्याल[3] से आये हुए तन्ति (=पालि) का पाठ करते हुए तीक्ष्ण प्रज्ञावाला भिक्षु एक बार या दो बार पेय्यालमुख को विस्तार कर, उसके पश्चात् दोनों

---

१. सौ बार गर्म करके शीतल जल में डालकर निकाले हुए घी को सौ बार का धोया हुआ घी कहते हैं—टीका।

२. यही चारों रूपों को उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये इन्हें 'रूपसमुत्थान' कहते हैं।

३. दे० पृष्ठ ४८।

छोरों के अनुसार ही पाठ करते हुए जाता है। वहाँ, न बहुत तीक्ष्ण प्रज्ञावाला ऐसा कहनेवाला होता है—क्या पाठ करना है, ओंठों को छूने मात्र भी नहीं देता है, ऐसे पाठ किये जाने पर कब पालि याद होगी? वह आये-आये हुए पेय्याल-मुख को विस्तार करके ही पाठ करता है। उसे दूसरे ने कहा—"क्या यह पाठ करना है, अन्त को जाने नहीं देता है, ऐसे पाठ किये जाने पर कब पालि समाप्त होगी?" ऐसे ही तीक्ष्ण प्रज्ञावाले को केश आदि के अनुसार विस्तार से धातु का परिग्रह प्रपञ्च जान पड़ता है। जो ठोस लक्षण वाला है—'यह पृथ्वी-धातु है' आदि ढंग से संक्षेप से मनस्कार करनेवाले को कर्मस्थान प्रगट होता है। दूसरे वैसे मनस्कार करने वाले को अन्धकार प्रगट नहीं होता है। केश आदि के अनुसार विस्तार से मनस्कार करनेवाले को प्रगट होता है।

इसलिए इस कर्मस्थान की भावना करने की इच्छा वाले तीक्ष्ण प्रज्ञावाले को एकान्त में जाकर चित्त को चारों ओर से खींच, अपने सारे भी रूप-काय का आवर्जन कर—जो इस शरीर में ठोस या रूखर स्वभाववाला है—यह पृथ्वी-धातु है। जो बाँधने या द्रव (=तरल) स्वभाव वाला है—यह तेजो-धातु है। जो भरने या फैलने के स्वभाववाला है—यह वायो-धातु है।

ऐसे संक्षेप से धातुओं का परिग्रह कर पुनः पुनः पृथ्वी-धातु, आप्-धातु,—इस तरह धातु मात्र से, निःसत्त्व=निर्जीव होने के अनुसार आवर्जन, मनस्कार और प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उस ऐसे प्रयत्न करने वाले को थोड़े ही समय में धातुओं के प्रभेद को बतलानेवाली प्रज्ञा से परिगृहीत, स्वभाव-धर्मों का आलम्बन होने से अर्पणा को नहीं पाकर उपचार मात्र समाधि उत्पन्न होती है।

अथवा, जो इन चारों महाभूतों के निःसत्त्व-भाव को दिखलाने के लिए धर्मसेनापति द्वारा—"हड्डी, स्नायु, मांस और चमड़े को लेकर घिरा हुआ आकाश ही 'रूप' कहा जाता है[1]।" चार भाग कहे गये हैं। उनमें उस उसको अन्तर डालने वाले ज्ञान के हाथ से अलग-अलग करके[2] जो इनमें ठोस या रूखर स्वभाववाला है—यह पृथ्वी-धातु है। पहले ढंग से ही धातुओं का परिग्रह करके पुनः पुनः पृथ्वी-धातु, आप्-धातु ऐसे धातु मात्र से निःसत्त्व = निर्जीव के अनुसार आवर्जन करना चाहिये, मनस्कार और प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

उस ऐसे प्रयत्न करने वाले को थोड़े समय में ही धातुओं के प्रभेद को बतलानेवाली प्रज्ञा से परिगृहीत स्वभाव-धर्मों का आलम्बन होने से अर्पणा को नहीं पाया हुआ उपचार मात्र समाधि उत्पन्न होती है।

यह संक्षेप से आये हुए चतुर्धातु व्यवस्थान में भावना-विधि है।

विस्तार से

विस्तार से आये हुए में ऐसे जानना चाहिये—इस कर्मस्थान की भावना करने की इच्छा वाले न बहुत तीक्ष्ण प्रज्ञावाले योगी को आचार्य के पास बयालीस प्रकार से विस्तार से धातुओं को सीख कर उक्त प्रकार के शयनासन में विहरते हुए सब काम करके एकान्त में जा चित्त को

---

१. मज्झिम नि० १, ३, ८।

२. हड्डी, स्नायु, मांस, चमड़े के विवर-विवर के ज्ञान से जुदा-जुदा करके—यह अर्थ है—सिंहल सन्नय।

चारों ओर से खींच कर स-सम्भार के संक्षेप से, स-सम्भार की विभक्ति से, स्वलक्षण के संक्षेप से, स्वलक्षण की विभक्ति से—ऐसे चार प्रकार से कर्मस्थान की भावना करनी चाहिये।

कैसे **स-सम्भार के संक्षेप से** भावना करता है? यहाँ, भिक्षु बीस भागों[1] में ठोस आकार वाले को पृथ्वी-धातु निश्चित करता है। बारह भागों[2] में यूस हुये पानी कहे जाने वाले बाँधने के स्वभाव वाले को आप्-धातु निश्चित करता है। चार भागों[3] में पकाने वाले को तेजो-धातु निश्चित करता है। छः[4] भागों में भरने के आकार को वायो-धातु निश्चित करता है। उस ऐसे निश्चय करने वाले को ही धातुयें प्रगट होती हैं। उन्हें पुनः पुनः आवर्जन = मनस्कार करने वाले को उक्त ढंग से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है।

किन्तु, जिसे ऐसे भावना करने से कर्मस्थान नहीं सिद्ध होता है, उसे **स-सम्भार की विभक्ति से** भावना करनी चाहिये। कैसे? उस भिक्षु को—जो कि कायगतास्मृति-कर्मस्थान निर्देश में सात प्रकार की उग्गह की कुशलता और दस प्रकार की मनस्कार की कुशलता कही गई है, उस सबको बत्तीस आकार में परिपूर्ण त्वक्-पञ्चक्[5] आदि को अनुलोम-प्रतिलोम से बोल-बोलकर पाठ करने से लेकर सारी कही गई विधि को करनी चाहिये। केवल यही विशेषता है—वहाँ, वर्ण, बनावट, दिशा, अवकाश, परिच्छेद से केश आदि का मनस्कार करके भी प्रतिकूल के तौर पर चित्त को रखना चाहिये, किन्तु यहाँ धातु के तौर पर। इसलिये वर्ण आदि के तौर पर पाँच-पाँच प्रकार से केश आदि का मनस्कार करके अन्त में ऐसे मनस्कार करना चाहिये।

१. पृथ्वी-धातु

केश

ये केश शिर की खोपड़ी (= कटाह) को बेठे हुए चमड़े में उत्पन्न हैं। जैसे दीमक के शिर पर उत्पन्न हुए कुण्ठ-तृणों[6] को दीमक का शिर नहीं जानता है—मुझमें कुण्ठ-तृण जमें हुए हैं, न तो कुण्ठ-तृण ही जानते हैं—हम दीमक के शिर पर हुए हैं, ऐसे ही सिर की खोंपड़ी को बेठा हुआ चमड़ा नहीं जानता है—मुझमें केश उत्पन्न हैं, न तो केश जानते हैं—हम शिर की खोपड़ी को बेठे हुए चमड़े में उत्पन्न हुए हैं। ये परस्पर आयोग=प्रत्यवेक्षण-रहित धर्म हैं। इस

१. केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्, मांस, स्नायु, हड्डी, हड्डी के भीतर की मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली आँत, उदरस्थ वस्तुयें, पाखाना और मस्तिष्क—ये बीस भाग हैं।

२. पित्त, कफ़, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, वसा, थूक, पोंटा, लसिका और मूत्र—ये बारह भाग हैं।

३. जिससे तपता है, जिससे जरा को प्राप्त होता है, जिससे जलता है, जिससे भोजन किया, पिया, खाया, चाटा हुआ भली प्रकार हजम होता है—ये चार भाग हैं।

४. ऊपर जाने वाली वायु, नीचे जाने वाली वायु, पेट में रहने वाली वायु, कोष्ठ में रहने वाली वायु, अंग-अंग में घूमने वाली वायु और आश्वास-प्रश्वास—ये छः भाग हैं।

५. केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्—यह त्वक् पञ्चक् है।

६. छोटे-छोटे तृणों को कुण्ठ-तृण कहते हैं।

तरह केश इस शरीर में अलग भाग है (जो) चेतना-रहित, अव्याकृत[1], शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

लोम

लोम शरीर को बेठने वाले चमड़े में उत्पन्न हैं। जैसे शून्य गाँव के स्थान में कुश[2] तृणों के उग आने पर, शून्य गाँव का स्थान नहीं जानता है—मुझमें कुश-तृण उगे हुए हैं, कुश तृण भी नहीं जानते हैं—हम शून्य गाँव के स्थान में उगे हुए हैं। ऐसे ही शरीर को बेठने वाला चमड़ा नहीं जानता है—मुझमें लोम उत्पन्न हुए हैं, लोम भी नहीं जानते हैं—हम शरीर के बेठने वाले चमड़े में उत्पन्न हुए हैं। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये दोनों धर्म हैं। इस तरह लोम इस शरीर में एक अलग भाग है (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

नख

नख अंगुलियों के अगले भाग में उत्पन्न हैं। जैसे लड़कों के डण्डों से महुआ की गुठलियों को मारकर खेलते हुए होने पर डण्डे नहीं जानते हैं—हम पर महुआ की गुठलियाँ रखी गई हैं, महुआ की गुठलियाँ भी नहीं जानती हैं—हम डण्डों पर रखी गई हैं। ऐसे ही अंगुलियाँ नहीं जानती हैं—हमारे अगले भाग में नख उत्पन्न हैं, नख भी नहीं जानते हैं—हम अंगुलियों के अगले भाग में उत्पन्न हुए हैं। परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह नख इस शरीर में एक अलग भाग है (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

दाँत

दाँत ठुड्डियों की हड्डियों में उत्पन्न हैं। जैसे बढ़ई द्वारा पत्थर की ओखलियों (= खम्भे के नीचे का हिस्सा) में खम्भों को किसी तरह के गोंद से बाँधकर स्थापित किये जाने पर ओखलियाँ नहीं जानती हैं—हममें खम्भे स्थापित हैं, खम्भे भी नहीं जानते हैं—हम ओखलियों में स्थापित हैं। ऐसे ही ठुड्डियों की हड्डियाँ नहीं जानती हैं—हममें दाँत उत्पन्न हुए हैं, दाँत भी नहीं जानते हैं—हम ठुड्डियों की हड्डियों में उत्पन्न हुए हैं। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह दाँत इस शरीर में एक अलग भाग है (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व ठोस पृथ्वी-धातु है।

त्वक्

त्वक् सारे शरीर को घेरकर स्थित है। जैसे गीले गाय के चमड़े से घिरी (=छाई) हुई होने पर महावीणा नहीं जानती है—मैं गीले गाय के चमड़े से घिरी हुई हूँ। गीला गाय का चमड़ा भी नहीं जानता है—मेरे द्वारा महावीणा घेरी गई है। ऐसे ही शरीर नहीं जानता है—मैं त्वक् से घिरा हूँ, त्वक् भी नहीं जानता है—मेरे द्वारा शरीर घेरा गया है। परस्पर आभोग =

१. अव्याकृत-राशि में संग्रहीत। अव्याकृत चार प्रकार का होता है—विपाक, क्रिया, रूप और निर्वाण। यह रूप होने से अव्याकृत कहा गया है।

२. दूब (दुर्वा) (ही तन्)—सिंहल सन्नय।

प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह त्वक् इस शरीर में एक अलग भाग है (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

मांस

मांस हड्डियों के समूह को लीपकर स्थित है। मोटी मिट्टी से लीपी हुई भीत (=दीवार) के होने पर भीत नहीं जानती है—मैं मोटी मिट्टी से लीपी हुई हूँ, मोटी मिट्टी भी नहीं जानती है—मेरे द्वारा भीत लीपी हुई है। ऐसे ही हड्डियों का समूह नहीं जानता है—मैं नव सौ प्रकार की मांस-पेशियों से लिपा हुआ हूँ। मांस भी नहीं जानता है—मेरे द्वारा हड्डियों का समूह लिपा हुआ है। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह मांस इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतनारहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

स्नायु

स्नायु (= नस) शरीर के भीतर हड्डियों को बाँधी हुई स्थित हैं। जैसे लताओं द्वारा जकड़ी हुई दीवार (= कुड्य) की लकड़ियों के होने पर दीवार की लकड़ियाँ नहीं जानती हैं—हम लताओं से जकड़ी हुई हैं, लतायें भी नहीं जानती हैं- हमसे दीवार की लकड़ियाँ जकड़ी हुई हैं। ऐसे ही हड्डियाँ नहीं जानती हैं– हम स्नायुओं से बँधी हुई हैं, स्नायु भी नहीं जानती हैं—हमसे हड्डियाँ बँधी हुई हैं। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह इस शरीर में स्नायु एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

हड्डी

हड्डियों में एँड़ी की, गुल्फ (=घुट्ठी) की हड्डी को उठाकर स्थित है। गुल्फ की हड्डी नरहर (=जंघ) की हड्डी को उठाकर स्थित है। नरहर की हड्डी जंघे (= ऊरु) की हड्डी को उठाकर स्थित है। जंघे की हड्डी कमर की हड्डी को उठाकर स्थित है। कमर की हड्डी पीठ के काँटों (=रीढ़) को उठाकर स्थित है। पीठ का काँटा गले की हड्डी को उठाकर स्थित है। गले की हड्डी शिर की हड्डी को उठाकर स्थित है। शिर की हड्डी गले की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। गले की हड्डी पीठ के काँटों पर प्रतिष्ठित है। पीठ का काँटा कमर की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। कमर की हड्डी जंघे की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। जंघे की हड्डी नरहर की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। नरहर की हड्डी गुल्फ की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। गुल्फ की हड्डी एँड़ी की हड्डी पर प्रतिष्ठित है।

जैसे ईंट, लकड़ी, गोबर आदि के ढेर में निचले-निचले नहीं जानते हैं—हम ऊपर-ऊपर वालों को उठा कर स्थित हैं। ऊपर-ऊपर वाले भी नहीं जानते हैं—हम निचले-निचले में प्रतिष्ठित हैं। ऐसे ही एँड़ी की हड्डी नहीं जानती है—मैं गुल्फ की हड्डी को उठा कर स्थित हूँ। गुल्फ की हड्डी भी नहीं जानती है—मैं नरहर की हड्डी को उठाकर स्थित हूँ। नरहर की हड्डी नहीं जानती है—मैं जंघे की हड्डी को उठाकर स्थित हूँ। जंघे की हड्डी नहीं जानती है—मैं कमर की हड्डी को उठाकर स्थित हूँ। कमर की हड्डी नहीं जानती है—मैं पीठ के काँटे को उठाकर स्थित हूँ। पीठ का काँटा नहीं जानता है—मैं गले की हड्डी को उठाकर स्थित हूँ। गले की हड्डी नहीं जानती है—मैं शिर की हड्डी को उठाकर स्थित हूँ। शिर की हड्डी नहीं जानती है—मैं गले की हड्डी पर प्रतिष्ठित

हूँ। गले की हड्डी नहीं जानती है—मैं पीठ के काँटे पर स्थित हूँ। पीठ का काँटा नहीं जानता है—मैं कमर की हड्डी पर प्रतिष्ठित हूँ। कमर की हड्डी नहीं जानती है—मैं जंघे की हड्डी पर प्रतिष्ठित हूँ। जंघे की हड्डी नहीं जानती है—मैं नरहर की हड्डी पर प्रतिष्ठित हूँ। नरहर की हड्डी नहीं जानती है—मैं गुल्फ की हड्डी पर प्रतिष्ठित हूँ। गुल्फ की हड्डी नहीं जानती है—मैं एँड़ी की हड्डी पर प्रतिष्ठित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह हड्डी इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना-रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

हड्डी की मज्जा

हड्डी की मज्जा उन-उन हड्डियों के बीच स्थित है। जैसे बाँस के पोर (= पर्व) आदि के भीतर गर्म करके डाले हुए बेंत आदि के होने पर बाँस के पोर आदि नहीं जानते हैं—हममें बेंत आदि डाले गये हैं, बेंत आदि भी नहीं जानते हैं—हम बाँस के पोर आदि में स्थित हैं। ऐसे हड्डियाँ नहीं जानती हैं—हमारे भीतर मज्जा स्थित है। मज्जा भी नहीं जानती है—मैं हड्डियों के भीतर स्थित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह हड्डी की मज्जा इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

वृक्क

वृक्क (= गुरदा) गले के गड्ढे से निकला हुआ एक जड़ वाला थोड़ी दूर जाकर दो भागों में होकर मोटी स्नायु से बँधा हुआ हृदय के मांस को घेर कर स्थित है। जैसे भेंटी (= वण्ट) से बँधे हुए आम के दो फलों के होने पर भेंटी नहीं जानती है—मेरे द्वारा आम के दोनों फल बँधे हुए हैं। आम के दोनों फल भी नहीं जानते हैं—हम भेंटी से बँधे हुए हैं। ऐसे ही मोटी स्नायु नहीं जानती है—मेरे द्वारा वृक्क बँधा हुआ है, वृक्क भी नहीं जानता है—मैं मोटी स्नायु द्वारा बँधा हुआ हूँ। परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह वृक्क इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

हृदय

हृदय शरीर के भीतर छाती की हड्डियों के पञ्जर के बीच के सहारे स्थित है। जैसे जीर्ण पालकी[1] के पञ्जर के सहारे रखी हुई मांस की पेशी के होने पर जीर्ण पालकी के पञ्जर का बीच नहीं जानता है—मेरे सहारे मांसकी पेशी रखी हुई है। मांस की पेशी भी नहीं जानती है—मैं जीर्ण पालकी के पञ्जर के सहारे स्थित हूँ। ऐसे ही छाती की हड्डियों के पञ्जर का बीच नहीं जानता है—मेरे सहारे हृदय स्थित है। हृदय भी नहीं जानता है—मैं छाती की हड्डी के पञ्जर के सहारे स्थित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह हृदय इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

यकृत

यकृत शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच दाँयी बगल के सहारे स्थित है। जैसे घड़े के कपाल की बगल में लगे जोड़े मांस के पिण्ड के होने पर घड़े के कपाल की बगल नहीं जानती

१. रथ—सिंहल सन्नय।

है—मुझमें जोड़ा मांस का पिण्ड लगा हुआ है। जोड़ा मांस का पिण्ड भी नहीं जानता है—मैं घड़े के कपाल की बगल में लगा हुआ हूँ। ऐसे ही स्तनों के भीतर दाँयी बगल नहीं जानती है—मेरे सहारे यकृत स्थित है। यकृत भी नहीं जानता है—मैं स्तनों के भीतर दाँयी बगल के सहारे स्थित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह यकृत इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

क्लोमक

क्लोमकों में प्रतिच्छन्न (= ढँका हुआ) क्लोमक हृदय और वृक्क को घेर कर स्थित है। अप्रतिच्छन्न (= नहीं ढँका हुआ) क्लोमक सारे शरीर में चमड़े के नीचे से मांस को बाँधते हुए स्थित है। जैसे कपड़े से लपेटे हुए मांस के होने पर मांस नहीं जानता है—मैं कपड़े से लपेटा गया हूँ। कपड़ा भी नहीं जानता है—मेरे द्वारा मांस लपेटा गया है। ऐसे ही वृक्क, हृदय और सारे शरीर में मांस नहीं जानता है—मैं क्लोमक से ढँका हुआ हूँ। क्लोमक भी नहीं जानता है—मेरे द्वारा वृक्क, हृदय और सारे शरीर में मांस ढँका हुआ है। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह क्लोमक इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

प्लीहा

प्लीहा हृदय की बाँयी बगल में उदर-पटल के शिरे की बगल के सहारे स्थित है। जैसे डेहरी (= कोष्ठ = खत्ती) की ऊपरी बगल के सहारे स्थित गोबर की पिण्डी के होने पर डेहरी (= दहलीन) की ऊपरी बगल नहीं जानती है—गोबर की पिण्डी मेरे सहारे स्थित है। गोबर की पिण्डी भी नहीं जानती है—मैं डेहरी की ऊपरी बगल के सहारे स्थित हूँ। ऐसे ही उदर-पटल की ऊपरी बगल नहीं जानती है—प्लीहा मेरे सहारे स्थित है। प्लीहा भी नहीं जानता है—मैं उदर-पटल की ऊपरी बगल के सहारे स्थित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह प्लीहा इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

फुफ्फुस

फुफ्फुस शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच हृदय और यकृत को ऊपर से ढँककर लटकते हुए स्थित है। जैसे जीर्ण डेहरी के भीतर लटकते हुए चिड़िया के घोंसला के होने पर जीर्ण-डेहरी का भीतरी भाग नहीं जानता है—मुझमें चिड़ियों का घोंसला लटकता हुआ स्थित है। चिड़ियों का घोंसला भी नहीं जानता है—मैं जीर्ण डेहरी के भीतर लटकता हुआ स्थित हूँ। ऐसे ही वह शरीर का भीतरी भाग नहीं जानता है—मुझमें फुफ्फुस लटकता हुआ स्थित है। फुफ्फुस भी नहीं जानता है—मैं इस प्रकार के शरीर के भीतर लटकता हुआ स्थित हूँ। परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह फुफ्फुस इस शरीर में अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

आँत

आँत गले के गड्ढे से लेकर पाखाना के मार्ग के अन्त तक शरीर के भीतर स्थित है। जैसे लोहू की द्रोणी में टेढ़े मोड़कर शिर कटे हुए धामिनि (साँप) के शरीर को रखे होने पर लोहू की द्रोणी नहीं जानती है—मुझमें धामिनि का शरीर रखा है। धामिनि का शरीर भी नहीं जानता है—मैं लोहू की द्रोणी में रखा गया हूँ। ऐसे ही शरीर का भीतरी भाग नहीं जानता है—मुझमें आँत है। आँत भी नहीं जानती है—मैं शरीर के भीतर हूँ। परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित ये धर्म हैं। इस तरह आँत इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

पतली आँत

पतली आँत (= अन्तगुण) आँतों के बीच इक्कीस आँत के झुके हुए स्थानों को बाँधकर स्थित है। जैसे पैर को पोंछने के लिये बनाये हुए रस्सियों के गोले को सीकर रहने वाली रस्सियों में पैर को पोंछने वाले रस्सियों का गोला नहीं जानता है– रस्सियाँ मुझे सीकर स्थित हैं। रस्सियाँ भी नहीं जानती हैं—हम पैर को पोंछने वाले रस्सियों के गोले को सीकर स्थित हैं। ऐसे ही आँत नहीं जानती है—पतली आँत मुझे बाँधकर स्थित है। पतली आँत भी नहीं जानती है—मैं आँत को बाँधी हुई हूँ। ये परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह पतली आँत इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

उदरस्थ वस्तुयें

उदरस्थ वस्तुयें पेट में रहने वाली भोजन की गई, पीयी, खायी, चाटी हुई (वस्तुयें)। जैसे पत्थर की द्रोणी में कुत्ते के वमन के रहने पर पत्थर की द्रोणी नहीं जानती है—मुझमें कुत्ते का वमन है। कुत्ते का वमन भी नहीं जानता है—मैं पत्थर की द्रोणी में हूँ। ऐसे ही पेट नहीं जानता है—मुझमें उदरस्थ वस्तुयें हैं। उदरस्थ वस्तुयें भी नहीं जानती हैं—मैं पेट में हूँ। ये परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह उदरस्थ वस्तुयें इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतनारहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

पाखाना

पाखाना (=करीष) पक्काशय कहे जानेवाले आठ अंगुल बाँस के पर्व (=पोर) के समान आँत के अन्त में रहता है। जैसे बाँस के पर्व में खूब मलकर डाली हुई महीन पीली मिट्टी के होने पर बाँस का पर्व नहीं जानता है—मुझमें पीली मिट्टी है। पीली मिट्टी भी नहीं जानती है—मैं बाँस के पर्व में हूँ। ऐसे ही पक्काशय नहीं जानता है—मुझमें पाखाना है। पाखाना भी नहीं जानता है—मैं पक्काशय में हूँ। ये परस्पर आभोग=प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह पाखाना इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वी-धातु है।

मस्तिष्क

मस्तिष्क शिर की खोंपड़ी के भीतर रहता है। जैसे पुरानी लौकी की खोंपड़ी में डाली हुई आटे की पिण्डी के होने पर लौकी की खोंपड़ी नहीं जानती है—मुझमें आटे की पिण्डी है। आटे की पिण्डी भी नहीं जानती है—मैं लौकी की खोंपड़ी में हूँ। ऐसे ही शिर की खोंपड़ी का भीतरी भाग नहीं जानता है—मुझमें मस्तिष्क है। मस्तिष्क भी नहीं जानता है—मैं शिर की खोंपड़ी में हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह मस्तिष्क इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस, पृथ्वी-धातु है।

२. जल-धातु

पित्त

पित्तों में अबद्ध (= नहीं बँधा हुआ) पित्त जीवितेन्द्रिय के सहारे सारे शरीर में फैला हुआ है। बद्ध (= बँधा हुआ) पित्त पित्त की थैली में रहता है। जैसे पूड़ी में फैले हुए तेल के होने पर पूड़ी नहीं जानती है— तेल मुझमें फैला हुआ है। तेल भी नहीं जानता है—मैं पूड़ी में फैला हुआ हूँ। ऐसे ही शरीर नहीं जानता है— अबद्ध पित्त मुझमें फैला हुआ है। अबद्ध पित्त भी नहीं जानता है—मैं शरीर में फैला हुआ हूँ। जैसे वर्षा के जल से नेनुआ के कोष (=खुज्झा) के भरे होने पर नेनुआ का कोष नहीं जानता है—मुझमें वर्षा का जल है। वर्षा का जल भी नहीं जानता है—मैं नेनुआ के कोष में हूँ। ऐसे ही पित्त की थैली नहीं जानती है—मुझसे बद्ध पित्त है। बद्धपित्त भी नहीं जानता है—मैं पित्त की थैली में हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्य-वेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह पित्त इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना-रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के आकारवाला जल-धातु है।

कफ

कफ (= श्लेष्मा) एक भरे पात्र के बराबर उदर-पटल में है। जैसे गड़ही के ऊपर उत्पन्न हुए फेन पटल के होने पर गड़ही नहीं जानती है—मुझमें फेन-पटल है। फेन-पटल भी नहीं जानता है—मैं गड़ही में हूँ। ऐसे ही उदर पटल नहीं जानता है—मुझमें कफ है, कफ भी नहीं जानता है—मैं उदर-पटल में हूँ। ये परस्पर आभोग-प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस प्रकार कफ इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के आकारवाला जल-धातु है।

पीब

पीब के लिये कोई निश्चित स्थान नहीं है। जहाँ-जहाँ ही खूँटी-काँटे, मार, आग की लपट आदि से चोट खाये हुए शरीर के भाग में खून जमकर पकता है या फोड़े-फुंसियाँ आदि उत्पन्न होती हैं, वहाँ-वहाँ रहता है। जैसे फरसा से काटने आदि से गोंद (=निर्य्यास) पघरे हुए पेड़

में, पेड़ के काटे गये आदि स्थान नहीं जानते हैं—हममें गोंद है। गोंद भी नहीं जानता है—मैं पेड़ के काटे गये आदि स्थानों में हूँ। ऐसे ही शरीर के खूँटी-काँटे आदि से चोट खाये हुए स्थान नहीं जानते हैं—हममें पीब है। पीब भी नहीं जानता है—मैं उन स्थानों हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह पीब इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के आकारवाला जल-धातु है।

लोहू

लोहू में संचार करने वाला लोहू पित्त के समान सारे शरीर में फैला हुआ है। एकत्रित लोहू यकृत के स्थान के निचले भाग को पूर्ण करके एक पात्र को भरने भर का वृक्क, हृदय, यकृत, फुफ्फुस को भिगो रहा है। वहाँ, संचार करने वाले लोहू में अबद्ध-पित्त के समान ही विनिश्चय है। दूसरा, जैसे जर्जर कपाल के पानी के बरसने पर (उसके) नीचे दबे हुए ढेले के टुकड़े आदि भींगते हुए होने पर ढेले के टुकड़े आदि नहीं जानते हैं—हम पानी से भींग रहे हैं। पानी भी नहीं जानता है—मैं ढेले के टुकड़े आदि को भिगो रहा हूँ। ऐसे ही यकृत के निचले भाग का स्थान या वृक्क आदि नहीं जानते हैं—हममें लोहू रहता है या हमको भिगो रहा है। लोहू भी नहीं जानता है—मैं यकृत के निचले भाग को भरकर वृक्क आदि को भिगो रहा हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह लोहू इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के आकारवाला जल-धातु है।

पसीना

पसीना आग, सन्ताप (=तपन)[१] आदि होने के समय में केश, लोम-कूप के छिद्रों को भरे रहता और पघरता है। जैसे पानी से उखाड़ने मात्र में भिसाड़ और मृणाल के कलापों (=गठरी) के होने पर भिसाड़ आदि के कलाप के छिद्र नहीं जानते हैं—हमसे पानी चू रहा है। भिसाड़ आदि के कलाप के छिद्रों से चूता हुआ पानी भी नहीं जानता है—मैं भिसाड़ आदि के कलाप के छिद्रों से चू रहा हूँ। ऐसे ही केश, लोम-कूप के छिद्र नहीं जानते हैं—हममें पसीना चू रहा है? पसीना भी नहीं जानता है—मैं केश, लोम-कूप के छिद्रों से चू रहा हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह पसीना इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के आकारवाला जल-धातु है।

मेद

मेद मोटे (आदमी के) सारे शरीर में फैलकर, दुबले (आदमी) के नरहर के मांस आदि के सहारे रहने वाला घना तेल है। जैसे हल्दी रँगे कपड़े से ढँके हुए मांस की ढेरी में मांस की ढेरी नहीं जानती है—मेरे सहारे हल्दी से रँगा हुआ कपड़ा है। हल्दी से रँगा हुआ कपड़ा भी नहीं जानता है—मैं मांस की ढेरी के सहारे हूँ। ऐसे ही सारे शरीर में या नरहर आदि में रहनेवाला मांस नहीं जानता है—मेरे सहारे मेद है। मेद भी नहीं जानता है—मैं सारे शरीर में या नरहर आदि में मांस के सहारे हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस

१. धूप—सिंहल सन्नय।

तरह मेद इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, घना यूस हुआ, बाँधने के स्वभाव वाला जल-धातु है।

आँसू

आँसू जब उत्पन्न होता है, तब आँख के गड्ढों को भरकर रहता है या पघरता (=बहता) है। जैसे पानी से भरे बड़े ताड़ की गुठलियों के गड्ढों के होने पर, बड़े ताड़ की गुठलियों के गड्ढे नहीं जानते हैं—हममें पानी है, बड़े ताड़ की गुठलियों के गड्ढों का पानी भी नहीं जानता है—मैं बड़े ताड़ की गुठलियों के गड्ढों में हूँ। ऐसे ही आँख के गड्ढे नहीं जानते हैं—हममें आँसू है। आँसू भी नहीं जानता है—मैं आँख के गड्ढों में हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह आँसू इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के स्वभाव वाला जल-धातु है।

वसा

वसा (=चर्बी) आग, धूप आदि होने के समय में हथेली, हाथ की पीठ, पैर का तलवा, पैर की पीठ, नासापुट (=नथुना), ललाट, कन्धों के कूटों पर होनेवाला विलीन तेल है। जैसे तेल डाले हुए माँड़ (=आचाम) के होने पर, माँड़ नहीं जानता है—तेल मुझ पर फैला हुआ है। तेल भी नहीं जानता है—मैं माँड़ पर फैला हुआ हूँ। ऐसे ही हथेली आदि स्थान नहीं जानते हैं—वसा हमपर फैली हुई है। वसा भी नहीं जानती है—मैं हथेली आदि स्थानों में फैली हुई हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह वसा इस शरीर में एक अलग भाग है (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुई, बाँधने के स्वभाव वाली जल-धातु है।

थूक

थूक थूक के उत्पन्न होने के वैसे कारण के होने पर दोनों गालों के किनारों से उतरकर जीभ पर होता है। जैसे लगातार पानी के बहाव वाली नदी के किनारे कुँआ होने पर कुँआ की सतह नहीं जानती है—मुझ पर पानी ठहरता है। पानी भी नहीं जानता है—मैं कुँआ की सतह पर ठहरता हूँ। ऐसे ही जीभ की सतह नहीं जानती है—मुझ पर दोनों गालों के किनारों से उतरकर थूक ठहरता है। थूक भी नहीं जानता है—मैं दोनों गालों के किनारों से उतरकर जीभ की सतह पर रहता हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह थूक इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के स्वभाव वाला जल-धातु है।

पोंटा

पोंटा जब उत्पन्न होता है, तब नासापुटों को भरकर रहता या पघरता (=बहता) है। जैसे सड़े हुए दही से सीपी के भरे होने पर, सीपी नहीं जानती है—मुझमें सड़ा दही है। सड़ा दही भी नहीं जानता है—मैं सीपी में हूँ। ऐसे ही नासापुट नहीं जानते हैं—हममें पोंटा है। पोंटा भी नहीं जानता है—मैं नासापुटों में हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं।

इस तरह पोंटा इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के स्वभाव वाला जल-धातु है।

लसिका

लसिका हड्डियों के जोड़ों को तेलियाने (=अभ्यञ्जन करने = तेल मलने) का काम करती हुई एक सौ अस्सी जोड़ों में रहती है। जैसे तेल लगाई हुई धुरी में धुरी नहीं जानती है—मुझमें तेल लगा हुआ है। तेल भी नहीं जानता है—मैं धुरी से लगा हुआ हूँ। ऐसे ही एक सौ आठ जोड़ नहीं जानते हैं—हममें लसिका लगी हुई है। लसिका भी नहीं जानती है—मैं एक सौ आठ जोड़ों में लगी हुई हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह लसिका इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुई, बाँधने के स्वभाव वाली जलधातु है।

मूत्र

मूत्र वस्ति के भीतर होता है। जैसे गड़ही में डाले हुए बिना मुख के रवन-घट[1] के होने पर रवन घट नहीं जानता है—मुझमें गड़ही का रस है। गड़ही का रस भी नहीं जानता है—मैं रवनघट में हूँ। ऐसे ही वस्ति नहीं जानती है—मुझमें मूत्र है। मूत्र भी नहीं जानता है—मैं वस्ति में हूँ। ये परस्पर आभोग = प्रत्यवेक्षण रहित धर्म हैं। इस तरह मूत्र इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, यूस हुआ, बाँधने के स्वभाव वाला जल-धातु है।

३. अग्नि-धातु

ऐसे केश आदि में मनस्कार करके, जिससे तपता है—यह इस शरीर में अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, पकाने के स्वभाव वाली अग्नि-धातु है। जिससे जरा को प्राप्त होता है—यह···जिससे जलता है···जिससे भोजन किया, पिया, खाया, चाटा भली प्रकार हजम होता है—यह इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, पकाने के स्वभाववाली अग्नि-धातु है। ऐसे अग्नि के भागों में मनस्कार करना चाहिए।

४. वायो-धातु

उसके पश्चात् ऊपर जानेवाली वायु में ऊपर जाने के तौर पर विचार करके, नीचे जाने वाली में नीचे जाने के तौर पर ; पेट में रहनेवाली में पेट में रहने के तौर पर, कोष्ठ (=कोठे) में रहनेवाली में कोष्ठ में रहने के तौर पर, अङ्ग-अङ्ग में घूमनेवाली में अङ्ग-अङ्ग में घूमने के तौरपर, आश्वास-प्रश्वास में आश्वास-प्रश्वास के तौर पर विचार करके, ऊपर जानेवाली वायु इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, भरने के स्वभाववाली, वायोधातु है। नीचे जानेवाली वायु···कोष्ठ में रहनेवाली वायु···अङ्ग-अङ्ग में घूमनेवाली वायु··· आश्वास-प्रश्वास की वायु इस शरीर में एक अलग भाग है, (जो) चेतना रहित, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, भरने के स्वभाववाली वायोधातु है। ऐसे वायु के भागों में मनस्कार करना चाहिये।

---

१. देखिए, पृष्ठ २३८।

इस प्रकार मनस्कार करनेवाले उस (योगी) को धातुयें प्रगट होती हैं। उन्हें बार-बार आर्वजन और मनस्कार करनेवाले को कहे गये ढंग से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है।

किन्तु, जिसे ऐसे भावना करने से कर्मस्थान नहीं सिद्ध होता, उसे **स्व-लक्षण-संक्षेप** से भावना करनी चाहिये। कैसे? बीस भागों में ठोस लक्षणवाले को पृथ्वी धातु निश्चित करना चाहिये। वहीं बाँधने के लक्षण वाले को जल-धातु, पकाने के लक्षण वाले को अग्नि धातु, भरने के लक्षण वाले को वायोधातु। बारह भागों में बाँधने के लक्षण वाले को जल धातु निश्चित करना चाहिये। वहीं पकाने के लक्षण वाले को अग्नि धातु, भरने के लक्षण वाले को वायोधातु, ठोस लक्षण वाले को पृथ्वी-धातु। चार भागों में पकाने के लक्षण वाले को अग्निधातु निश्चित करना चाहिये। उससे न अलग हुए भरने के लक्षण वाले को वायोधातु। ठोस लक्षण वाले को पृथ्वी धातु, बाँधने के लक्षण वाले को जलधातु। छः भागों में भरने के लक्षण वाले को वायोधातु निश्चित करना चाहिये। वहीं ठोस लक्षण वाले को पृथ्वी-धातु, बाँधने के लक्षणवाले को जल-धातु, पकाने के लक्षण वाले को अग्निधातु। उस ऐसे निश्चित करने वाले को धातुयें प्रगट होती हैं। उन्हें बार बार आवर्जन और मनस्कार करने वाले को कहे गये ढंग से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है।

किन्तु, जिसे ऐसे भी भावना करने से कर्मस्थान नहीं सिद्ध होता है, उसे **स्व-लक्षण-विभक्ति** से भावना करनी चाहिये। कैसे? पहले कहे गये ढंग से ही केश आदि का विचार करके केश में ठोस लक्षण वाले को पृथ्वी-धातु निश्चित करना चाहिये। वहीं बाँधने के लक्षण वाले को जल-धातु, पकाने के लक्षण वाले को अग्नि-धातु, भरने के लक्षण वाले को वायो-धातु। ऐसे सब भागों में से एक भाग में चार-चार धातुओं का निश्चय करना चाहिये। उस ऐसे निश्चित करने वाले को धातुयें प्रगट होती हैं। उन्हें बार-बार आवर्जन और मनस्कार करने वाले को कहे गये ढंग से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है।

और भी—शब्दार्थ से, कलाप से, चूर्ण से, लक्षण आदि से, उत्पत्ति से, नानत्व-एकत्व से, अलगाव-मिलाव से, समान-अ-समान से, भीतर-बाहर की विशेषता से, संग्रह से, प्रत्यय से, विचार न करने (= अ-समन्वाहार) से, प्रत्ययों के विभाग से—इन भी आकारों से धातुओं का मनस्कार करना चाहिये।

शब्दार्थ से

वहाँ, **शब्दार्थ से** मनस्कार करने वाले को—फैली होने से पृथ्वी है, फैलता है, सोखा जाता है[1] या बढ़ाता है, इसलिये जल कहा जाता है। बहती है, इसलिये वायु है। साधारण रूप से अपने लक्षण को धारण करने, दुःखों को देने और दुःखों को धारण करने से धातु कहा जाता है। ऐसे विशेष और साधारण के अनुसार शब्दार्थ से मनस्कार करना चाहिये।

कलाप से

कलाप से—जो यह केश, लोम आदि ढंग से बीस प्रकार से पृथ्वी-धातु और पित्त, कफ़ आदि ढंग से बारह प्रकार से जलधातु निर्दिष्ट है। वहाँ, चूँकि—

---

१. सुखाया जाता है, पिया जाता है—कोई-कोई ऐसा कहते हैं, किन्तु शेष तीनों महाभूतों से पिये जाने के समान सोखा जाता है—टीका।

वण्णो गन्धो रसो ओजा, चतस्सो चापि धातुयो।
अट्ठधम्मसमोधाना होति केसा'ति सम्मुति।
तेसं येव विनिब्भोगा नत्थि केसा'ति सम्मुति॥

[वर्ण, गन्ध, रस, ओज और चारों भी धातु—(इन) आठ धर्मों के मेल से 'केश' संज्ञा होती है और उन्हीं के अलग हो जाने से 'केश नहीं हैं'—ऐसा व्यवहार होता है।]

इसलिए केश भी आठ चीजों का कलाप (=समूह) मात्र ही है। वैसे (ही) लोम आदि। जो यहाँ कर्म से उत्पन्न होनेवाला भाग है, वह जीवितेन्द्रिय और भाव[1] के साथ दस धर्म का कलाप भी, उस्सद् (= अधिकांश) के अनुसार पृथ्वी-धातु, जल-धातु नाम से पुकारा जाता है।

ऐसे कलाप से मनस्कार करना चाहिए।

चूर्ण से

चूर्ण से—इस शरीर में मझले क़द वाले शरीर से विचारते हुए परमाणु[2] के भेदों में चूर्ण, सूक्ष्म, धूल हुई पृथ्वी धातु द्रोण[3] मात्र होगी। वह उससे आधे प्रमाण के (= १६ सेर) जल-धातु से संगृहीत, अग्नि-धातु से पाला गया, वायोधातु से भरा हुआ बिखरता नहीं है। विध्वंस नहीं होता है। और नहीं बिखरते, नहीं विध्वंस होते अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष लिङ्ग आदि के भाव में बँट जाता है तथा अणु, स्थूल, दीर्घ, ह्रस्व, स्थिर, ठोस (= कठिन) आदि भाव को प्रगट करता है।

यूस (=द्रव) हुई बाँधने के स्वभाववाली बनी, यहाँ जल-धातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित अग्नि से पाली, वायु से भरी, नहीं पघरती है, नहीं बहती है, और नहीं पघरती, नहीं बहती हुई बढ़ी हुई दिखाई देती है।

भोजन किये, पिये आदि को हजम करनेवाली उष्म (=गर्म) आकार की हुई गर्म स्वभाववाली अग्नि-धातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, जल से संगृहीत, वायु से भरी, इस काय को तपाती है, इस (शरीर) की वर्ण-सम्पत्ति (=शोभा) को लाती है और उससे तपाया हुआ यह शरीर नहीं सड़ता है।

---

१. स्त्रीत्व और पुरुषत्व—इन दोनों को भाव-रूप कहते हैं।

२. "सात धान का एक अंगुल होता है और सात ऊका (=जूँ) के बराबर एक धान। सात लिक्षा के बराबर एक ऊका होती है और छत्तिस रथ की रेणु के बराबर एक लिक्षा। छत्तिस तज्जारी के बराबर एक रथ की रेणु होती है और छत्तिस परमाणु का एक अणु। अर्थात् ३६ अणु= १ परमाणु।" टीका।

३. "चार आढ़क का द्रोण होता है। ३२ सेर प्रचलित परिमाण। स्वाभाविक चार मुट्ठी का कुड़ब (= कुरई), चार कुड़ब की नाली (= रजिया) और उस नाली से सोरह नाली का द्रोण होता है। वह 'मगध' की नाली से बारह नाली होता है—ऐसा कहते हैं"—टीका। किन्तु, अभिधानप्पदीपिका में द्रोण की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—

कुडुबो पसतो एको, पत्थो ते चतुरो सियुं।
आळ्हको चतुरो पत्थो, दोणं वा चतुराळ्हकं॥४८२॥

आदि और कर्म से उत्पन्न होने आदि के अनुसार नानत्व भूतों का भी रूप, महाभूत, धातु, धर्म, अनित्य आदि के अनुसार एकत्व (=समानता) होता है।

सभी धातुयें बिगड़ने (=रुप्पन)[1] के स्वभाव को नहीं त्यागने से रूप हैं। महान् प्रादुर्भाव आदि कारणों से महाभूत हैं। "महान् प्रादुर्भाव आदि से"—ये धातुयें, महान् प्रादुर्भाव से, महाभूतों के साथ समान होने से, महापरिहार्य से, महाविकार से, महान् और भूत (=विद्यमान) होने से—इन कारणों से महाभूत कही जाती हैं।

महान् प्रादुर्भाव से—ये अनुपादिन्न[2] सन्ततियों में भी और उपादिन्न सन्ततियों में भी महान् प्रादुर्भूत हैं। उनके अनुपादिन्न सन्तति में—

> दुवे सतसहस्सानि चत्तारि नहुतानि च।
> एत्तकं बहलत्तेन संखातायं वसुन्धरा॥

[दो लाख, चालीस हजार (२,४०,००० योजन)—यह पृथ्वी मोटी कही जाती है।][3]

—आदि ढंग से महान् प्रादुर्भाव होना बुद्धानुस्मृति-निर्देश में कहा गया ही है। उपादिन्न सन्तति में भी मछली, कछुआ, देव, दानव आदि के शरीर के अनुसार महान् ही प्रादुर्भूत हैं। कहा गया है—"भिक्षुओ, समुद्र में सौ योजन वाले भी शरीर वाले (प्रणी) हैं।"[4] आदि।

महाभूतों के साथ समान होने से—ये, जैसे जादूगर (= इन्द्रजाली) बिना मणि के ही पानी को मणि करके दिखलाता है, बिना सुवर्ण के ही ढेले (= डले) को सुवर्ण करके दिखलाता है। ऐसे ही स्वयं नीला न होकर नीले उपादा-रूप[5] को दिखलाता है। न पीला…न लाल …न सफेद ही होकर सफेद उपादा-रूप को दिखलाता है। इस तरह जादूगर की महाभूतों के साथ समानता होने से महाभूत हैं।

और जैसे यक्ष आदि महाभूत जिसे पकड़ते हैं, उसके न तो भीतर और न बाहर ही उनका स्थान होता है और उसके सहारे नहीं ठहरते हैं—ऐसा भी नहीं। ऐसे ही ये भी न तो एक दूसरे के भीतर, न बाहर ही खड़े होते हैं और एक दूसरे के सहारे नहीं होते हैं—ऐसा भी नहीं; इस तरह नहीं सोचने वाली बात के कारण यक्ष आदि महाभूतों की समानता से भी महाभूत हैं।

और जैसे यक्षिणी कहे जाने वाले महाभूत मनाप वर्ण, (मोटा, पतला आदि) बनावट, (हाथ, भौं आदि के) विक्षेपों से अपनी भयानकता को छिपा कर प्राणियों को बहकाते हैं। ऐसे ही ये भी स्त्री, पुरुष-शरीर आदि में मनाप छवि-वर्ण से, अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग की बनावट से और मनाप हाथ की अंगुली, पैर की अंगुली, भौं के विक्षेप (= कटाक्षपात) से अपने कठोर होने आदि

१. जो शीत आदि विरोधी प्रत्ययों के जुट पड़ने पर दूसरे तरह की हो जाती है या उसके होने पर जो विद्यमान का ही दूसरे तरह के होने का कारण होता है, वह 'रुप्पन' है—टीका।

२. कर्म से उत्पन्न अठारह प्रकार के रूपों को उपादिन्न रूप और शेष अगृहीत गणना से दस प्रकार के बिना कर्म से उत्पन्न को अनुपादिन्न रूप कहते हैं।

३. देखिये, सातवाँ परिच्छेद।

४. अंगुत्तर नि० और उदान ५४-५६।

५. महाभूतों से आश्रित रूप उपादा-रूप कहलाते हैं।

प्रकार के स्वाभाविक लक्षण को छिपाकर मूर्ख लोगों को बहकाते हैं। अपने स्वभाव को नहीं देखने देते। इस तरह बहकाने के स्वभाव से यक्षिणी-महाभूत की समानता से भी महाभूत हैं।

महापरिहार्य से—महाप्रत्ययों से परिहरण करने के भाव से। ये प्रति दिन महा भोजन, वस्त्र आदि को देने से होते हैं, प्रवर्तित हैं, इसलिये महाभूत हैं। या महापरिवार वाले होने से भी महाभूत हैं।

महाविकार से—ये अनुपादिन्न भी, उपादिन्न भी महाविकार वाले होते हैं। अनुपादिन्नों का कल्प के नाश होने के समय विकार की महानता प्रगट होती है। उपादिन्नों का धातु-प्रकोप के समय। वैसा ही—

अग्नि से प्रलय

भूमितो उट्ठितो याव ब्रह्मलोका विधावति।
अच्चि अच्चिमतो लोके डय्हमानम्हि तेजसा॥

[लोक को अग्नि से जलने के समय में आग की लपट भूमि से उठी हुई ब्रह्मलोक तक दौड़ती है।]

जल से प्रलय

कोटिसतसहस्सेकं चक्कवालं विलीयति।
कुपितेन यदा लोको सलिलेन विनस्सति॥

[जिस समय जल के प्रकोप से लोक का नाश होता है, उस समय एक करोड़, लाख (= १०,००,००,००,००,०००) चक्रवाल[१] घुल (कर नाश हो) जाते हैं।]

वायु से प्रलय

कोटिसतसहस्सेकं चक्कवालं विकीरति।
वायोधातुप्पकोपेन यदा लोको विनस्सति॥

[जिस समय वायोधातु के प्रकोप से लोक का विनाश होता है, उस समय एक करोड़, लाख चक्रवाल बिखर जाते हैं।]

धातुओं का प्रकोप

पत्थद्धो भवति कायो दट्ठो कट्ठमुखेन वा।
पठवीधातुप्पकोपेन होति कट्ठमुखे'व सो॥

[जैसे काष्ठ-मुख सर्प से डँसा हुआ शरीर कड़ा हो जाता है, ऐसे ही पृथ्वी धातु के प्रकोप से वह काष्ठमुख सर्प के मुख में गये हुए के समान हो जाता है।][२]

---

१. इस चक्रवाल का नाम "मङ्गल चक्रवाल" है। जो १२०३४५० योजन लम्बा है, गोलाई में (= परिधि) छत्तिस लाख, दस हजार, तीन सौ पचास (३ ६ १० ३५०) योजन है। उक्त प्रमाण बुद्धों के 'आज्ञा-क्षेत्र' की गणना से कहा गया है। बुद्धों की आज्ञा एक करोड़, लाख चक्रवालों में होती है।

२. इस गाथा का अर्थ टीका में नाना प्रकार से वर्णित है, किन्तु उक्त अर्थ ही सिंहल के पुराने और नये दोनों व्याख्या-ग्रन्थों में वर्णित है।

पूतिको भवति कायो दट्ठो पूतिमुखेन वा।
आपोधातुप्पकोपेन होति पूति मुखे'व सो॥

[जैसे पूतिमुख-सर्प से डँसा हुआ शरीर सड़ जाता है, ऐसे ही जल-धातु के प्रकोप से वह पूतिमुख-सर्प के मुख में गये हुए के समान हो जाता है।]

सन्तत्तो भवति कायो दट्ठ अग्गिमुखेन वा।
तेजोधातुप्पकोपेन होति अग्गिमुखे'व सो॥

[जैसे अग्निमुख-सर्प से डँसा हुआ शरीर सन्तप्त होता है, ऐसे ही अग्नि-धातु के प्रकोप से वह अग्निमुख सर्प के मुख में गये हुए के समान हो जाता है।]

सञ्छिन्नो भवति कायो दट्ठो सत्थमुखेन वा।
वायो धातुप्पकोपेन होति सत्थमुखे'व सो॥

[जैसे शस्त्रमुख सर्प से डँसा हुआ शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है,[1] ऐसे ही वायो-धातु के प्रकोप से वह शस्त्रमुख सर्प के मुख में गये हुये के समान हो जाता है।]

इस प्रकार महाविकार वाले होने से महाभूत हैं।

महान् और भूत होने से—ये बहुत अधिक परिश्रम से जानने के कारण महान् और विद्यमान होने से भूत हैं। इस प्रकार महान् और भूत होने से महाभूत हैं। ऐसे सभी ये धातुयें महान् प्रादुर्भाव आदि कारणों से महाभूत हैं।

अपने लक्षण को धारण करने, दुखों को देने और दुःखों को धारण करने से सभी धातु के लक्षण को नहीं छोड़ने से **धातु** हैं। अपने लक्षण को धारण करने और अपने लक्षण के अनुरूप धारण करने से **धर्म** हैं। क्षण-भंगुर होने से **अनित्य** हैं। (उत्पत्ति और विनाश को देख कर) भय होने से दुःख हैं। (आत्मा रूपी) सार-रहित होने से **अनात्मा** हैं। इस प्रकार सबका भी रूप महाभूत, धातु, धर्म, अनित्य आदि के अनुसार एकत्व (= समान) है। ऐसे नानत्व से मनस्कार करना चाहिये।

अलगाव-मिलाव से—एक साथ उत्पन्न हुई ये (चारों धातुयें) सबसे अन्तिम शुद्धाष्टक[2] आदि एक-एक कलाप (=रूप समूह) में एक भाग से मिली हुई हैं, किन्तु लक्षण से अलग हुई हैं—ऐसे अलगाव-मिलाव से मनस्कार करना चाहिये।

समान-अ-समान से—और ऐसे इनके नहीं अलग हुए होने पर भी पहले की दो (पृथ्वी धातु और जलधातु) भारी होने से समान हैं। वैसे ही पिछली (= अग्नि धातु और वायोधातु) हल्की होने से। पहले की पिछली से और पिछली पहली से अ-समान हैं। ऐसे समान-असमान से मनस्कार करना चाहिये।

भीतरी-बाहरी विशेषता से—भीतरी धातुयें (चक्षु आदि) विज्ञान की वस्तुओं,[3] (काय-वाक् दोनों) वज्ञप्तियों और इन्द्रियों (= स्त्री इन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय) की सहायक

१. आयुष्मान् उपसेन स्थविर के शरीर के समान। जैसे कि उनका शरीर सर्प के गिरने से बाहर निकालते-निकालते चूर्ण-विचूर्ण हो गया। विस्तार पूर्वक जानने के लिए देखिये, विनय पिटक।

२. चारों महाभूत, वर्ण, गन्ध, रस और ओज-ये आठ शुद्धाष्टक कहे जाते हैं।

३. वस्तु छः हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और हृदय।

होती हैं। ईर्य्यापथों के साथ चार (=कर्म, चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न होने वाली हैं। बाहरी कही गई के विपरीत प्रकार की हैं। ऐसे भीतरी बाहरी विशेषता से मनस्कार करना चाहिये।

संग्रह से—कर्म से उत्पन्न पृथ्वी-धातु, कर्म से उत्पन्न हुई दूसरी (धातुओं) के साथ उत्पन्न होने की अ-समानता के अभाव से एक में संग्रह की जाती हैं। वैसे ही चित्त आदि से उत्पन्न, चित्त आदि से उत्पन्न होने वाली (धातुओं) के साथ। ऐसे संग्रह से मन में करना चाहिये।

प्रत्यय से—पृथ्वी-धातु जल से संगृहीत (=सम्हाली जाती), अग्नि से पाली जाती, वायु से भरी, तीनों महाभूतों की प्रतिष्ठा (=आधार) होकर प्रत्यय होती है। जलधातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हो, अग्नि से पाली जाती, वायु से भरी, तीनों महाभूतों को बाँधने वाली होकर प्रत्यय होती है। अग्नि-धातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हो, जल से संगृहीत, वायु से भरी तीनों महाभूतों को पकाने वाली होकर प्रत्यय होती है। वायोधातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हो, जल से संगृहीत, अग्नि से पकायी गई, तीनों महाभूतों को भरने वाली होकर प्रत्यय से मनस्कार करना चाहिये।

विचार न करने से—पृथ्वी-धातु "मैं पृथ्वी धातु हूँ या तीनों महाभूतों की प्रतिष्ठा होकर प्रत्यय होती हूँ" नहीं जानती है। दूसरी भी तीनों हम लोगों की पृथ्वीधातु प्रतिष्ठा होकर प्रत्यय होती है—नहीं जानती हैं। इसी प्रकार सर्वत्र। ऐसे विचार न करने से मनस्कार करना चाहिये।

प्रत्ययों के विभाग से—धातुओं के कर्म, चित्त, आहार, ऋतु ये चार प्रत्यय हैं। कर्म से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का कर्म ही प्रत्यय होता है। चित्त आदि नहीं। चित्त आदि से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का भी चित्त आदि ही प्रत्यय होते हैं, दूसरे नहीं। और कर्म से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का कर्म जनक-प्रत्यय होता है। शेष का पर्याय से उपनिश्रय[1] प्रत्यय होता है। चित्त से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का चित्त जनक-प्रत्यय होता है, शेषों का पच्छाजात (=पीछे उत्पन्न) प्रत्यय, अस्ति प्रत्यय और अविगत प्रत्यय। आहार से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का आहार जनक-प्रत्यय होता है, शेषों का आहार प्रत्यय, अस्ति प्रत्यय और अविगत प्रत्यय। ऋतु से उत्पन्न होनेवाली (धातुओं) का ऋतु जनक प्रत्यय होता है, शेषों का अस्ति प्रत्यय और अविगत प्रत्यय। कर्म से उत्पन्न महाभूत कर्म से उत्पन्न होनेवाले भी महाभूतों का प्रत्यय होता है। चित्त से उत्पन्न होनेवालों का भी। वैसे ही चित्त से उत्पन्न, आहार से उत्पन्न। ऋतु से उत्पन्न महाभूत ऋतु से उत्पन्न होनेवाले भी महाभूतों का प्रत्यय होता है। कर्म आदि से उत्पन्न होनेवालों का भी।

कर्म से उत्पन्न पृथ्वी-धातु कर्म से उत्पन्न हुई अन्य (धातुओं) का सहजात, अन्योन्य, निश्रय, अस्ति, अविगत के अनुसार और आधार (=प्रतिष्ठा) होने के अनुसार प्रत्यय होती है, किन्तु जनक रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों (=ऋतु, चित्त, आहार) से उत्पन्न महाभूतों का निश्रय, अस्ति, अविगत के अनुसार प्रत्यय होती है। न आधार के रूप में। न जनक के रूप में। जलधातु अन्य तीन का सहजात आदि और बाँधने के रूप में प्रत्यय होती है। जनक रूप

१. दे० सत्रहवाँ परिच्छेद।

में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों का निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में ही। न बाँधने के रूप में और न जनक के रूप में। अग्निधातु भी अन्य तीनों का सहजात आदि और पकाने के रूप में प्रत्यय होती है, जनक रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों का निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में ही, न पकाने और न जनक के रूप में। वायोधातु भी अन्य तीन का सहजात आदि और भरने के रूप में प्रत्यय होती है, जनक रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों का निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में। न भरने के रूप में और न जनक के रूप में। चित्त, आहार, ऋतु से उत्पन्न पृथ्वीधातु आदि में भी इसी प्रकार।

और ऐसे सहजात आदि प्रत्यय के रूप में होनेवाली इन धातुओं में—

एकं पटिच्च तिस्सो, चतुधा तिस्सो पटिच्च एका च।
द्वे धातुयो पटिच्च, द्वे छद्धा सम्पवत्तन्ति॥

[एक के प्रत्यय से तीन धातुयें चार प्रकार से प्रवर्तित होती हैं और तीन के प्रत्यय से एक तथा दो धातुओं के प्रत्यय से दो छः प्रकार से प्रवर्तित होती हैं।]

पृथ्वी आदि में एक-एक के प्रत्यय से अन्य तीन-तीन—ऐसे एक के प्रत्यय से तीन धातुयें प्रवर्तित होती हैं। वैसे ही पृथ्वी-धातु आदि में एक-एक अन्य तीन-तीन के प्रत्यय से—ऐसे तीन के प्रत्यय से एक धातु प्रवर्तित होती है। पहली दो के प्रत्यय से पिछली और पिछली दो के प्रत्यय से पहली। पहली-तीसरी के प्रत्यय से दूसरी-चौथी; दूसरी चौथी के प्रत्यय से पहली-तीसरी; पहली-चौथी के प्रत्यय से दूसरी-तीसरी; दूसरी-तीसरी के प्रत्यय से पहली-चौथी—ऐसे दो धातुओं के प्रत्यय से दो छः प्रकार से प्रवर्तित होती हैं।

उनमें पृथ्वी-धातु चलने-फिरने आदि के समय में दबाने (= उत्पीड़न) का प्रत्यय होती है। वही जलधातु के अनुसार पैर को रखने, पृथ्वीधातु के अनुसार (पैर को) गिराने, वायोधातु के अनुसार अग्निधातु उठाने, अग्निधातु के अनुसार वायोधातु आगे बढ़ाने, पीछे हटाने का प्रत्यय होती है। ऐसे प्रत्यय से मनस्कार करना चाहिये।

इस प्रकार शब्दार्थ आदि के अनुसार मन में करने को भी एक-एक प्रकार से धातुयें प्रगट होती हैं। उन्हें बार-बार आवर्जन, और मनस्कार करने वाले को कहे गये प्रकार से ही उपचार-समाधि उत्पन्न होती है। वह चारों धातुओं का व्यवस्थापन करने के ज्ञान के अनुभाव से उत्पन्न होने से चतुर्धातु-व्यवस्थान ही कहा जाता है।

इस चतुर्धातु-व्यवस्थान में लगा हुआ भिक्षु शून्यता को पाता है, सत्व होने के ख्याल को छोड़ता है। वह सत्व होने के ख्याल को छोड़ने से हिंसक जन्तु, यक्ष, राक्षस आदि के भेद में नहीं पड़ते हुए भय-भैरव को सहने वाला होता है। (एकान्त शयनासन की) अरति और (पाँच कामगुणों की) रति को सहने वाला होता है। इष्ट और अनिष्ट में हर्षोत्फुल्ल और खेद को नहीं प्राप्त होता है और महाप्रज्ञ वाला होता है। अमृत (= निर्वाण) के अन्त या सुगति को पानेवाला होता है।

एवं महानुभावं योगिवर सहस्स कीळितं एतं।
चतुधातुववत्थानं निच्चं सेवेथ मेधावी॥

[ऐसे महा-अनुभाव वाले हजारों श्रेष्ठ योगियों द्वारा (ध्यान की खेल के रूप में) खेले गये, इस चतुर्धातु व्यवस्थान को नित्य प्रज्ञावान् सेवे।]

समाधि-भावना का फल

यहाँ तक, जो समाधि का विस्तार और भावना करने के ढंग को बतलाने के लिये—"समाधि क्या है ? किस अर्थ में समाधि है ?" आदि प्रकार से प्रश्न किया गया है, उसमें "कैसे भावना करनी चाहिये ?" इस पद का सब प्रकार से अर्थ-वर्णन समाप्त हो गया।

यहाँ, अभिप्रेत समाधि दो प्रकार की है—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। वहाँ, दसों कर्मस्थानों और अर्पणा के पूर्व भाग वाले चित्तों में एकाग्रता उपचार समाधि है, शेष कर्म-स्थानों में चित्त की एकाग्रता अर्पणा समाधि। वह दोनों प्रकार की भी उनके कर्मस्थानों की भावना किये जाने से भावना की गई ही होती है। उसी से कहा है—"कैसे भावना करनी चाहिये ?" इस पद का सब प्रकार से अर्थ-वर्णन समाप्त हो गया।

किन्तु, जो कहा गया है—"समाधि की भावना करने में कौन सा आनृशंस है ?" वहाँ, दृष्ट-धर्म (=इसी जीवन) के सुख-विहार आदि पाँच प्रकार के समाधि की भावना करने में आनृशंस हैं। वैसा ही, जो अर्हत्, क्षीणाश्रव (अर्पणा समाधि) को प्राप्त होकर "एकाग्र चित्त हो सुख-पूर्वक दिन में विहार करेंगे" (सोच) समाधि की भावना करते हैं, उनकी अर्पणा-समाधि की भावना दृष्ट-धर्म के सुख-विहार के आनृशंस वाली है। उसी से भगवान् ने कहा—"चुन्द ! ये आर्य-विनय में संलेख (=तप) नहीं कहे जाते हैं, ये आर्य-विनय में दृष्टधर्म सुख-विहार (=इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करना) कहे जाते हैं।"[1]

शैक्ष्य और पृथग्जनों की "समापत्ति से उठकर एकाग्र चित्त से विपश्यना करेंगे।" ऐसे भावना करते हुए, विपश्यना के सामीप्य होने से अर्पणा-समाधि की भावना भी, सँकरे स्थान की प्राप्ति के ढंग से उपचार-समाधि की भावना भी विपश्यना के आनृशंस वाली है। उसी से भगवान् ने कहा—"भिक्षुओ, समाधि की भावना करो, भिक्षुओ, एकाग्र चित्तवाला भिक्षु यथार्थ को जानता है।"[2]

किन्तु, जो आठ समापत्तियों को उत्पन्न करके अभिज्ञा के पादक[3] ध्यान को प्राप्त हो, समापत्ति से उठकर "एक भी होकर बहुत होता है।"[4] ऐसे कहे गये प्रकार की अभिज्ञाओं को चाहते हुए उत्पन्न करते हैं। उनके आयतन होने-होने पर अभिज्ञा के सामीप्य होने से अर्पणा-समाधि की भावना अभिज्ञा के आनृशंस वाली है। उसी से भगवान् ने कहा—

"वह अभिज्ञा से साक्षात्कार करणीय जिस-जिस धर्म में, अभिज्ञा से साक्षात्कार करने के लिए चित्त को झुकाता है; आयतन[5] (=स्थान) होने पर उसे साक्षात्कार कर लेता है।"[6]

जो "ध्यान से नहीं परिहीन हो ब्रह्मलोक में उत्पन्न होंगे" ऐसे ब्रह्मलोक में उत्पन्न होने की कामना या नहीं कामना करते हुए भी पृथग्जन समाधि से नहीं परिहीन होते हैं। उनको

---

१. मज्झिम नि० १, १, ८।

२. संयुत्त ३, २१, १, १, ५।

३. ऋद्धिविध आदि अभिज्ञा के अधिष्ठान हुए ध्यान को प्राप्त होकर—अर्थ है।

४. दे० बारहवाँ परिच्छेद।

५. पूर्व जन्म में सिद्ध अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये किये गये अधिकार के होने पर—सिंहल सन्नय।

६. मज्झिम नि० ३, २, ९।

विशेष भव (= उत्पत्ति) को देने से अर्पणा समाधि की भावना विशेष भव के आनृशंस वाली होती है। उसी से भगवान् ने कहा—"प्रथम ध्यान की परित्र (= स्वल्प) भावना करके कहाँ उत्पन्न होते हैं?"[१] आदि। उपचार-समाधि की भावना भी कामावचर सुगति के विशेष भव को देती ही है।

जो आर्य, "आठ समापत्तियों को उत्पन्न कर निरोध समापत्ति को प्राप्त हो सात दिन विना चित्त के होकर इसी शरीर में निरोध = निर्वाण को पाकर सुखपूर्वक विहरेंगे।" (सोच) समाधि की भावना करते हैं, उनकी अर्पणा समाधि की भावना निरोध के आनृशंस वाली होती है। उसी से कहा है—"सोलह ज्ञान-चर्य्या से, नव समाधि-चर्य्या से वशी-भाव से प्रज्ञा-निरोध समापत्ति में ज्ञान है।"[२]

ऐसे यह दृष्ट-धर्म-सुख-विहार आदि पाँच प्रकार के समाधि की भावना करने में आनृशंस हैं।

तस्मानेकानिसंसम्हि किलेसमल-सोधने।
समाधिभावनायोगे नप्पमज्जेय्य पण्डितो॥

[इसलिये अनेक आनृशंस वाले, क्लेश-मलों को शुद्ध करने वाले, समाधि-भावना के योग में पण्डित प्रमाद न करे।]

यहाँ तक, "शील पर प्रतिष्ठित हो प्रज्ञावान् नर" इस गाथा द्वारा शील, समाधि, प्रज्ञा के अनुसार उपदेश दिय गये विशुद्धिमार्ग में समाधि भी भलीभाँति प्रकाशित की गई है।

सज्जनों के प्रमोद के लिये लिखे गये विशुद्धिमार्ग में
समाधि-निर्देश नामक ग्यारहवाँ परिच्छेद
समाप्त।

---

१. विभङ्ग १३।
२. पटिसम्भिदामग्ग १।

परिशिष्ट

१. उपमा-सूची

फ

ब

भ

म

२. कथा-सूची

३. ग्रन्थ-सूची

४. नाम-अनुक्रमणी

५. शब्द-अनुक्रमणी

ध